शारीरक-विज्ञानम्

[हिन्दी अनुवाद सहित]

द्वितीय भाग

रचयिता
समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति
पं० मधुसूदन ओझाजी

हिन्दी-अनुवादक
डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
'रीडर' साहित्यविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

शारीरक–विज्ञानम्

[हिन्दी अनुवाद सहित]

द्वितीय भाग

रचयिता

समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति

पं० मधुसूदन ओझाजी

हिन्दी–अनुवादक

डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

'रीडर' साहित्यविभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

प्रकाशक :
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड
केशरगढ़, जवाहरलाल नेहरु मार्ग
जयपुर

संस्करण : अप्रैल १६६०

मूल्य : ७५/–पचहत्तर रुपये मात्र

मुद्रक :
रसकपूर प्रिन्टर्स
दीनानाथजी का रास्ता
जयपुर

"प्रकाशकीय"

विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझाजी के "शारीरक विज्ञान के द्वितीय भाग का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है।

यह ग्रन्थ वेदान्त पर आधारित है। ओझाजी का यह ग्रन्थ शंकराचार्य से भी दो कदम आगे साबित होगा। लेखक ने कई स्थानों पर शंकराचार्य के दृष्टिकोण को अतिसाहस भी बताया है। यह हमार दुर्भाग्य है कि अभी तक यह मूल्यवान ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया था।

पं० मधुसूदन ओझा भारत में प्रचलित छ: आस्तिक दर्शन शास्त्रों में तीन (न्याय, सांख्य और योग) को तो दर्शन ही नहीं मानते। वेदान्त और मीमांसा (पूर्व और उत्तर) को उन्होंने अवश्य दर्शन माना। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वेदान्त के साथ वेदविज्ञान की सगति बताई और शंकराचार्य के वेदान्त पर वहीं उँगली उठाई जहां वेद विज्ञान के साथ उसकी संगति नहीं बैठती।

इस ग्रन्थ का अनुवाद और प्रकाशन अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य है। विशेषत: इसलिए कि ओझाजी महाराज की शैली को समझने वाले ही इक्के दुक्के मिल पाते हैं। संयोग से पं० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी का परिचय हुआ और उनके सम्मुख अनुवाद कार्य करने का

प्रस्ताव रखा तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और कार्य प्रारम्भ कर दिया, अब से पहले उन्होंने दो ग्रन्थ "विज्ञान विद्युत" और शारीरकविज्ञानम् के प्रथम भाग का अनुवाद कार्य किया था। अब उनके द्वारा यह "शारीरकविज्ञानम् का द्वितीय भाग अनुवाद सहित प्रस्तुत है। वेदविज्ञान की शिक्षा उन्होंने स्वनामधन्य पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी से प्राप्त की जो उनके पिता थे। उनके अनुवाद कार्य का मूर्त रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। इसको में बहुत बड़ी उपलब्धि मानता हूं जो शिवदत्तजी के सम्पर्क में आने से सम्भव हुई।

दर्शनशास्त्र एवं वेद के अध्येता के लिए ओझाजी की यह एक अमूल्य देन है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि विद्वज्जन इस ग्रन्थ के पारायण से अवश्य ही उपकृत होंगे। इसी आशा के साथ यह ग्रन्थ उन्हें समर्पित है।

क. च. कुलिश

"शारीरकविज्ञानम्"

द्वितीयो भागः

विषयावलिः

विषयाः	पृष्ठ संख्या
१. मङ्गलम्	१
२. अथ तृतीये जीवलक्षणाध्याये प्रेत्यभाव-पादः 'प्रारभ्यते	१
३. आरोहपक्रमाधिकरणं	८
४. अवरोहोपक्रमाधिकरणम्	१४
५. अथ नरकारोहावरोहाधिकरणम्	१८
६. आरोहावरोहाभावस्थानधिकरणम्	२०
७. अवरोहणमार्गक्रमाधिकरणम्	२३
८. शारीरकस्य स्वप्नाद्यवस्था त्रयाधिकारः पादः	२६
९. सुषुप्त्यवस्थाधिकरणम्	३६
१०. मुग्धावस्थाधिकरणम्	४२
११. अथ जीव-पर-भेदाभेदलक्षणाधिकारः	४३
१२. परस्यात्मनो धर्म्मिधर्म्म-रूपद्वैविध्यम्	५०
१३. परस्यात्मनो निरुक्तानिरुक्तरूपद्वैविध्यम्	५४
१४. परस्यात्मनो निर्विशेषत्वं शंकरमते	६१
१५. निर्विशेषैकानन्ते भेदवासनामिथ्यात्वं शंकरमते	६७
१६. परस्यात्मनः सर्वदोषास्पृष्टानन्तकल्याणगुणाकरत्वं रामानुजमते	७१
१७. रामानुजः पुनरेतानि त्रीण्यधिकरणान्यैकाधिकरण्येन व्याचष्टे	७२
१८. अथ निर्विशेषाभेदे भेदव्यवहारोपपादनं शंकरमते	८०
१९. विशिष्टाभेदे विशेषणभेदाद् भेदव्यवहारो रामानुजमते	८५
२०. अथ सर्वप्रभवत्वाधिकारः	८८
२१. आत्मातिरिक्त-तत्वाभावः शंकरमते	८८
२२. ईश्वरातिरिक्त-परतत्त्वाभावो रामानुजमते	९५

२३. ईश्वरस्यफलप्रयोजकत्वम् ९९
२४. अथ सगुणविद्यानिरूपणोऽयमुपासनापादः १०३
२५. न्यायावताराधिकार: १०३
२६. सर्वभेदादन्यत्रेमे १२०
२७. गुणोपसंहाराधिकरणम् १२१
२८. पुरुषयरत्वाधिकरणम् १२८
२९. सद्विद्याया आत्मविद्यात्वाधिकरणम् १३०
३०. अत्रैवाधिकरणान्तरमप्युच्यते १३२
३१. परमेश्वरकर्तृकलोकसृष्ट्यधिकरणम् १३४
३२. प्राणवासस्त्व १४३
३३. अपप्राणवास्त्वाधिकरणम् १४५
३४. समानतन्त्रेऽपि गुणोपसंहारादविद्यैकत्वाधिकरणम् १४६
३५. विद्यैक्येऽपि प्रतिज्ञानादांशिक भेदानुप्रवेशाधिकरणम् १४९
३६. विरुद्धधर्मोपदेशोऽनुपसंहाराधिकरणम् १५१
३७. नामक्येऽपि रूपादिभेदेऽनुपसंहाराधिकरणम् १५४
३८. असंबद्धार्थानुपसंहाराधिकरणम् १५७
३९. शाखान्तरप्रामाण्याद् वाक्यशेषोपसंहाराधिकरणम् १६०
४०. वाक्यशेषादर्थनिर्णयाधिकरणम् १६२
४१. देहात्ययकालाशेषकर्मक्षयाधिकरणम् १६५
४२. सर्वविद्यासाधारणदेवयानाधिकरणम् १७०
४३. प्राणोत्क्रान्त्यनुत्क्रान्तिविभागाधिकरणम् १७३
४४. सगुणविद्यासाधरणदेवयानाधिकरणम् १७५
४५. विदुषां यावदधिकारमनपवर्गाधिकरणम् १७७
४६. अक्षरब्रह्म निर्विशेषत्वाधिकरणम् १७९
४७. ईश्वरस्य कर्मफलभोक्तृत्वाधिकरणम् १८२
४८. आध्यात्मिकप्राणनादिवृत्तीनापरमात्ममूलकत्वाधिकरणम् १८७
४९. परमात्मनिबन्धनत्वाधिकरणम् १९०
५०. व्यतिहारश्रुतेरुभयबुद्धयर्थताधिकरणम् १९१
५१. अक्ष्यादित्यपुरुषगतसत्यतैकविद्यात्वाधिकरणम् १९४
५२. सगुणब्रह्मविद्याया मुक्तिफलत्वाधिकरणम् १९६
५३. प्राणाग्निहोत्रानुगतवैश्वानरविद्याधिकरणम् २०२
५४. विद्यायाकर्मनाङ्गत्वाधिकरणम् २०५
५५. अध्यात्माधिदैवविभागात पृथगनुध्यानाधिकरणम् २०८
५६. गुणाध्यानस्य गुणिव्यासंजकत्वाधिकरणम् २१२
५७. नारायणस्य स्वतन्त्रोपास्यत्वाधिकरणम् २१३

५८. सप्तचिद्विद्याधिकरणम् २१५
५९. देहव्यतिरिक्तात्माधिकरणम् २२४
६०. ईश्वरस्स्वरूपवज्जीवानुसंधानाधिकरणम् २२८
६१. सर्वशाखासाधारणत्वाधिकरणम् २३०
६२. वैश्वानरोपासनाधिकरणम् २३१
६३. शब्दादिभेदाद्विद्यानानात्वाधिकरणम् २३३
६४. समफलविद्याविकल्पाधिकरणम् २३५
६५. याथाकाम्याधिकरणम् २३७
६६. विद्याविशेषस्य कर्म्माङ्गत्वाभावाधिकरणम् २४०
६७. कर्म्माङ्गस्तुतिनांभावाधिकरणम् २५७
६८. उपनिषदपठितानामाख्यानानांभावाधिकरणम् २५८
६९. कर्मविशेषाणां विद्याङ्गत्वाधिकरणम् २६३
७०. सर्वान्नादस्य आपद्धर्म्मस्य विद्याङ्गत्वाभत्वाधिकरणम् २६४
७१. आश्रमच्युतानां विद्यानधिकाराधिकरणम् २७४
७२. ऋत्विक्कर्तृकत्वाधिकरणम् २७७
७३. विद्यासहकारित्वाधिकरणम् २७९
७४. निर्गुणविद्यानिरूपणम् २८५
७५. निर्गुणोपासनास्वरूपाधिकारः २९०
७६. ईश्वरानतिरिक्तजीवभावनाधिकरणम् २९५
७७. प्रतीकप्रत्यगात्मैक्यभावनाप्रतिषेधाधिकरणम् २९८
७८. निर्गुणविद्यास्वरूपाधिकारः ३०२
७९. आसनध्याननिश्चलत्वैकाग्रत्वयावज्जीवन कर्तव्यत्वाधिकरणम् ३०६
८०. अथोत्क्रान्तिक्रमाधिकारः ३१८
८१. इन्द्रियमनः प्राणभूतमात्रासंकलितविज्ञानोत्क्रमणाधिकरणम् ३१९
८२. विद्वत्साधारणोत्क्रमाधिकरणम् ३२४
८३. आमुक्तिः सूक्ष्मशरीरानुपक्षयाधिकरणम ३२६
८४. सूर्य्यमण्डल भेदितालक्षणमुक्त्यधिकरणम् ३३१
८५. शंकरमते देहपातकालानुत्क्रान्तिमुक्तिविषयाधिकरणम् ३३४
८६. सर्वात्मनैकीभावलक्षणक्रममुक्त्यधिकरणम् ३३६
८७. मृत्युपक्रमाधिकरणम् शंकरस्य ३४०
८८. अथ गतिपादः प्रारभ्यते—देवयानगति क्रमाधिकारः ३४९
८९. आरोहणमार्गपर्वाधिकरणम् ३५३
९०. अर्चिरादीनामातिवासिकत्वाधिकरणम् ३५८
९१. कार्य्यब्रह्मावसानगत्याधिकरणम् ३६०
९२. प्रतीकोपासना विदुषामपि मुक्त्यभावाधिकरणम् ३६४

९३. कार्य्यब्रह्मोपासनैकहेतुकदेवयानगत्याधिकरणम् ३६६
९४. गतिपादस्तृतीयः ३७०
९५. मुक्तिपाद—कैवल्यमुक्त्यधिकारः ३७१
९६. जीवात्मनः परमात्मनासर्वथैकीभावस्य मुक्तित्वाधिकरणम् ३७५
९७. स्वातन्त्र्येणात्मनः संकल्पोपनतसर्वकामाधिकरणम् ३७८
९८. निःश्रेयसमुक्तिविचाराधिकारः ३८२
९९. जगद्व्यापारातिरिक्तसर्वैश्वर्य्यसंपत्याधिकरणम् ३८३
१००. पञ्चाग्निविधायां प्रथमाहुतिविचाराधिकरणं ४०१
१०१. पञ्चाग्निविद्यायां द्वितीयाहुतिविचाराधिकरणं ०३
१०२. तृतीयाहुतिविचाराधिकरणम् ४०८
१०३. चतुर्थाहुतिप्रकरणम् ४१२
१०४. पञ्चमाहुतिप्रकरणम् ४१३
१०५. अप्रययाधेयसर्वधर्मब्रह्माधिकरणं ४३३
१०६. शुद्धातवाद्वैदाधिकरणं ४३६
१०७. ब्रह्मातिरिक्ततत्वप्रतिषेधाधिकरणं ४३९
१०८. ईश्वरस्य फलदातृत्वाधिकरणम् ४४४
१०९. प्रातिस्विकधर्मविचारपाद—उपास्यरूपनिर्णयाधिकरणम् ४४५
११०. भगवद्भक्ति माहात्म्यम्याधिकरणम् ४६२
१११. अथोपासनानिर्णयः ४८१
११२. [प्रातिस्विक्–धर्मपादः–मुख्यधर्मपादः] ४८३

—★—

"पुरोवाक्"

विद्यावाचस्पति समीक्षाचक्रवर्ती श्री पं० मधुसूदनजी ओझा के द्वारा प्रणीत "शारीरकविज्ञानम्" ग्रन्थ का द्वितीयभाग हिन्दी—अनुवाद के साथ विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत हो रहा है, यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। यह ग्रन्थ बहुत पूर्व मुद्रित होने के उपरान्त वर्तमान में अप्राप्त हो चुका था। भगवत् कृपा से श्री ओझाजी के अनेक ग्रन्थ नयी साज–सज्जा अनुवादादि के साथ मुद्रित हो रहे हैं। जिसका प्रमुख श्रेय "राजस्थान पत्रिका प्रकाशन" जयपुर के प्रधान सम्पादक श्रीमान् कर्पूरचन्द्र कुलिश महोदय को जाता है, जिन्होंने न केवल श्री ओझाजी के ग्रन्थों का मनन चिन्तन कर अपने लेखों व्याख्यानों के द्वारा इन गम्भीर विषयों का विद्वत् समुदाय के समक्ष उपस्थापन कर उनका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया, अपितु इस विषय से सम्बद्ध तथा इस विषय में रुचि रखने वाले देश के विद्वानों को श्री ओझाजी के ग्रन्थों को पुनः प्रकाशन के उपक्रम में टीका टिप्पणी अनुवादादि प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित किया तथा उन्हें सर्वविध सुविधाएं उपलब्ध कराने का श्रीगणेश किया। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप श्री ओझाजी के अनेक ग्रन्थ अब तक नयी साज-सज्जा के साथ प्रकाश में आ चुके हैं, प्रस्तुत "शारीरकविज्ञानम्" का यह द्वितीय भाग भी उसी महनीय उपक्रम की एक उपलब्धि है।

"शारीरकविज्ञानम्" नाम का ग्रन्थ भगवान् वेदव्यास द्वारा प्रणीत वेदान्त सूत्रों का श्री ओझाजी के द्वारा किया गया व्याख्यान है। इसमें श्री ओझाजी ने वेदान्त सूत्रों के पूर्वभाष्यकार मुख्यतः श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्य तथा श्रीवल्लभाचार्य के भाष्यों का अपनी हृदयग्राहिणी शैली से संकलन करते हुए स्थान-स्थान पर उनकी समीक्षा भी की है। श्री ओझाजी ने वेदान्त—सूत्रों पर जो अपनी व्याख्या लिखी उसमें उनको अपनी दृष्टि प्रत्येक सूत्र पर पारम्परिक शैली में व्याख्या लिखने की न होकर, एक एक विषय के सूत्रों का संकलन कर उन पर प्राचीन भाष्यों का अपनी भाषा शैली में सार संकलन करने की रही और जहां जहां उन्हें नयी उद्बोधनाएं हुई वहां उनका भी समावेश किया।

श्री ओझाजी के अनुसार अन्य मतों की भांति ईश्वर और जीव का व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध है। जीव व्यष्टि है और ईश्वर समष्टि। परन्तु व्यष्टि और समष्टि के लौकिक दृष्टान्तों से यहां विलक्षणता यह है कि लोक में अनेकानेक व्यष्टियों से समष्टि बनती है, एक एक वृक्ष रूपी व्यष्टि से वन रूपी समुदाय बनता है, एक एक मनुष्य से समाज रूपी समष्टि बनती है, परन्तु ईश्वर और जीव का व्यष्टि समष्टि भाव ऐसा नहीं है कि जीवों का समुदाय या समष्टि ही ईश्वर हो जाय। यहां समष्टि रूप ईश्वर पहिले है उससे व्यष्टि रूप से जीव प्रादुर्भूत होते हैं। जैसे महान् प्रज्वलित अग्नि के ढेर से एक एक विस्फुलिङ्ग पृथक् पृथक् होते हैं वैसी स्थिति यहां ईश्वर और जीव की समझी जानी चाहिए। श्री ओझाजी महाराज के अनुसार इसी बात को दृष्टि में रखकर वेदान्त सूत्रों के प्रारम्भिक दो अध्यायों में ईश्वर का निरूपण है और अन्त के दो अध्यायों में जीव विषयक विवेचन किया गया है।

प्रथम अध्याय में विवेचन विशेषरूप से यह है कि लोक में ऐसे अनेक शब्द प्रयोग में आते है जो कार्य ब्रह्म का कथन करते हैं उनका प्रयोग उपनिषदों में हुआ है और इन शब्दों के उपनिषदों में प्रयोग होने से तथा लोक मे प्रयाग के अभ्यास से ब्रह्म जगत् का उत्पादक है यह सिद्धान्त सन्देह के घेरे में आ जाता है। अत: ऐसे जो शब्द हैं जिनका कि लौकिक प्रयोग कार्य ब्रह्म के विषय में होने के कारण उनका परब्रह्म के लिए प्रयोग सन्दिग्ध हो जाता है, उनका उपनिषदों में जो प्रयोग हैवह परब्रह्म के लिए ही है, इस विषय का प्रतिपादन प्रथम अध्याय में किया गया है। इस प्रकार के कतिपय शब्दों का उल्लेख यहां किया जाता है--ब्रह्म, आत्मा, अन्तरात्मा, आकाश प्राण, ज्योति, छन्द, अत्ता, गूढोत्मा, चाक्षुष, अन्तर्यामी, भूतयोनि, वैश्वानर, द्युम्वाद्यायतन, भूमा, अक्षर, दहर अंगुष्ठादि प्रमित, प्रकम्पन, पर ज्योति अन्तराकाश, विज्ञानमय, अव्यक्त, अजा, पञ्चजन, कारण, कर्ता, भोक्ता, प्रकृति। इन शब्दों के विचार में पूर्व पक्ष और उत्तर पक्षों के द्वारा ये शब्द उपनिषदादि पर ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है।

द्वितीय अध्याय में जगत के निर्माता के विषय में मतों का विमर्श प्रस्तुत हुआ है। यहां, सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध. जैन, माहेश्वर, भागवत मतों का विवेचन करते हुए उन्हें निरस्त करके वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म कारणवाद की स्थापना की गई है। आगे भूत, करण, जीव के विषय में जो अनेक प्रकार के विरोधाभास हैं उनका निराकरण हुआ है। प्राण के सम्बन्ध में प्राण की उत्पत्ति, संख्या, परिमाण श्रेष्ठता, उसके स्वरूप के साधन, प्राणों की पांच वृत्तियां, प्राणों का देवताओं का अधिष्ठान होना, प्राण का जीव में अधिष्ठित होना, मुख्य प्राण का भिन्न तत्त्व होना, आदि का विवेचन हुआ है।

वेदान्त सूत्र का उत्तरार्ध जीव के विवेचन को अपना विषय बनाता है। तीसरे अध्याय में जीव के स्वरूप धर्मों का प्रतिपादन है। उनमें जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, मोह,

मूच्छी मृत्यु ये छः अवस्थाएं व्याख्यात हुई हैं। निर्गुण आत्मा के ज्ञान से परामुक्ति का निरूपण है। सगुण ईश्वर की उपासना से अपरामुक्ति होने का विवरण है, संसार यात्रा स्वरूपा कर्मगति का विवेचन है, ऊपर तथा नीचे के लोकों में आरोहण और अवरोहण के रूप में प्रेत्यभाव का वर्णन है। तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में उपासना का निरूपण है। सगुण ब्रह्मविद्या उपासना कहलाती है। सगुण ब्रह्म समस्त गुणों से परिपूर्ण तथा अङ्गी रूपों से उपास्य होता है। उसे ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर के एक एक अङ्ग का मानों निरूपण हुआ है। यहां ये सगुण ब्रह्म विद्या को अङ्ग विद्या के रूप में निरूपित हैं। इन विद्याओं के नाम हैं शाण्डिल्य विद्या, प्रतर्दन विद्या, बालाकि विद्या, जाबाल विद्या, उपकोशल विद्या, मधु विद्या, परिसर विद्या, संवर्ग विद्या, देवस्मर विद्या, सामविद्या, सामगति विद्या पञ्चाग्नि विद्या, षोडषकला विद्या, भूमाविद्या, वसुधानीकोश विद्या, पञ्चकोश विद्या, आनन्दमय विद्या, अक्षर विद्या, सप्तविद्या, यज्ञ विद्या, आत्मविद्या, आत्मगति विद्या, प्राण विद्या, प्राणसंवाद विद्या, मनोविद्या, ब्रह्म विद्या, उक्थ विद्या, सद्विद्या, प्राजापत्य विद्या, ओंकार विद्या, उदगीथ विद्या, ब्रह्मसत्य विद्या, देवसत्य विद्या, वैश्वानर विद्या, दहर विद्या, गायत्री विद्या, पुरुष विद्या, उत्क्रान्ति विद्या। उपनिषदों में कथित इन विद्याओं के समान नामरूप होने से भेदाभेद—विवेचन विस्तार से यहां प्रस्तुत किया गया है। विद्याओं के भेदाभेद विवेचन का आधार इन विद्याओं का कर्मपरक होना या उपासना परक होना है।

चतुर्थ अध्याय में जीव की विशुद्धि का औपचारिक क्रम निरूपित है वहां निर्गुणोपासना विद्या का स्वरूप, भक्तियोग का प्रकार तथा निर्गुणोपासना का फल दिखाया गया है। चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद में उत्क्रान्ति का क्रम निरूपित है। उत्क्रान्ति का अर्थ है देह से पृथक् होना। शकराचार्य के अनुसार विद्या से नाशित कर्म वालों की देहपात के अनन्तर मुक्ति बतला दी गई है। श्रीरामानुजाचार्य के मत में सूर्यमण्डल का भेदन करने वाली मुक्ति कही गई है। इसी प्रसग में क्रममुक्ति का भी निरूपण हुआ है है और संसरण के उपक्रम का भी विवरण है। तृतीय पाद में आत्मगतियाँ बताई गई हैं इनमें देवयान और पितृयान मार्गों का विवरण देते हुए भगवान् बादरायण श्री रामानुजाचार्य तथा आचार्य जैमिनी के मतों का उपस्थापन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में कैवल्य मुक्ति और परामुक्ति आदि मुक्ति भेदों का आचार्यों के मत देते हुए विवरण किया गया है।

इस प्रकार वेदान्त सूत्रों पर श्री ओझाजी के व्याख्यानात्मक विवरण की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा यहां प्रस्तुत की गई है। जो विषय प्रसङ्गागत रूप से गम्भीरता पूर्वक इस ग्रन्थ में विवेचित हुए हैं, वे तो ग्रन्थ का क्रमशः पर्यालोचन करने पर ही अवगत हो सकते हैं। "शारीरकविज्ञान" ग्रन्थ का निर्माण कर परमपूज्य ओझाजी महाराज ने प्रमुख परम्परा प्रवर्तक महान् आचार्यों के सिद्धान्तों को अत्यन्त सरलता के साथ हृदयंगम करा

देने का अत्यन्त श्लाघनीय तथा सफल कार्य किया है जिसके लिए दार्शनिक जगत् उनका चिरऋणी रहेगा।

प्रस्तुत हिन्दी—अनुवाद में स्थान-स्थान पर त्रुटियों का होना अवश्य सम्भव है, उसके लिए मैं अपने को दोषी स्वीकार करता हूँ परन्तु अपना यह परम सौभाग्य भी मानता हूँ कि मुझ जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति को श्रीमान् कर्पूरचन्द्रजी कुलिश महोदय के निर्देश से इस महान् ग्रन्थ के अध्ययन और अनुवाद का अवसर मिला। मेरे छात्र कलाधर पाण्डेय ने इस ग्रन्थ में भी पुनर्लिपि प्रूफ संशोधन आदि में सहयोग दिया।

आशा है विद्वज्जन अनुवाद की त्रुटियों का संशोधन करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की गंभीरता से स्वयं को आनन्दित करेंगे।

विनीत

गुरुपूर्णिमा
"१९९०"

डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
[का० हि० वि० वि०; वाराणसी]

अथ तृतीये जीवलक्षणाध्याये

प्रेत्यभाव-पादः प्रारभ्यते

३।१

—❀—

विद्यावाचस्पतिः श्रीमान् महार्घ्यो मधुसूदनः ।
इदं शारीरविज्ञानोत्तरार्द्धं वक्तुमुद्यतः ॥१॥

—★—

तत्रादौ जीवस्य मृत्युजन्मावस्थाद्वयाधिकारे—आरोहोपक्रमाधिकरणम्

—❀-❀—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।
।३।१।१।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२।

प्राणगतेश्च ।३।१।३।

अग्न्यादि गतिश्रुतेंरितिचेन्न, भाक्तत्वात् ।३।१।४।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न,ता एव ह्युप पत्तेः ।३।१।५।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।३।१।६।

भाक्तंवाऽनात्मवित्वात् तथाहि दर्शयति ।३।१।७।

हिन्दी–अनुवाद

शारीरक विज्ञानम् द्वितीयोभागः

शारीरक विज्ञान ब्रह्मसूत्र तृतीय अध्याय पाद १ प्रेत्यभाव

—"विद्यावाचस्पति श्रीमान् समीक्षाचक्रवर्ती मधुसूदन ओझा इस 'शारीरक विज्ञान' ग्रन्थ के उत्तरार्ध को कहना प्रारम्भ करते हैं।"

वहां प्रारम्भ में जीव की मृत्यु और जन्म इन अवस्थाओं के दोनों अधिकारों में आरोह का उपक्रम अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। शरीर के छोड़ने के अनन्तर दूसरे लोक या शरीर में जाने के लिए जीवात्मा सम्परिष्वक्त होकर रंहण करता है, यह प्रश्न तथा निरूपण के द्वारा ज्ञात है।

(सू० ३।१।१)

यह जीवात्मा तीन वाला है उन तीन में अधिक का नाम रक्खा जाता है।
(३।१।२)

तथा प्राण की गति के कारण (३।१।३)

अग्नि आदि गति के सुनने से ऐसा है यह नहीं क्योंकि वह गौण कथन है,
(३।१।४)

प्रथम में न सुने जाने से सिद्धान्त विरुद्ध नहीं होता क्योंकि उपपत्ति या युक्तियां वे ही हैं, (३।१।५)

न सुने जाने के कारण यह नहीं हैं ऐसा नहीं क्योंकि इष्ट आदि की प्रतीति है
(३।१।६)

अथवा यह गौण कथन है क्योंकि वहां आत्मवेत्ता नहीं है, यह कहा जा रहा है,
(३।१।७)

अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति (बृ. आ ४। ४) इत्येवमादेः

"अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते

इत्येवमन्तात् संसारप्रकरणस्थश्रुतिवाक्यात् जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्को विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यते इति तावत् सिद्धम्। तत्र

"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददाने—(बृ. ४ । ४)

इति तेजोमात्राशब्देन करणोपादानवद् भूतमात्रोपादानं न श्रूयते तेन भूतमात्रा अनुपादायैव जीवो गच्छतीति प्राप्ते उच्यते—देहान्तरप्रतिपत्तौ जीवो गच्छति देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्त इति ताण्ड्यश्रुतौ पञ्चाग्नि विद्यायामुद्दालकप्रवाहणप्रश्नोत्तराभ्यामवगम्यते । तथाहि—

वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति+(छां ५ । ३ बृ. ६ । २)

अब इसको ये प्राण आते हैं, वृहदारण्यक ४।४)
इत्यादि से—

दूसरा अधिक नहीं और अधिक कल्याण वाला रूप प्राप्त करता है ।

यहां तक संसार के प्रकरण में स्थित श्रुति वाक्य से मुख्य प्राण को सहायक बनाता हुआ जीव इन्द्रिय सहित मन सहित विद्या, कर्म तथा पूर्व प्रज्ञा का परिग्रह करते हुए पिछले देह को छोड़कर दूसरे देह को प्राप्त करता है, यह सिद्ध हुआ, वहां,

"वह इन तेज की मात्राओं को ग्रहण करता हुआ" (वृहदारण्यक उपनिषद् (४।४)

इस प्रकार तेज की मात्रा इस शब्द के द्वारा साधन के ग्रहण के समान भूत की मात्राओं का ग्रहण नहीं सुना जाता । इससे भूत की मात्राओं को बिना लिए ही जीव शरीर को छोड़कर जाता है यह प्रकट होता है । उस पर यह कहा जाता है कि "दूसरे देह का ग्रहण करने के समय जीव शरीर को छोड़कर जाता है, देह के बीजभूत जो सूक्ष्म है, उनसे घिर कर इस ताण्ड्य श्रुति में पञ्चाग्नि विद्या में उद्दालक तथा प्रवाहकण के प्रश्नोत्तर से यह विषय ज्ञात है, स्पष्टता के लिए,

"क्या तुम जानते हो कैसे पांच ही आहुति में जल पुरुष रूप हो जाता है

(छा० उ० ५।३, बृ० उ० ६।२)

प्रश्ने द्युपर्जन्य पृथ्वीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासामवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा—

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति (छां ५।६)

निरूप्यते । तत्र यद्ययं भूतमात्राभिरपरिष्वक्तो गच्छेत् तर्हि प्रत्यवरोहेऽपामनुपस्थितेः श्रद्धाद्याहुत्यसंभवादपां पुरुषरूपता न स्यात् । तस्माद् भूतमात्रान्वितो यातीति लभ्यते । नन्वपां पुरुषाकारपरिणामप्रतीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिष्वङ्गः प्राप्नोति, न सर्वेषां भूतसूक्ष्माणामिति चेन्न । पुरुषदेहारम्भिकाणामपां त्र्यात्मकत्वात् ।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि (छां. ६ । ३)

इत्यपां त्रिवृत् करणश्रुतेः । दृश्यते च देहः सार्वभौतिकः । त्रयाणामपि तेजोऽबन्नानां देहे कार्योपलब्धेः । देहारम्भकद्रव्यस्य सार्वभौतिकत्वेऽपि तस्याप्शब्देन व्यपदेशस्त्वपां भूयस्त्वादुपद्यते । शुक्रशोणितलक्षणे देहबीजे द्रवबाहुल्यदर्शनात् । उत्पन्ने च शरीरे इतर-भूतापेक्षयाऽस्त्यपामेव बाहुल्यम् । बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषां भूतसूक्ष्माणामुपादानम् । अपि च उत्क्रामति जीवे प्राणानां सहानुगतिः श्रूयते ।

तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीति ।

नहि ते प्राणा निराश्रयाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा । जीवतोऽदर्शनात् । तस्मात्तदाश्रयभूतानां भूतसूक्ष्माणामपि गतिः संभाव्यते ।

इस प्रश्न पर स्वर्ग पर्जन्य अर्थात् मेघ, पृथ्वी, पुरुष तथा स्त्री में इन पांच नित्य अग्नियों में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न तथा वीर्य इन रूपों में पांच आहुतियों को दिखाकर अन्त में पांचवीं आहुति से जल, पुरुष रूप में पहुंचता है ।

यह निरूपण किया गया । वहाँ यदि यह भूत मात्र से असम्बद्ध रहकर देह को छोड़कर जाता है तो वापस लौटने पर अर्थात् प्रत्यवरोह में जल की अनुपस्थिति के कारण श्रद्धा आदि आहुति असम्भव हो जाएगी और जल की पुरुष रूपता नहीं हो सकेगी,

उन भूत मात्राओं से अञ्जित होकर ही यह जीव शरीर छोड़कर जाता है यह प्राप्त होता है ।

पूर्व पक्ष है कि अप् के पुरुष के आकार के परिणाम की प्रतीति के कारण जीव से अप् का ही परिष्वङ्ग प्राप्त होता है न कि सारे ही सूक्ष्म भूत आभिष्वंग में जाते हैं, तो यह पूर्व पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि पुरुष के देह के आरम्भक जो अप् है वे तीन रूपों से युक्त है (त्र्यात्मक है) ।

—"उनको तीन तीन से एक एक बनाता हूं"— (छा. उ. ६।३)

इससे अप् का त्रिवृत्करण सुना जा रहा है । देह को हम समस्त भूतों से युक्त देखते हैं । तेज, अप्, अन्न इन तीनों के कार्य की देह में उपलब्धि होती हे । देह के आरम्भ करने वाले द्रव्य के सभी भूतों से युक्त होने पर भी उसके लिए केवल अप् शब्द का प्रयोग तो केवल अप् तत्व की वहां अधिकता की सूचना देता है । देह का बीज जो शुक्र तथा शोणित स्वरूप वाला है । उसमें द्रव्य का बाहुल्य है । शरीर के उत्पन्न होने पर अन्य भूतों की अपेक्षा अप् (जल) की ही बहुलता होती है । बाहुल्य के कारण अप् शब्द से समस्त सूक्ष्म भूतों का ग्रहण हो जाता है । तथा च जीव के उत्क्रमण करने पर प्राणों का उनके साथ ही उत्क्रमण सुना गया है—

"उसके उत्क्रमण करने पर प्राण उसके साथ ही उत्क्रमण करते हैं, प्राण के उत्क्रमण करने पर सभी उत्क्रमण करते हैं"—

ये प्राण निराश्रय होकर कहीं न तो उत्क्रमण कर सकते हैं न जा सकते हैं। जीवित के साथ ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए प्राण के आदि भूत महाभूतों के सूक्ष्म रूप की भी गति संभावित है।

ननु नैते प्राणा जीवेन सह गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः।

यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्य (बृ. ३।२।१३)

मित्यादिना हि प्राणानामन्यत्रान्यत्र गतिः श्रूयते। इति चेन्न। ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा इत्येवमनपियतामपि लोमकेशशानामप्ययाम्नानात् तादृशश्रुत्या भाक्तत्वात्। वागाद्यधिष्ठातॄणां हि अग्न्यादिदेवतानामुपकारनिवृत्तिमात्रापेक्षया तथोपचारात्।

ननु पञ्चाग्नि विद्यायां प्रथमेऽग्नौ श्रद्धाहुतिश्रवणेऽप्यपामश्रवणान्न भूतसूक्ष्माणां जीवेन गच्छता परिष्वङ्गः प्राप्नोतीति चेन्न। ता एवापस्तत्र श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। अपां पुरुषवर्चस्त्वप्रकारे पृष्टे तत्प्रतिवचनैकवाक्यतानुरोधाच्छ्रद्धाशब्देनाप्यपामेव ग्रहणस्योपपत्तेः। प्रत्ययविशेषतया प्रसिद्धाया अपि श्रद्धाया अप्प्रयुक्ततया ताच्छब्द्योपपत्तेः। श्रूयते हि—

"आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे"—इति।

अपः प्रणयति, श्रद्धा वा आपः"—इति च

नन्वाप एव श्रद्धादिक्रमेण पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन् न तु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात्। नह्याप इव जीवास्तत्र श्रूयन्ते इति चेन्न। इष्टादिकारिणां प्रतीतेः।—

"अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति"—

इत्युपक्रम्य पितृयानेन यथा चन्द्रप्राप्ति कथयति

पितृलोकादाकाशम्, आकाशाच्चन्द्रमसमेषु सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा अथैनमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम् इति।

सन्देह किया जाता है कि ये प्राण जीव के साथ नहीं जाते क्योंकि श्रुति में अग्नि आदि की गति का विवरण

—"इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में विलीन होती है, प्राण वायु में लीन होती हैं, आदित्य में लीन होती है।"—

इत्यादि के द्वारा प्राणों की गति अन्यत्र सुनी गई है। ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि—

"लोम औषधियों में लीन होते हैं केश वनस्पतियों में लीन होते हैं"—

इस प्रकार मृत के साथ न जाने वाले लोम और केशों के विलीन होने की बात कहकर इस कथन गौण होने की बात सूचित होती है। वाक् आदि के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवताओं के उपकार की निवृत्ति मात्रा की अपेक्षा से ऐसा औपचारिक कथन या गौणार्थ बोधक कथन किया गया हे।

पुनः प्रश्न होता हैं कि पञ्चाग्नि विद्या में प्रथम अग्नि में श्रद्धा की आहुति के श्रवण होने पर भी अप् का श्रवण न होने से सूक्ष्म भूतों को जाते हुए के साथ परिष्वङ्ग नहीं होता यह सिद्ध होता है। यह प्रश्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसी अप् तत्व का कथन वहां श्रद्धा शब्द से हुआ है। अप् की पुरुष शब्द से बोध्यता के रूप में पहुंचने के प्रकार के पूंछे जाने पर उसके उत्तर को एक वाक्य में सगति जमाने के लिए श्रद्धा शब्द से भी अप् का ही ग्रहण होना युक्ति सिद्ध होता है। यद्यपि श्रद्धा एक विशेष प्रकार के प्रत्यक्ष या ज्ञान के रूप में प्रसिद्ध है, तथापि यहां अप् के लिए प्रयुक्त होने से अप् के लिए श्रद्धा का प्रयोग हुआ है। कहा गया है कि—

— "पुण्य कर्म के लिए जल उसके लिए श्रद्धा का नमन करते हैं"—

—"अप् से प्रणय होता है, श्रद्धा ही अप् है"—

तब अप् ही श्रद्धा आदि के क्रम से पुरुष के आकार को प्राप्त करेगा न कि उससे परिव्याप्त जीव आगे रंहण करेगा। क्योंकि जीव का रंहण सुना नहीं गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वहां अप् शब्द से जीव ही सुना जा रहा है,

—जो ग्राम में इष्टा आपूत में देना यह सोचकर उपासना करते हैं वे धूम में उत्पन्न होते हैं'—

ऐसा उपक्रम करके पितृयान से जैसे चन्द्र की प्राप्ति कही गई है—

—"पितृ लोक से आकाश में, आकाश से चन्द्रमा में, जहां सोम राजा है, वह देवों का अन्न है, देव उसका भक्षण करते हैं। वहां जब तक निवास करना है तब तक रह कर तब इसी मार्ग से पुनः वापिस लौटते हैं, जैसे गए थे"—

वही यहां भी प्रतीत हो रहे हैं

त एवेहापि प्रतीयन्ते—तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति"—इति।

श्रुतिसामान्यात्। ननु—

"एष सोमो राजा क्षीयस्वे तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति"—

इति श्रुतेः।

ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति । तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति"—

इति श्रुतेश्च धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावश्रवणाद् देवैर्भक्ष्यमाणानामेषां जीवानां नोपभोगः संभवतीति चेद्—अत्रोच्यते । भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम् अन्नशब्दस्योपभोगहेतुसामान्यादनन्नेऽप्युपचारदर्शनात् । यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति । तत्र राजोपजीविनां परिजनानामिव वशवर्तित्वं विधेयत्वं यथेच्छसुखविहरणादिसाधनत्वमेवैषामन्नत्वं न तु चर्वणनिगरणादिलक्षणं तदिहापेक्ष्यते ।

न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्तिः एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति"—

१, श्रद्धा का एक लक्षण है—"दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्ति"— भाव यह कि मानव में दोष दर्शन के अनुकूल प्रवृत्ति विद्यमान रही है। कहीं भी कुछ न कुछ दोष मिल ही जाता है। मस्तिष्क को। परन्तु जहां श्रद्धा होती है वहां दोष दर्शन के अनुकूल होने वाली चित्तवृत्ति व प्रतिबन्ध हो जाता है। उसी का नाम श्रद्धा है।

"उस अग्नि में देवगण श्रद्धा का हवन करते हैं, उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है, श्रुति की सामान्यता भी हेतु है, प्रश्न होता है कि—

—"यह सोम नाम का राजा है, वह देवताओं का अन्न है, उसका देवगण भक्षण करते हैं"—

इस श्रुति के द्वारा यह कहा गया है कि—

—"वे चन्द्रमा में पहुँच कर अन्न हो जाते हैं वहां उनको देवगण"—

—"तृप्त करो, तृप्त करो," ऐसा कहते हुए जैसे सोम का भक्षण करते हैं वैसे ही इनका भी भक्षण करते हैं"—

तथा इस श्रुति के आधार पर धूम प्रतीक वाले मार्ग से जो चन्द्रमा में आरूढ़ हो गए वे अन्न भाव को प्राप्त हो गए, यह सुना गया, तब ये जीव देवों के द्वारा भक्ष्यमाण हो जाते है, उस अवस्था में ये भोग कैसे प्राप्त करेंगे (जो स्वयं भोग्य हो चुके देवों के अन्न के रूप में वे भोक्ता कैसे बनेंगे) उनके द्वारा उपभोग की संभावना नहीं है, इस प्रश्न पर कहा जाता है कि ऐसा नहीं है, इनको जो अन्न कहा जा रहा है, वह अन्न शब्द अपने गौण अर्थ में प्रयुक्त है, अन्न शब्द से वहां अन्न का मुख्य अर्थ अभीष्ट नहीं है। अन्न शब्द के उपभोग के हेतु के सामान्य अर्थ में अन्न शब्द का गौण अर्थ देखा जाता है जैसे--

--"वश्य राजा का अन्न है पशु वैश्यों का अन्न हैं"--

वहां राजा के उपजीवी जो परिजन हैं, उनका वशवर्ती होना, उनका आज्ञापालक होना, अपने यथेच्छ सुख विहार आदि में उनका साधन बनना यही उनकी अन्नरूपता है,

ऐसा नहीं है कि जैसे अन्न को चबाया जाता है, निगला जाता है, वैसे राजा अपने नौकरों को चबाता या निगलता है।

—"देवता तो न खाते हैं, न पीते हैं। इसी अमृत को देख करके तृप्त होते हैं"—

इति श्रुत्या चर्वणाविलक्षणस्यान्नभावस्य निराकरणात्। अनात्मवित्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यत्वमुपपद्यते। तथा हि दर्शयति श्रुतिः—अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद। यथा पशुरेवं स देवानाम्"—इति अथवान्यथा व्याचक्ष्महे। इष्टादिकारिणो ह्येते केवलकर्म्मिणो न ज्ञानसमुच्चितकर्मकारिणः। तस्मादात्मविद्याराहित्यादेषां देवभाग्यत्वलक्षणमन्नत्वं भाक्तमुपचार्यते न तु सवथा भोग्यत्वमेवास्ति। भोक्तृत्वस्यापि तेषां दर्शनात्। तथाहि दर्शयति भोक्तृत्वमेषां श्रुतिः—"स सोमलोके भूतिमनुभूय पुनरावर्तते"—इति "अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंजयन्ते" —इति च। तथा चैषां जीवानामप्शब्दोपात्तैर्मूर्तसूक्ष्मैः प्राणैश्च सह संपरिष्वक्तानां गमनं सिद्धम्।

इत्येवमारोहोपक्रमाधिकरणं शंकररामानुजादयो व्याचक्षते ॥

इस श्रुति से चबाना आदि जो अन्न का रूप है उसका यहां निराकरण किया गया है। इष्टापूर्त आदि का अनुष्ठान करने वाले आत्मवेत्ता नहीं है, इस हेतु से वे देवों के उपभोग्य बनते हैं। इस बात की श्रुति दिखलाती है कि—

जो देवता की अन्य रूप से उपासना करता है –

—"यह अन्य है, मैं इससे भिन्न अन्य हूँ" –

ऐसा समझता है, वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है, वैसे ही वह होता है देवों के लिए"—

अथवा दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है कि–इष्टापूर्त आदि का सम्पादन करने वाले ये कर्मकाण्डी गण केवल कर्मों के सम्पादक मात्र हैं, 'ये ज्ञानपूर्वक कर्मों के सम्पादक नहीं होते। इसलिए आत्मविद्या से रहित होने के कारण ये देवों के भोग्य होते हैं अतः देवों का भोग्यत्व रूप जो गौण अन्नत्व है वह इनमें है, ऐसा नहीं है कि ये जैसे अन्न खाया जाता है वैसे अन्नत्व इनमें हो। क्योंकि इनको भोक्ता भी बतलाया गया है। इनका भोक्ता होना श्रुति बतला रही है कि—

"—वह सोम के लोक में ऐश्वर्य का भोग करके पुनः लौटता है"—

"—लोकों को जीतने वाले पितरों के जो सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवों का एक आनन्द है, कर्म देव वे हैं जो कर्म विहित कर्मों सम्पादन के द्वारा (यज्ञादि अनुष्ठानों के द्वारा) देवत्व पर विजय प्राप्त करते हैं"—

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शरीर का परित्याग करने वाले जीव अप् शब्द से बोधित होने वाले सूक्ष्मभूत तथा प्राणों के साथ संपरिष्वक्त होकर गमन करते हैं।

इस प्रकार शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य आदि आरोहोपक्रम नामक अधिकरण की व्याख्या करते हैं।

वयं तु ब्रूमः। पूर्वेणाध्यायद्वयेनात्मनः स्वरूपं निरूपितम्। तच्चशरीरारम्भक-भूतप्राणेन्द्रियादिविलक्षणं विशुद्धं किञ्चित् तत्वमिति स्थितम्। तथा चैतस्यात्मनः शरीराद्बहिर्गमने शरीरारम्भकभूतप्राणादिव्यावृत्तस्वरूपस्यैव तस्य शुद्धतत्वस्य गमनमर्थप्राप्तं भवति। न च तदवकल्पते। विशुद्धरूपस्यात्मनो व्यापितया देहाद्बहिर्गमनायोगात्। अतो निर्णयमाह। तदन्तरप्रतिपत्तौ तस्माद्देहाद्बहिर्योगप्रतिपत्तौ तस्यात्मनो वा बहिर्योगप्रतिपत्तौ न विशुद्धस्वरूपमात्रेणायमुत्क्रमते अपितु संपरिष्वक्तो गच्छति। शरीरत्यागेऽपि शरीरारम्भकभूतप्राणेन्द्रियादिभिः कैश्चिदर्थैः परिवृत एवायं बहिर्भवति इत्युद्दालकप्रवाहणयोः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां गम्यते। तत्र हि अपां पुरुषवचस्त्वमाख्यातम्। यदि जीवात्ममात्रं गच्छेत् स एव तर्हि प्रत्यावृत्तो जन्म गृह्णन् पुरुषः स्यात्। तथा चापां पुरुषवचस्त्वाख्यानमनवक्लृप्तं स्यात्। तस्माद् भूतसूक्ष्मैः परिवृत आत्मागच्छतीति तावत् सिद्धम्।

हमारा कहना यहाँ यह है कि पहले के दो अध्यायों में आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया, वह शरीर को आरम्भ करने वाले भूत तत्व प्राण, इन्द्रिय, आदि से विलक्षण विशुद्ध कोई तत्व है यह स्थिति है, अब जब उस आत्मा का शरीर से बाहर गमन होता है तो शरीर का आरम्भ करने वाले भूत, प्राण, आदि से पृथक् उस शुद्ध तत्व का ही गमन अर्थतः प्राप्त होता है। और यह सम्भव नहीं है क्योंकि विशुद्ध रूपवाला आत्मा सर्वत्र व्याप्त होने के कारण कहाँ नहीं है जहाँ जाएगा। अत; निर्णय कहा जाता है कि शरीर को छोड़ने पर अथवा उस आत्मा के शरीर से बाहर जाने पर वह आत्मा अपने विशुद्ध मात्र रूप से बाहर नहीं जाता अपितु घिरकर जाता है, शरीर के त्याग होने पर भी शरीर का आरम्भ करने वाले भूत, प्राण इन्द्रिय आदि कुछ तत्वों से घिरा हुआ ही यह शरीर से बाहर होता है, यह बात उद्दालक तथा प्रवाहण के प्रश्न और उत्तर से ज्ञात होती है, वहां के प्रसंग में अप् का पुरुष रूप होना बतलाया गया है यदि विशुद्ध जीव मात्र शरीर से बाहर गमन करे तब वही वापस लौटकर जन्म ग्रहण करता हुआ पुरुष का रूप धारण करे उस स्थिति में अप् के पुरुष रूप के धारण करने को बात कहना निरर्थक हो जाएगा इसलिए सूक्ष्म भूतों से घिरा हुआ आत्मा गमन करता है, यह सिद्ध हुआ।

ननु तत्रापां श्रवणादद्भिरेव संपरिष्वक्तः प्राप्नोति तत्कथं भतसूक्ष्मैरित्युच्यते इति चेत्। त्र्यात्मकत्वात् तासामपामिह सर्वभूतग्रहणं प्रतीमः। नहि तेजोऽवन्नानां भूतसूक्ष्माणामेकैकस्येतरासंपरिष्वक्तस्य कुत्रचिदवस्थानं दृष्टम्।

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति"

त्रिवृत्करणश्रुतेः सर्वत्र त्रयाणां संयुक्तानामेवोपलब्धेः ।

ननु तर्हि त्रयाणामपि सत्वे कथमपामेव तत्रोपादानमिति चेद् भूयस्त्वादिति ब्रूमः । एकैकस्य भूयस्त्वात् त्रिवृत्कृतान्यपि त्रीणि भवन्ति तेजश्चापश्चान्नं चेति । तथा च भूयसीभिरद्भिः सहकृतयोस्तेजोऽन्नयोरप्संज्ञेति कृत्वा तथाविधाभिरद्भिः संपरिष्वक्तरूप आत्मागच्छतीतियुक्तम् । अथ न केवल भूतसूक्ष्मयोगादेव सपरिष्वक्तः अपि तु प्राणगतेश्चायं संपरिष्वक्तः प्रत्येतव्यः । मुख्यप्राणश्चेन्द्रियप्राणाश्च सह गच्छन्तीत्यतस्तैरप्ययं संपरिष्वक्तो गच्छति । ननु नेन्द्रियप्राणाः सह गच्छन्ति—

"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्"—

इत्यादिश्रुत्या तेषामग्न्यादिष्वभिगमनश्रवणादिति चेन्न तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः इत्यादि छान्दाग्यश्रुत्या हार्द्दात्मानुगतदेवभाक्तत्वादेषां वागादिप्राणानां शरीरस्थितान्यान्यप्रदेशव्यापृतानां सुषुप्तिमृत्युकाले इन्द्रियस्थानेभ्यस्तेभ्य उपसंहारदाहृदयस्थितम् विज्ञानात्मसंसक्तेषु स्वप्रकृतिभूतेषु तत्तदेवेष्वेवोपनिवेशोऽनया श्रुत्या प्रतिपाद्यते । अत एव भूतसूक्ष्मवत् प्राणवच्चैषां देवानामप्यात्मना सहैव गमनात्तदक्षरे प्रतिष्ठानं श्रूयते—

"विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति" । तथा च भूतैर्मुख्यप्राणेनेन्द्रियप्राणैस्तदधिष्ठातृदेवैश्च संपरिष्वक्त आत्मा गच्छतीति निष्कर्षः सिद्धः ।

प्रश्न होता है कि उक्त सन्दर्भ में उद्दालक प्रावाहणि के प्रश्नोत्तर के उक्त सन्दर्भ में अप् का श्रवण हुआ है, अतः अप् से घिरकर जोव का गमन सिद्ध होता है, वहाँ भूतों के सूक्ष्म रूप से घिरकर गमन करने की बात कहाँ से आई । इनका उत्तर है कि अप् त्रिगुणित (त्रिवृत) है । अतः अप् से घिरे होने का अर्थ ही सूक्ष्म भूत तत्त्व से घिरना हो जाता है ऐसा नहीं है कि तेज, अप् अन्न, जो भूतों के सूक्ष्म रूप हैं उनका एक दूसरे के स्पर्श के बिना कोई स्वरूप कहीं देखने में आता है ।

"—उनको तीन-तीन गुणा करता हूँ"—

इस त्रिवृत्करण श्रुति से यह ज्ञात होता है कि तेज अप् और अन्न में ये जहाँ कहीं मिलेंगे वहाँ सर्वत्र तीनों संयुक्त ही रहेंगे ।,

पुनः प्रश्न होता है कि जब ये तीन ही सर्वत्र उपलब्ध हैं, और इनसे घिरकर जीव का बहिर्गमन होता है, तब केवल अप् का ही नाम क्यों लिया गया, उसका उत्तर है कि आधिक्य के कारण त्रिवृत् करण में प्रत्येक में तीन के समाविष्ट हो जाने पर भी तेज, अप् और अन्न यह व्यवहार तीन-तीन में उस तत्त्व की प्रधानता के कारण होता

है। अर्थ यह निकला कि अधिक मात्रा में अप् तथा सहकारी मात्रा में तेज और अन्न होने पर जिसकी संज्ञा अप् है ऐसे अप् से घिरकर (सम्परिष्वक्त होकर) आत्मा गमन करता है।

पुनश्च न केवल भूतों के सूक्ष्म रूप के लोभ से सम्परिष्वक्त होकर आत्मा का गमन होता है अपितु मू० पृ० ४ प्राण की गति से भी आत्मा सम्परिष्वक्त है यह समझना चाहिए, गमन काल में मुख्य प्राण तथा इन्द्रिय प्राण ही साथ जाते हैं अतः जीवात्मा उनसे भी घिरा है :

सन्देह किया जाता है कि इन्द्रिय प्राण साथ नहीं जाते।

--"जहाँ इस मृत पुरुष की वाणी अग्नि में विलीन होती है, उसका प्राण वायु में विलीन होता है, उनका चक्षु आदित्य में विलीन होता है"--

इत्यादि श्रुति के द्वारा उन इन्द्रिय प्राणों का अग्नि आदि में विलयन सुना जाने के कारण आत्मा के साथ उनका गमन सम्भव नहीं है। यह प्रतीत हो रहा है यह शका नहीं होती,

--"उसके हृदय की पाँच देव सुषियाँ '--

इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के द्वारा हृदयस्थित आत्मा से अनुगत देव के गौण होने से इन वाक् आदि प्राणों का (जो शरीर में स्थित अन्य-अन्य प्रदेशों में फैले हुए हैं, और सुषुप्ति तथा मृत्युकाल में उनके इन्द्रिय स्थानों से उपसंहार होकर वे हृदय में स्थित हो जाते हैं तथा विज्ञान आत्मा में संशक्त अपने प्रकृति के भूतों में उन-उन तत्त्वों में उनका उपनिवेश इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित हो रहा है। इसलिए) सूक्ष्म भूतों की तरह तथा प्राण की तरह देवों का भी आत्मा के साथ ही गमन होने से उनका अक्षर में प्रतिष्ठित होना सुना जाता है,

--'यहाँ समस्त देवों के साथ तथा प्राण और भूतों के साथ विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है, हे सौम्य जो उस अक्षर को जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, और सबमें प्रवेश कर जाता है''--

निष्कर्ष यह है कि भूत, मुख्य प्राण, इन्द्रिय प्राण, और उनके अधिष्ठाता देवगण इन सबसे सम्परिष्वक्त होकर या घिरकर आत्मा का शरीर छोड़ने पर गमन होता है।

अथभतसूक्ष्मविषये काचिच्छङ्कावशिष्यते ततस्तत्पुनः प्रत्यामृशति–प्रथमेऽश्रवणादिति। भूतसंपरिष्वङ्गे तावत् प्रश्नप्रतिवचनश्रुतिः प्रमाणीक्रियते। किन्तु तया श्रुत्या भविष्यच्छरीरोपादानत्वेनापां श्रवणमस्ति। ननु तावता प्रथमे शरीरे तासामपां संनिधानं श्रूयते। प्रथमशरीरात्त्वात्मनो बहिर्योगः संप्रति विवक्षित इति न तत्र प्रश्ननिरू-

पणाभ्यामात्मनोऽद्भिः संपरिष्वङ्गः शक्यते प्रतिपत्तुमिति चेन्न । प्रथमशरीरतोऽपामनारोहणे तदसंपरिष्वक्तस्यैवात्मनः प्रत्यवरोहसंभवादपां पुरुषवचस्त्वाख्यानमसंलग्नं स्यात् । तस्मात् ता आप एवारुह्य पुनः प्रत्यवरोहे पुरुषवचसो भवन्तीत्युपपद्यते । अपि च भविष्यच्छरीरोपादानत्वेनापां श्रवणात् प्रथमेऽपि शरीरे ता एवापः शरीरारम्भकत्वेन संभाव्यन्ते ।

अब सूक्ष्म भूतों के विषय में एक शंका अवशिष्ट रह जाती है, इसलिए सूत्र का पुनः परामर्श किया जाता है,

--"पहले न सुनने के कारण"--

भूतों से घिरकर आत्मा के जाने के सन्दर्भ में प्रश्न और प्रतिवचनात्मक श्रुति प्रमाण है, किन्तु उस श्रुति के द्वारा अग्रिम शरीर की प्राप्ति के विषय में अप का श्रवण है परन्तु इससे पूर्व के शरीर में उस अप् का संनिधान था, यह सुनने में नहीं आया । आत्मा का प्रथम शरीर से बाहर होने का योग वहाँ विवक्षित है इसलिए वहां प्रश्न और निरूपण में आत्मा का अप् के साथ सम्बन्ध नहीं समझा जा सकता, तो यह कथन समीचीन नहीं है, प्रथम शरीर से अप् के आरोहण न करने पर उससे असम्बद्ध आत्मा का ही प्रत्यवरोह (पुनर्जन्म) सम्भव होगा, उस स्थिति में अप् की पुरुष रूप प्राप्ति का कथन अयुक्त हो जाएगा इसलिए वह अप् ही देह त्याग के समय ही आत्मा पर आरोहण करके क्रमशः प्रत्यावरोह में (पुनशरीर ग्रहण) पुरुष रूप प्राप्त करता है, यह युक्ति संगत हैं,

पुनश्च भविष्य के शरीर के ग्रहण में अप् का श्रवण होने से प्रथम शरीर में भी वही अप् शरीर का आरम्भक था यह सम्भावना बन जाती है ।

आरोहावरोहयोः पर्यायतः प्रवृत्तयोः क्रमिकतया प्रथमस्यापि शरीरस्य ताभिरेवाद्भिरुपपत्तेः । ननु सत्यमुपपद्यते किन्तु श्रुत्या नापः श्रूयन्ते । अश्रुतत्वाच्च न भूतपरिष्वङ्गः प्रमाणमिति चेन्न । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।

—"य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ती"—

त्युपक्रम्य—

—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्" —

इति श्रुतौ यथेतमिति शब्देनावरोहणस्यारोहणप्रकारसाम्येनोपदेशादवरोहणं श्रुतानामपामारोहणेऽपि संनिधानं प्रतीयते । अपि वा भूतानि च प्राणाश्च देवाश्च पूर्वप्रज्ञा च विद्याकर्मणी चेत्येतत्सर्वमिदमस्य जीवस्य भक्तिसिद्धं प्रत्येतव्यं अनात्मवित्वात् । तथा हि दर्शयति श्रुतिरनात्मवित्प्रकरणे तेषां धर्माणामात्मभक्तित्वम्—

—"स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोध-

मयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारो पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।

स विज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञान्वेति इति च। आत्मविदो हि विद्याप्रभावात् सर्वेऽप्येते धर्मा निवर्तन्ते।

— "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते इति—

"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः"

इति च श्रुतेः। तथाचायमात्मवित्। निरस्तसमस्तप्रपञ्चो निर्विशेषः संपद्यते न त्वेवमनात्मवित्तं धर्मैः कदाचित् परिहीयते। तथा च, भूतादीनामनात्मविदात्मभक्तित्वात् तैर्भूतादिभिः संपरिष्वक्त एवात्मा गच्छतीति सिद्धम्।

। इत्यारोहोपक्रमाधिकरणम्।

आरोह और अवरोह (देहत्याग और देहग्रहण) ही प्रवृत्ति पर्याय अर्थात् क्रम से होतो है इसलिए क्रमिक रूप से प्रथम शरीर की उत्पत्ति भी उसी अप् तत्त्व से है, यह बात युक्तिसंगत है,

ठीक है कि युक्ति संगत है, यह बात परन्तु श्रुति वाक्य में तो अप् का श्रवण नहीं है, और श्रुति में न होने के कारण आत्मा अप् अर्थात् भूतों से परिष्वक्त होकर गमन करता है। यह प्रमाणित नहीं होता, इस प्रश्न का उत्तर है कि वहां इष्ट आदि का अनुष्ठान करने वालों की प्रतीति होती है।

—"जो ये लोग ग्राम में इष्टा पूर्ति के लिए दिया, ऐसी उपासना करते हैं, वे धूप में उत्पन्न होते हैं," यह उपक्रम करके—

—"अब इसी मार्ग से लौटते हैं, जिससे गए थे"—

इस श्रुति में "—जैसे गए थे"—

इस शब्द से अवरोहण के आरोह के प्रकार के साथ साम्य का उपदेश होने से अवरोहण में सुने गए 'अप्' का आरोहण में भी संनिधान प्रतीत हो रहा है।

और यह भी समझने की बात है कि भूत, प्राण, देव, पूर्व प्रज्ञा, विद्या, कर्म ये सब जीव के सन्दर्भ में गौण हैं उसके अनात्मवेत्ता होने के कारण इसी विषय को अनात्मवेत्ता के प्रकरण में उन धर्मों का आत्मा के प्रति गौण भाव श्रुति ने दिखाया है कि—

—"वह है यह आत्मा या ब्रह्म जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय,

अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, सर्वमय, इदंमय, अदोमय, ऐसा यथाकारी यथाचारी वैसा होता है, साधु होता है, पापकारी पापी होता है, पुण्य कर्म से पुण्यवान् होता है, पाप कर्म से पापी होता है"—

आत्मवेत्ता के विद्या के प्रभाव से ये सभी धर्म निवृत्त हो जाते हैं

—"वहाँ से सभी पाप निवृत्त हो जाते हैं"

—"ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध सत्त्वयुक्त होकर तब उस निष्कल का ध्यान करता हुआ देखता है"—

इन श्रुति वाक्यों से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार यह आत्मवेत्ता है। वह समस्त प्रपञ्च को निरस्त करके निर्विशेष हो जाता है। अनात्मवेत्ता उन धर्मों से कभी अलग नहीं होता। इस प्रकार भूतादि के अनात्मवेत्ता होने के कारण आत्मा के सहचर होकर रहने वाले भूतादि से संपरिष्वक्त होकर ही आत्मा का देहोत्तर गमन होता है यह सिद्ध हुआ।

अवरोहक्रम अधिकरण

अवरोहोपक्रमाधिकरणम्

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।३।१।८।

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।३।१।९।

आनर्थक्यमिति चेन्न, तदपेक्षत्वात् ।३।१।१०।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।३।१।११।

"तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्"।

इत्यादिश्रुत्या इष्टादिकारिणां धूमादिमार्गतश्चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते। तत्र यावत्संपातमित्युक्तेः कृत्स्नस्य कर्माशयस्य तत्रैव भुक्तो निरनुशयानामवरोहः प्राप्नोति।

—"तेषां यदा तत्पर्यवैति"—

इति श्रुत्यन्तराच्च। यत्तु यावदमुष्मिन् लोके उपभोक्तव्यं कर्म तस्यैव कृत्स्नस्य तत्रोपभोगो नत्वनारब्धफलस्यापीति कश्चित्कल्पयेत्। तदसत्।

"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्।

तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे"—

इति श्रुत्यन्तरे यत्किञ्चेत्यविशेषपरामर्शात् । इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः चन्द्रमसि कृत-कर्मभोगावसाने सानुशयाः पृथ्वीमवरोहन्तीति । दृष्टो हि जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान. आकस्मिकत्वासंभवादनुशयसद्भावं सूचयति ।

—"यहाँ यथाकाल निवास करके उसी मार्ग से लौटते हैं जिससे गए थे" इत्यादि श्रुति वाक्य से इष्ट आदि का सम्पादन करने वालों का धूम आदि मार्ग से चन्द्रमण्डल पर आरोहण होकर भोग प्राप्त करने के अनन्तर वापस उतरना कहा जा रहा है। वहाँ यथाकाल अथवा 'यावत् सपात' निवास करने की जो बात सामने आती है, उससे अपने समस्त कर्मों के फलों का भोग वहीं पूरा करना प्राप्त होता है, और सम्पूर्ण कर्मों के भोग के अनन्तर जब वे कर्मों के अनुशय से शून्य हो जायेंगे तब उनका वहां से अवरोहण होगा, यह अर्थ प्रतीत हो रहा है।

—"उनका वहां भोग पूर्ण हो जाता है"

इस अन्य श्रुति वाक्य का भी यही निष्कर्ष है। यदि यहाँ कोई यह कल्पना करे कि उस लोक में रहकर जिन कर्मों का उपभोग करना निर्धारित है उसी सम्पूर्ण कर्म का वहाँ उपभोग होगा, उस कर्म का उपभोग वहाँ नहीं होगा, जिसके फल का अभी आरम्भ नहीं हुआ है तो यह कल्पना असत् है।——

"यहाँ यह जो कुछ करता है उस कर्म के फल का अन्त पाकर उस लोक से इस लोक में कर्म करने के लिए पुनः आता है"——

इस अन्य श्रुति में "जो भी कुछ कर्म किया है, उसका अन्त पाकर" यह बात बिना किसी विशेषण के कही गई है, अतः जिनका फल प्रारम्भ नहीं हुआ है ऐसे ही कर्मों का फल वहाँ प्राप्त करता है यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता,"

इस पक्ष के उपस्थित होने पर हमारा कथन यह है कि चन्द्रमा में अपने किये हुए कर्मों के भोग के पूर्ण हो जाने पर अनुशय के साथ जीव पृथ्वी पर अवरोहण करते है। देखा गया है कि जन्म से ही पृथक्-पृथक् प्राणी ऊँचे-नीचे उपभोग प्राप्त करते हैं, वह उनका उपभोग विभक्त होता है वह आकस्मिक नहीं हो सकता, अतः अनुशय ही उसका कारण निर्धारित होता है और ये जीव अनुशय को साथ लेकर ही पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं यह बात सूचित होती है। पुनश्च श्रुति इस विषय को प्रत्यक्ष दिखाती है—

श्रुतिश्च प्रत्यक्षं दर्शयति-—

तद् य इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् । अथ य कपूयचरणाः——अभ्याशो ह यते कपूयां योनिमापद्येरन् ।

इति। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति च । स्मृतिरपि च वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्यकर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति इति गौतमीया "तथा ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिरूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रपद्यन्ते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तत" इत्यापस्तम्बीया च सानुशयानामेवारोहं दर्शयति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजाते उपभुक्तेऽविशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति प्रतिपत्तव्यम्। ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति। धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद् आरोहणधर्मसादृश्येनावरोहणं प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते।

"—जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं वे रमणीय योनियों को प्राप्त करते हैं तथा जो निन्दित आचरण वाले हैं वे निन्दित योनियों को प्राप्त होंगे"—

—"पुण्यकर्ता निश्चय ही पुण्य कर्म से युक्त होता है, तथा पाप कर्म से पाप युक्त होता है"—

स्मृति भी इसकी पुष्टि करती है कि—

वर्णों और आश्रमों में अपने कर्म और निष्ठा वाले मृत्यु के अनन्तर कर्म फल का अनुभव करके तब बचे हुए से विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, विद्या, धन, सुख और मेधायुक्त जन्म को प्राप्त करते हैं इनके विपरीत नाश को प्राप्त करते हैं'—

यह गौतमीय स्मृति का उद्धरण है,—

आपस्तम्ब स्मृति भी अनुशय सहित अवरोहण को दिखाती हुई कहती है कि—

"तब वहाँ से लौटकर कर्मों के फल के शेष भाग से, जाति, रूप, वर्ण, बल, मेधा, प्रज्ञा, द्रव्य, धर्मानुष्ठान आदि प्राप्त करते हैं इस प्रकार पुण्य कार्यों को चक्र के समान दोनों ही लोकों में सुख ही प्राप्त होता है"—

इसलिए कर्म से उत्पन्न होने वाले पारलौकिक फल के उपभुक्त हो जाने पर बिना किसी भेदभाव के इस लोक में दूसरे कर्मों से उत्पन्न होने वाले अनुशय से युक्त जीव का अवरोहण होता है यह समझना चाहिए। और अवरोहण काल में जैसे ये जीव उपर गये थे वैसे ही वापस नहीं आते, धूम और आकाश ये पितृयाण के मार्ग में गृहीत हैं ऐसा वर्णन होने के कारण आरोहण धर्म के समान अवरोहण भी प्रतीत होता है, रात्रि आदि का कथन न होने से तथा अभ्र या मेघ आदि का कथन होने से विपरीत भी प्रतीति होती है।

ननु तद् य इह रमणीयचरणा अथ य इह कपूयचरणाः—

इति च श्रुतिश्चरणतो योन्यापत्तिं दर्शयति न त्वनुशयतः। चरणं चारित्र्यमाचारः शीलमितिचाभिन्नोऽर्थः। अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोतिरिक्तं कर्मेत्यन्योऽर्थः॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

इति चरणकर्मणो भेदेनोपदेशात्। तत्कथमीदृशश्रुतिरनुशयवतोऽवरोहं कल्पयिष्यतीतिचेन्न अनुशयोपलक्षणार्थाह्येषा चरणश्रुतिर्द्रष्टव्या।

नन्वेवं तर्हि चरणस्यानर्थक्यं प्रसज्येतेति चेन्न। तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। आचारहीनं न पुनन्ति वेदा इत्यादिस्मृतिभ्यः सदाचारहीनानां कर्मानधिकारात् तस्मात्कर्मैवाचारोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते।

बादरिस्त्वाचार्य्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते। चरणमनुष्ठानं कर्म्मेत्यनर्थान्तरम् भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनोपपद्यते। तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः। कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः।

। इति अवरोहोपक्रमाधिकरणम्।

प्रश्नहोता है कि

—"जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं"

जो यहाँ निन्दित आचरण वाले हैं"

यह श्रुति आचरण के कारण योनि की प्राप्ति दिखला रही है न कि अनुशय के कारण। चरण, चारित्र्य, आचार, शील, इन सभी का एक ही अर्थ है, परन्तु अनुशय तो वह कहलाता है जो भोगे हुए फल से अतिरिक्त बचा हुआ कर्म हो—

—"जो हमारे अच्छे कर्म हों उन्हीं का सेवन करना चाहिए अन्य का नहीं, जो हमारे सुचरित हैं, तुम उन्हीं की उपासना करो अन्य की नहीं",

इस प्रकार चरण और कर्म का भेदपूर्वक निर्देश मिलता है तब ऐसी श्रुति अनुशयवान् का अवरोहण होता है यह कैसे कल्पित करेगी, यह प्रश्न निरर्थक है क्योंकि उक्त चरण श्रुति अनुशय को उपलक्षित करती है। पुनः प्रश्न होता है इस प्रकार ता चरण शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा तो यह आशंका भी अनुचित है क्योंकि चरण की भी अपेक्षा है। इष्ट आदि कर्म समूह आचरण की अपेक्षा करता है,

—"आचार से हीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करते"

इत्यादि स्मृति वचनों से सदाचार से विहीनों का कर्म में अधिकार नहीं है। इसलिए कर्म ही आचार के द्वारा उपलक्षित अनुशयस्वरूप होता हुआ योनियों की प्राप्ति का कारण है, यह आचार्य कार्ष्णायिनि मानते हैं, आचार्य बादरायण तो यह मानते हैं कि चरण शब्द से सुकृत एवं दुष्कृत का ही बोध होता है, चरण, अनुष्ठान या कर्म यह एक ही बात है, कर्म और चरण का जो भेद है वह तो ब्राह्मण परिव्राजकन्याय से है इसलिए जो रमणीय आचरण वाले हैं वे प्रशस्त चरण वाले कहे गये हैं तथा निन्दित चरण वाले कपूयचरण जाने गये हैं यही निर्णय मान्य है।

। यह अवरोहक क्रम अधिकरण पूर्ण हुआ।

अथ नरकारोहावरोहाधिकरणम्

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१२।

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ३।१।१३।

स्मरन्ति च ।३।१।१४।

अपि च सप्त ।३।१।१५।

तत्रापि च तद् व्यापारादविरोधः ।३।१।१६।

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तं तत्रोच्यते। नेष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीति नियमः। अनिष्टादिकारिणामपि चैतच्चन्द्रमण्डलगमनं श्रुतम्।

—"ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति' कौषीतकिश्रुतेः।

प्रत्यवरोहे पुनर्जायमानानां देहारम्भोऽपि नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते। पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्। तस्मात् सर्व एव चन्द्रमसमधिरोहन्तीत्यवधेयम्। इष्टादिकारिणामितरेषां च समाना गतिरयुक्तेति चेन्न।

इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात्।

इतरेषां नारकिनां चन्द्रमण्डलं प्रत्यारोहावरोहौ तु संयमने नाम यमालये स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनूभूय पश्चाद् भवतः।

—"नसांपराय: प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्"—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुन: पुनर्वशमापद्यते मे। वैवस्वतं संगमनं जनानामित्यादि श्रुतिजातै: संयमने गतिदर्शनात्। स्मरन्ति च मनुव्यासप्रभृतयो नाचिकेतोपाख्यानादिषु संयमने लोके कपूयचारित्रवतां गमनम्।

अपि च सप्त नरका रौरवप्रमुखा: स्मर्यन्ते।

तत्रापि च यमस्यैव व्यापाराभ्युपगमात् संयमनानतिरिक्तत्वमेवास्तीत्यविरोध:।

तस्मात् सर्व एव चंद्रमसं गच्छन्तीति नियमात् कपूयचरणानामपि संयमनीगमनोत्तरं चन्द्रलोकोपस्थानात् ततोऽवरोह इति सिद्धम्।

। इति नरकारोहावरोहाधिकरणम्।

"नरक आरोह-अवरोह अधिकरण"

इष्ट आदि का सम्पादन करने वाले चन्द्रमा में जाते हैं यह जो कहा गया उस पर यह वक्तव्य है कि इष्ट आदि का सम्पादन करने वाले ही चन्द्र मण्डल में जाते हैं ऐसा नियम नहीं है अनिष्ट आदि का सम्पादन करने वाले भी चन्द्रमण्डल में जाते हैं यह भी सुना जाता है—

"जो भी कोई इस लोक से जाते हैं वे सब चन्द्र मण्डल में जाते हैं"

यह कौषीतकि श्रुति है। पाँचवी आहुति कहकर आहुति की संख्या का नियमन किया जाता है, इसलिए सभी चन्द्रमा में अधिरोहण करते हैं यह ध्यान देने योग्य है, यह शंका उचित नहीं है कि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाले तथा अशुभ कर्मों का अनुष्ठान वालों की समान गति नहीं होनी चाहिए क्योंकि चन्द्रमण्डल में अशुभ कर्म करने वालों को किसी भोग की प्राप्ति नहीं होती, जो अशुभ कर्म करने वाले नरक के अधिकारी हैं उनका चन्द्रमण्डल में आरोह और अवरोह ता संयमन नाम के यमराज के आलय में अपने दुष्कृतों के अनुरूप यम यातनाओं को अनुभव करने के पश्चात् होता है।

—"प्रमाद और वित्त के मोह से मूढ़ मूर्ख पुरुष या बालक को सांपराय का प्रतिभान नहीं होता"

—"वह मानी पुरुष बार-बार मेरे से नियुक्त, यमराज के वश में आता है जो इस लोक और परलोक को नहीं मानता"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से संयमन नाम के यमालय में गति का विवरण मिलता है, मनु, व्यास आदि भी नाचिकेतोपाख्यान आदि में निन्दित चरित्र वालों का संयमन लोक में गमन मानते हैं, रौरव आदि सात नरकों का भी विवरण प्राप्त होता है वहां भी यम के ही

व्यापार को मानने से वे भी संयमन के ही अन्तर्गत आते हैं अतः कोई विरोध नहीं है, इसलिए सभी चन्द्रमा में ही जाते है इस नियम के कारण निन्दित आचरण वालों का भी संयमन जाने के अनन्तर चन्द्रलोक में जाना और फिर वहाँ से अवरोहण तथा नीचे आना सिद्ध होता है,

। यह नरक में आरोह अवरोह का अधिकरण समाप्त हुआ।

आरोहावरोहाभावस्थानाधिकरणम्

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।३।१।१७।

न तृतीये तथोपलब्धेः ।३।१।१८।

स्मर्य्यतेऽपि च लोके ।१।३।१९।

दर्शनाच्च ।३।१।२०।

तृतीयशब्दावरोधःसंशोकजस्य ।३।१।२१।

इदं त्ववधेयम् । सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीत्यत्र सर्वशब्दो विद्याकर्म्मणोरेवाधिकाराभिप्रायेण नेयो नत्वविशेषेण । तयोरेव देवयानपितृयाणाख्यमार्गद्वयप्रसङ्गे प्रकृतत्वात् । तस्माद् विद्यावशाद् देवयानमिष्टादिकर्मवशादितरकर्मवशाद्वा पितृयाणं पन्थानमारुह्यास्माल्लोकात् प्रयन्त एव सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति नियमः क्रियते ।

न तृतीये स्थाने सतामपि तथा चन्द्रगतिः प्रतिज्ञायते ।

—"अथैतयोःपथोर्न कतरेण च न । तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्य्यते"—

इति हि विद्या कर्मोभयव्यतिरेकेण क्षुद्रजन्तुलक्षणं तृतीयं स्थानमाख्यायते । तत्रैतेषां विनैवारोहावरोहौ विनैव च पञ्चाहुतिक्रमं पुनः पुनः शरीरमुपलभ्यते । इहैव च तेषामुपलब्धेश्चन्द्राधिरोहणं पञ्चाहुतिक्रमश्चैषां शरीरारम्भाय नास्ति ।

अथ व्याख्यान्तरम् । तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते । अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते इति श्रुतिभ्यां विद्यापुण्यकर्मणोरेव तु देवयानपितृयाणयोः पथोः प्रकृतत्वात् चन्द्रलोकप्रापकत्वमस्ति अतः केवलपापकर्मणा चन्द्रगमनं नास्ति । भूलोकादूर्ध्वं प्रयतां मार्गद्वयारूढानामेव हि चन्द्रलोकगमनस्य कौषीतकिश्रुतिसिद्धत्वात् । ननु चन्द्रलोकगमनं विना पञ्चाहुत्यसंभवाद्देहारम्भो न स्यात् इति चेन्न । तृतीये तथो-

पलब्धेः क्षुद्रजन्तुषु पञ्चाहुतिक्रमं विनैव देहारम्भोपलब्धेः पापकर्मणा देहारम्भे पञ्चाहुत्यपेक्षा नास्ति ।

आरोह और अवरोह के अभाव के स्थान का अधिकरण

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सभी चन्द्रमण्डल में जाते हैं यहाँ सभी शब्द से जिनका विद्या और कर्म में अधिकार है उन्हीं से अभिप्राय है इसमें विशेष को सर्वथा रहितता नहीं है क्योंकि विद्या और कम के अधिकारियों के लिए ही देवयान तथा पितृयान नामक दो मार्ग बतलाये जाते हैं वे ही इस प्रसङ्ग में प्रकरणप्राप्त हैं इसलिए विद्या के कारण तथा शुभ कर्म सम्पादन के कारण देवयान मार्ग में गमन प्राप्त होता है तथा उससे भिन्न कर्मों के कारण पितृयान मार्ग में आरोहण होकर सभी जीव चन्द्रमा में जाते हैं ऐसा नियमन किया गया है। इनसे भिन्न तीसरे स्थान में स्थिति वाले जीवों की भी शरीरत्याग के अनन्तर चन्द्रमा में ही गति होती है ऐसा नहीं है।

—"अब इन मार्गों में जो किसी रूप से भी नहीं जाते वे क्षुद्र भूत बार-बार जनमते और मरते हैं उनके पैदा होने और मरते रहने से यह तीसरा स्थान बनता है जिससे यह लोक पूर्ण नहीं होता"—

इस प्रकार विद्या और कर्म दोनों से पृथक् क्षुद्र जन्तुओं का तीसरा स्थान बतलाया गया है। इनका आरोह आवरोह के बिना ही तथा पंचाहुतियों के क्रम के बिना ही बार-बार शरीर प्राप्त करना वर्णित है और यहीं उनके बने रहने से न तो उनका चन्द्रमा पर आरोहण होता है और न नवीन शरीर के आरम्भ के लिए पाँच आहुतियों का क्रम अपेक्षित है,

इसकी दूसरे प्रकार से व्याख्या है कि –

—"जो इस प्रकार जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धापूर्वक तप तथा उपासना करते हैं जो ग्राम में इष्टापूर्त अथवा दान के द्वारा उपासना करते हैं"—

इन श्रुतियों के द्वारा विद्या तथा पुण्य कर्म अनुष्ठान करने वालों के लिए ही देवयान तथा पितृयान नामक मार्ग प्रकरणप्राप्त हैं वे ही चन्द्रलोक को प्राप्त कराते हैं अतः केवल पापकर्मों का अनुष्ठान करने वाले चन्द्रमा में नहीं जाते कौषीतकी श्रुति में भू-लोक से ऊपर उठकर दोनों मार्गों में आरोहण करने वालों के लिए ही चन्द्र लोक का गमन सिद्ध होता है।

प्रश्न होता है कि चन्द्रलोक में गमन के बिना पांच आहुतियों के अभाव में नये देह का आरम्भ भी नहीं होगा, उसका उत्तर है कि तीसरे कोटि के लोगों की यह उपलब्धि है कि क्षुद्र जन्तुओं में पंचाहुतियों के क्रम के बिना ही देह का आरम्भ हो जाता है

पाप कर्म से देह के आरम्भ के लिए अथवा देह धारण के लिए पाँच आहुतियों की अपेक्षा नहीं रहती—

स्मर्य्यते अपि च लोके पञ्चाहुतिव्यतिरेकेणापि शरीरलाभः। द्रोणधृष्टद्युम्न-द्रौपदीसीताप्रभृतीनामयोनिजशरीरस्मरणात्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथेहाहुतिसंख्यानादरस्तथा-न्यत्रापि संभवति।

बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्ते इति लोके रूढ़िः। जीर्णदारुषूदुम्बरवदरादि-फलेषु च घुणादिकृमीणामयोनिजशरीराणि दृश्यन्ते लोके। चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजा-ण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे च स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्मशरीरलाभादाहुतिसंख्या-नादरो दृश्यते। एवमन्यत्रापीति तृतीयं स्थानं द्रष्टव्यम्।

—"अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति"—

इति त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते न त्वसौ स्वेदजोपीति चेत् तत्रोच्यते। संशोक-जस्यैतस्य स्वेदजस्य तृतीयेनोद्भिज्जशब्देन तत्रोपसंग्रहो द्रष्टव्यः। तस्योदकोद्भेदप्रभव-तयोद्भिज्जत्वविचक्षणात् स्थावरोद्भेदाद्विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इति दृष्ट्या त्वन्यत्र भेद-वादः। तथा च विद्याकर्मानधिकारिक्षुद्रजन्तुव्यतिरिक्तानां देवयानपितृयाणाभ्यामारोहतां सर्वेषां चन्द्रगमनं ततोऽवरोहणं चेति सिद्धम्।

। इत्यारोहावरोहाभावस्थानाधिकरणम्।

लोक में भी स्मरण किया जाता है कि पाँच आहुतियों के बिना भी देह का ग्रहण होता है।

द्रोणाचार्य, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी, सीता आदि अयोनिजों को भी शरीर का प्राप्त होना वर्णित है। वहाँ द्रोण आदि के विषय में तो स्त्री में जो एक आहुति है उसका अभाव है तथा धृष्टद्युम्न आदि में स्त्री और पुरुष दोनों में दो आहुतियों का अभाव है, जैसे आहुतियों की संख्या का उक्त सन्दर्भों में निर्वाह नहीं हुआ वैसा अन्यत्र भी होना सम्भव है। बलाका पक्षी भी शुक्र के धारण के बिना ही गर्भ धारण करतीं है यह लोक में प्रसिद्ध है।

जीर्ण लकड़ियों में तथा गूलर तथा बेर आदि फलों में घुन और कीड़े बिना किसी योनि के ही शरीर धारण करते हैं यह देखा जाता है, चार प्रकार के भूत समूह में जरा-युज, अण्डज, स्वेदज, तथा उद्भिज्ज में स्वेदज और उद्भिज्जों में विना ही ग्राम्य धर्म के शरीर की प्राप्ति देखी जाती है इसलिए शरीर ग्रहण के लिए पांच संख्या का वहाँ होना अनिवार्य दिखाई नहीं देता। यही बात अन्यत्र भी देखे जाने से इसको तृतीय वर्ग में रखा गया है, यदि कोई सन्देह करे कि अण्डज जीवज, और उद्भिज्ज यह तीन ही प्रकार का

भूत समूह है, स्वेदज इसकी गणना में नहीं आता तो वहां कहना यह है कि इस स्वेदज का वहाँ तीसरे उद्भिज्ज शब्द से ही ग्रहण हो जाता है क्योंकि वह भी जल के उद्भेद से उत्पन्न है स्थावर उद्भिद से जङ्गम उद्भिद् का भेद होता है यह एक अलग विचार का विषय है।

निष्कर्ष यों है कि विद्या और कर्म के अनधिकारी जो क्षुद्र जन्तु हैं उनसे अतिरिक्त जीवों का देवयान तथा पितृयान में, आरोहण, चन्द्रमण्डल में उनका गमन और पुनः उनका अवरोहण सिद्ध हुआ।

। इस प्रकार आरोह के अभाव का अधिकरण पूर्ण हुआ।

अवरोहणमार्गक्रमाधिकरणम्

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।३।१।२२।

नातिचिरेण विशेषात् ।३।१।२३।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५।

रेतः सिगयोगोऽथ ।३।१।२६।

योनेः शरीरम् ३ १ २७।

अथ चन्द्रात् प्रत्यवरोहे प्राग् व्रीह्यादि प्रतिपत्तेरवरोहप्रकारः परीक्ष्यते—

—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्-आकाशमाकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रंभवति मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति"—

इत्यवरोहक्रमः श्रूयते। तत्र संशयः। किमाकाशादिस्वरूपं प्रतिपद्यन्ते आकाशादिसाम्यं वेति।

तत्रोच्यते। आकाशादिसाम्यापत्तिर्द्रष्टव्या। तथैवोपपत्तेः। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति। ततो धूमादिभिः संसृज्यते इति सभवति। आकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तौ तु वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते।

तत्र चाकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षभावेषु किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्ति उताल्पमल्पमिति संशये नियमयति। नातिचिरेणैव काले-

नाकाशादिभावैः परिवर्तमानः सवर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति न तु चिरं तत्तद्भावैः उपतिष्ठन्ते ।

—"अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्"—

इति व्रीह्यादिभावे विशेषाख्यानात् । दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्क्रमतरम् । दुःखतरं ह्यस्माद् व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्येवं तद्भावान्निःसरणे दुःखं प्रदर्शयन् ततः पूर्वेष्वाकाशादिषु सुखनिःसरणं दर्शयति । सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । तथा च व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोह इति सिद्धम् ।

'अवरोहण के मार्ग क्रम का अधिकरण'

अब चन्द्रमा से प्रत्यावर्तन में पहले व्रीहि आदि के स्वीकार से अवरोह के प्रकार की परीक्षा की जाती है ।

—"अब उसी मार्ग से वापस लौटते हैं जैसे गये थे । आकाश से वायु होकर धूम होता है धूम होकर मेघ होता है मेघ होकर वर्षा होती है"—

ऐसा अवरोहण सुना जाता है यहाँ सन्देह होता है कि क्या जीव आकाश का रूप ही बन जाता है, अथवा आकाश के समान हो जाता है इसका उत्तर है कि आकाश के समान हो जाता है यही समझना चाहिए, क्योंकि यही तर्कसंगत है । चन्द्रमण्डल में जो आपोमय शरीर उपभोग के लिए हुआ वह उपभोग के क्षय होने पर विलीन होता हुआ सूक्ष्म होकर आकाश के समान हो जाता है तब वह वायु के वश में हो जाता है, और उसके अनन्तर धूम आदि से उसका संसर्ग होता है यह संभव है । यदि वह आकाश के स्वरूप में ही परिवर्तित हो जाय तब उसका वायु आदि के क्रम से अवरोह होना या उतरना युक्ति सिद्ध नहीं ठहरता ।

वहाँ आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ और वर्षा के रूपों में क्या लम्बे-लम्बे समय तक पूर्व-पूर्व के समान ठहरकर आगे-आगे की समानता को ये जीव प्राप्त करते हैं या अल्प-अल्प समय में इनकी समानता परिवर्तित होती जाती है ऐसा संशय होने पर उसका नियमन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि बहुत शीघ्र काल में ही आकाश आदि भावों से परिवर्तित होते हुए ये जीव वर्षा की धाराओं के साथ इस भूमि पर आ गिरते हैं न कि बहुत समय तक उन-उन रूपों में स्थित रहते हैं, क्योंकि—

—"निश्चय ही वह दुःख से गिरते हैं"—

ऐसा व्रीहि आदि के रूप में जाने का विशेष कथन है—

व्रीहि आदि के भाव से निकलना दुःखतर बतलाते हुए, उस भाव से निकलने का जो दुःखपूर्ण प्रदर्शन किया जा रहा है इससे यह सिद्ध होता है कि पहले के आकाश आदि

से जो निकलता है वह सुख से है, निकलने में सुख और दुःख की यह विशेषता समय के कम और अधिक होने के कारण है, इससे व्रीहि आदि के रूप में जाने से पूर्व अल्प काल में ही अवरोह हुआ यह सिद्ध होता है।

अथैतस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते।

—"त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते"—

तत्र यथा मनुष्यादयो योनिविशेषाः कर्मभोगानुकूलशरीरग्राहिणो भवन्ति। तथैते व्रीह्यादयोपि योनिविशेषा इष्यन्ते—

—'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्"--

इति कठश्रुतेः।

—"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः"—

इत्यादि स्मृतेश्च तथावगमात्। तेन संशयः किमस्मिन्नेवावधौ स्थावरसुखदुःखानुकूलकर्म्मानुरोधादिमे व्रीह्यादिस्थावरजातावुत्पद्यन्ते अथवा क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु व्रीह्यादिस्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। तत्र स्थावरभावस्य श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वसिद्धेराद्यः पक्ष एव प्राप्नोति। इष्टादिकर्मजातस्य पशुहिंसादियागादनिष्टफलत्वोपपत्तेस्तत्फलभोगार्थं पूर्वमेषां व्रीह्यादियोनिसंस्रवस्य युक्तत्वाच्च। यथा श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति तथैव व्रीह्यादिजन्मापीत्येवं प्राप्ते उच्यते। अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तु तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति। पूर्ववत् यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रं तथा व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। वायुधूमादिपूर्ववदेवैषां व्रीह्यादीनामपि रमणीयचरणाः कपूयचरणा इत्यादिरूपेण कर्मव्यापारपरामर्शं विनैवाभिलापात्। तस्मादन्यजीवैरुपभोगस्थानतयाधिष्ठितेषु व्रीह्यादिष्वेषामनुशयिनां चन्द्रादवतरतां संसर्गमात्रं भवतीति सिद्धम्।

अब इस अवरोह में वर्षा के अनन्तर यह पढ़ा जाता है कि—

—"ये व्रीहि और यव यहाँ औषधि वनस्पति, तिल मात्र आदि होते है"

—वहाँ जैसे मनुष्य आदि विशेष योनियाँ कर्मों के भोग के अनुकूल शरीर ग्रहण करने वाली होती हैं वैसे ही व्रीहि आदि भी विशेष प्रकार की योनि के रूप में हो अभीष्ट हैं—

"देहधारी के शरीर प्राप्त करने के लिए ये जीव योनि ग्रहण करते हैं अन्य जीव अपने कर्म और अपनी विद्या के अनुसार स्थाणु भाव को प्राप्त करते हैं"—

ऐसा कठ श्रुति का उल्लेख है—

"मनुष्य शरीर से उत्पन्न कर्मों के दोष से स्थावर भाव को प्राप्त करता है"—

इत्यादि स्मृति वचनों से ऐसा ही ज्ञात होता है इससे यह सन्देह होता है कि क्या इसी अवधि में स्थावर के सुख दुख के अनुकूल कर्मों के अनुरोध से ये जीव ब्रीहि आदि स्थावर जातियों में उत्पन्न होते हैं अथवा दूसरे क्षेत्रज्ञों के द्वारा अधिष्ठित ब्रीहि आदि स्थावर शरीरों में केवल संश्लेष मात्र को प्राप्त करते हैं यहाँ पर स्थावर भाव का श्रुति और स्मृति में उपभोग स्थान होना सिद्ध है अतः प्रथम पक्ष ही प्राप्त होता है। इष्ट आदि कर्म समूह के पशु हिंसा आदि से युक्त होने के कारण अनिष्ट फल होने की भी सम्भावना से उसके फल भोग के पहले इन ब्रीहि आदि योनियों में जीव का जाना युक्त होता है।

जैसे कुत्ते की योनि या सूकर की योनि या चाण्डाल की योनि को प्राप्त करना बतलाकर मुख्य अनुशय वाले के लिए ही कुत्ते आदि का जन्म अन्वित माना गया है, वैसे ब्रीहि आदि का भी जन्म होगा। ऐसा पक्ष प्राप्त होने पर उसका उत्तर यों दिया जाता है कि अन्य जीवों के द्वारा अधिष्ठित ब्रीहि आदि में अनुशय वाले जीव केवल संसर्ग मात्र को प्राप्त करते हैं इनके सुख और दुःख को वे नहीं भोगते यह स्थिति भी वैसी ही होती है जैसे इसकी पूर्व की अवस्थाओं में होती है जैसे अनुशय वाले जीवों में वायु, धूम आदि का अभाव उनका साम्य मात्र है वैसे ही इनका ब्रीहि आदि भाव भी जाति से स्थावरों के साथ स्वरूप साम्य मात्र है वायु, धूम आदि पूर्व अवस्थाओं के समान ही इन ब्रीहि आदि का भी रमणीय आचरण तथा निन्दित आचरण इत्यादि रूप से कर्म के व्यापार के परामर्श के बिना कथन करने से यही सिद्ध होता है इसलिए अन्य जीवों के द्वारा उपभोग के स्थान के रूप में अधिष्ठित जो ब्रीहि आदि हैं उनमें अनुशय युक्त चन्द्रमा से अवतरित होने वाले जीवों का संसर्ग मात्र ही होता है, यह सिद्ध हुआ।

ननु पशुहिंसादियोगादाध्वरिकं कर्मजातमशुद्धमस्ति ततस्तत्संबन्धादवतरतां मार्गे व्रीह्यादिभावेनानिष्टफलानुषङ्गः संभाव्यते इति चेन्न। कर्मणः शुद्धत्वाशुद्धत्वयोर्विज्ञानस्य शब्दादेव विज्ञेयत्वात्। शब्दात्तु वेदशास्त्रात् पशुहिंसायुक्तमध्वरकर्मोपदिश्यते ततो विशुद्धं भवितुमर्हति। ननु मा हिंस्यात् सर्वा भूतानीति शास्त्रमेवैतां भूतविषयां हिंसामधर्मं बोधयति इति चेत्सत्यम्। अयज्ञियहिंसाया एवैतेनोत्सर्गतः प्रतिषेधात्। तदपवादेन चाग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति शास्त्रं याज्ञिकहिंसाया धर्मत्वं प्रत्याययति। येन सामान्यहिंसाया अधर्मत्वं प्रत्याय्यते तेनैव यज्ञादिविशिष्टहिंसाया धर्मत्वमुच्यते। तत्राधर्मत्वाख्याने तत्प्रमाणं धर्मत्वाख्याने त्वप्रमाणमित्यर्द्धजरतीयमन्याय्यम्। न हि हिंसामात्रमेकान्ततोऽशुद्धमेवास्तीत्यत्र किञ्चित्प्रमाणमस्ति। न हि वधदण्ड्यान् दण्डयन् राजा किल्विषी भवति। तस्माद् व्यवस्थितविषये हिंसायाः शुद्धत्वाशुद्धत्वे शास्त्रप्रमाणाण्यादवतिष्ठेते इति शब्दाद् यज्ञहिंसाया नाशुद्धत्वम। तस्माच्चन्द्रस्थलात् स्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्य्यते न तु तत्रैषां मुख्यं जन्मैव भवति।

यह संदेह होता है कि पशु हिंसा आदि का योग होने के कारण जो यज्ञ यागादि कर्म हैं वे अशुद्ध हो जाते हैं। अतः उनका अनुष्ठान करने वालों का सम्बन्ध अशुद्धि से भी हो जाता है। उनका जब अवतरण होता है तब मार्ग में व्रीहि आदि के रूप में अनिष्ट फल का सम्बन्ध हो जाना सम्भव है यह शंका निराधार है क्योंकि किसी कर्म की शुद्धता या अशुद्धता का ज्ञान केवल शब्द प्रमाण के ही आधार पर हो जाता है। शब्द प्रमाण जो वेद शास्त्र हैं उनसे पशु हिंसा से युक्त यज्ञ यागादि के कर्मों का उद्‌देश्य होता है अतः वे विशुद्ध ही माने जा सकते हैं।

प्रश्न होता है कि—

'सभी भूतों की हिंसा नहीं करनी चाहिए''

यह शास्त्रीय वचन ही प्राणियों की हिंसा को अधर्म बतला रहा है तो यह संदेह सत्य है। नियम पूर्वक यज्ञ के अतिरिक्त हिंसा का ही इस वाक्य से निषेध किया जाता है या उसे नियम बतलाया जाता है। उस नियम के रूप में—

"अग्निसोमीय पशु का आलभन करे"

यह शास्त्रीय वाक्य यज्ञसम्बन्धिनी हिंसा को धर्म बतलाता है। वहाँ अधर्म बतलाने के लिए पूर्वोक्त प्रमाण है और धर्म बतलाने के लिए वह अप्रमाण है। यह अर्ध-जरतीय होने के कारण न्याय युक्त नहीं है। हिंसा मात्र अथवा सभी हिंसाएँ पूर्ण रूप से अशुद्ध ही हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कोई राजा किसी अपराधी को वध का दण्ड देता हुआ पापी नहीं कहा जा सकता। इसलिए हिंसा की शुद्धता या अशुद्धता व्यवस्था का विषय बनती है और उस व्यवस्था का ज्ञान शास्त्रीय प्रमाण से होता है अतः यज्ञ की हिंसा को अशुद्ध नहीं माना जाता। अतः चन्द्रमा से परावर्तित होने वालों का होने वाले अनुशय युक्त जीवों व्रीहि आदि के साथ संश्लेष मात्र होता है न कि वहाँ इनका मुख्य रूप से जन्म माना जाता है।

अत एवैषामनन्तरमेव रेतःसिग् योग आम्नायते।

—"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवतीति"—

तत्र रसासृगादिक्रमेण व्रीह्यादिभुक्तान्नपरिमाणे रेतसि तेषां संश्लेषमात्रं वक्तव्यम् रेतसो व्रीह्यादिवद् भोगायतनत्वाभावात्।

रेतःसिग्योगानन्तरं च योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधि तेषां शरीरं फलभोगायोपपद्यते। शरीरं केवलमेषां कर्मफलभोगाधिष्टानं भवतिः ततः प्राक्तनास्त्वेषां व्रीह्याद्यन्नरसरेतोभावानुपष्टम्भकमात्रतया प्रत्येतव्याः।

। इत्यवरोहणमार्गक्रमाधिकरणम्।

॥१॥ इति जीवात्मनो मृत्युजन्मावस्थालक्षणाधिकारः ।

(प्रेत्यभावपादः)

इति जीवलक्षणाध्याये तृतीये मृत्युजन्मपादः प्रथमः पूर्णः १

इसीलिए उसके अनन्तर ही उनका शुक्र तत्व में संयोग कहा जाता है ।

—"जो जो अन्न खाता है जो जो शुक्र का सेचन करता है वह जन्म ही होता है"—

वहाँ रस रक्त आदि के क्रम से खाए हुए व्रीहि आदि अन्न के परिणाम शुक्र में उन जीवों का संश्लेष मात्र ही कहना चाहिए क्योंकि व्रीहि आदि की तरह शुक्र भोग का आयतन नहीं है ।

शुक्र में योग अर्थात् योनि में निषिक्त शुक्र का गर्भावस्था में शरीर ग्रहण करना फल भोग के लिए होता है । इनका शरीर कर्म के फल के भोग का केवल अधिष्ठान मात्र बनता है । इसके पहले की इनकी अवस्थाएँ तो व्रीहि आदि अन्न के रस तथा शुक्र के रूप की पोषक मात्र होने का कारण समझी जानी चाहिए ।

"यह हुआ अवरोहण मार्ग के क्रम का अधिकरण"—

॥ प्रेत्यभाव नामक पाद पूर्ण हुआ ॥

—८—

शारीरकस्य स्वप्नाद्यवस्था-त्रयाधिकारः पादः ॥२॥

—★—

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ३।२।१।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२।

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।३।२।३।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।४।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ ।३।२।५।

देहयोगाद्वासोऽपि ।३।२।६।

प्रथमे पादे जीवस्य मृत्युजन्मरूपे द्वे अवस्थे उक्ते । अथ स्वप्नाद्यवस्थाभेदान् दर्शयितुं द्वितीयः पादः आरभ्यते—

प्रबोधसंप्रसादयोः सन्धौ भवतीति सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम् ।

तत्रैषा सृष्टिः पारमार्थिकी संभाव्यते । आह हि तथा श्रुतिः—

—"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते"—इति ।

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन् सन्ध्ये स्थाने कामानां निर्म्मातारमात्मानमामनन्ति—

—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं पुरुषो निर्मिमाणः''—इति ।

पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते—

—'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वेति प्रकृत्यान्ते—

कामानां त्वा कामभाजं करोमीत्येवं प्रकृतेषु पुत्रादिष्वेव कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् ।

शारीरक के स्वप्न आदि तीन अवस्थाओं का अधिकार

प्रथम पाद में जीव की वृत्ति और जन्म नामक जो अवस्थाएँ कही गई अब स्वप्न आदि अवस्था के भेदों को दिखाने के लिए इस दूसरे पाद का आरम्भ किया जाता है। प्रबोध तथा सम्प्रसाद इन अवस्थाओं की सन्धि में होने के कारण यह तीसरा स्वप्न का स्थान सन्ध्य कहलाता है। वहाँ यह संभावना की जाती है कि वहाँ की सृष्टि पारमार्थिक है। श्रुति में कहा गया है कि—

—"न वहाँ रथ हैं न रथ के योग हैं, न मार्ग हैं वहाँ रथ और रथ के योग और मार्गों की सृष्टि होती हैं"—

यहाँ पर कुछ शाखाध्यायीगण सन्धि स्थान में कामनाओं के निर्माता आत्मा को मानते हैं।

"जो यह सोते हुओं में कामना को उत्पन्न करता हुआ जागता है"—

पुत्र आदि वहाँ कामनाओं के रूप में वर्णित हैं।

"सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्रों का वर्णन करो"

यह प्रारम्भ करके—

"मैं तुम्हें कामनाओं का भाजन बना देता हूँ'

इस प्रकार पुत्र आदि के लिए काम शब्द का व्यवहार हुआ है।

अथवा मायामात्रं स्वप्नस्थानम् । सृष्टिश्चैषां स्वप्ने मायामयी न तु पारमार्थिकी कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च कात्स्न्र्यम् । न च तत्स्वप्ने पश्यावः । न तावदिह रथादीनामुचितो देशः संभवति । संवृत्तेऽस्मिन् देशदेशे रथादीनामवकाशालाभात् । कालविसंवादोपि स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं कदाचिन् मन्यते । मुहूर्त्तमात्रप्रवर्त्तिनि वा स्वप्ने कदाचिद्बहून् वर्षपूगानतिवाहयति । निमित्तान्यपि स्वप्ने ज्ञानाय कर्म्मणे वा नोचि-

तानि विद्यन्ते । चक्षुरादिकरणानां तत्रोपसंहारात् । निमेषमात्रेण वा रथादिनिर्वर्तने स्वप्नद्रष्टुः पुंसो दारुणो वा सामर्थ्यं नोपपद्यते । बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे । स्वप्न एव वा ते सुलभबाधा भवन्ति । रथोऽयमिति कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते । मनुष्योऽयमिति वा निर्धारित. क्षणेन वृक्षः । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम्

अथवा यह स्वप्न आदि अवस्थाएँ माया मात्र हैं, अर्थात् मिथ्या हैं । स्वप्न में जो सृष्टि दिखाई देती है वह मायामयी है अर्थात् मिथ्या है वास्तविक नहीं है । क्योंकि उसका स्वरूप पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं है । पूर्णतया अभिव्यक्त होने का अर्थ है कि जिसमें देह, काल तथा निमित्त का संगठन हो तथा आगे चलकर जो बाधित न हो यह बात स्वप्न के विषय में नहीं देखी जाती । स्वप्न अवस्था में रथ आदि के लिए कोई उचित देश संभव नहीं है, शरीर का जो देश है उसमें रथ आदि के चलने का कोई अवकाश नहीं है । काल का भी वैपरीत्य स्वप्न में उपलब्ध होता है, रात्रि में सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में कभी-कभी दिन भी मानता है । अथवा मुहूर्त मात्र के लिए दिखाई देने वाले स्वप्न में अनेक वर्षों को बिता देता है, स्वप्न में ज्ञान और कर्म में उचित निमित्त भी नहीं देखे जाते, क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रियों का वहाँ उपसंहार रहता है । निमेष मात्र में रथ आदि के निर्माण में स्वप्न द्रष्टा पुरुष का या लकड़ी आदि का सामर्थ्य नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि स्वप्न में दिखाई देने वाले ये रथ आदि के दृश्य प्रबोध या जागृत में बाधित हो जाते हैं । कभी-कभी तो वे स्वप्न काल में ही बाधित हो जाते हैं कभी किसी ने स्वप्न में देखकर निर्धारित किया कि यह रथ है वह क्षण भर में मनुष्य बन जाता है जो मनुष्य के रूप में निर्धारित होता है वह क्षण भर में वृक्ष बन जाता है इसलिए स्वप्न दर्शन या स्वप्न की सृष्टि माया मात्र या मिथ्या है ।

यत्तु केचिदाहुः—

—"बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा स ईयते अमृतो यत्र कामम्"—

इति श्रुते, स्थितिगतिप्रत्ययभेदानां शरीरादनिष्क्रान्ते जन्तावसंभवाच्च बहिर्देहान्निष्क्रान्त स्वप्नं पश्यतीति । तन्न । सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितदेशं पर्य्येतुं विपर्य्येतुं वा सामार्थ्यासंभवात् ।

—"कुरुष्वहं शय्यायां शयानो निद्रयाभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन् प्रतिबुद्धश्चेति"—

श्रुतौ कुरुषु सुप्तस्य स्वप्ने पञ्चालगतस्य ततोऽप्रत्यावृत्तस्यैव कुरुष्वेवोद्बोधं दर्शयति । तस्मान्न स्वप्ने देहान्निष्क्रमणं देशान्तरधावनं वा संभाव्यते । श्रुतिश्चान्तरेव देहे स्वप्नं दर्शयति—

—"स यत्रैतत् स्वप्नया चरति"—

इत्युपक्रम्य–

"स्वशरीरे यथाकामं परिवर्तते—इति।

बहिः कुलायादमृत इति श्रुतिस्तु बहिरिव कुलायादित्येवमर्थपरतया नेया। बहिरिव शरीरादेषां स्वाप्नभावानां प्रतीतेः स्थितिगतिप्रत्ययभेदा अप्येते विप्रलम्भा एव स्युः। तस्मान्मायामात्रमेवैतत् स्वप्नदर्शनमिति निष्कर्षः।

कुछ लोगों का जो यह कथन है कि—

"कुलाय से बाहर अमृत रूप से विचरण करता हुआ वह अमृत इच्छानुसार प्रेरित होता है इस श्रुति के आधार पर स्थिति, गति तथा ज्ञान के जो भेद हैं वे शरीर से बाहर निकले बिना जन्तु में सम्भव नहीं हैं।

मन, देह से निकलकर स्वप्न दर्शन करता है क्योंकि सोये हुए जन्तु के लिए क्षण मात्र में सैकड़ों योजन के अनन्तर स्थित देश में जाने और आने का सामर्थ्य सम्भव नहीं है।

—"कुरु देश में शैया में सोकर, निद्रा से आकान्त पाञ्चाल देश में गया और फिर यहीं जागा"—

इत्यादि श्रुति आदि में कुरु देश में सोये व्यक्ति का पाञ्चाल गमन वहाँ से बिना लौटे हुए कुरु देश में ही जागरण दर्शाया गया है इसलिए स्वप्न में देह से निकलकर दूसरे देश में जाना सम्भव नहीं हैं, श्रुति शरीर के भीतर ही स्वप्न दर्शन का वर्णन करती है।

—"वह जहाँ स्वप्न के द्वारा विचरण करता है"—

ऐसा उपक्रम करके—

—"अपने शरीर में यथेच्छित परिवर्तन करता है"—

कुलाय से बाहर वह अमृत विचरण करता है यह जो श्रुति वाक्य है उसका अर्थ "कुलाय" से बाहर के समान यह समझना चाहिए। क्योंकि स्वप्न के दृश्यों की प्रतीती शरीर से बाहर के ही समान ही होती है, अतः इनमें स्थिति ज्ञान, के भेद भी दूरस्थित ही जान पड़ते हैं। निष्कर्ष यह है कि यह स्वप्न दर्शन माया मात्र या मिथ्या ही होता है।

मायामात्रत्वेऽप्ययं स्वप्नो भविष्यतोः साध्वसाधुनोः सूचको भवति।

—"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने"—

—"पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एतं हन्ति"—

इत्यादि श्रुतेः। आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः-कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानीति। मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित् स्वप्ना भवि-

ष्यतः सत्यार्थस्य सूचका भवन्ति । तत्र सूचितस्यार्थस्य सत्यत्वेऽपि सूचकस्य स्वाप्नभावस्य मायामात्रत्वमद्यापि क प्रत्याह्रियते । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ।

यत्तु निर्मातारमामनन्ति तदपि निर्मातृत्वमिह जीवस्य द्रष्टव्यं न तु जाग्रदर्थ-निर्म्मातुरीश्वरस्य ।

—"स्वयं विहृत्य स्वयं निर्म्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति"—

इति जीवव्यापारश्रवणात् । यद्यपि—

—"तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति सूत्रे जाग्रदर्थानामपि स्वप्नवदेव मिथ्यात्वमाख्यातम् । तथापि जाग्रदर्थानामीश्वरमायाक्लृप्तत्वं व्यवस्थितत्वं चास्ति स्वाप्नभावानां तु जीवभयाद्युत्पादकानिष्टस्वप्ना नोत्पद्येरन्"—

स्वानिष्टार्थे जीवसंकल्पासंभवादिति चेन्नैषा जीवसांकल्पिकी सृष्टिः । किन्तु पुण्यापुण्यकर्मसंयोगोपस्थापितसामग्रीसहकृतजीवव्यापारजन्यास्तीत्यतः शुभाजीवव्यापारेऽपि समुच्चीयते इति चेदेवमपि जीवसंसृष्टीश्वरसृष्टयोः पार्थक्येन व्यपदेशो न विरुध्यते । साक्षात्परम्पराभ्यां भेदव्यवहारोपपत्तेरिति दिक् ।

स्वप्न दर्शन के मायामात्र होने पर भी आगामी शुभ या अशुभ की सूचनाएँ भी स्वप्न के द्वारा मिलती हैं ।

—"जब काम्य कर्मों में स्वप्न में स्त्री को देखे तो उस स्वप्न दर्शन में समृद्धि को समझे"—

यदि काम्य पुरुष या काले दाँत वाले पुरुष को देखता है तो वह उसे मारता है "इत्यादि वाक्यों से स्वप्नों का शुभ अशुभ की सूचना देना ज्ञात होता है ।

स्वप्न का अध्ययन करने वाले बतलाते हैं कि स्वप्न में हाथी चढ़ना आदि दृश्य धन्यता के सूचक होते हैं तथा गर्दभ पर आरोहण आदि अशुभ के सूचक हैं । मन्त्र देवता तथा द्रव्य विशेष के निमित्त से होने वाले स्वप्न में भविष्य में होने वाले अर्थों की सूचना देते हैं । वहाँ सूचित होने वाले अर्थ के सत्य होने पर भी सूचक स्वप्न माया मात्र ही होता है इस बात का अपलाप नहीं किया जाता । इसलिए स्वप्न मायामात्र ही है, यह बात युक्ति से सिद्ध होती है । स्वप्न के निर्माता के रूप में जो सिद्धान्त बतलाया गया वह भी जीव को ही समझना चाहिए न कि जागृत अवस्था के अर्थों का ईश्वर स्वप्न का भी निर्माता है ।

"स्वयं को विहत करके स्वयं निर्माण करके अपनी ज्योति के द्वारा सोता है"—

इस प्रकार जीव का व्यापार सुना जाता है,

—"यद्यपि आरम्भण आदि शब्दों के प्रयोग से वह उससे अनन्य है"

इस सूत्र में जागृत अवस्था के अर्थों का भी स्वप्न के सृष्टि के समान ही मिथ्यात्व माना गया है। तथापि जागृ अवस्था के अर्थ ईश्वर की माया से विचरित है तथा वे व्यवस्थित हैं, और स्वप्न के भाव जीव की माया के द्वारा विरचित हैं तथा अव्यवस्थित हैं। यहीं दोनों में विशेषता है,

प्रश्न होता है कि स्वप्न की सृष्टि में यदि जीव की स्वतन्त्रता है तो जीव को भय आदि देने वाले अथवा उसके अनिष्ट को सूचना देने वाले स्वप्न दिखाई नहीं देने चाहिए। क्योंकि अपने अनिष्ट के लिए जीव का संकल्प होना असम्भव है इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि स्वप्न जीव की संकल्प पूर्वक सृष्टि नहीं हैं। किन्तु पुण्य तथा अपुण्य कर्मों के संयोग को उपस्थित करने वाली सामग्री को साथ लेता हुआ वह जीव का व्यापार है। इसलिए शुभ और अशुभ की सूचना देने वाले कर्मों के द्वारा उपस्थित स्वप्न दिखाई देते हैं। सबका ईश्वर होने के कारण ईश्वर का व्यापार जीव के व्यापार में भी सम्मिलित है यदि यह कहा जाता है तो भी जीव को सृष्टि और ईश्वर की सृष्टि का पृथक् पृथक् कथन विरुद्ध नहीं होता क्योंकि एक व्यापार साक्षात् है तथा इतर व्यापार परम्परा से प्राप्त है।

रामानुजस्तु स्वाप्नभावानामाश्चर्य्यमयतया जीवशुभाशुभसूचकतया चेश्वरसंकल्पजत्वमभ्युपेत्य जीवव्यापारजन्यत्वं निराचष्टे तच्छ्रुतिविरुद्धम् श्रुतौ प्रत्यक्षं जीवव्यापारश्रवणात्।

ननु विस्फुलिङ्गोऽग्नेरिव जीवोयमीश्वरांश इति विस्फुलिङ्गाग्न्योर्दहनप्रकाशनशक्ती इवैतयोर्जीवेश्वरयोर्ज्ञानैश्वर्य्यशक्ती अपि समाने स्याताम्। ततश्च स्वाप्नसृष्टेर्जीवव्यापाराधीनाया अपीश्वराधीनजाग्रत्सृष्टेरिव व्यवस्थितसत्ताकत्वं कुतो नास्तीति चेत् तत्रोच्यते। ईश्वरसमानधर्मत्वं जीवे सदपि तिरोहितमविद्याव्यवधानादस्ति।

परस्य परमेश्वरस्याभिध्यानात्तु तिरोहितं तत्कस्यचिदेवाविर्भवति। न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। ततो हि तिरोधानाविर्भावाभ्यामस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। तथा च श्रूयते—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य्यं केवल आप्त कामः इति।

श्री रामानुजाचार्य यहाँ स्वप्न की सृष्टि को आश्चर्यमय होने के कारण तथा जीव के शुभ और अशुभ के सूचना देने वाले होने के कारण ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न मानते हुए जीव के व्यापार से उत्पन्न होने का निराकरण करते हैं।

यह बात श्रुति विरुद्ध है क्योंकि श्रुति में प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न को जीव का व्यापार बतलाया गया है।

प्रश्न होता है कि जैसे अग्नि का कण अग्नि की ही दहन तथा प्रकाशन की शक्ति रखता है, वैसे ही यह जीव भी ईश्वर का अंश होने के कारण ज्ञान और ऐश्वर्य की शक्ति धारण करने में उसकी समानता रखता है। ऐसा मानना उचित है। और स्वप्न की सृष्टि का जीव के व्यापार के आधीन होने के कारण जागृत सृष्टि की तरह स्वप्न सृष्टि की भी सत्ता व्यवस्थित क्यों नहीं है। इसका उत्तर है कि जीव में ईश्वर की समान धर्मता होते हुए भी, वह अविद्या के व्यवधान से तिरोहित या अप्रकट रहती है। परम परमेश्वर के ध्यान के कारण वे ईश्वरीय धर्म कहीं किसी के प्रति आविर्भूत हो जाते हैं वे स्वभावतः सभी जन्तुओं में आविर्भूत या प्रकट नहीं रहते।

इसीलिए जीव का बन्ध ईश्वरीय धर्मों के तिरोधान से तथा जीव का मोक्ष ईश्वरीय धर्मों के आविर्भाव से माना गया है। सुना भी जाता है कि

—"देव को जानकर क्लेशों के क्षीण हो जाने पर समस्त पाश नष्ट हो जाते है जन्म मृत्यु हट जाते हैं उसके ध्यान करने से शरीर, में तीसरा केबल विश्व का ऐश्वर्य प्रादुर्भूत होकर आप्त कामता आ जाती हैं।

सोपि जीवस्य ज्ञानैश्वर्य्यतिरोभावो देहयोगाद् भवति। देहयोगाद्धि ज्ञानकर्मेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगो नाप्राप्तः। यथाग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्याप्यरणिगतस्य भस्माच्छन्नस्य वा दहनप्रकाशने तिरोभवतः। एवमविद्याद्युपाधियोगाज्जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः। वा शब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः।

रामानुजस्त्विमे सूत्रे अन्यथाऽव्याचष्टे। पराभिध्यानादीश्वरसंकल्पादस्य जीवस्य स्वाभाविकं रूपं तिरोहितम्।

—"ततस्तत्संकल्पादेव ह्यस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः"—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयंगतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति एष ह्येवानन्दयति। इति श्रुतेः।

देहावस्थेनाचिद्वस्तुना योगाद्वा तिरोभावो द्रष्टव्यः।

चिदचिदीश्वरास्त्रितत्त्वम्। अचितो योगाच्चितो जीवस्य कालुष्यमुत्पद्यते।

। इति स्वप्नावस्थाधिकरणम्।

जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का वह तिरोभाव ही देह के योग होने पर होता है क्योंकि जीव का देह से संयोग होने पर ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन बुद्धि विषय वेदना आदि का योग भी स्वतः हो जाता है। जैसे अग्नि स्वयं जलाने तथा प्रकाशन करने की क्रिया से सम्पन्न है। तथापि जब तक अरणि में या काष्ठ में है अथवा राख से ढका हुआ है तब उसकी दाहकता और प्रकाशकता आदि धर्म तिरोहित रहते हैं। सूत्र में 'वा' शब्द का प्रयोग, जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं इस आशका को दूर करने के लिए हुआ है।

रामानुजाचार्य तो इन सूत्रों की दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हैं, वे कहते हैं" "पराभिध्यान" इस शब्द में पर अर्थात् ईश्वर के अभिध्यान अर्थात् संकल्प से इस जीव का स्वाभाविक रूप तिरोहित रहता है। पुनः उस ईश्वर के संकल्प से ही इस जीव के बन्धन और मोक्ष होते हैं।

श्रुति वाक्य है कि—

जब यह इस अदृश्य अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन में अभय और प्रतिष्ठा को समझता है तब वह अभय को प्राप्त करता है और इसके विपरीत जब वह उपर्युक्त धर्मों के विरुद्ध धर्मों को उसमें समझने लगता है तब उसे भय होता है। यही आनन्द का स्थान है"—

शरीर में स्थित अचेतन वस्तु के साथ योग होने से ईश्वरीय धर्मों का तिरोभाव होता है यह समझना चाहिए। मूलतः तत्व तीन हैं चेतन, अचेतन तथा ईश्वर। अचेतन के योग से चेतन जीव में कालुष्य उत्पन्न होता है।

। यह स्वप्नाऽधिकरण पूर्ण हुआ।

सुषुप्त्यवस्थाधिकरणम्

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ३।२।८।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ३।२।९।

अथ सुषुप्तावस्था परीक्ष्यते। तत्रैतस्य जीवस्य हि तासु नाडीष्ववस्थानं क्वचिच्छ्रुतौ श्रूयते।

—"तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति। आसु तदा नाडीषु भवति"—इति।

क्वचित्तु श्रुतौ पुरीतत्यवस्थानं श्रूयते—

—"ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते"—इति ।

क्वचिद्वा ब्रह्मण्यवस्थानं श्रूयते--

—"य एषोन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते"–इति ।

--"सता सौम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति"--

इति च ।

--"तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवतीति"--

--"अन्यत्रायतनमलब्धा प्राणमेवोपश्रयते"--

इति च । ततो न निर्धार्यते कुत्रावस्थानं भवतीति तत्रोच्यते । तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति । तदभावः स्वप्नाभावः सुषुप्तम् । स च सुषुप्तिभावो नाड्यां पुरीतति-ब्रह्मणि च समुच्चयेन द्रष्टव्यः तेषां त्रयाणामप्यविशेषेण श्रुतेः ।

"सुषुप्ति अवस्था अधिकरण"

अब सुषुप्ति अवस्था की परीक्षा की जाती है । सुषुप्ति अवस्था में इस जीव की स्थिति नाड़ियों में है. ऐसा श्रुतियों में बतलाई गई है ।

–'जहां शयन करता हुआ यह पूर्ण रूप से प्रसन्न अवस्था में स्वप्न को नहीं जानता, उस अवस्था में यह जीव नाड़ियो में रहता है"

कहीं तो श्रुति पुरीतत नाड़ी में अवस्थान सुना जाता है ।

—"उनसे हटकर पुरीतत नाड़ी में शयन करता है"—

और कहीं ब्रह्म में स्थिति सुनी जाती है ।

—"जो यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें शयन करता है"

—"हे सौम्य, तब यह सत् से सम्पन्न होता है, तथा स्वयं में विश्राम करता है"-

—"उन नाड़ियों में उस समय सोता हुआ किसी स्वप्न को नहीं देखता, उस समय एकरूप प्राण ही एकमात्र रह जाता है"—

—"अन्यत्र आयतन को प्राप्त न करता हुआ प्राण का ही आश्रय लेता है"—

इन उद्धरणों से यह निश्चित नहीं होता कि सुषुप्ति अवस्था में जीव की स्थिति कहांहै । उस विषय में कहा जा रहा है कि स्वप्न अवस्था का अभाव सुषुप्त अवस्था है

उस समय जीव की स्थिति नाड़ियों में तथा आत्मा में है। इससे सुषुप्ति भाव में पुरीतत नाड़ी में तथा ब्रह्म में एकत्रित स्थिति समझी जानी चाहिए क्योंकि श्रुति में इन तीनों की बिना किसी भेद के स्थिति सुनी गई है।

नगरे शेते प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इत्यादिवत् संभवति समुच्यते विकल्पायोगात्। पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते। तदन्तर्वर्तिनि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेते इति वक्तुम्। प्राकारपरिक्षिप्ते पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तते इतिवत्।

ताभिःप्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते इत्येकवाक्योपादानान्नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽप्यवगम्यते।

एवमपि त्रिषु ब्रह्मैव मुख्यं सुषुप्तिस्थानं द्रष्टव्यम्।

यत्तु सुषुप्तिकाले विषयानभिव्यक्तिकारणमुक्तम्--

--अतस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति। तेजसा हि तदा संपन्नो भवतीति"--

तत्र तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान् विषयानीक्षते इति। तदेतद् ब्रह्मपक्षेऽपि घटते।

--"ब्रह्मैव तेज":--

इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोक":--

इति श्रुतेर्ब्रह्मसंपत्तिरपि पाप्मस्पर्शाभावे हेतुरुपपद्यते।

जीवस्य तदानीं ब्रह्मणि संपन्नत्वात्। ब्रह्मणश्च सर्वपाप्मनिवर्तकत्वादशेषविशेषविज्ञानोपशमलक्षणं सुषुप्तं संपद्यते। तस्माद् द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च। ब्रह्मैव त्वेकमनपायि सुप्तिस्थानम्।

अतएव कारणात्--

--"कुत एतदागादिति प्रश्नप्रतिवचने--

--"यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः--

इत्यादिना नित्यमस्मादात्मन एव पुनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते। तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम्।

जैसे नगर में सोता है, महल में सोता है, पलँग पर सोता है इन व्यवहारों में कोई विरोध नहीं है वैसे ही उक्त तीनों स्थलों पर सुषुप्ति अवस्था में जीव की स्थिति समझी जा सकती है। पूरीतत नाड़ी को हृदय का वेष्टन या आवरण कहा जाता है। उसके मध्यस्थित आकाश में शयन की अवस्था को पुरीतत में सोता है।

यह कहा जा सकता है—

जैसे परकोटे से आवृत नगर में रहने वाले के लिए परकोटे में है ऐसा कहा जा सकता। उन नाड़ियों से अवसर्पण करके पुरीतत में शयन करता है। इस प्रकार एक ही वाक्य में ग्रहण करने के कारण नाड़ी और पुरीतत का समुच्चय अवगत हो रहा है। इन तीनों में भी ब्रह्म हो मुख्य सुषुप्ति का स्थान है यह समझना चाहिए। सुषुप्ति काल में किसी विषय की अभिव्यक्ति न होने का जो कारण बतलाया गया है।

—"अत: उसको कोई पाप स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह उस समय तेज से सम्पन्न रहता है"—

इसका तात्पर्य है कि नाड़ी में स्थित पित्त नाम के तेज से इन्द्रियाँ अभिव्याप्त हो जाती हैं तब वह बाहरी विषयों को नहीं देखता। यह बात ब्रह्म के पक्ष में भी घटित होती है—

—"ब्रह्म ही तेज है"—

यहां तेज शब्द का ब्रह्म के लिए प्रयोग हुआ है,

—"यह ब्रह्मलोक पाप को नष्ट करने वाला है"—

इस श्रुति से ब्रह्म में सम्पन्न होना ही पाप के स्पर्श के अभाव का हेतु सिद्ध हो रहा है क्योंकि जीव सुषुप्ति में ब्रह्म में स्थित हो जाता है। ब्रह्म क्योंकि समस्त पापों का निवर्तक है अत: उसमें स्थित होने से सारे विशेष विज्ञान लुप्त होकर सुषुप्ति की स्थिति बनती है इसलिए नाड़ियाँ तथा पुरीतत केवल द्वार मात्र हैं। उपाय रहित एक मात्र ब्रह्म ही सुषुप्ति का स्थान है।

नन्वेवं सुषुप्तिकाले परमात्मनैकत्वं प्राप्तोऽयं जीवात्मा यदा पुन: प्रतिबुध्यते तदानीं स प्राक्तन् एव जीवोऽविकलं पुन: प्रत्यावर्तते आहोस्वित् ततोऽन्य: प्रादुर्भवतीति जिज्ञासा भवति। यथाहि जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्जलराशौ विलीयते तत: पुनरुद्धरणे स एव जलबिन्दुर्बहिर्भवेदिति दु:संपादम्। एवमिहापि सुप्त: परेणैकत्वमापन्न: संप्रसीदति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति। ततोऽन्य: कश्चिदीश्वरभागो जीवरूपेण प्रतिबुध्यते इत्येवं प्राप्ते ब्रूम:। स एव तूत्तिष्ठतीति कर्म्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यो विजानीम:।

पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्यु: शेषानुष्ठानाय कृतपरिकरो भवति।

न चान्येन सामिकृतस्य कर्मण: शेषक्रियायामन्य: स्वकृतत्वाभिमानेन प्रवर्तेत।

अनुस्मरति चातीतेऽहनि दृष्टमर्थमुत्तरेद्यु: पूर्वानुभूतत्वेन। तच्चान्यस्योत्थाने नोपपद्यते। अन्यदृष्टस्यान्येनानुस्मरणायोगात्। सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नावकल्पते। शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते। तथाहि—

—"पुन:प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव"—

—"इमा: सर्वा: प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दति"—

--"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति। इत्येवमादय: शब्दा: स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयु:। कर्मविद्याविधिश्चैवं गम्यते। अन्योत्थानपक्षे तु सुषुप्तमात्रो मुच्येतेति कर्मविद्याविषयोऽनर्थका: स्यु:। तस्मात् स एवोत्तिष्ठति नान्य:।

यत्तु जलराशौ प्रक्षिप्तौ जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यते इत्युक्त--

तच्च तत्र विवेककारणाभावाद्युज्यते। इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म च विद्या चेति भिन्नकर्मविद्योपाधिको जीव: सुषुप्तिकाले विषयवासनाराहित्याद्विशुद्ध: सति संपन्नोऽप्युपाधेरनिर्मोकात् तदुपाधिकस्य तज्जीवत्वात् स एव जीव: प्रतिबुद्धयते इति सुषुप्त्यवस्थाधिकरणम्।

इसीलिए—

—"यह कहां से आया'—

इस प्रश्न के उत्तर में—

—"जैसे अग्नि के समूह से छोटे अग्निकण (विस्फुलिङ्ग) छिटक पडते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण उद्भूत हैं"—

इत्यादि सन्दर्भ से प्रतिदिन ही उसी आत्मा से पुन: प्रबोध अवस्था की संप्राप्ति इस शयन अधिकार में बतलाई गई है। इसलिये शयन का स्थान, आधार या आश्रय आत्मा ही है।

अब यहां एक जिज्ञासा यह होती है कि सुषुप्ति या गहन निद्रा के काल में जीवात्मा जब परमात्मा के साथ एकाकार हो जाता है और जागरण काल में जब वह पुन: हर्कत में आता है तब क्या वही स्थिति उसकी बनी रहती है जो सुषुप्ति काल में परमात्मा के साथ एक रूपतापन्न होने के पूर्व थी या उससे स्थिति में कुछ भेद आ जाता है। जैसे विशाल जलराशि में डाली गयी जल की बूंद जल के समूह के साथ जब एकाकार हो गई और बाद में जब उसको निकाला गया तब वही जल का भाग निकालने में आ गया जो डाला गया था यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहां के प्रसङ्ग में भी जब सुषुप्ति या गहन निद्रा के काल में जब जीव परमात्मा के साथ एकीभावापन्न होकर प्रसन्नता से भर गया तब पुन: उत्थान के समय वही जीवात्मा उस शरीर में परमात्मा से पृथक् होकर जागृति में आया यह कैसे कहा जा सकता है। जल समूह और जल बिन्दु के मिलने और पृथक् करने का दृष्टान्त यहां असंगत तो है नहीं। तब तो यह ही अधिक

सम्भव है कि ईश्वर का कोई अन्य ही भाग सुषुप्ति के अनन्तर फिर जागरण होने पर शरीर में आता है। इस प्रकार का सन्देह उपस्थित होने पर (सूत्रकार) यह विवेक प्रकट करते हैं कि—

कर्म, अनुस्मृति तथा शब्द विधियों से यह जाना जाता है। सुषुप्ति के अनन्तर शरीर में पुनः उत्थान उसी का होता है जो सुषिप्ति के पूर्व परमात्मा में सुषुप्ति काल में लीन हुआ था। पूर्व दिवस में संपादित कर्म का सुषुप्ति से जागने के बाद दूसरे दिन अनुसन्धान करते हुए पुरुष शेष कर्म के सम्पादन के लिए तैयारी करता है। ऐसा नहीं होता कि किसी और की आधी छोड़ी हुई क्रिया को कोई और अपना ही समझ कर पूरा करने में लगे। जागने के बाद पुरुष की अपने पहले दिन आधे छोड़े हुए कामों को पूरा करने की प्रवृत्ति यह बतला रही है कि जो जीव सुषुप्ति में परमात्मा में विलीन था, जागृत होने पर भी उस शरीर में स्थित जीव वही है।

पुनश्च शयन से जागा हुआ पुरुष विगत दिवस में देखे हुए पदार्थों को दूसरे दिन पहले देखे हुए के रूप में अनुभव करता है यह बात सुषुप्ति उत्थान के समय जीव के अन्य हो जाने पर समझ में नहीं बैठ सकती। क्योंकि किसी अन्य के देखे हुए पदार्थों का किसी अन्य को स्मरण होना युक्ति संगत नहीं है। अपि च मैं वही हूं यह अपना अनुस्मरण भी तब नहीं हो सकेगा जब किसी अन्य जीव का सुषुप्ति के अनन्तर उस शरीर में उत्थान होगा।

शब्द प्रमाण के आधार पर भी उसी जीव का उत्थान होता है जो सुषुप्ति में जाता है।

जैसे कि— जीव प्रत्येक न्याय में प्रत्येक योनि में वापस आता है वह परमात्मा में जागरण पर्यन्त के लिए ही लीन होता है।

"यह समस्त प्रजा प्रतिदिन वहां पहुंचकर ही ब्रह्म लोक को नहीं जान पाती।"

"वे यहां व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, सूकर, कीट, पतंग, दंश या मसक जो जो होते हैं, वे वे उस समय ही होते हैं, इस प्रकार के शब्द प्रमाण रूप वाक्य स्वापप्रबोधाधिकार में उपलब्ध होते हैं वे उस अवस्था में असंगत हो जाएंगे जब यह माना जाएगा कि शयन के पूर्व और इस के अनन्तर शरीर में स्थित आत्मा भिन्न-भिन्न है। कर्म और विद्या की विधियों से भी यही निश्चय होता है कि सुप्त और जागृत अवस्थाओं वाला आत्मा एक ही है। यदि सोकर उठने पर दूसरा आत्मा मान लिया जाय तब तो सोने वाले सभी मुक्त हो जाएंगे और उस स्थिति में कर्म तथा विद्या की विधियाँ व्यर्थ हो जाएंगी। अतः

यह निश्चय है कि जो आत्मा सुषुप्ति अवस्था के पूर्व है, सुषुप्ति के अनन्तर उसी का उत्थान होता है अन्य का नहीं।

ऊपर जल की राशि में डाले गए जल के बिन्दु के लिए जो यह कहा गया है कि जो जल बिन्दु डाला गया, ठीक वही जल बिन्दु निकालते समय नहीं निकाला जा सकता। जो निकाला जाता है वह कोई अन्य जल बिन्दु होता है तो यह बात इसलिए होती है कि जल बिन्दु में विवेक का अभाव है परन्तु आत्मा और जीव में तो विवेक विद्यमान है अतः भिन्न-भिन्न विवेक रूपी कारण कर्म तथा विद्या रूपी उपाधि वाला जीव सुषुप्ति काल में विषय तथा वासनाओं से रहित होकर विशुद्ध रूप में परमात्मा में विलीन होकर भी उपाधि के न छूटने के कारण पुनः स्वयं प्रतिबुद्ध होता है।

॥ यह सुषुप्ति अवस्था अधिकरण पूर्ण हुआ ॥

मुग्धावस्थाधिकरणम्

मुग्धेऽर्द्धसंपत्तिः परिशेषात्।३।२।१०।

मुग्धावस्था परीक्ष्यते। मुग्धो मूर्छितः तिस्रस्तावदवस्था जीवस्य प्रसिद्धाः जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति। चतुर्थीयमन्या मूर्च्छावस्था। पञ्चमीयमन्या शरीरादपसृप्तिः। षष्ठी मुक्तिः। तत्र मुग्धोऽयं जागरिते स्वप्ने सुषुप्तौ वा मृत्यौ वाऽन्तर्भाव्य इति केचिदाक्षिपन्ति। यथाहीषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान् विषयानीक्षते एवं मुग्धो मुशलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान् विषयानीक्षते इति। तत्प्रत्याक्षेप्यम्। वैषम्यात्। चेतयमानस्येषुकारस्येषूपलब्धिवच्चेतनाविकलस्य मुग्धस्यान्धे तमसि प्रक्षिप्तस्य विषयानुपलब्धेः। एकविषयासक्तचेतसोऽपि जाग्रतो देहो विध्रियते। मुग्धस्य तु देहः क्षितौ पतति। तस्मान्मुग्धो न जागर्तीति प्रतीमः।

परिशेष से मुग्ध में आधी सम्पत्ति होती है।३।२।१०।

मुग्धावस्था की परीक्षा की जाती है। मुग्ध का अर्थ है मूर्छित। जीव की तीन अवस्थाएं प्रसिद्ध हैं, जागृत स्वप्न और सुषुप्ति। यह चौथी मूर्छावस्था है। पांचवी यह शरीर से अलग होने की अवस्था है। छठी अवस्था मुक्ति है। यहां मूर्छित या मुग्धावस्था को पृथक् अवस्था के रूप में गिनने में यह आक्षेप होता है कि यह मुग्ध अवस्था जागरित स्वप्न, सुषुप्ति या मृत्यु में से ही किसी में गिनी जानी चाहिए। जैसे कोई बाण बनाने वाला (इषुकार) जागते हुए भी बाण में मन को लगाने पर अन्य किसी विषय का ज्ञान नहीं रखता उसी प्रकार मूर्छित व्यक्ति भी मूसल आदि के आघात से होने वाले दुःख के अनुभव में व्यग्र चित्त वाला होने से जागता हुआ भी अन्य विषयों को नहीं देखता। इस

मत का यहां खण्डन करना है। इस दृष्टान्त में विषमता है। चेतन अवस्था में बाण बनाने वाला जैसे बाण की उपलब्धि करता है उसको तरह चेतना से रहित मूर्छित पुरुष जो अन्धतम में गिरा हुआ है, उसे विषय की उपलब्धि नहीं होती। एक विषय में केन्द्रित चित्त वाले पुरुष का भी जाग्रत अवस्था में देहका धारण होता है, परन्तु मूर्छित व्यक्ति का शरीर तो भूमि पर गिर जाता है। इस तरह मूर्छित व्यक्ति जाग्रत अवस्था में नहीं रहता, ऐसा हम जानते हैं।

नाप्ययं स्वप्नान् पश्यति, निःसंज्ञत्वात् नापि सुषुप्तः। वैषम्यात्। सुषुप्तो हि प्रसन्नवदनस्तुल्यकालमुच्छ्वसिति, निमीलिते अस्य नेत्रे भवतो, न चास्य देहो वेपते। मुग्धस्तु कदाचिच्चिरं नोच्छ्वसिति देहश्चास्य सवेपथुर्भवति। भयानकं च वदनं, विस्फारिते नेत्रे।

अपि च पाणिपेषणमात्रेण सुषुप्तमुत्थापयन्ति न तु मुग्धं मुद्गरघातेनापि। मुसलसंपातादिनिमित्तो मोहः, श्रमनिमित्तः स्वाप इत्येवं निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः। तस्मान्मुग्धं न सुषुप्तं प्रतीमः नाप्ययं मृतः। प्राणोष्मणोर्भावात् यावता हृदयदेशालम्भनेन शरीरोष्माणं नासिकादेशे च श्वासं प्रतिपद्यते तावन्नायं मृत इत्यध्यवस्यन्ति। तस्मात् परिशेषादर्धसंपत्ति मुग्धे भवतीत्यवगच्छामः। सुषुप्तौ तावत् प्राणोष्मणोर्व्यापारो जाग्रतीवात्युल्वणः प्रतिभाति। मृत्यौ पुनः स नितरां परिहीयते। इह तु मुग्धे स विद्यमानोऽप्यतिमान्द्यादनुल्वण इत्यर्द्धसंपत्तिः। अतएवेदमवस्थान्तरम्।

तथा चायं शारीरको जीवात्मा जन्ममृत्युलक्षणः स्वप्नाद्यवस्थालक्षणश्च प्रतिपत्तव्यः इति सिद्धम्

। इति मुग्धावस्थाधिकरणम्।

। इति जीवात्मन स्वप्नाद्यवस्थात्रयलक्षणाधिकारः।

अथ जीव-पर-भेदाभेदलक्षणाधिकारः ३

परस्यात्मन स्वप्नाद्यवस्थाभेदाभावः १

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।३।२।१।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्।३।२।२।

अपिचैवमेके ।३।२।३।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३।२।४।

इत्थं जीवस्य स्वप्नसुषुप्तिमूर्छावस्था निरूपिता: अत: परं मुक्त्यवस्था दर्शयितव्या। तत्र मुक्तो जीवस्य परेणैकीभावो भवतीति परस्वरूपमेवास्य जीवस्य स्वं रूपं संपद्यते।

यद्यपि सुषुप्तावपि परेणैकीभावः पूर्वं व्याख्यातस्तथापि तत्र यः स्वपिति स एव प्रतिबुध्यते इति दर्शनाद्—जीवे कर्मविद्ययोर्वासनाया मुक्तिर्नास्तीति गम्यते। अतएव तत्र न परेणास्य जीवस्य सर्वात्मनैक्यं भवति।

इह तु मुक्तौ सर्वकषायविनिर्मुक्तया सर्वात्मना परेणैक्यं संपद्यते। तस्मात् तत्र परस्वरूपमेवास्य जीवस्य रूपमस्तीत्यतस्तस्य परस्येदानीं स्वरूपं परीक्ष्यते।

मूर्छित व्यक्ति स्वप्न भी नहीं देखता, क्योंकि वह संज्ञा रहित होता है। वह सुषुप्ति या गहन निद्रावस्था में भी नहीं रहता। क्योंकि इन अवस्थाओं में भी मूर्छावस्था से विषमता रहती है। सुषुप्ति अवस्था वाला पुरुष प्रसन्न मुख वाला होता है, वह उस काल में श्वास लेता है। उसके नेत्र बन्द रहते हैं, उसका शरीर कम्पित नहीं होता। परन्तु मूर्छित पुरुष तो कभी-कभी देर तक श्वास नहीं लेता और उसका शरीर भी कम्पित रहता है, उसका मुख भयानक होता है, उसके नेत्र फैले हुए हो जाते हैं। सुषुप्त पुरुष को हाथ के स्पर्श से उठा लिया जाता है, परन्तु मूर्छित पुरुष को तो मुद्गर के आघात से भी नहीं उठाया जा सकता। मूर्छा का निमित्त मुसल आदि का आघात होता है तथा निद्रा का निमित्त श्रम होता है यह मूर्छा और निद्रा में निमित्त में भी भेद है। इसलिए मूर्छित को सोया हुआ नहीं समझा जा सकता। यह मृत अवस्था भी नहीं है। प्राण और ऊष्मा के रहने पर हृदय के प्रदेश में शरीर की ऊष्मा जब तक है तथा नासिका प्रदेश में जब तक श्वास आता है तब तक यह मर गया ऐसा नहीं समझा जाता। इसलिए निष्कर्ष रूप से मूर्छित अवस्था में अर्धचेतना रहती है यह समझा जाता है। सुषुप्ति में प्राण और ऊष्मा का व्यापार जाग्रत अवस्था के समान पर्याप्त उग्र होता है। मृत्यु में वह पूर्णतया समाप्त हो जाता है। इस मूर्छित अवस्था में वह ऊष्मा व्यापार रहने पर भी अत्यन्त मन्द रहने के कारण प्रतीत नहीं होता, इसलिए इस अवस्था में चेतना की आधी सम्पत्ति मानी जाती है। इसीलिए यह भिन्न अवस्था है।

इस प्रकार यह शारीरक जीवात्मा जन्म मृत्यु स्वरूप वाला तथा स्वप्न अवस्था के लक्षणों वाला समझा जाना चाहिए।

यह मुग्धावस्थाधिकरण पूर्ण हुआ

। यह जीवात्मा स्वप्नादि तीन अवस्था वाला तीन लक्षणों का प्रकरण पूर्ण हुआ।

जीव तथा परमतत्त्व के भेदाभेद लक्षण का अधिकार

परमात्मा की स्वप्न आदि अवस्थाओं के भेद का अभाव

जीव की स्वप्न सुषुप्ति मूर्च्छा अवस्थाओं का निरूपण हुआ। इसके आगे मुक्ति अवस्था का निरूपण करना है। मुक्ति में परम तत्त्व के साथ जीव का एकीभाव हो जाता है इसलिए परमात्मा का स्वरूप ही मुक्ति में जीव का अपना स्वरूप बन जाता है। यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में भी परमात्मा के साथ एकीभाव होता है ऐसा पहिले कहा गया है तथापि जो सोता है वही जागता है यह देखने से जीव में कर्म और विद्या की वासना से मुक्ति नहीं होती यह प्रतीत होता है। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा से जीव का पूर्णतया ऐक्य नहीं होता। यहां मुक्ति अवस्था में तो समस्त कषायों के हट जाने के कारण पूर्ण रूप से परमात्मा के साथ ऐक्य हो जाता है। अतः वहां परमात्मा का स्वरूप ही इस जीव का भी स्वरूप हो जाता है अतः अब परम तत्त्व के स्वरूप का विचार किया जाता है।

अयं तावज्जीवात्मा त्रिलिङ्गो व्याख्यातः। तथाहि—

कतम आत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति। ध्यायतीव लेलायतीव। स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि। स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते। स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति। तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च। संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन् संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। स यत्र प्रस्वपिति अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रा मपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति। पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।

अथो खल्वाहुः—जागरित देश एवास्यैष इति। यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त इति। स वा एष एतस्मिन् संप्रसादेरत्वा चरित्वा द्रवति स्वप्नायैव। स यत्तत्र किञ्चित पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति। असङ्गो ह्ययं पुरुष इति। स वा एष एतस्मिन् स्वप्नेरत्वा चरित्वा द्रवति बुद्धान्तायैव। स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्तेरत्वा चरित्वा द्रवति स्वप्नांतायैव।

एतावुभावन्तावनु संचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च। तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो विपरिपत्त्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते एवमयं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति। सोऽस्य परमो लोकः। तद्वा अस्यैतदतिछन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम्। प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्।

तद्वा अस्यैतदाप्तकाममनात्मकाममकामं रूप शोकान्तरम् । सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति एष ब्रह्मलोकः । एषास्य परमागतिः । एषास्य परमा संपत् । एषोऽस्य परमो लोकः । एषोऽस्य परम आनन्दः—"

इत्येवं श्रुतावस्य जीवात्मनस्त्रीणि स्थानान्युक्तानि । तत्र जागरितस्थाने सन्ध्यस्थाने चायं शरीरमभिसंपद्यमानत्वात् पाप्मभिः संसृज्यते । पाप्मभिश्च संसर्गादयं सविशेष एव प्रतिपद्यते ।

यह जीव तीन लिङ्ग या चिन्हों से युक्त व्याख्यात हुआ है । श्रुति का निम्नांकित सन्दर्भ यहां द्रष्टव्य है—

"आत्मा कौन है, जो यह विज्ञानमय प्राणों में हृदय में अन्तर्ज्योति पुरुष है। वह समान होता हुआ दोनों लोकों में विचरण करता है । वह ध्यान करता हुआ सा प्रतीत होता है। वह स्वप्न बन कर मृत्यु लोक के इन रूपों का अतिक्रमण करता है। वह पुरुष उत्पन्न होता हुआ, शरीर ग्रहण करता हुआ पापों से संसर्ग प्राप्त करता है । वह उत्क्रमण करता हुआ, मृत्यु को प्राप्त होता हुआ पापों को छोड़ता है । उस पुरुष के दो ही स्थान होते हैं, एक तो यह लोक दूसरा परलोक स्थान । वह जहां सोता है, वहां इस लोक की समस्त मात्राओं को लेता हुआ, स्वयं उन्हें नष्ट करता हुआ, स्वय निर्माण करता हुआ, अपनी दीप्ति से, अपनी ज्योति से शयन करता है । वहां पुरुष स्वयं ज्योति स्वरूप होता है । फिर कहा जाता है कि इसका स्थान वही है जो जागरित अवस्था का स्थान है। जो कुछ यह जागरित अर्थात् जागता हुआ देखता है वही सोता हुआ देखता है ।

यह इस संप्रसाद में विचरण करता हुआ, स्वप्न में जाने के लिए द्रुति भाव को प्राप्त करता है । वह वहां जो कुछ देखता है उससे सम्बद्ध नहीं होता । क्योंकि यह पुरुष असंग है । यह इस स्वप्नावस्था में जितना विचरण करता है वह जागने तक के लिए ही है । जागने के उपरान्त यह जितना विचरण करता है उसका अन्त स्वप्न में जाने तक ही है । यह इन दोनों अन्तों के बीच ही घूमता है, स्वप्नान्त और जागरणान्त ही दो अन्त हैं । जैसे बाज पक्षी आकाश में घूमता हुआ थक कर अपने पंखों को इकट्ठा करके बैठ जाता है, वैसे ही यह पुरुष अन्तिम अवस्था के लिए ही दौड़ लगाता है, जहां शयन करके यह कोई कामना नहीं करता न कोई स्वप्न देखता है। वही इसका परम लोक है । वही इसका छन्द से अतीत, पाप से विनिर्मुक्त अभय रूप है। यह प्राज्ञ आत्मा से आलिङ्गित होकर न बाहर का कुछ जानता है न भीतर का कुछ ज्ञान रखता है । यही इसका आप्तकाम. अकाम, शोक से परे स्थित रूप है। वहां ब्रह्म लोक में यह एक अद्वैत द्रष्टा होता है । यही इसकी परमा गति है । यही इसकी परमा संपत्ति है । यही इसका परमलोक है, यही इसका परम आनन्द है ।"

इस प्रकार श्रुति में इस जीवात्मा के तीन स्थान बतलाए गए हैं। इनमें जागरित स्थान तथा सन्धि स्थान या स्वप्न स्थान में यह शरीर से संबद्ध होता हुआ पापों से संसक्त होता है। पापों से संसर्ग के कारण यह पृथक् हो जाता है।

तत्र जागरितस्थाने पञ्चज्योतिरयं पुरुषः पाप्मभिः संसर्गात् पुण्यं च पापं तैर्ज्योतिर्भिरनुपश्यति। संध्यस्थाने स्वयं ज्योतिरयं पाप्मभिः संसृष्टत्वात पुण्यं च पापं च स्वेन ज्योतिषानुपश्यति। अथैष तृतीये तु सप्रसादस्थाने गतो जागरितस्वप्नयोर्विषयैरन्वागतः संप्रसन्नो निरञ्जनत्वान्निर्विशेषः सपद्यते। स तदानीं निर्विशेषेण परब्रह्मणा परमं साम्यमुपैति। अपहतपाप्मत्वाच्चायं प्रकाशमयो द्रष्टा तदानीं दृश्यासंनिधानात् पश्यन्नपि न किञ्चित्पश्यति। तथा चेत्थं पञ्चज्यातिषा पुण्यपापद्रष्टृत्वं जागरितलिङ्गं स्वयंज्योतिषा च पुण्यपापद्रष्टृत्वं सन्ध्यलिङ्गमित्युभयविध लिङ्गं जागरितस्थानीयजीवपरिव्याप्तस्यास्य परात्मनस्तदुभयस्थानसंबन्धादपि नोपपद्यते। तदुभयस्थानसम्बन्धादस्य शरीरिणो जीवात्मनो यथा पाप्मभि संसर्गात् सविशेषत्वं नास्ति। शरीरानभिमानात। जागरितस्थाने वा सन्ध्यस्थाने वा सुषुप्तस्थाने वा सर्वत्र हि परं निर्विशेषमेवैकरस प्रतिपत्तव्यम। जीवस्योपाधियोगात् सविशेषत्वं तदुपाधिविगमे तु नैसर्गिकं निर्विशेषत्वमित्येवं यथा द्वैविध्यं भवति न तथास्य द्वैविध्यं भवति। सर्वत्र हि निर्विशेषतयैवावस्थानात्।

वहां जागरित स्थान में पांच ज्योतियों वाला यह पुरुष पापों के संसर्ग के कारण पुण्य और पाप को उन ज्योतियों से देखता है। संधि स्थान या स्वप्न स्थान में यह स्वयं ज्योति बनता हुआ पापों से संसृष्ट होने के कारण पुण्य और पाप को स्वयं की ज्योति से देखता है। जब यह तीसरे संप्रसाद के स्थान में जाता है तब जागृत और स्वप्न के विषयों से अनुगत होता हुआ प्रसन्न अवस्था में निरञ्जन होने के कारण निर्विशेष हो जाता है। उस काल में वह निर्विशेष परब्रह्म से परम समानता को प्राप्त कर लेता है। उस समय पापों से दूर हो जाने के कारण यह प्रकाशमय द्रष्टा दृश्यों के सामने न होने के कारण देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता।

इस प्रकार पांच ज्योतियों के द्वारा पुण्य और पाप का दर्शन करना जो जाग्रत अवस्था का चिन्ह हैं तथा स्वयं की ज्योति से पुण्य और पाप का दर्शन करना जो स्वप्नावस्था या सन्धि अवस्था का चिन्ह है, वह जीव में परिव्याप्त परमात्मा में उन दोनों अवस्थाओं के सम्बन्ध से भी नहीं बनता। इन दोनों स्थानों के सम्बन्ध से इस शरीरधारी जीवात्मा में जैसे पापों से संसर्ग होने के कारण विशेषता आती है वैसे जीवात्मा में स्थित परमात्मा में उन दोनों स्थानों के कारण भी विशेषता नहीं आती। क्योंकि उसे शरीर का अभिमान नहीं हैं। परमात्मा तो जागरित, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों ही स्थानों में सर्वत्र ही निर्विशेष एकरस ही स्वीकार करने योग्य है जैसे जीव की उपाधि के योग होने पर विशेषता होती है तथा उपाधि हट जाने पर उसको स्वाभाविक निर्विशेषता की प्राप्ति होती है, इस प्रकार जैसी जीव की जो दो स्थितियां है वैसी परमात्मा की दो स्थितियां नहीं होतीं। क्योंकि वह सर्वत्र ही निर्विशेष रूप से ही अवस्थित रहता है।

ननु नेदं परं सर्वत्रैकरूपं संभवति ।

सोमो ब्रह्म । अग्निर्ब्रह्म । वायुर्ब्रह्म । आदित्यो ब्रह्म । मनो ब्रह्म । प्राणो ब्रह्म । वाग् ब्रह्म—

इत्याद्यनेकभेदसत्वादिति चेन्न । परब्रह्मणः सर्वत्र व्याप्तितया यथा जीवात्मनि संनिधानं तथा सोमाग्निवाय्वादित्यमनःप्राणवागादिषु संन्निहितस्य घटाकाशकुडयाकाशादिवत् तत्तच्छब्दव्यपदेशेऽपि प्रत्येकमतद्वचनान्न विशेषवत्ता संक्रमते ।

जागरितस्वप्नादिस्थानकृतो वा सोमाग्निवाय्वादिस्वरूपकृतो वा भेदस्तच्छब्देन परामृश्यते । नास्मिन् परब्रह्मणि कदाचिज्जागरः कदाचित् स्वप्न इत्यवस्थाभेदः संभवति ।

अशरीरत्वात् । अवस्थाभेदस्य च शरीरसम्बन्धनिबन्धनत्वात् । नाप्यत्र परब्रह्मणि सोमत्वाग्नित्ववायुत्वादिकृतो भेदः संभवति । भेदाभ्युपगमे सोमो ब्रह्माग्निर्ब्रह्मेत्येवमेषां सर्वेषामविशेषेणैकेन ब्रह्मशब्देन व्यवहारविरोधापत्तेः ।

तथा च व्यक्तिभेदेऽप्यभिन्नैकजात्यनुगमवत् सोमाग्न्यादिभेदेऽपि तदनुगतस्य परब्रह्मणो निर्विशेषैकत्वोपपत्तिर्द्रष्टव्या ।

प्रश्न होता है कि यह परमात्मा सर्वत्र एक रूप वाला नहीं संभव है—

"सोम ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, वायु ब्रह्म है, आदित्य ब्रह्म है, मन ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, वाक् ब्रह्म है"—

इत्यादि इसके अनेक भेद हैं। तो यह प्रश्न नहीं ठहरता । क्योंकि परब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने से जैसे उसकी संस्थिति जीवात्मा में है वैसे ही सोम, अग्नि वायु, आदित्य, मन, प्राण, वाक् आदि में भी वह संस्थित है, वैसे ही जैसे, घड़े मकान आदि में आकाश संस्थित है, उसका व्यवहार वहां उन विभिन्न शब्दों से होने पर भी प्रत्येक के लिए वैसे शब्दों का प्रयोग न होने से संकुचित विशेषताओं का संक्रमण परमात्मा में नहीं होता । उन विशेषताओं का तात्पर्य जागरित स्वप्न आदि स्थानों के कारण आने वाली विशेषताएं तथा सोम, अग्नि, वायु आदि के स्वरूप से उत्पादित भेद हैं । इस परब्रह्म में कभी जागरण तथा कभी स्वप्न इस प्रकार अवस्थाओं का भेद कभी संभव नहीं है । क्योंकि वह शरीर धारण नहीं करता और अवस्थाओं का भेद शरीर के कारण होता है । इस परब्रह्म में सोमत्व, अग्नित्व, वायुत्व आदि भेदभी नहीं संभव है । यदि भेद मान लिया जाय तो "सोम ब्रह्म है," "अग्नि ब्रह्म है," इस प्रकार इन सबमें बिना किसी भेद के एक ही ब्रह्म शब्द के व्यवहार का विरोध होगा । वहां यही स्थिर करना होता है कि जैसे

व्यक्तियों में भेद होने पर उनकी जाति एक अभिन्न रूप से समस्त व्यक्तियों में अनुगत रहती है वैसे ही सोम, अग्नि आदि के भेद होने पर भी उनमें अनुगत परब्रह्म निर्विशेष रूप से उन सब में अनुगत है।

अपि चैके आचार्या: स्पष्टमेवं भिन्नेष्वनुप्रविष्टमभिन्नमेकरूपं ब्रह्माहु:

—"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।

तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्"—इति।

—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्नं बहुधैकोनुगच्छन्।

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देव: क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"—

इति च।

ननु द्विविधं हीदं परं ब्रह्म श्रूयते रूपवच्चारूपवच्च।

—"तत्र द्वे वाथ ब्रह्मणो रुपे मूर्तं चामूर्तं चेत्यादयो रूपश्रुतय:। अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमित्यादयस्त्वरूपश्रुतय:। यथा चैते सोमाग्निवाय्वादित्यादयो विशेषवन्तोऽर्था अप्यस्यैव ब्रह्मणो रूपाणि स्यु:। तेष्वनुगतं निर्विशेषं चाप्यस्यैव स्यादरूपं रूपम्। इति चेत् तत्रापि ब्रूम:—अरूपवदेव हि तन्निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। अरूपस्यैव ब्रह्मण: प्रधानत्वात्।

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दु:खमेवाभियन्ति।

इत्यादिना तस्योत्तरतरत्वमितरेषां तु दु:खानुविधायित्वं दर्शयन्त्या: श्रुत्या नीरूपे निर्विशेषे ब्रह्मण्येव पक्षपातावगमात्। अधिकं त्वत्र ब्रह्मविज्ञाने द्रष्टव्यम्।

। इति परस्यात्मन: स्वप्नाद्यवस्थाभेदाभावाधिकरणम्।

अनेक आचार्यों ने स्पष्ट ही भिन्न भिन्नों में अनुप्रविष्ट अभिन्न रूप से अवस्थित एक ब्रह्म को कहा है।

—"जैसे एक ही आकाश घट आदि में पृथक्-पृथक् गृहीत होता है, जैसे जल के आधार, वापी. कूप, तडाग आदि में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही एक ही आत्मा अनेक में स्थित होकर भासमान है"—

—"जैसे यह ज्योतिरूप सूर्यदेव भिन्न भिन्न जलाधार में बहुत सी उपाधियों में भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही विभिन्न क्षेत्रों में यह अज आत्मा भिन्न भिन्न प्रतीत होता है।"—

पुनः प्रश्न होता है कि यह परब्रह्म श्रुतियों मे रूपवान और अरूपवान दो प्रकार का सुना जाता है।

—ब्रह्म के दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त" –

इत्यादि ब्रह्म का रूप प्रकट करने वाली श्रुतियां हैं।

"वह अशब्द है, अस्पर्श है, अरूप है, अव्यय है"

इत्यादि ब्रह्म को अरूप प्रकट करने वाली श्रुतियां हैं। इसलिए ये अग्नि, वायु, आदित्य विशेषता वाले भी इसी ब्रह्म के रूप हैं, ऐसा श्रुति का तात्पर्य विदित होता है। उनमें अनुगत जो निर्विशेष ब्रह्म है वह भी उसी का रूपरहित रूप होगा। इस प्रश्न पर कहना यह है कि वह निर्विशेष ब्रह्म तो अरूपवान् ही समझा जा सकता है। क्योंकि अरूप ब्रह्म की ही प्रधानता है।

—"उनमें जो आगे का रूप है वही अरूप अनामय हे, जो यह जानते हैं वे अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं, अन्य लोग दुःख ही भोगते हैं।"—

इत्यादि के द्वारा अरूप ब्रह्म को ही उत्तरतरया उत्कृष्ट माना गया। अन्यों को तो दुःख का अनुविधान करने वाली श्रुति के द्वारा नीरूप निर्विशेष ब्रह्म में ही अपना पक्ष दिखाया गया है। इससे अधिक विषय तो ब्रह्मविज्ञान में देखना चाहिए।

यह परमात्मा के स्वप्नादि अवस्था के भेद के अभाव का अधिकरण पूर्ण हुआ।

परस्यात्मनो धर्म्मिधर्म्म–रूपद्वैविध्यम्

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।३।२।१५।

आह च तन्मात्रम् ।३।२।१६।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ।३।२।१७।

अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ।३।२।१८।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१९।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।३।२।२०।

दर्शनाच्च ।३।२।२१।

पूर्वाधिकरणे परस्य ब्रह्मणोऽवस्थाभेदः प्रत्याख्यातः किन्तु तस्य धर्मरूपत्वं धर्मिरूपत्वं चेति द्वैविध्यं स्थापयितुमिदानीमधिकरणान्तरमारभ्यते। तत्रागन्तुकधर्मप्रतिषेधात् सिद्धेऽपि निर्विशेषत्वे स्वमस्य परब्रह्मणः किं रूपमध्यवसेयमिति चिन्तायामुच्यते।

--"सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्याद्यनेकश्रुत्या तावत् सत्तावदस्य रूपमध्यवसीयते किन्तु नैतावदेवेदं ब्रह्मास्ति अपि तु प्रकाशवच्चेदं प्रतिपत्तव्यम्। यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः"--

इत्यादि ज्ञानज्योतिर्बोधकवाक्यानामवैयर्थ्यात्।

"उपलक्षणमेतत्। आनन्दवच्चेदं प्रतिपत्तव्यम्। नित्यविज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यादि वाक्यानामवैयर्थ्यात्। एभिश्च वाक्यैरस्य ब्रह्मणः सत्तावत्वं चेतनावत्वमानन्दवत्वं प्रतीयते। किन्तु श्रुतिराह च तन्मात्रं ब्रह्म। सत्तामात्रं चिन्मात्रमानन्दमात्रं चेति।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते-"

इति सदसद्विलक्षणः सत्ताघनोवगम्यते। एवमन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति विदिताविदितविलक्षणो विज्ञानघनोऽवगम्यते।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति"

आनन्दघनो विवक्ष्यते। दर्शयति च श्रुतिरस्य प्रकाशवत्वं प्रकाशरूपत्वं च।

"तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति"--

प्रकाशवत्वम्।

परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते।

इत्यादि च प्रकाशमात्रत्वम्। अपि च दर्शयति द्वैविध्यम्--

--"अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते"--

विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति।

शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते--

--"आनन्दाद्ध्येव हि खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ती"--

त्यादिभिर्निर्धर्मकं व्यपदिश्यते।

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ।

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता ।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति ।

धर्मवद् व्यपदिशति अथो स्मर्य्यतेऽप्येवम्—

परमात्मा को धर्म धर्मिरूप द्विविधता

पहिले के अधिकरण में पर ब्रह्म के अवस्था भेद का प्रत्याख्यान किया गया । किन्तु उसके धर्मरूपत्व तथा धर्मिरूपत्व की द्विविधता की स्थापना करने के लिए यहां अन्य अधिकरण का आरम्भ किया जाता है । ब्रह्म में बाहर से आने वाला कोई आगन्तुक धर्म नहीं है अतः उसके निर्विशेषत्व के सिद्ध होने पर भी इस पर ब्रह्म का अपना रूप क्या है इस विचार में कहा जाता है कि—

"हे सौम्य, यह आदि में सत् ही था"

इत्यादि अनेक श्रुतियों से इस पर ब्रह्म का सत्तावान् होना यह रूप प्रकट होता है किन्तु ब्रह्म केवल इतना ही नहीं है अपितु परब्रह्म को प्रकाशवान् भी समझना चाहिए ।

—"जो सर्वज्ञ है, सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है"

इत्यादि ज्ञान ज्योति के बोधक वाक्यों की तब व्यर्थता न होगी । यह परब्रह्म की ज्योतिर्मयता उपलक्षण है, उसको प्रकाशवान् के साथ आनन्दमय भी समझना चाहिए ।

—"नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म है"—

इत्यादि वाक्य व्यर्थ नहीं हैं, इन वाक्यों के द्वारा इस ब्रह्म का सत्तावान् होना, चेतनावान् होना तथा आनन्दवान् होना प्रतीत होता है । किन्तु श्रुति ने तन्मात्र को ब्रह्म कहा है, उसका अर्थ है, सत्तामात्र, चेतनामात्र, आनन्दमात्र ब्रह्म है ।

—"मैं उस ज्ञेय को बतला रहा हूं जिसके जानने से अमृत की प्राप्ति होती है । परब्रह्म अनादि है वह न सत् है न असत् है"—

इस प्रकार सत् और असत् से विलक्षण सत्ताघन परमतत्व ब्रह्म की प्रतीति होती है । इसी प्रकार "वह ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है" इस प्रकार विदित अविदित से विलक्षण उसे विज्ञानघन कहा गया ।

—"वह निश्चय ही रस है यह रस को प्राप्त कर आनन्दित होता है"—

इस प्रकार ब्रह्म की आनन्दघन के रूप में विवक्षा होती है। श्रुति ब्रह्म का प्रकाशवत्व तथा उसकी प्रकाश रूपता को दिखा रही है।

—"उसी के भासित होने से सब कुछ भासित हो रहा है उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित है"—

इससे ब्रह्म का प्रकाशवान् होना बतलाया गया।

—"परम ज्योति में उपसम्पन्न होकार फिर अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है"—

—"देवतागण उस ज्योतियों की ज्योति अमृत तत्व की आयु के रूप में उपासना करते हैं जो यह द्युलोक से परे ज्योति दीप्त हो रही है"—

इस सन्दर्भ से परब्रह्म का प्रकाशमात्रत्व अभिव्यक्त है। आगे श्रुति द्विविधता को दिखा रही है।

—"अस्ति ऐसा कहने वालों को वह अन्यत्र कहां मिलता है"—

—"यदि जीव यह समझ ले कि विज्ञान ब्रह्म है और यदि उससे प्रमाद न करे तो शरीर में पापों को नष्ट करके सभी कामनाओं को प्राप्त करता है"—

—"ये समस्त भूत जगत् आनन्द से ही उत्पन्न होता है, आनन्द से ही उत्पन्न होकर जींवित रहता है और अन्त में आनन्द में ही प्रवेश करता है"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों से निर्धर्मक ब्रह्म का कथन हुआ है।

"यदि ब्रह्म को असत् समझता है तो वह असत् ही हो जाता है, यदि ब्रह्म को अस्तित्ववान् समझता है तब उसे लोग अस्तित्ववान् समझते हैं"—

"उससे अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है, उससे अतिरिक्त कोई विज्ञाता नहीं है"—

—"ब्रह्म को आनन्द जानने वाला कहीं डरता नहीं है"—

इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म को धर्मवान् बतलाया गया है। स्मृतियों में भी इस विषय का प्रतिपादन है।

अतएव च प्रकाशवत्वसाधर्म्यादस्यात्मनः सूर्य्यकादिवदुपमा श्रूयते—
यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्"—
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"—इति।

ननु यथाम्बुनि प्रकाशप्रतिबिम्बो गृह्यते न तथायमात्मा गृह्यते तस्मान्न सादृश्यमिति चेद् तत्र ब्रूमः—

इह केवलमन्तर्भावाद् वृद्धिह्रासभाक्त्वं साम्येन नेयम् । यथा प्रवृद्धे जले प्रवृद्धः प्रतिबिम्बः स्वल्पे स्वल्पः--

एवं प्रवृद्धे शरीरे भूयानात्मान्तर्भवति स्वल्पे स्वल्पः । स चैवमन्तर्भावः प्रत्यर्थं ज्योतिषो धर्मस्य वा ज्योतिष्मतो धर्मिणो वा तयोरुभयोरपि सामञ्जस्यादुपपद्यते । परस्य निर्धर्मकत्वे वा धर्मवत्वे वा नोभयथापि तथान्तर्भावो व्याहन्यते । लोकेऽपि प्रकाशस्य प्रकाशवतश्चोभयथापि जलाद्यन्तर्भावात् प्रतिबिम्बसिद्धिदर्शनात् । अग्नितापस्याग्नेर्वा लौहादावनुप्रवेशदर्शनाच्च ।

। इति परात्मनः सच्चिदानन्दधर्मिधर्मरूपद्वैविध्याधिकरणम् ।

इसीलिए प्रकाशवत्त्व की समानता के कारण इस आत्मा की सूर्य आदि के साथ उपमा दी जाती है--

—"जैसे यह ज्योति आत्मा सूर्य अकेला बहुत से जलाधारों में जाता हुआ, उपाधियों से भिन्न भिन्न बनाया जाता है, वैसे ही क्षेत्रों में कह अज आत्मा प्रतीत होता है"—

प्रश्न होता है कि जैसे जल में प्रकाश का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसे यह आत्मा शरीर में नहीं दिखाई देता । अतः इनमें समानता नहीं है । इस पर हमारा कथन यह है कि यहां समानता केवल इतने में ग्रहण की गई है कि अन्तर्भाव होने के उपरान्त वैसे ही वृद्धि और ह्रास होते हैं । जैसे अधिक जल में प्रतिबिम्ब अधिक होता है, अल्प जल में अल्प प्रतिबिम्ब होता है, इसी प्रकार बड़े शरीर में आत्मा की प्रकटता की मात्रा अधिक होती है, छोटे शरीर में आत्मा अल्प मात्रा में प्रकट होता है । यह जो अन्तर्भाव है वह प्रत्येक अर्थ में ज्योति या धर्म का ज्योतिष्मान् या धर्मी का उन दोनों के सामञ्जस्य से बनता है । चाहे परमतत्त्व निर्धर्मक हो या धर्मवान् हो, दोनों ही प्रकार से उसका अन्तर्भाव रुकता नहीं । लोक में भी चाहे प्रकाश हो या प्रकाशवान् हो, जल में दोनों का ही अन्तर्भाव होकर प्रतिबिम्ब दिखाई देता है । अग्नि की गर्मी या अग्नि दोनों का ही लौहे आदि में प्रवेश दिखाई देने से भी यही बात सिद्ध होती है ।

। इस प्रकार परमात्मा की धर्म धर्मि रूप द्विविधता का अधिकरण पूर्ण हुआ ।

परस्यात्मनो निरुक्तानिरुक्त–रूपद्वैविध्यम्

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति । ततो ब्रवीति च भूयः ।३।२।२२।

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२३।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२४।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।३।२।२५।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।३।२।२६।

पृथ्वीजलतेजसां मूर्तत्वं वाय्वाकाशयोरमूर्तत्वमिति मूर्तामूर्तलक्षणे भूतराशिद्वयात्मके तावद् द्वे रूपे ब्रह्मणः प्रतिज्ञाते,—

तयोरेव च रसरूपाभ्यां वासनाभ्यां सूर्य्यमण्डलतत्पुरुषौ च व्याख्यातौ । तेन भूतराशितद्वासनाराशिमात्ररूपत्वं ब्रह्मणः प्रतीतं भवति । तथा चैतावन्मात्रं ब्रह्मेति ब्रह्मरूपेयत्ता ततः प्रतिपन्ना भवति । तन्न विवक्षितमित्यत आह—

अथात आदेशो नेति नेतीति । प्रकृतैतावत्त्वं ह्यनेन प्रतिषेधति । यत् प्रकृतं मूर्तामूर्तलक्षणं भूतरूपद्वयं यद्वा भूतराशितद्वासनाराश्यात्मकं रूपद्वयं नैतावदेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । ब्रवीति च श्रुतिर्भूयोऽपि ब्रह्मणो रूपं—

प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति । तस्माद् भूतराशितद्वासनाराशिभ्यां भिन्नमपि यत्किञ्चिदिहास्ति ज्ञातं चाज्ञातं च सच्चासच्च तत्सर्वं ब्रह्मैवास्तीति स्थितम् । एतदभिप्रायेणैवाह नेति नेतीति । ब्रह्म नास्तीति नास्ति । अथवा इति शब्दः प्रथमो ब्रह्मपरो द्वितीयो निर्देशार्थः ।

न ब्रह्म नास्तीति । तन्नास्ति यद् ब्रह्म नास्तीति । अयमर्थः "न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति । यत्किञ्चिदिहान्यदन्यदिव दृश्यते तत्सर्वम्—

एतस्माद् ब्रह्मणो ब्रह्म नेत्येमं कृत्वा परं न ह्यस्ति ।

परस्परतः सर्वमिदमन्यदन्यदिव प्रतीयात् किन्तु तद् ब्रह्म नास्तीत्येवं ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वं तत्र न शक्यं वक्तुमित्याह । कारणं कार्य्याद्भिद्यते कार्य्यनाशेऽपि कारणानाशात् । कार्य्यं तु कारणान्न भिद्यते । कारणनाशे कार्य्यस्यापि नाशदर्शनात् ।

अतः पाक्षिकं परत्वं स्थापयितुमिव ब्रह्म नेत्येवं परं नेति भङ्ग्या परत्वं प्रत्याचष्टे । ब्रह्म तु जगन्नास्तीति जगत्परत्वं ब्रह्मणि न प्रत्याख्यायते ।

—"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति—

—"न सद् तन्नासदुच्यते"—

इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञाताज्ञातयोः सदसतोर्वैलक्षण्येनापि ब्रह्मणो रूपप्रतिज्ञानात् ।

परमात्मा की निरुक्त अनिरुक्त रूप द्विविधता

पृथ्वी जल और तेज मूर्त हैं वायु और आकाश अमूर्त हैं इसलिए पञ्च महाभूत दो राशियों में विभक्त हैं, और ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त इन दो रूपों की प्रतिज्ञा की गई। उन्हीं की रस और रूप की वासनाओं से सूर्यमण्डल और उसके पुरुष की व्याख्या की गई। इससे ब्रह्म का जो स्वरूप प्रतीत होता है वह भूतराशि और उसकी वासना राशि का रूप ही है। इस प्रकार इतना ही ब्रह्म है यह ब्रह्म के रूप की इयत्ता की प्रतीति होती है। ब्रह्म की इस प्रकार की इयत्ता अभीष्ट नहीं है इसलिए श्रुति कहती है कि—

–"यह आदेश है, यह नहीं है, यह नहीं है"

प्रकृत में जो ब्रह्म को एतावन्मात्र बतलाया गया है, उसी का यह निषेध है। आशय यह कि जो प्रकरण प्राप्त–मूर्त और अमूर्त इस प्रकार पञ्च महाभूतों को दो राशियों में विभक्त किया गया, अथवा भूतराशि और उसकी वासना राशि में जो दो रूप प्रकट किये गए हैं, ब्रह्म को उतना ही नहीं समझना चाहिए। श्रुति पुनः ब्रह्म के रूप का विवरण देती है—

"प्राण सत्य हैं उनका यह सत्य है"—।

इसलिए भूतों की मूर्त अमूर्त राशियों से अथवा भूत और उनकी वासनाओं की राशियों से भिन्न भी यहां जो कुछ ज्ञात और अज्ञात, सत् और असत् है वह सब ब्रह्म ही है यह स्थिति है। इसी अभिप्राय से कहा गया "नेति नेति"—

इसका अभिप्राय यह है ब्रह्म कहीं नहो है ऐसा नहीं। अथवा 'नेति नेति" इस वाक्य में प्रथम इति शब्द ब्रह्म के लिए है तथा दूसरा इति शब्द निर्देशार्थक है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्म नहीं है ऐसा नहीं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो ब्रह्म नहीं है।

तात्पर्य यह है कि इस ब्रह्म से परम तत्त्व और कोई नहीं है। यहां जो कुछ अन्य अन्य के रूप में दिखाई दे रहा है वह सब कुछ इस ब्रह्म से, यह ब्रह्म नहीं है, ऐसा समझने योग्य भिन्न नहीं है। भले ही परस्पर यह सब कुछ अन्य अन्य की तरह प्रतीत होता रहे परन्तु वह ब्रह्म नहीं है ऐसा किसी भी पदार्थ को ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं कहा जा सकता। कारण कार्य से भिन्न होता है क्योंकि कार्य के नष्ट हो जाने पर भी कारण का नाश नहीं होता। किन्तु कार्य कारण से भिन्न नहीं होता क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश देखने में आता है। अतः एक पक्ष में परत्व की स्थापना करने के लिए मानों ब्रह्म को 'नेति' कहते हुए, ब्रह्म से पर कुछ नहीं है इस कथन भङ्गिमा से संसार के ब्रह्म से परत्व का निषेध किया गया है। ब्रह्म तो जगत् नहीं है, अतः ब्रह्म में जगत् से पर होने का निषेध नहीं किया जाता। क्योंकि—

–"वह विदित और अविदित से अन्य है"—

—"वह न सत् कहा जाता है न असत्"—

इत्यादि श्रुति स्मृतियों के द्वारा ज्ञात और अज्ञात तथा सत् और असत् से विलक्षण के रूप में भी ब्रह्म का रूप बतलाया गया है।

ननु यद्येवं भूतराशितद्वासनाराशिभ्यां ज्ञाताज्ञाताभ्यां सदसद्भयां च विलक्षणमपि रूपं ब्रह्मणोऽस्ति चेत् तत्कस्मान्न गृह्यते। उच्यते। तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं प्रत्येतव्यम्। आह हि श्रुतिः—

—"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैतम्"—

—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।"

—"स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते"—

—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्"

—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने"—इत्यादिः।

स्मृतिरपि—

—"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते—" इत्यादिः।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार भूतराशि और उसकी वासनाराशि से, ज्ञात और अज्ञात से, सत् और असत् से विलक्षण भी यदि ब्रह्म का रूप है तो वह गृहीत क्यों नहीं होता। उसका उत्तर है कि उसे अव्यक्त और इन्द्रियों से अग्राह्य समझना चाहिए। श्रुति ने कहा है—

"इसका रूप नेत्रों में स्थित नहीं होता, कोई नेत्रों से इसे नहीं देखता"—

"यह न नेत्रों से गृहीत होता है, न वाणी से, तथा अन्य इन्द्रियों (देवों) से भी इसका ग्रहण नहीं होता तप और कर्म से भी यह गृहीत नहीं होता"

"यह आत्मा जो 'नेति नेति' स्वरूप है, वह अगृह्य है वह गृहीत नहीं होता'—

"वह संकेतित नहीं है, वह ग्राह्य नहीं हैं"

—"जब यह इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनाश्रय में"—

स्मृति भी कहती है—

—"यह अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य कहा जाता है"—इत्यादि।

पश्यन्त्यपि तमेनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधने भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठाने इति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते । श्रुतिर्यथा—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयं भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः—" इत्यादिः । स्मृतिरपि—

ये विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जाना तस्मै योगात्मने नमः"

"योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् —" इत्यादिः ।

श्रुति तथा स्मृतियों से ज्ञात होता है कि समस्त प्रपञ्चों से बहिर्भूत अव्यक्त इस आत्मा को भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदि के अनुष्ठानों में अनुष्ठान कर्ता देख भी लेते हैं । इस सन्दर्भ में श्रुति कहती है—

—"स्वयम्भू ने इन्द्रियाँ बाहर की ओर बनाई हैं, इसलिए भीतर स्थित आत्मा इनसे दिखाई नहीं देता । कोई धीर पुरुष जो अपनी चक्षु को भीतर की ओर आवृत्त करता है वह अमृत की कामना वाला प्रत्यगात्मा को देखता है ।"—

—"ध्यान में लगा हुआ विशुद्ध सत्त्व वाला पुरुष ज्ञान के प्रसाद से उस परिपूर्ण को देखता है"—

स्मृति भी कहती हैं—

—"विनिद्र, जितश्वास, संतुष्ट, संयतेन्द्रिय, युञ्जान अवस्था वाले जिस ज्योति को देखते हैं उस योगात्मा को प्रणाम हैं"—

—"योगीगण उस भगवान् सनातन को देखते हैं"—इत्यादि

ध्यानगम्यं यदेतदव्यक्तं तावदाख्यातं तच्चेदमवैशेष्यं निरस्ताशेषरुपत्वं प्रकाशादिवत् प्रत्येतव्यम् । प्रकाशश्चैतन्यं ज्ञानम् । आदिपदेन सत्ता विवक्षिता । यथा च प्रकाशः कर्म्मणि अभ्यासाद् भिद्यते । उपलक्षणमेतत् सत्तायाः ।

सत्तापि कर्मण्यभ्यासाद् भिद्यते । भेदेन प्रतीयमानं सर्वमिदं विषयजातं कर्म्मपदेनेह विवक्ष्यते । तत्राभ्यासः पौनःपुन्येन संनिधानम् । तानि च विषयजातानि एकयैव भात्या

पुनः पुनर्गृहीतानि प्रतिभान्ति तत्रैषा भेदप्रतीतिः कर्मभेदानुरोधान्न तु सा भार्तिभिद्यते। भात्या गृहीतानां भिन्नानां कर्मणा व्यतिरेकेणेयं भातिः स्वरूपेणाविशेषा निष्कृष्यते तदवैशेष्यं ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः पश्यति''।

एवं सत्ताप्येषा प्रत्यर्थं भिद्यते। तत्राप्येषा भेदप्रतीतिः कर्मभेदानुरोधादेवास्ति न तु सा सत्ता स्वरूपतो भिद्यते। सत्तया गृहीतानां कर्मणां व्यक्तिरेकेणेयं सत्ता स्वरूपेणाविशेषा निष्कृष्यते तदवैशेष्यं विद्वान् पश्यति इत्यवधेयम्।

ध्यानगम्य जो यह अव्यक्त बतलाया गया है वह विशेषण रहित है, जिसमें समस्त विशेष रूपों का अभाव है उसे प्रकाशादि की तरेंह समझना चाहिए। प्रकाश का अर्थ है चैतन्य या ज्ञान। आदि शब्द से सत्ता विवक्षित है। जैसे प्रकाश कर्म, में अभ्यास से भिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही यह सत्ता का भी सकेतक है। सत्ता भी कर्म में अभ्यास से भिन्न भिन्न हो जाती है। उसमें अभ्यास का अर्थ है पुनः पुनः उसे ध्यान में लेना। वे सारे विषय एक ही भान से पुनः पुनः गृहीत से प्रतीत होते हैं उनमें जो भेद की प्रतीति है वह कर्म भेद के अनुरोध से होती है न कि उनके भान में कोई भेद है। भान के द्वारा गृहीत भिन्न-भिन्न कर्मों के समूह से यह स्वरूप से एक भान या ज्ञान सिद्ध होता है उसकी एकता को विशुद्ध सत्त्व वाला पुरुष ज्ञान के प्रसाद से देखता है।

इसी प्रकार यह सत्ता भी प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न होती है। वहां भी भेद की यह प्रतीति कर्मों के भेद के कारण ही होती है, न कि वह सत्ता स्वरूप से भिन्न होती है। सत्ता के द्वारा गृहीत कर्मों के समूह के कारण ही सत्ता का भेद है, सत्ता अपने रूप में भेद नहीं रखती, सत्ता के इस भेद के अभाव या अविशेषता को विद्वान् देखता है, यह समझना चाहिए।

इत्थं च सत्ताज्ञानयोर्नानारूपाश्रयभूतयोरपि यद्वदवैशेष्यमुपपद्यते तद्वदेवैतेषां मूर्तामूर्तादिलक्षणसर्वविधरूपाणामाश्रयभूतं किञ्चिदविशेषं रूपं प्रत्येतव्यम्।

तदेव चाविशेषरूपं मूर्तामूर्तादिसर्वविधरूपविशिष्टं संपद्यते। तथा चावैशेष्यादलक्षणत्वादव्यक्तं रूपमन्यत्। मूर्तामूर्तादिलक्षणं चास्य व्यक्तं रूपमन्यत्—

इत्यनिर्वचनीयव्याकृतभेदाद् ब्रह्मणो रूपद्वैविध्यं सिद्धम्। तत्रेदमव्यक्तमस्य रूपं व्यक्तैर्मूर्तामूर्तादिलक्षणैः सर्वैरेव रूपैः संपन्नमवतिष्ठते। अतोऽनन्तेनाकाशेनेदं साम्यान्निष्कृष्यते।

यथा वाय्वादयः सर्व एवैते प्रतिभिन्ना भावा इहैकस्मिन्नाकाशे प्रतितिष्ठन्ति स च सर्वैः संश्लिष्टतमोऽप्यसंश्लिष्टतमो निर्लिप्तः सुविशुद्ध एकोऽवतिष्ठते तथायमात्मा प्रत्येतव्यः। तथा हि लिङ्गम्—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य" इति ।

अस्य लोकस्य का गतिरिति । आकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते इत्याकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् । आकाशः परायणम्" ।।इति।।

अपि च "आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता,—
ते यदन्तरा तद् ब्रह्म ।
तदमृतं स आत्मा" इति ।

सर्वस्य हि विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात् ताभ्यामर्थान्तरभूतं तयोश्च निर्वाहकमाकाशस्वरूपमेवैतद् ब्रह्म स आत्मेति सिद्धम् ।

। इति परात्मनो निरुक्तानिरुक्तरूपद्वैविध्याधिकरणम् ।

इस प्रकार सत्ता और ज्ञान के अनेक प्रकार के रूपों के आश्रय स्वरूप होने पर भी जैसे उनमें अविशेषता या एकरूपता रहती है वैसे ही इनका मूर्त, अमूर्त आदि सभी प्रकार के रूपों का आश्रय बनने वाला कोई अविशिष्ट या समान स्वरूप समझना चाहिए । वही सत्ता और ज्ञान का अविशिष्ट या समान रूप मूर्त, अमूर्त आदि सब प्रकार के रूपों से विशिष्ट बनता है । पुनश्च अविशिष्टता के कारण लक्षण रहितता से जो अव्यक्त रूप होता है, वह भिन्न है । मूर्त अमूर्त आदि स्वरूप वाला इसका व्यक्त रूप भिन्न होता है । इस प्रकार अनिर्वचनीय तथा भेदों से युक्त ये ब्रह्म के दो प्रकार के रूप सिद्ध होते हैं । उनमें जो इसका अव्यक्त रूप है वह व्यक्त समस्त मूर्त अमूर्त आदि स्वरूपों से सम्पन्न रहता है । इसीलिए अनन्त आकाश से इसकी समानता फलित होती है । जैसे वायु आदि ये सभी प्रत्येक भिन्न-भिन्न तत्त्व इस एक ही आकाश में विद्यमान रहते हैं और वह आकाश सबके द्वारा संश्लिष्ट होने पर भी स्वयं असंश्लिष्ट, निर्लिप्त, सुविशुद्ध बना रहता है वैसे ही इस आत्मा को समझना चाहिए । श्रुति भी इस विषय को बतलाती है कि—

—"आत्मा आकाश के समान सर्व गत और नित्य है"—

—"इस लोक की गति क्या है, उत्तर में कहा गया आकाश गति है । ये समस्त भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही अस्त होते हैं । इन सब में आकाश ही ज्येष्ठ है । आकाश ही इनका परम स्थान है ।"—

पुनः कहा गया है कि—

—"आकाश ही नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है । उनमें जो अन्तः प्रविष्ट है, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है"— ।

समस्त विकार समूह नाम और रूप से स्पष्ट हैं, उनसे पृथक् रहकर उनमें अन्तर्निविष्ट होकर उनका संचालन करने वाला जो आकाश के समान रूप वाला है वह ब्रह्म है, वह आत्मा है, यह सिद्ध हुआ।

॥ यह परमात्माका निरुक्त अनिरुक्त रूप द्विविधता का अधिकरण पूर्ण हुआ ॥

परस्यात्मनो निर्विशेषत्वं शंकरमते

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्।

अपि चैवमेके।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्।

आह च तन्मात्रम्।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते।

अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत्।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्।

बुद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च।

अथ शंकरो न स्थानतोपीत्यारभ्य दर्शनाच्चेत्यन्तमेकं ततस्तथाहि लिङ्गमित्यन्तमेकमित्येवमधिकरणद्वयं मन्यमान इत्थं व्याचष्टे।

सुषुप्तौ जीवस्य ब्रह्मण्यवस्थानमुक्तं तस्य ब्रह्मण इदानीं स्वरूपं परीक्ष्यते—

इदं हि ब्रह्म निरस्ताशेषप्रपञ्चमेकाकार वा प्रपञ्चवदनेकाकारं वेति चिन्तायामुच्यते। स्वतस्तावदस्य परब्रह्मणो निर्विशेषत्वं सविशेषत्वं चेत्युभयलिंगं नास्त्येव किन्तु स्थानतोऽप्युपाधियोगादपि परस्य नोभयलिंगं संभवति। पृथिव्यादिषु सर्वत्र हि स्थानेषु तस्याविशेषेणावस्थानात्। अलक्तकाद्युपाधियोगायोगयोः सर्वत्राविशेषण स्फटिकस्य स्वच्छत्ववत्।

श्री शंकराचार्य के मतमें परमात्मा की निर्विशेषता

यहां श्री शकराचार्य "न स्थानतोऽपि" (३।२।११) इस सूत्र से आरम्भ करके- "दर्शनाच्च"-(३।२।२१) इस सूत्र तक एक अधिकरण तथा उसके अनन्तर "तथाहि लिङ्गम्" इस सूत्र तक दूसरा अधिकरण मानते हुए इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

सुषुप्ति में जीव की स्थिति ब्रह्म में होती है यह बतलाया गया, उस ब्रह्म के स्वरूप की परीक्षा यहां को जाती है। यह ब्रह्म समस्त प्रपंच से पृथक् एक आधार वाला है अथवा प्रपञ्च को साथ लेता हुआ अनेक आकार वाला है, इस विचार की प्रवृत्ति में यह कथन है कि इस पर ब्रह्म का अपना स्वरूप, निर्विशेषत्व और सविशेषत्व इन दोनों चिन्हों वाला नहीं है, किन्तु स्थान के कारण तथा उपाधि के योग के कारण भी परमात्मा के ये दोनों चिन्ह नहीं हो सकते। क्योंकि वह पृथिवी आदि समस्त स्थानों में समान रूप से अवस्थित है। जैसे अलक्तक (जपा कुसुम) आदि उपाधियों के योग या अयोग में सर्वत्र समान रूप से स्फटिक स्वच्छ ही रहता है।

ननु नाविशेषेण सर्वत्रावस्थानम्।

"चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म वामनत्वादिलक्षणं ब्रह्म। त्रैलोक्यशरीरवैश्वानर-शब्दोदितं ब्रह्म"—

इत्येवमनेकधाभेदश्रवणात्। इति चेन्न।

सत्यपि भेदश्रवणे प्रतिभेदमभेदश्रवणात्। चतुष्पाद् ब्रह्म भिन्नं, षोडशकलं ब्रह्म तु भिन्नमित्येवमेषां भेदो न श्रूयते, प्रत्युत प्रत्युपाधिभेदमभेदः श्रूयते—

"यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्म इद सर्वम्।

प्रश्न होता है कि ब्रह्म की स्थिति सर्वत्र समान रूप से नहीं है—

"ब्रह्म चतुष्पाद् है, ब्रह्मषोडश कलायुक्त है, ब्रह्म वामनत्व आदि लक्षणों से युक्त है, ब्रह्म त्रैलोक्य शरीर वाला वैश्वानर आदि शब्दों से बोधित है'-

इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म को अनेक प्रकार से सुना गया है। यह शंका नहीं करनी चाहिए। यद्यपि उपर्युक्त भेद सुनने में आता है, परन्तु प्रत्येक भेद के साथ अभेद का भी श्रवण होता है। ऐसा नहीं सुना जाता कि चतुष्पाद ब्रह्म भिन्न है और उससे षोड़शकला वाला ब्रह्म भिन्न है, अपितु प्रत्येक उपाधि के साथ अभेद ही सुनने में आता है—

"जो इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो यह अध्यात्म में शारीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यह वही आत्मा है यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब ब्रह्म है"–

अपि चैवं भेदमेव तत्र प्रतिषिध्याभेददर्शनमेके समामनन्ति–

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"–इति ।

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वैः प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।"

"इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकभावनामाचक्षते । तथा वा रूपवच्चेदं ब्रह्म श्रूयते अरूपवच्च ।"

"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः" । इति ।

"स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः" इत्यादि ।

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चेत्यादि च रूपवत्वं ब्रह्मणः श्रावयति ।

"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" ।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्"

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म"

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।

"तदेतद्ब्रह्मापूर्वमपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः"

इत्येवमादि चारूपत्वं श्रावयति । उभयोश्च शास्त्रयोः प्रमाणत्वात् निर्विशेषं सविशेषं चोभयथापि ब्रह्मोपपद्यते । तथा च कथमविशेषमेवैकविधं ब्रह्म प्रतिज्ञायते । न कस्मात्सर्वं रूपं तदाख्यायते इतिचेत् तत्र ब्रूमः-। अरूपवदेव हि तद्ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । तत्प्रधानत्वात् श्रुतिवाक्यानाम् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्म न प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतं नापि वा तत्र जाग्रत्सुषुप्त्याद्यवस्थाविभाग इति सिद्धम् ।

कुछ विद्वान् वहां भेद का प्रतिषेध होकर अभेद दर्शन को ही स्वीकार करते हैं––

—"मन से ही यह प्राप्त करने योग्य है, यहां नाना कुछ नहीं है, वह व्यक्ति मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो यहां नाना भाव को देखता है"—

—"भोक्ता भोग्य और प्रेरिता मान कर इस ब्रह्म को तीन प्रकार का कहा है"–

इस प्रकार समस्त भोग्य, भोक्ता तथा नियन्ता स्वरूप वाले प्रपञ्च की ब्रह्म भावना को बतलाया गया है। उसी प्रकार यह ब्रह्म रूप वाला और अरूप वाला सुना जाता है—

—"वह सर्वकर्मा, सर्वकामना वाला, सर्व गन्ध वाला, सर्व रस वाला है,"

—"यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, सर्वमय है"—इत्यादि।

—"ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त"

इस वचन के द्वारा ब्रह्म का रूपवान् होना सुना जा रहा है—

—"ब्रह्म अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ है"

—"वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप और अव्यय है"

"आकाश नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है, उसके अभ्यन्तर में ब्रह्म विद्यमान है"

"अमूर्त दिव्य अज पुरुष बाहर और भीतर है"—

"यह ब्रह्म अपूर्व, पर से भिन्न, अनन्तर, अबाह्य है, यह आत्मा ब्रह्म सबका अनुभव करने वाला है"—

इस प्रकार उसके अरूपत्व को श्रुति सुना रही है। दोनों ही शास्त्रवचन प्रमाण हैं। अतः ब्रह्म निर्विशेष और सविशेष दोनों प्रकार का युक्तिसिद्ध होता है। तब कैसे अविशेष एक ही प्रकार के ब्रह्म को प्रतिपादित किया जाता है, वह सर्व रूप क्यों नहीं बतलाया जाता? इस प्रश्न पर उत्तर दिया जाता है कि--ब्रह्म को अरूपवान् ही समझना चाहिए, क्योंकि श्रुतिवाक्यों में इसी के प्रतिपादन को प्रधान माना गया है। इस अशेष प्रपञ्च से बहिर्भूत, एक आधार वाला ही ब्रह्म है न कि प्रपञ्च से युक्त, अनेक आकार वाला वह है, और उसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का विभाग भी नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

ननु यद्येवं प्राधान्यादरूपवति निर्विशेषे ब्रह्मण्येव श्रुतितात्पर्यं गम्यते तर्हि रूपबोधिकाः-श्रुतयो निरवलम्बाः स्युरिति वेदत्रोच्यते प्रकाशवच्चेदमुपाधिकल्पितं रूपाख्यानं द्रष्टव्यम् यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद् व्याप्यावतिष्ठमानोंगुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेषु ऋजुवक्रादिभावापन्नेषु तद्भववद्भवति एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धात्तदाकारमिहोपपद्यते तदालम्बनोऽयं ब्रह्मण आकारविशेषोपदेशः। स चोपासनार्थ इत्यवैर्थ्यान्नाक्षेपस्थानं भवति। आह च श्रुतिश्चेतनामात्रं निर्विशेषं परंब्रह्म।

"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव-एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवेति ।

दर्शयति च श्रुतिरस्य परस्य रूपाभावम् । अथात आदेशो नेति नेति इति । अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति । यतो वचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति चैवमादि । अथो स्मर्य्यते हि तथा ।

"ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते इति ।

प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार प्रधान रूप से निर्विशेष ब्रह्म में ही श्रुति का तात्पर्य माना जाता है तो ब्रह्म का रूप बतलाने वाले श्रुतिवाक्य निरवलम्ब हो जायेंगे। इस शंका का उत्तर दिया जाता है कि उपाधियों के द्वारा कल्पित ब्रह्म का यह रूपमय कथन प्रकाश की तरह समझना चाहिए। जैसे सूर्य या चन्द्रमा का प्रकाश आकाश को व्याप्त कर प्रतिष्ठित होता हुआ अङ्गुलि आदि उपाधियों के सम्बन्ध से उनके सीधे, टेढे होने के कारण सीधा, टेढ़ा प्रतीत होता है, वस्तुतः प्रकाश में स्वयं कोई सीध या टेढ़ापन नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधि के सम्बन्ध से उसके आकार का सा बन जाता है, और इसी उपाधि सम्बन्ध को प्रकट करने वाला ब्रह्म के आकार विशेष का उपदेश है। उस पर कोई आक्षेप इसलिए नहीं होता कि वह उपासना के उद्देश्य से होने के कारण व्यर्थ नहीं है। श्रुति ने चेतना मात्र निर्विशेष पर ब्रह्म का स्वरूपप्राधान्य कहा है—

"जैसे यह नमक का ढेला बाहर और भीतर के भेद के बिना पूर्णतया रस का घनीभूत रूप है। इसी प्रकार अरे, यह आत्मा बाहर और भीतर के भेद के बिना पूर्णतया प्रज्ञानघन ही है'—

इस परमात्मा में रूप के अभाव को श्रुति दिखलाती है कि—

"अब यह आदेश है कि नहीं 'नहीं' "—

—"वह विदित और अविदित से अन्य ही है"—

—"जहां से (अज्ञेयता के कारण) वाणी मन के साथ लौट आती है"–इत्यादि।

इसी प्रकार स्मृति बचनों में भी कहा गया है—

—"जो ज्ञेय है, जिसे जानकर अमृत का उपभोग जीव करता है उसे कहते हैं—

"परब्रह्म अनादिमय है, वह न सत् है न वह असत् कहा जाता है"—

यतश्चैतस्य चैतन्यरूपप्रकाशत्वमस्ति अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवदस्मिन्नुपपद्यते—

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"—इति ।

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।" इति च ।

अम्बुवदस्य ब्रह्मणस्त्वग्रहणान्न जलसूर्य्यादितुल्यत्वम्

इति चेत् कश्चित् ब्रूयात् तत्रोच्यते । यथा जलस्य वृद्धिह्रासाभ्यां तदन्तर्भूतस्य प्रतिबिम्बस्य वृद्धिह्रासभाक्त्वम् एवमस्य ब्रह्मणोपि देहपृथिव्यादिष्वन्तर्भावात् । वृद्धिह्रासभाक्त्वमित्येवात्र दृष्टान्तेन विवक्षितम् । यथा चास्य निरुपाधिकस्य दिक्कालाद्यनवच्छिन्नस्य वृद्धिह्रासाद्ययोगित्वं सोपाधिकस्य तूपाधिधर्मग्राहितया वृद्धिह्रासभाक्त्वमित्युभयं समंजसं भवति तस्मादेवमुपाधिवत् उपमाकल्पनं क्रियते ।

श्रुतिदर्शनाच्च परस्य ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशोऽभ्युपगम्यते—

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।

पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्"—

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इति ।

तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म, नोभयलिङ्गं न विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम् ।।०।। इति परब्रह्मणो निर्विशेषत्वाधिकरणम् शंकरमतेन ।

यह ब्रह्म क्योंकि चैतन्य रूप प्रकाशवान है इसीलिए इसकी उपमा सूर्य आदि के द्वारा सिद्ध होती है—

"जैसे यह ज्योतिरूप सूर्य अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न जलाधारों में जाता हुआ उन उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न बना दिया जाता है (वस्तुतः तो सूर्य एक ही है) वैसे ही क्षेत्रों मे यह एक ही अज आत्मा भिन्न रूप से भासित होता है ।"

"भूतात्मा एक ही है, वह प्रत्येक भूत में व्यवस्थित है, वह एक ही पृथक्-पृथक् जलाधारों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है"—

जल की तरह इस ब्रह्म का ग्रहण नहीं किया गया है इसलिए जल और सूर्य के समान इसकी तुलना नहीं की जा सकती । यदि कोई ऐसा कहे तो उसका उत्तर यह है कि

यहां जल और सूर्य के दृष्टान्त से यह बतलाना अभीष्ट है कि जैसे जल के बढ़ने और घटने से उसके अन्तर्भूत सूर्य आदि के प्रतिबिम्ब का वृद्धि और ह्रास होता है वैसे ही ब्रह्म भी देह पृथिवी आदि में अन्तर्भूत है। वृद्धि और ह्रास ही उपर्युक्त दृष्टान्त से विवक्षित हैं। जो निरुपाधि, दिशाकाल आदि से अतीत ब्रह्म का स्वरूप है वह उपाधि के वृद्धि और ह्रास से सम्बन्ध नहीं रखता, परन्तु जो सोपाधिक स्वरूप है वह तो उपाधि के धर्म का ग्रहण करता है अतः वह वृद्धि और ह्रास से संयुक्त होता है, इस प्रकार दोनों में सामञ्जस्य हो जाता है। इसलिए यह उपाधिमान के साथ उपमा की कल्पना की गई है।

श्रुति में देखने से पर ब्रह्म का देह आदि उपाधियों में अनुप्रवेश समझा जाता है।

—"उसने दो पैर वालों को सामने किया, उसने चार पैर वालों को सामने किया, वह पक्षी बन कर पुर और पुरुष में प्रविष्ट हुआ"—

—"इस जीवात्मा से अनुप्रवेश करके"—

इसलिए ब्रह्म निर्विकल्पक एक ही चिन्ह वाला है, वह दोनों चिन्हों वाला या विपरीत चिन्ह वाला नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

। इस प्रकार श्री शंकराचार्य के मत से पर ब्रह्म का निर्विशेषत्व का अधिकरण पूर्ण हुआ।

निर्विशेषैकानन्ते भेदवासनामिथ्यात्वं शंकरमते

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति। ततो ब्रवीति च भूयः
२।३।२२

तदव्यक्तमाह हि २।३।२३।

अपि संराधने प्रत्याक्षानुमानाभ्याम् २।३।२४।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्
।२।३।२५।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।२।३।२६।

द्वे वाथ ब्रह्मणो रूपे—मूर्तं चैवामूर्तं च। मर्त्यं चैवामृतं च। स्थितं यच्च सच्चा सच्च।इत्येवं पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्य, तदुभयरसौ सूर्य्यं प्रदर्श्य, तत्रामूर्तरसस्य पुरुषस्य महारजनं पाण्डवाविकमिन्द्रगोपोऽग्न्यर्चिःपुण्डरीकं सकृद्विद्युत्तमिति रूपाणि दर्शयित्वा, ततोऽन्ते पठ्यते—

—"अथात आदेशो नेति नेति। न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति—" इति।

तत्र कोऽयं प्रतिषेधविषय इति जिज्ञास्यते। ब्रह्मणो रूपद्वयं वा रूपद्वयवद् ब्रह्म वा तत्र प्रकरणसंनिधानादुपतिष्ठते।

तेनायं प्रतिषेधो ब्रह्मणि रूपस्य वा,—

रूपोपलक्षितब्रह्मणो वा,—

उभयोर्वेति संशयो भवति। तत्र रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षं दृश्यमानत्वादप्रतिषेध्यः। ब्रह्म तु वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसत्ताकमतस्तस्यैवायं वीप्सया प्रतिषेधः स्यात्। अथवा नेति नेतीति द्विरुक्त्या ब्रह्म च रूपद्वयं च प्रतिषेधविषयः—

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः। प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति। प्रकृतं यदेतावत्त्वं परिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेव शब्दो निराचष्टे। अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेर्महारजनादिरूपयोगित्वमप्यस्य प्रत्याख्यायते। नद्वयोपादानात्।

यद्वा मूर्तामूर्ते द्वे अपि रूपे नद्वयं प्रतिषेधति—

तथा च तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वं विशुद्धं रूपमावेदितं भवति।

यद्वा भूतराशिर्वासनाराशिश्च नद्वयेन प्रतिषिध्येते।

तदास्पदं वा समस्तं कार्य्यजातं नेति नेतीति प्रतिषिद्ध्यते।

सर्वस्य कार्य्य जातस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्वनिर्णयन्नेति नेतीति प्रतिषेधार्हत्वात्। तथा च ब्रह्मणि कल्पितस्य प्रपञ्चस्य प्रतिषेधात् परिशिष्यते ब्रह्मेति ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसानः। ब्रह्मणोऽस्तित्वप्रतिषेधे तु शून्यवादः प्रसज्येत्। ब्रवीति च भूयो ब्रह्मणोऽस्तित्वम्—

—"नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति"—

नह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्ति। अन्यतः परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति। ब्रवीति च भूयोऽस्य नामधेयम् सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति। अभावावसाने तु प्रतिषेधे कस्येदं नाम स्यात्। तस्माद् ब्रह्मावसान एवायं प्रतिषेधः।

निर्विशेष एक अनन्त में श्रीशंकराचार्य के मत से भेदवासना का मिथ्यात्व

।२।३।२२।–, ।२।३।२३।–, ।२।३।२४।–, ।२।३।२५।–, ।२।३।२६।–

मूर्त और अमूर्त ये ब्रह्म के दो रूप हैं। मर्त्य और अमर्त्य ब्रह्म है। जो स्थित है और जो सत् और असत् है। इस प्रकार पांच महाभूतों को दो राशियों में विभक्त करके

उन दोनों के रसों को सूर्य में दिखा कर, वहां अमूर्त रस वाले पुरुष के महारजन, पाण्ड्वाविक, इन्द्र गोप, अग्नि, अर्चि, पुण्ड़रीक सकृद्विद्युत् इन रूपों को दिखाकर उसके उपरान्त अन्त में पढ़ा गया—

"अब यह आदेश है कि नेति नेति इससे पर और कुछ नहीं है।"

यहां यह जिज्ञासा होती है कि—

प्रतिषेध का विषय कौन है अर्थात् निषेध किसका किया जा रहा है। प्रकरण के अनुसार यहां ब्रह्म के दो रूप अथवा दो रूपों वाला ब्रह्म उपस्थित होता है। तब क्या यह ब्रह्म में रूप का प्रतिषेध है अथवा रूप से पहिचाने जाने वाले ब्रह्म का प्रतिषेध है, अथवा दोनों का निषेध है यह सन्देह होता है। इनमें रूपों का जो प्रपञ्च या समूह है वह तो प्रत्यक्ष दृश्यमान होने के कारण निषेध के योग्य होता नहीं। जो ब्रह्म है वह तो वाणी और मन से दूर होने के कारण असंभव सत्ता वाला है अतः नेति नेति इस दो बार के निषेध कथन से उसी का निषेध हो सकता है। अथवा 'नेति नेति' इस दो बार कथन से ब्रह्म और उसके दोनों रूप (मूर्त अमूर्त) प्रतिषेध का विषय हो सकते हैं। इस प्रकार के सन्देह के उपस्थित होने पर कहना यह है कि प्रकृत में जो परिच्छिन्नता है उसी का निषेध किया गया है। प्रकृत में जो सीमा बद्धता, मूर्त अमूर्त स्वरूप, ब्रह्म का कहा गया है, 'नेति नेति' ये शब्द उसी का निराकरण कर रहे हैं। जो अमूर्तरस वाला पुरुष है, वह चक्षु से ग्राह्य रूपवाला नहीं हो सकता, अतः महारजन आदि रूप के योग का ही दो नकारों (नेति नेति) के ग्रहण से प्रत्याख्यान किया गया है।

अथवा दो नकारों के द्वारा मूर्त अमूर्त इन दोनों रूपों का प्रतिषेध किया जाता है। इस प्रकार ब्रह्म में कल्पित रूपों के निषध के द्वारा ब्रह्म का अपना विशुद्ध रूप प्रकट किया जाता है।

अथवा दो निषेधवाचक शब्दों से भूतों के समूह और वासना समूह का निषेध ब्रह्म में किया जाता है। अथवा भूतराशि एवं वासनाराशि के आधार पर उत्पन्न समस्त कार्य समूह का ब्रह्म में "नेति नेति" कहकर निषेध किया जाता है।

क्योंकि समस्त कार्य समूह का "वाचारम्भण" आदि शब्दों से असत् होने का निर्णय किया जा चुका है। (कार्य केवल शब्द से सम्बोधित होने मात्र के लिए हैं, वे सत्य नहीं) अतः उनकी 'नेति नेति' कहकर निषेध्यता है। इस प्रकार ब्रह्म में कल्पित प्रपञ्च का निषेध होने के कारण ब्रह्म शेष बचता है अतः इस निषेध का पर्यवसान ब्रह्म में होता है। 'नेति नेति' इस निषेध की समाप्ति अभाव को बतलाने में नहीं होती। यदि ब्रह्म के अस्तित्व का ही प्रतिषेध कर दिया जाय, तब तो शून्यवाद आ जायेगा। उसके आगे पुनः ब्रह्म का अस्तित्व कहा गया है।

"इस (ब्रह्म) के आगे और कोई पर तत्त्व नहीं है"

इस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्य सबसे परे अप्रतिसिद्ध ब्रह्म है। पुनः इसका नाम बतलाया है श्रुति में—

"यह सत्य का सत्य है, प्राण ही सत्य है, उनका भी यह सत्य है। यदि 'नेति नेति' इस निषेध का आना अभाव में होता, तब यह किसके लिए कहा गया होता। इसलिए यह 'नेति नेति' के द्वारा निषेध ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है।

ननु यद्यस्मात् प्रतिषिद्धात् प्रपञ्चजातादन्यत् परं ब्रह्मास्ति तर्हि तत्कस्मान्न गृह्यते। उच्यते। तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं भवति। सर्वदृश्यसाक्षित्वात्। आह हि तथा श्रुतिः—

—"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचेति। स एष नेति नेत्यात्मेति। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमिति।

स्मृतिरप्याह

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमिति।

अव्यक्तमदृश्यमप्येनमात्मानं पश्यन्त्यपि योगिनो भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानकाले इति श्रुतिस्मृतिभ्यां गम्यते। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदिति ततस्तु तं प्रपश्यन्तीति स्मृतेश्च।

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमे परापरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति चेत् तत्रोच्यते—प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति। यथा प्रकाशाकाशसूर्य्यादयोऽङ्गुलिकरकोदकादिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते न च स्वाभाविकीमविशेषतां जहति, एवमयमविद्योपाधिभेदादात्मभेदः, स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथा हि जीवात्मपरात्मनोरभ्यासादभेदः श्रूयते। यतश्चानयोरभेदः स्वाभाविको भेदस्त्वविद्याकृतोऽस्ति अतो जीवः, परेणानन्तेनात्मनैकतामायाति। तथाहि लिङ्गम्। स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति इत्यादि।

। इति निर्विशेषैकब्रह्मणि भेदवासनामिथ्यात्वाधिकरणम्।

प्रश्न होता है कि—

"नेति नेति" कहकर जिस प्रपञ्च का निषेध किया जाता है उससे पृथक् यदि ब्रह्म है तो गृहीत क्यों नहीं होता। इसका उत्तर है कि वह अव्यक्त है। वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है। क्योंकि वह समस्त दृश्य का साक्षी है। श्रुति ने भी कहा है—

—"वह चक्षु से गृहीत नहीं होता, वह वाणी से भी गृहीत नहीं होता"—

—"वही यह नेति नेति से बोधित आत्मा है, जो संकेत से बतलाया नहीं जाता, गृहीत नहीं होता"—

स्मृति भी कहती है—

—"यह अव्यक्त है, अचिन्त्य है"—

उस अव्यक्त अदृश्य आत्मा को भी योगिगण भक्ति ध्यान प्रणिधान आदि के अनुष्ठान के काल में देखते हैं यह श्रुति और स्मृति से ज्ञात होता है।

"कोई धीर पुरुष प्रत्यगात्मा का दर्शन करता है"

'तब उसको देखते हैं"

इत्यादि श्रुति स्मृति वचन हैं।

प्रश्न होता है कि आराध्य-आराधक-भाव को स्वीकार करने पर, पर और अपर आत्मा में भिन्नता होगी, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि—

—"प्रकाश आदि की तरह उनमें विशेषता नहीं होती"—

जैसे प्रकाश आकाश सूर्य आदि अङ्गुलि, करक, जलाशय आदि उपाधि भूत कर्मों में सविशेष या विशेषता युक्त की तरह भासित होते हैं, परन्तु वे स्वाभाविक सामान्यता या अविशेषता को छोड़ते नहीं, उसी प्रकार यह अविद्या की उपाधि के भेद से आत्मा का भेद है, स्वयं तो आत्मा एक ही है। पुनश्च जीवात्मा और परमात्मा में श्रुति बार-बार अभेद का बोधन कर रही है। और क्योंकि इन दोनों जीवात्मा और परमात्मा का अभेद तो स्वाभाविक है, इनका भेद अविद्या के द्वारा उत्पादित है, अतः जीव परम अनन्त आत्मा से एकता को प्राप्त करता है। इसका बोधक (लिङ्ग) वाक्य है –

"जो उस परम ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है"।

इस प्रकार निर्विशेष एक ब्रह्म में भेदवासना के मिथ्यात्व का अधिकरण पूर्ण हुआ।

परस्यात्मनः सर्वदोषास्पृष्टानन्तकल्याणगुणाकरत्वं रामानुजमते

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्।

अपि चैवमेके ।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

आह च तन्मात्रम् ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ।

सूर्य्यकादिवत् ।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।

दर्शनाच्च ।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति । ततो ब्रवीति च भूयः ।

तदव्यक्तमाह हि ।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ।

रामानुजः पुनरेतानि त्रीण्यधिकरणान्यैकाधिकरण्येन व्याचष्टे ।

तथा हि जागरस्वप्नसुषुप्तिमुग्ध्युत्क्रान्तिषु स्थानेषु स्थानसंबन्धादुपपन्ना जीवस्य दोषा जीवानुप्रविष्टस्य परस्यात्मनोपि संभवन्ति न वेति विचारे प्रत्याह-न स्थानतोपि परस्य दोषाः संभवन्ति । सर्वत्र हि तदुभयलिङ्गमाख्यायते । अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपास इत्यादि श्रुत्या निरस्तनिखिलदोषत्वम्—

—"सत्यकामः सत्यसंकल्पः"—

इत्यादि श्रुत्या च समस्तकल्याणगुणाकरत्वमित्युभयलक्षणोपेतत्वान्न परात्मनि स्थानविशेषकृता दोषविशेषाः संक्रमन्ते ।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में परमात्मा में समस्त दोषों से अस्पृष्ट कल्याण–गुणों का निवास

श्रीरामानुजाचार्य इन तीनों अधिकरणों को एक ही अधिकरण मानकर व्याख्या करते हैं। वहां इस सन्देह के उपस्थित होने पर कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा, मृत्यु, आदि स्थानों में स्थान के सम्बन्ध के कारण आने वाले जीव के दोष, जीव में अनु प्रविष्ट होने वाले परमात्मा में भी संभव होते हैं या नहीं, उत्तर दिया जाता है कि स्थान के कारण आने वाले दोष परमात्मा में संभव नहीं हैं। सभी जगह उसे उभयचिन्ह वाला बतलाया गया है।

वह "अपहत पाप वाला, जरा मृत्यु शोक भूख व प्यास से रहित है"

इत्यादि श्रुति वचन से समस्त दोषों से दूर कहा गया है।

वह "सत्यकाम सत्यसंकल्प वाला है"

इत्यादि श्रुति से वह समस्त कल्याणमय गुणों का खजाना है, इस प्रकार दोनों लक्षणों से युक्त होने के कारण उस परमात्मा में स्थान–विशेष के द्वारा उत्पादित विशेष दोषों का संक्रमण नहीं होता।

ननु अपहतपाप्मत्वाद्युभयलिङ्गस्यापि परस्य देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदाद्दोषयोगः संभाव्यते।

प्रजापतिवाक्यागतापहतपाप्मत्वाद्युभयलिङ्गस्यापि जीवस्यावस्थाभेदाद्दोषयोगवत्। इति चेन्न। प्रत्येकमतद्वचनात्।

—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्"—

इत्यादिषु प्रतिपर्य्यायं तत्तत्स्थानसंबन्धप्रयुक्तदोषसंसर्गस्यावचनात्। स तु आत्माऽन्तर्य्याम्यमृत इत्यमृतत्ववचनाच्च।

अपि चैवमेके शाखिन एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्य दोषसंबन्धं परस्य तु तदभावं दर्शयन्ति।

–"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"—इति।

"ननु–"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति"—

श्रुतेर्ब्रह्मण एवजीवरूपेण प्रविष्टस्य देवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्त्वं चायाति। ततश्च तस्यापि कर्मवश्यत्वं प्राप्नोतीति चेत् तत्रोच्यते-देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन तेन रूपेण युक्तमप्यरूपवदेव हि तद्ब्रह्म द्रष्टव्यम्। निर्वाहकत्वेन प्रधानत्वात्।

—"आकाशो ह वै नाम रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म"—इति।

सर्वानुप्रवेशेऽपि नामरूपकार्य्यास्पर्शेन तयोर्निर्वोढृत्वमेव ब्रह्मणः प्रतिपादयति शास्त्रं, न तु रूपवत्वं कर्मवश्यत्वं वा। तस्मात्सर्वदोषरहितत्वं सर्वगुणाकरत्वं चेत्युभयलिङ्गं सिद्धम्।

प्रश्न होता है कि यद्यपि परमात्मा पापों से दूर रहने और कल्याण गुणों के आकर होने वाले दोनों चिन्हों से युक्त है तो भी देव आदि के देह के योग होने की अवस्था के भेद से दोषों के योग होने की उसमें संभावना हो जायगी। जैसे प्रजापति के वाक्य में आये पाप से दूर रहने आदि दोनों चिन्ह वाले जीव में भी अवस्था के भेद से दोषों का योग होता है। यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि प्रत्येक में वैसा नहीं कहा गया है।

—"जो पृथिवी में रहता हुआ, जो आत्मा में रहता हुआ"—

इत्यादि में प्रत्येक में उन उन स्थानों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले दोषों का संसर्ग परब्रह्म में नहीं कहा गया है—

"वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है"

इस प्रकार अमृतत्व भी उसमें कहा गया है।

पुनश्च एक वृक्ष के समान एक ही देह में संयुक्त जीवात्मा और परमात्मा के रहने पर जीव में दोषों का सम्बन्ध और परमात्मा में उसका अभाव दिखलाते हैं—

"संयुक्त सखाभावापन्न दो सुपर्ण पक्षी समान वृक्ष का आलम्बन लेते हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट पीपल को खाता है और दूसरा न खाता हुआ प्रकाशमान है"—

प्रश्न होता है कि—

"इस जीवात्मा से अनुप्रवेश करके नाम और रूप को पृथक् करता हूं"—

इस श्रुतिवचन के द्वारा ब्रह्म ही जीव रूप में अनुप्रविष्ट होकर देव-मनुष्य आदि रूप धारण करता है और उन नामों का भाजन बनता है, यह प्रतिफलित होता है। तब ब्रह्म भी कर्म के वश में है यह प्राप्त होता है, इस प्रश्न पर उत्तर यह है कि देव आदि के शरीर में अनुप्रवेश होने पर भी, उन रूपों से संयुक्त होने पर भी ब्रह्म अरूपवान् ही है यह देखना चाहिए। क्यों कि वह निर्वाहक होने से प्रधान है।

"–आकाश नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है, वे जिस पर आधारित हैं, वह ब्रह्म है"

सब में अनुप्रविष्ट होने पर भी नाम रूप और कार्य से स्पर्श न होने के कारण शास्त्र उनके निर्वाहकत्व का ही प्रतिपादन करता है न कि वह ब्रह्म को रूपवान् या उसे कर्म के वशीभूत बतलाता है। इसलिए ब्रह्म में समस्त दोषों से रहित होना, और समस्त गुणों का आकर होना ये दोनों चिन्ह सिद्ध हुए।

ननु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादि श्रुत्या निरस्तनिखिलदोषनिर्विशेषप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मावगम्यते। सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वसत्यकामत्वादयः कल्याणगुणास्तु सर्वेऽपि नेतिनेतीत्यादिभिरभ्यासात् प्रतिषिध्यन्ते, तत्कथमुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्यते इति चेत् तत्राह-प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिवाक्यात् प्रकाशस्वरूपत्वं सत्यसंकल्पादिवाक्याच्च सर्वकल्याणगुणाकरत्वमित्युभयविधवाक्यावैयर्थ्यादुभयलिङ्गमेव ब्रह्म।

सत्यं ज्ञानमित्यादि वाक्यं ह्याह च प्रकाशस्वरूपतामात्रं न तु सत्यसंकल्पत्वादिकं वाक्यान्तरसिद्धमर्थं निषेधति।

दर्शयति च कल्याणगुणाकरत्वं निरस्ताखिलदोषत्वं च—

—"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः"—

—"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनमित्यादि। अथो ह्यपि स्मर्य्यते"—

—"ईश्वरः सर्वकृत् सर्वशक्तिर्ज्ञानबलर्द्धिमान्।

अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान् वशी।

क्लमतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः।

निरवद्यः परप्राप्तैर्निरधिष्ठोऽक्षरक्रममित्यादि।

यतश्च नैतस्य परस्य तत्तत्स्थानप्रयुक्तदोषभाक्त्वम्। अतएव चोपमा क्रियते जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्य्यकादिवत्परमात्मेति।

—"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।

तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्। इत्यादि।

अम्बुदर्पणादिषु सूर्य्यमुखादिवत् पृथिव्यादिस्थानेषु परमात्मनोऽग्रहणात्तु न दृष्टान्ततुल्यत्वमिति कश्चित् प्रत्यवतिष्ठते।

तत्रोच्यते। पृथिव्यादिस्थानेष्वन्तर्भावात् परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादिस्थानगतवृद्धिह्रासादिदोषभाक्त्वमात्रं सूर्य्यकादि दृष्टान्तेन निवर्त्यते, उभयदृष्टान्तसामञ्जस्याच्चैवं निश्चीयते।

—"आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्"—

इत्याकाश एको दृष्टान्तः।

—"जलाधारेष्विवांशुमानिति"—

सूर्य्योऽपरो दृष्टान्तः। उभयोश्चानयोः स्थानसंसर्गजदोषाग्रहणे तात्पर्य्ये सामञ्जस्यमुपपद्यते।

एवं लोके दर्शनाच्च गम्यते। सिंहो माणवक इत्यादौ हि दृष्टान्ते विवक्षितांशसाधर्म्यं दृश्यते न तु सर्वात्मना साधर्म्यम्।

प्रश्न होता है कि—

—"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा समस्त दोषों से दूर निर्विशेष एक मात्र प्रकाश रूप वाला ब्रह्म है यह ज्ञात होता है। सर्वज्ञत्व, सत्यसंकल्पत्व, जगत्कारणत्व, सबका अन्तरात्मा होना, सत्य कामना वाला होना आदि कल्याणमय सभी गुणों का तो "नेति नेति" कह कर बार-बार निषेध कर दिया गया है। तब ब्रह्म के दोनों प्रकार के चिन्हों का कैसे प्रतिपादन किया जाता है? उसका उत्तर है—

व्यर्थ न होने से वह प्रकाशवान् है।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है"

इत्यादि वाक्य के कारण उसकी प्रकाशरूपता तथा सत्यसंकल्प आदि वाक्य से उसका समस्त कल्याण गुणों का खजाना होना सिद्ध है, अतः इन दोनों प्रकार के वाक्यों के व्यर्थ न होने के कारण दोनों ही चिन्हों वाला ब्रह्म है।

'सत्य ज्ञान' आदि वाक्य प्रकाशस्वरूपता मात्र को बतलाता है, वह सत्य संकल्पत्व आदि दूसरे वाक्य से सिद्ध अर्थ का निषेध नहीं करता। श्रुति ब्रह्म का कल्याण गुणों का आश्रय होना और समस्त दोषों से दूर होना दिखला रही है—

"जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है"

"निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य निरञ्जन" आदि।

स्मृति में भी कहा गया है कि—

—"ईश्वर सर्वकर्ता है, सर्वशक्तिशाली, ज्ञान, बल, ऋद्धिमान् है, वह अन्यून और अधिकना से रहित है, वह स्वाधीन है, वह अनादि, वशी है। वह खेद, तन्द्रा, भय, क्रोध, काम आदि से असंबद्ध है वह निरवद्य है, वह योगियों की पहुंच के भी परे है और वाणी का विषय भी नहीं है।"—इत्यादि।

और क्योंकि परमात्मा जाग्रत आदि स्थानों के कारण समुत्पन्न दोषों का भाजन नहीं हैं इसीलिए उसकी उपमा जल या दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले सूर्य आदि से दी जाती है कि वैसा ही परमात्मा है।

—"जैसे आकाश अकेला घट आदि में पृथक् पृथक् प्रतीत होता है, जैसे जलाधारों में सूर्य पृथक् पृथक् प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही एक आत्मा अनेकत्र स्थित है"—इत्यादि।

कोई यह आक्षेप करते हैं कि जैसे जल दर्पण आदि में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है वैसे पृथिवी आदि स्थानों में परमात्मा के ग्रहण न होने के कारण उक्त दृष्टान्त की यहां समानता नहीं आती।

वहां यह उत्तर होगा कि पृथिवी आदि स्थानों में अन्तर्भाव के कारण परब्रह्म का स्वरूप और गुण से पृथिवी आदि स्थानों में होने वालों वृद्धि और ह्रास रूपी दोष, की भाजनता को सूर्य आदि के दृष्टान्त से हटाया जाता है। दोनों दृष्टान्तों का सामञ्जस्य करके यह निश्चय किया जाता है।

– "जैसे एक आकाश घट आदि में पृथक् प्रतीत होता है"–

यह एक आकाश का दृष्टान्त है।

—"जलाधारों में जैसे सूर्य पृथक् पृथक् प्रतिबिम्बित होता है"—

यह सूर्य का दूसरा दृष्टान्त है। इन दोनों दृष्टान्तों में तात्पर्य का सामञ्जस्य यह है कि स्थान के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले दोष न आकाश में आते हैं, न सूर्य में। [वैसे सर्वगत आत्मा की स्थिति है कि वह स्थानगत दोषों से संस्पृष्ट नहीं होता]

यही बात लोक के दृष्टान्त से प्रतीत होती है।

"बालक सिंह है"

इत्यादि दृष्टान्तों में बालक में सिंह की शूरता आदि की जो छवि विवक्षित है उतनी ही समानता ग्रहण करने योग्य होती है न कि पूर्ण रूप से सिंह की आकृति आदि से भी बालक में समानता तलाश की जाती है।

ननु द्वे ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चेत्यादिना ब्रह्मणो रूपविशेषान् प्रकृत्य सर्व एव ते विशेषा नेतिनेतीति प्रतिषिध्यन्ते ।

ततश्च सर्वविशेषाधिष्ठानं सन्मात्रमेव निर्विशेषं ब्रह्मोपपद्यते इति कथमुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः सिध्यतीति चेत तत्राह-प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति नेतिनेतीति वाक्येन न तु ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं नेति नेतीति प्रतिषिध्यते ।

ब्रह्मणो मूर्तामूर्तविशेषयोः प्रकृतत्वात् तद्वैशिष्ट्येन प्रतीयमानाया इयत्ताया एव निषेधे तत्तात्पर्य्यावसायात् । ततो निषेधादुत्तरं ब्रवीति च भूयो गुणजातं ब्रह्मणः ।

—"न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति । प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति"—

इति नेति नेति यद् ब्रह्माख्यातम् एतस्मादन्यद्वस्तु परं नह्यस्ति । ब्रह्मतोऽन्यत् स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः ।

प्राणशब्देन तत्साहचर्य्याज्जीवाः परामृश्यन्ते ते तावत् सत्यम् अपरिणामित्वात् । तेषामेष परमात्मा सत्यम् ।

जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोचविकाशसत्त्वेपि परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वेन तादृशदोषासंबन्धात् । अत उभयलिङ्गमेव परं ब्रह्म ।

प्रश्न होता है कि ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त इन दो रूपों को बतलाकर फिर 'नेति-नेति' कहते हुए उन सारी मूर्त अमूर्त आदि विशेषताओं का ब्रह्म में निषेध किया गया है । और तब सभी विशेषताओं का आश्रय सत्मात्र निर्विशेष ब्रह्म ही बोध्य रह जाता है तो उभयलिङ्गता जो ब्रह्म में बतलाई जा रही है वह कैसे सिद्ध होगी । इसका उत्तर है कि प्रकृत जो सीमाबद्धता है उसी का 'नेति नेति' कथन के द्वारा ब्रह्म में निषेध किया जाता है, जो प्रकृत विशेष गुण है उनका निषेध श्रुति के द्वारा नहीं किया जाता । प्रकृत में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त की चर्चा का जो प्रसंग था उसकी विशेषता के कारण जो सीमितता की प्रतीति थी उसी के निषेध में वहां का तात्पर्य निश्चित होता है । इसीलिए निषेध के अनन्तर ब्रह्म के गुणों का विवरण पुनः प्रस्तुत किया गया कि —

"इससे पर तत्त्व और कुछ नहीं है, प्राण सत्य हैं उनका भी यह सत्य है" ।

तात्पर्य यह कि "नेति नेति" कह कर जिस ब्रह्म की व्याख्या की गई उससे पर और कोई वस्तु नहीं है । ब्रह्म के अतिरिक्त, स्वरूप से और गुण से उत्कृष्ट और कुछ नहीं है । प्राण शब्द से उसके सहचारी होने के कारण यहां जीवों का ग्रहण होता है वे अपरिणामी होने से सत्य हैं । उनका भी यह परमात्मा सत्य है । जीवों का कर्मों के सम्बन्ध से ज्ञान में संकोच और विकास होने पर भी परमात्मा के पापों से दूर रहने के

कारण उन दोषों की उसमें कोई संभावना नहीं है। इसलिए परब्रह्म उक्त दोनों चिन्हों से अलंकृत है।

ननु यदि प्रकृतैतावत्त्वप्रतिषेधान्मूर्तामूर्तसर्वविधविशेषा ब्रह्मणि विवक्ष्यन्ते तर्हि मूर्तगुणयोगादिदं ब्रह्म प्रत्यक्षं दृश्येतेति चेदत्र ब्रूमः—

तच्च ब्रह्माव्यक्तं नेन्द्रियैः शक्य ग्रहीतुम्। आह हि शास्त्रम्।

—"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचेत्यादि।

साक्षात्कारोऽप्यस्य समाराधने संभवति न त्वन्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यां गम्यते।

—"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः"—

इतिश्रुतिः।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप–"॥

इतिस्मृतिः।

इतश्च प्रकृतैतावत्वं प्रतिषेधति न विशेषवत्वं यतो वामदेवादीनां दर्शने ज्ञानानन्दलक्षणप्रकाशादिवन्मूर्तामूर्तादिविशेषवत्ताया अप्यवैशेष्यं दृश्यते।

—'तद्वैतत् पश्यनृषिर्वामदेव प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादि"—

ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानन्दादिश्च तेषां संराधने कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते।

अत उक्तैर्हेतुभिर्ब्रह्मणोऽनन्तेन कल्याणगुणगणेन विशिष्टत्वं सिद्धम्। तथाहि सत्युभयलिङ्गं ब्रह्मोपपद्यते। इति।

प्रकाशादीति सूत्रार्थं शंकरः साधु नेक्षते।
रामानुजोऽप्यन्यथैव व्याचष्टे भक्तितत्परः।

। इति सर्वदोषास्पृष्टसर्वगुणाकरेश्वराधिकरणं रामानुजीयम्।

प्रश्न होता है कि यदि प्रकृत परिमितत्व का निषेध करते हुए मूर्त अमूर्त आदि सभी प्रकार की विशेषताएं ब्रह्म में विवक्षित हैं तब मूर्त गुण के योग के कारण यह ब्रह्म प्रत्यक्ष भी दिखाई देना चाहिए। इस प्रश्न पर कहना यह है कि वह ब्रह्म अव्यक्त है इसलिए इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता। शास्त्र वचन है कि—

"इसका रूप आंखों में नहीं आता, कोई उसको नेत्रों से नहीं देखता, वह चक्षु और वाणी से गृहीत नहीं होता"—

इसका साक्षात्कार भी आराधना में ही होता है अन्यत्र नहीं, यह श्रुति और स्मृति से ज्ञात होता है—

'विशुद्ध सत्त्ववाला ज्ञान के प्रसाद से निष्कल ध्यान करता हुआ उसे देखता है''— यह श्रुति ने कहा है ।

"हे अर्जुन, इस प्रकार का मैं अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्व रूप से जाना जा सकता हूं, देखा जा सकता हूं और मुझ में प्रवेश भी पाया जा सकता है"—

यह स्मृति वाक्य है ।

प्रकृत सीमितता का निषेध होते हुए भी विशेषताओं का इसलिए भी निषेध नहीं है क्योंकि वामदेव आदि के दर्शन में ज्ञान आनन्द आदि स्वरूपों के प्रकाश की तरँह मूर्त अमूर्त आदि विशेताओं में कोई भेद नहीं दिखाई देता ।

"—यह देखते हुए ऋषि वामदेव को ज्ञात हुआ कि मैं मनु हुआ था, सूर्य भी हुआ था"—

ब्रह्म के स्वरूपभूत प्रकाश आनन्द आदि उनकी आराधना के कर्म में अभ्यास से प्राप्त होते हैं । अतः इन उक्त कारणों से ब्रह्म अनन्त कल्याण गुण गणों से विशिष्ट है यह सिद्ध हुआ, इसलिए ब्रह्म दोनों चिह्नों से युक्त सिद्ध होता है ।

'प्रकाशादि' सूत्रों का अर्थ श्री शंकराचार्य अच्छे प्रकार से नहीं देखते । भक्ति तत्पर श्री रामानुजाचार्य भी इन सूत्रों का दूसरा ही व्याख्यान करते हैं ।

यह श्री रामानुजाचार्य के अनुसार सभी दोषों से अस्पृष्ट सर्व गुण के आकर ईश्वर प्रतिपादन का अधिकरण पूर्ण हुआ ।

अथ निर्विशेषाभेदे भेदव्यवहारोपपादनं शङ्करमते

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२७।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।३।२।२८।

पूर्ववद्वा ।३।२।२९।

प्रतिषेधाच्च ।३।२।३०।

अथ निर्विशेषैकब्रह्मणि प्रतिपन्न जीवजडाद्यनेकभेदव्यवहाराणामुपपत्तिं मतान्तरेणाह ।

--"ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" ।

--"परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"--

--"यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति"--

इत्येवं वाक्यजातैः क्वचिज्जीवब्रह्मणोर्ध्यातृध्येयत्वेन द्रष्टृदृश्यत्वेन, गन्तृगम्यत्वेन, नियन्तृनियम्यत्वेन, च भेदो व्यपदिश्यते । क्वचित्तु--

--"तत्त्वमसि"--

--"अहं ब्रह्मास्मि,"--

--"एष त आत्मा सर्वान्तरः,"--

--"एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः"--

इत्येवं तयोरभेदो व्यपदिश्यते । उभयव्यपदेशात्तु भेदाभेदसमन्वयोऽभ्युपगन्तव्यः । स च षोढा संभवति । संस्थानविशेषोपजनाद्वा, अङ्गाङ्गिभावाद्वा, अंशांशिभावाद्वा, उपाधियोगाद्वा, कार्य्यकारणभावाद्वा, कर्तृकर्मत्वोपचारसामान्याद्वा ।

तद् यथा कुण्डलदण्डाद्याकारिते सर्पे कुण्डलत्वदण्डत्वादिवद्व्यपदेशा अपूर्वाः प्रवर्तन्ते सर्पव्यपदेशश्च नापैति । तत्र च कुण्डलत्वदण्डत्वादिशून्ये सर्पे कुण्डलदण्डादिसंस्थानविशेषाः स्वत एवोपजायन्ते । अनित्यतया परिवर्तमानेष्वपि तेषु कुण्डलदण्डादिविशेषव्यपदेशेषु कदाचित्कुण्डलं कदाचिद्दण्ड इतिभेदाः सर्प इति चाभेदो भवति । एवमिहाप्यात्मनि संस्थाविशेषोपजनाद् देवभूतादयो जडधर्म्मा ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराकारितत्वादुपजायन्ते । तथा च ज्ञानमित्यभेदव्यपदेशे ज्ञेयभेदाद् भेदव्यपदेशाः स्युः । सोयं जीवात्मनि ज्ञानस्वरूपे जडधर्माणामक्षरे जीवानां निर्विशेषे परब्रह्मणि चाक्षरस्य भेदेन व्यपदेशो द्रष्टव्यः ।

अथवा तेजस्त्वात् प्रकाशाश्रयवदेतद् द्रष्टव्यम् । यथा प्रकाशः सौरस्तदाश्रयश्च सूर्य्यः । तत्र यावान् प्रकाशस्तावान् सूर्य्य इत्यभिन्नः सूर्य्येण प्रकाशः । अपि वा सूर्य्यस्य प्रकाश इति भिद्यते व्यवहारः । एवम् अर्चिर्दीपो दीपस्यार्चिरित्युभयथापि शक्यते वक्तुम् । सर्वेष्वेव तेजःस्वेवं द्विविधो व्यपदेशो दृश्यते । इदं ब्रह्मापि तेज एव । प्रकाशकत्वात् तेजो वै ब्रह्मेति श्रवणाच्च । तस्मादिहापि तद्वदङ्गाङ्गिरूपेण भेदाभेदव्यपदेशो युज्यते ।

श्रीशंकराचार्य के मत में निर्विशेष अभेद में भेदव्यवहार का उपपादन

निर्विशेश एक ब्रह्म के सिद्धान्ततः सिद्ध हो जाने पर जीवन जड़ आदि अनेक व्यवहारों की युक्तिसिद्धता को अन्य को मत का प्रदर्शन करते हुए कहा जाता है कि—

—"तब निष्कल ध्यान करते हुए उसे देखता है"—

—"परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है"—

—'जो भीतर स्थित होकर समस्त भूत जगत् का नियमन करता है"—

इन वाक्यों में कहीं जीव और ब्रह्म का ध्याता और ध्येय के रूप में, कहीं द्रष्टा और दृश्य के रूप में, कहीं गन्ता और गम्य के रूप में, कहीं नियन्ता और नियम्य के रूप में भेद का कथन हुआ है।

तथा कहीं—

—"वह तुम्हीं हो,"—

—"मैं ब्रह्म हूँ," —

—"यह तुम्हारी आत्मा सबके भीतर है,"—

—"यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप है"—

इस प्रकार के वाक्यों से जीव और ब्रह्म का अभेद बतलाया गया है। दोनों प्रकार के कथन होने से भेद और अभेद का समन्वय जीव और ब्रह्म में है, यह बात स्वीकार करनी होगी। जीव और ब्रह्म में भेद और अभेद का समन्वय छ प्रकार से हो सकता है। विशेष प्रकार के संस्थान की आकस्मिक उत्पत्ति से, अङ्गाङ्गिभाव से, अंशांशिभाव से, उपाधि के योग से, कार्यकारण भाव से अथवा सामान्यतया कर्त्ता और कर्म के उपचार से।

जैसे कोई सर्प जब कभी कुण्डल के रूप में आ जाता है, कभी दण्डे के आकार वाला हो जाता है।

उसमें वह कुण्डल के समान है, वह दण्डे के समान है"—

इस प्रकार अनेक अपूर्व व्यवहार प्रारम्भ हो जाते हैं, परन्तु वह सर्प है यह व्यवहार हट नहीं जाता, वस्तुतः सर्प न कुण्डल है न दण्डा, वह इन सबसे शून्य है उसमें कुण्डल, दण्डा आदि आकारविशेष स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं, अनित्य रूप से परिवर्तित होने वाले उन कुण्डल, दण्ड आदि विशेष प्रकार के व्यवहारों में कभी कुण्डल कभी दण्डा आदि के भेद होते हैं और 'यह सर्प है" यह अभेद भी बना रहता है,—

इसी प्रकार इस आत्मा में भी संस्थाविशेषों की उत्पत्ति के कारण देव भूत आदि जड़ के धर्म, ज्ञान के ज्ञेय के आकार में परिणत होने के कारण उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार 'ज्ञान' इस अभेद कथन में ज्ञेय के भेद से भेदों का व्यवहार होता है। यह भेद कथन का व्यवहार ज्ञानस्वरूप जीवात्मा में जड़ के धर्मों का होता है, अक्षर पुरुष में जीवों के भेद कथन से भेद भासित होता है, तथा निर्विशेष परब्रह्म में अक्षर के भेद कथन से भेद व्यवहार होता है।

अथवा तेज होने के कारण इसे प्रकाश का आश्रय समझना चाहिए। जैसे प्रकाश सूर्य का है और उसका आश्रय सूर्य है। वहां जितना प्रकाश है उतना सूर्य है इस प्रकार प्रकाश सूर्य से अभिन्न है। पुनश्च सूर्य का प्रकाश है यह भेद युक्त व्यवहार भी होता है। इसी प्रकार अर्चि या लौ दीपक है तथा दीपक की अर्चि या लौ है दोनों प्रकार से कहा जा सकता है। सभी प्रकार के तेजों में दो प्रकारों से व्यवहार देखा जाता है। यह ब्रह्म भी तेज ही है। क्योंकि ब्रह्म प्रकाशक है, तथा श्रुति भी—

—"तेज ही ब्रह्म है"—

ऐसा कहती है इसलिए यहां भी उसी प्रकार अङ्गाङ्गिरूप से भेद और अभेद का व्यवहार युक्तियुक्त है।

पूर्ववद्वा द्रष्टव्यम्। पूर्वशब्दः पूर्वनिरूपितानां चतुर्विधविकल्पानां स्मरणेनोपसंग्रहार्थः।

तथाहि-अंशो नानाव्यपदेशादिति (२।३।४२)

सूत्रे भिन्नत्वेन प्रतीतयोर्जीवेश्वरयोरग्निस्फुलिङ्गवदंशांशिभावेनाभेदो निरूपितः। प्रकाशादिवत्तु नैवं परः (२।३।४१)

इति सूत्रे, प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम् (३।२।२५)

इति सूत्रे चाभिन्नयोर्जीवेश्वरयोरौपाधिको भेदो निरूपितः। अथवा जन्माद्यस्य यतः प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (१।४।२३)

इत्यादि सूत्रजाते ब्रह्मणः कारणत्वमाख्यातम्। तत्र कारणं कार्य्याद्भिद्यते। कार्य्यनाशेपि कारणानाशात्। कार्य्यं तु कारणान्न भिद्यते। कारणनाशे कार्य्यस्यापि नाशात्। तदित्थं भेदाभेदसमन्वयो द्रष्टव्यः। अथवा-उक्तं पूर्वं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति। य एव हि निर्विशेषः प्रकाशो धर्ममात्रं स एव प्रकाशको वस्तु धर्माणामिति भेदेनापि व्यपदिश्यते एवमिहापि विशुद्धचैतन्यमात्रं निर्विशेषमेव सविशेषवद् व्यपदिश्यते। मनोमयो भाःसत्य इति केवलभारूपत्वं प्रतिज्ञाय—

—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति"—

भासकत्वमप्यस्यैव प्रतिज्ञायते। तत्रावैशेष्यमेव तात्पर्य्यविषयः प्रतिभाति।

प्रतिषेधाच्चायमर्थोऽवधार्य्यते ।

—'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमित्येवं निर्धर्मकत्वेन प्रतिज्ञातस्यैव"—

—'नान्योतोऽस्ति द्रष्टा इत्यादिना परप्रतिषेधेन द्रष्टृत्वं स्थापयति"—

तेन चिन्मात्रमेव चेतनं व्यपदिश्यते इति सिद्धान्तः। निर्धर्मकस्यैव तेजसो धर्म्मि व्यपदेशसंभवात् ।

यद्यपि जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदविवेचनं प्रागपि भूयसा कृतमेव तथाप्यत्र जडादिसाधारण्येनेदं पुनर्दृढीक्रियते ।

। इति निर्विशेषाभेदे भेदव्यवहारोपपादनाधिकरणं शंकरमतेन ।

अथवा पूर्ववत् समझना चाहिए। यहाँ पूर्वशब्द पूर्व निरूपित चार प्रकार के विकल्पों के स्मरण के द्वारा संग्रह के लिए है ।

—:'नानाकथन से अंश है' — [२।३।४२]

इस सूत्र में भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले जीव और ईश्वर का अग्नि और स्फुलिङ्ग के समान अंशांशिभाव निरूपित हुआ है ।

—"प्रकाशादिवत्तु नैवं परः"—[२।३।४३]

इस सूत्र में तथा—

—"प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्"—[२।३।४४]

इस सूत्र में अभिन्नजीव और ईश्वर का उपाधि-निमित्तक भेद बतलाया गया है। अथवा—

—"जन्माद्यस्य यतः प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्"—[१।४।२३]

इत्यादि सूत्र में ब्रह्म के कारणत्व को ख्यापित किया गया है । वहां कारण कार्य भिन्न होता है, क्योंकि कार्य के नष्ट हो जाने पर भी कारण का नाश नहीं होता । कार्य तो कारण से भिन्न नहीं होता क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म में और जीव में भेद और अभेद का समन्वय समझना चाहिए ।

अथवा पहिले "प्रकाश आदि के समान अविशेषता" बतलाई गई है । जो निर्विशेष धर्ममात्र प्रकाश है, वही वस्तु धर्मों का प्रकाशक है इस प्रकार भेदरूप से कथन भी होता है, उसी प्रकार यहां भी विशुद्ध चैतन्यमात्र निर्विशेष ही सविशेषवान् कहा जाता है ।

--"उसी के प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं"--

इस प्रकार प्रकाशक रूप में भी परब्रह्म को ही कहा गया है। वहां यही प्रतीत होता है कि दोनों के विशेष का अभाव ही तात्पर्य का विषय है।

प्रतिषेध से भो यह अर्थ निश्चित होता है।

--"यह ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य है"--

इस प्रकार निर्धर्मक रूप से बतलाए गए ब्रह्म के लिए ही--

--"इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है"--

इत्यादि कथन से अन्य किसी के द्रष्टा होने का निषेध करते हुए ब्रह्म के ही द्रष्टा होने की स्थापना की गई है। इससे 'चित्' मात्र ही चेतन है, यह सिद्धान्त होता है। क्योंकि जो धर्मरहित तेज है उसी के आगे धर्मी के रूप में कथन संभव हो पाता है। यद्यपि जीव और ब्रह्म के भेदाभेद का विवेचन पहिले भी विस्तार से हो ही चुका है। तथापि यहां जड़ आदि की साधारणता के प्रसंग में उसका पुनः द्रढ़ीकरण किया गया है।

। इस प्रकार निर्विशेष अभेद में श्रीशंकराचार्य के मत से भेद व्यवहार के साधन का अधिकरण पूर्ण हुआ।

विशिष्टाभेदे विशेषणभेदाद् भेदव्यवहारो रामानुजमते

अथ रामानुजमते जडजीवेश्वरास्त्रितत्वं सिद्धान्तः। तत्र पूर्वाधिकरणे सत्यस्य सत्यमित्युक्त्या नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामित्यादिश्रुत्या च जीवानां ब्रह्मस्वरूपत्वप्रकारश्चिन्तितः। अतः परम् अचिद्वस्तुनो ब्रह्मस्वरूपत्वप्रकारश्चिन्त्यते। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् [१।४।२३]

तदनन्यत्वमारम्भणं शब्दादिभ्यः [२।१।१५]

इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टाद् ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चाख्यातम्। तत्र जडानां ब्रह्मणोऽनन्यत्वं त्वहिकुण्डलवत् स्यादुभयव्यपदेशात्--

--"आत्मैवेदं सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमिति तादात्म्यव्यपदेशो यथा दृश्यते तथा"--

हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति भेदव्यपदेशश्च दृश्यते। तस्माद् भेदाभेदव्यपदेशादहेः कुण्डलभाववद् ब्रह्मणः संस्थानविशेषा अचिद्वस्तूनि स्युः।

अथवा नायं पक्षः साधीयान् ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्यः श्रुतयो भेदश्रुतयश्च बाधिताः स्युः। तस्मात् प्रकाशाश्रयवदेतद् द्रष्टव्यम्। यथा प्रभातदाश्रययोर्भिन्नयोरपि तेजस्त्वादभेदः तथा जडप्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपत्वं स्यात्।

श्रीरामानुज-मत में विशिष्टाभेद में विशेषरा भेद से भेदव्यवहार

श्रीरामानुजाचार्य के मत में जड़, जीव और ईश्वर ये तीन तत्त्व हैं। वहां पहिले के अधिकरण में--

--"सत्य का वह सत्य है"—

इस उक्ति के द्वारा तथा,—

—"वह नित्यों का नित्य और चेतनों का चेतन है"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा जीवों की ब्रह्मस्वरूपता किस प्रकार होती है यह विचार हुआ। इसके आगे जो अचित् वस्तु है वह भी कैसे ब्रह्म रूप ही है यह विचार किया जाता है।

--"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्"--[।४।२३]

तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः--[२।१।१५]

इन सूत्रों में सूक्ष्मचित् अचित्वस्तुविशिष्ट ब्रह्म से स्थूल चित् व अचित् विशिष्ट की उत्पत्ति और उन दोनों की अनन्यता बतलाई गई। वहां जड़ों में ब्रह्म के साथ अनन्यता या एकरूपता 'सर्पकुण्डल' के समान होगी। क्योंकि दोनों का कथन किया गया है। जैसे—

—"यह सब आत्मा ही है, यह सब ब्रह्म ही है"--

इस प्रकार तादात्म्य या एकरूपता का कथन है वैसे ही--

—'मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके इनके नाम और रूप को विभक्त करता हूं"--

यह भेदकथन भी देखा जाता है। इसलिए भेद और अभेद के कथन से सर्प के कुण्डल भाव के समान अचित् वस्तुएं ब्रह्म की संस्थानविशेष या स्थितिविशेष हैं।

अथवा नायमपि पक्षः साधीयान्। एकस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषयोगाभ्युपगमेऽपि-ब्रह्मस्वरूपस्यैव जडस्वरूपत्वाभ्युपगमात् पूर्ववद्दोषतादवस्थ्यात्। प्रभातदाश्रययोस्तेजस्त्वव-

दीश्वरजीवजडेष्वनुवर्तमानं ब्रह्मत्वसामान्यं स्याद् ब्रह्म सामान्यं वा तदापि पूर्ववद्विरोधः स्यात् ।

तस्मादिह अंशो नानाव्यपदेशात् [।२।३।४२।]

प्रकाशादिवत्त् नैवं परः [२।३।४५]

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः [२।१।१५।]

अधिकं तु भेदनिर्देशाद् [।२।१।१२]

इति पूर्वोक्तवदेव विशिष्टाद्वैतवादो द्रष्टव्यः । तथा च चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण एकत्वादद्वैतश्रुतयो न विरुध्यन्ते । विशिष्टस्य विशेषणानतिरिक्तत्वादभेदव्यपदेशो विशिष्टापेक्षया चैकदेशस्य स्वरूपस्वभावभेदाद् भेदव्यपदेश इत्येवमुभयं समञ्जसं भवति ।

—"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः । नास्य जरयैतज्जीर्य्यत"—

इत्यादिभिर्ब्रह्मणो जडधर्मप्रतिषेधाच्च विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव इति सिद्धम् ।

। इति विशिष्टाभेदे विशेषणभेदाह भेदव्यवहाराधिकरणं रामानुजीयम् ।

। इति भेदाभेदलक्षणाधिकारः ।

अथवा यह पक्ष ठीक नहीं है । क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप के ही अचित् (जड़) स्वरूप से अवस्थित मान लिये जाने पर ब्रह्म को अपरिणामी कहने वाली श्रुतियों तथा ब्रह्म को जड़ से भिन्न कहने वाले श्रुतिवाक्य बाधित होंगे । इसलिए प्रकाश और उसके आश्रय की तरह इसे समझना चाहिए । जैसे प्रकाश और उसके आश्रय के भिन्न होने पर भी तेज होने से दोनों में अभेद होता है वैसे ही जड़ प्रपञ्च की ब्रह्मरूपता होगी ।

अथवा यह पक्ष भी ठीक नहीं है । एक ही द्रव्य के विशेष अवस्था के योग को स्वीकार कर लेने पर भी ब्रह्म के स्वरूप को ही जड़ के रूप में स्वीकार कर लिये जाने के कारण पूर्वोक्त अपरिणामित्व का बाध तथा भेदश्रुतियों का बाध बना ही रहेगा । प्रकाश और आश्रय के तेजरूप होने की तरह ईश्वर, जीव और जड़ में ब्रह्मत्व भी सामान्यरूप से रहेगा, उस अवस्था में भी पूर्व की तरह विरोध होगा । इसलिए वहां—

—"अंशो नानाव्यपदेशात्"—[२।३।४२।]

—"प्रकाशादिवत्तु नैवं परः"—[२।३।४५।]

—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"—[२।१।१५।]

—"अधिकं तु भेदनिर्देशात्"—[२।१।१२।]

इन सूत्रों की उक्ति के समान ही विशिष्टाद्वैतवाद समझना चाहिए। इस प्रकार चित्अचित्विशिष्ट ब्रह्म के एक होने के कारण जो अद्वैत के प्रतिपादक श्रुतिवाक्य हैं, उनमें विरोध नहीं आता। विशिष्ट विशेषणों से अतिरिक्त नहीं होता इस दृष्टि से अभेद कथन और विशिष्ट की अपेक्षा उसके एक अंश का स्वरूप और स्वभाव में भेद होता है इस दृष्टि से भेद कथन में दोनों ठीक हो जाते हैं।

"वह यह महान् अज आत्मा अजर अमर है, इसकी जरा से यह जीर्ण नही होता' –

इत्यादि वचनों से ब्रह्म में जड़ के धर्मों का निषेध करने से इन दोनों में विशेषण और विशेष्य के रूप में ही अंशांशि भाव है यह सिद्ध हुआ।

यह रामानुजमत से, विशिष्ट के अभेद में विशेषण के भेद से भेदव्यवहार का अधिकरण हुआ।

। यह भेदाभेद लक्षण का अधिकार पूर्ण हुआ।

। अथ सर्वप्रभवत्वाधिकारः ।

आत्मातिरिक्ततत्वाभावः शङ्करमते

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३१।

सामान्यात्तु ।३।२।३२।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३३।

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ।३।२।३४।

उपपत्तेश्च ।३।२।३५।

तथान्यप्रतिषेधात् ।३।२।३६।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३७।

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं निर्विशेषं ब्रह्म निर्धारितं ततोऽन्यदपि किञ्चित् तत्व-मस्ति नास्ति वेति विचार्य्यते । तत्रादौ पूर्वपक्षः प्रदर्श्यते—

अतो निर्विशेषाद् ब्रह्मण: परमप्यस्ति किञ्चित् तत्त्वमितिसेतुव्यपदेशाद्, उन्मान-व्यपदेशात्, सम्बन्धव्यपदेशाद् भेदव्यपदेशाच्च गम्यते तथा हि—

—"अथ य आत्मा सेतुर्विधृतिः"—

इति ह्यात्मनो ब्रह्मणः सेतुत्वमाचष्टे । एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवतीति तरति शब्दं चाह । सेतुशब्दश्चावारपारसंयुक्ते वस्तुनि रूढ इति यथालोके सेतुं तीर्त्वा जाङ्गलमसेतुं प्राप्नोति एवमिहाप्यात्मानं सेतुं तीर्त्वा अनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीत्यन्यो-ऽप्यर्थः सिध्यति ।

उन्मानव्यपदेशश्च भवति ।

—"तदेतद् ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्यादिः । उन्मानेन च कार्षापण-प्रस्थादिद्रव्येणान्यदुन्मितं भवतीति ब्रह्मणोऽप्युन्मानादुन्मितं किञ्चिदन्यद्भवेत् ।

संबन्धव्यपदेशश्च—

—"सता सौम्य तदा संपन्नो भवतीति, शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त"—

इति चानेकधा दृश्यते । तत्र जीवानां सुषुप्तौ ब्रह्मणा संबन्धव्यपदेशादात्मनः परमन्यद्वस्तु सिद्ध्यति ।

सर्वं प्रभवत्व अधिकार

श्री शंकराचार्य के मत में आत्मा के अतिरिक्त तत्त्व का अभाव

समस्त प्रपञ्चों से परे जो ब्रह्म का निर्धारण हुआ है उससे अन्य भी कोई तत्त्व है या नहीं इसका विचार किया जाता है । वहां पहिले पूर्व पक्ष दिखाया जाता है कि इस निर्विशेष ब्रह्म से पर भी कुछ तत्त्व है यह बात सेतु कथन से, उन्मान कथन से, सम्बन्ध कथन से तथा भेद कथन से प्रतीत होती है ।

"जो आत्मा सेतु विधृति है"—

इस कथन से आत्मा ब्रह्म को सेतु बतलाया गया है। इस सेतु को पार करके अन्ध पुरुष, अन्धा नहीं रहता यह 'तरति' पार करता है इस शब्द से कहा गया।

सेतु शब्द का रुढ़ अर्थ यह है कि जो इस पर और उस पार को जोड़ता हो वह सेतु कहलाता है। इसलिए जैसे लोक में सेतु को पार करके जङ्गलादि प्रदेश जो असेतु हैं उन्हें प्राप्त किया जाता है इसी प्रकार यहां भी आत्मा रूपी सेतु का तरण करके असेतु अनात्मा को प्राप्त किया जाता है यह अन्य अर्थ भी सिद्ध होता है।

उन्मान कथन से भी आत्मा से अन्य अर्थ सिद्ध होता है।

—"यह ब्रह्म चार पैर वाला, आठ शफ वाला, सोलह कलाओं वाला है"—

इत्यादि कथन है। उन्मान अर्थात् नाप तौल वाले कार्षापण प्रस्थ आदि द्रव्य से किसी अन्य का नाप तौल होता है अतः ब्रह्म रूपी नाप तौल से भी नापा तोला जाने वाला कुछ और है यह बोधित होता है।

सम्बन्ध के कथन से भी यह सिद्ध होता है—

"––हे सौम्य, तब सत् से सम्पन्न होता है"

तब शरीर स्थित आत्मा प्राज्ञ आत्मा से संपरिष्वक्त होता है"

यह अनेकधा ही सुना गया है। वहां जीवों की सुषुप्ति में ब्रह्म से सम्बन्ध कथन से आत्मा से पर भी कोई अन्य वस्तु है यह सिद्ध होता है।

एवमाधाराधेयादि भेदव्यपदेशोपि यथा—

"य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो य एषोऽन्तरक्षणि पुरुषः"

इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमात्मानं व्यपदिशति।

अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—

तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपमित्यादिना। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोराह—

ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्येकस्य। ये चैतस्मा-दर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेत्यपरस्य। तथा चैतेभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मणः परमस्ति।

इति प्राप्ते ब्रूमः : सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्दोऽयमात्मनि प्रयुज्यते । विधारकत्वं हि मर्य्यादानां सेतुसामान्यमात्मनो दृष्टम्—

यथा सेतुरवारं च पारं च युगपद्विधरति एवमयमात्मा भुवं च दिव च तथा त्रैलोक्यं च ततो बाह्यं च सर्वां मर्य्यादां युगपद्विधरति । सेतुं तीर्त्वेति तरति शब्दश्च व्याकरणं तीर्णं इत्यादिवदिह प्राप्त्यर्थो द्रष्टव्यः

उन्मानव्यपदेशश्च बुद्ध्यर्थः क्रियते । नह्यविकारेऽनन्ते भूम्नि दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्ने ब्रह्मणि केनापि शक्यते बुद्धिः कर्तुम् ।

बुद्धेः परिच्छिन्नार्थग्राहित्वस्वाभाव्यात् । न च बुद्धिस्थिर्ति विना शक्योपासना कर्तुम् ।

तस्मादपरिच्छिन्नयोरपि ब्रह्मप्रतीकयोर्मनआकाशयोर्यथा वागादयोऽग्न्यादयश्च चत्वारश्चत्वारः पादा आध्यानाय प्रकल्प्यन्ते तथैवान्योपि सर्वः परिच्छिन्नत्वव्यपदेश-उपासकानां बुद्धिस्थैर्य्यार्थः प्रकल्पितो द्रष्टव्यः ।

अथवा यथा व्यवहारप्राचुर्य्याय कार्षापणे पादविभागः प्रकल्प्यते एवमिहाप्यात्मनि व्यवहर्तृ बुद्धिप्रवेशार्थः परिच्छिन्नत्वव्यपदेशः प्रकल्प्यते ।

इसी प्रकार आधार आधेय आदि भेद का कथन भी ब्रह्म से अन्य सत्ता की सूचना देता है जैसा कि—

—"जो यह आदित्य के भीतर हिरण्मय पुरुष है, जो यह नेत्रों के भीतर पुरुष है"

इस प्रकार आदित्य का आधार ईश्वर को बतलाकर उससे भिन्न नेत्र में आधारित आत्मा को बतलाया गया है ।

श्रुति में अतिदेश भी सुना जाता है—

"इसका वही रूप है जो उसका रूप है। ईश्वर को दोनों में ससीम कहा गया है ।"

—"जो इससे परे के लोक हैं उनकी इच्छा करता है, देव की कामना करता,है"—

यह एक के लिए कथन है ।

"जो इससे नीचे के लोक है उनकी कामना करता है, जो मनुष्य की कामना करता है"—

यह अपर के लिए कथन है।

इन कारणों से ब्रह्म से अपर तत्त्व भी है। इन पूर्व पक्षों पर हमें यह कहना है कि—

सेतु सामान्य कथन से यह सेतु शब्द का प्रयोग यहां आत्मा के लिए है। मर्यादाओं का धारण करना यह जो सेतु का सामान्य धर्म है वह आत्मा में देखा जाता है। जैसे सेतु अपार और पार को एक साथ धारण करता है उसी प्रकार यह आत्मा भूमि, स्वर्ग तथा त्रिलोकी और उसके बाहर की समस्त मर्यादा को एक साथ धारण करता है।

"सेतु का तरण करके"

इस वाक्य में जो 'तरण' शब्द है, वह—

"व्याकरण को तैर गया"

इस वाक्य के समान प्राप्ति के अर्थ में समझना चाहिए।

उन्मान का कथन बुद्धि के लिए किया जाता है। अविकारी अनन्त भूमा जो दिशा देश काल आदि की सीमाओं में बद्ध नहीं है ऐसे ब्रह्म को कोई अपनी बुद्धि में नहीं ले सकता। क्योंकि बुद्धि का स्वभाव सीमित पदार्थ को ग्रहण करने वाला है। बुद्धि में स्थिति हुए बिना उपासना की नहीं जा सकती। इसलिए अपरिच्छिन्न होते हुए भी ब्रह्म के प्रतीक रूप मन और आकाश के वाक् अग्नि आदि चार चार पाद ध्यान के लिए प्रकल्पित होते हैं वैसे अन्य भी समस्त सीमितत्त्व के कथन उपासकों की बुद्धि की स्थिरता के लिए प्रकल्पित हैं यह समझना चाहिए। अथवा जैसे व्यवहार की अधिकता के लिए कार्षापण में पद विभागों को कल्पित किया जाता है (रुपये में पैसों को जैसे कल्पना होती है) इसी प्रकार यहां आत्मा में भी व्यवहार करने वालों की बुद्धि के प्रवेश के लिए उसे सीमित रूप से कल्पित किया जाता है।

अथ संबन्धव्यपदेशो भेदव्यपदेशश्चैकस्याप्यर्थस्य स्थानविशेषादुपपद्यते। प्रकाशादिवत्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौरस्य चान्द्रस्य वाङ्गुल्याद्युपाधियोगादुपजातविशेषस्य भेदव्यपदेशोपि संभवति।

उपाध्युपशमात्तु निर्विशेषेण संबन्धव्यपदेशोपि। यथा वा घटाकाशस्य महाकाशाद्भेदव्यपदेश औपाधिकः संघटते। उपाधिविगमे त्वस्य घटाकाशस्य महाकाशतासंपत्तिरुपसंपद्यते एवमिहापि द्विविधो व्यपदेश एकस्मिन्नर्थे न विरुध्यते।

"योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो योऽयमन्तः पुरुष आकाशो योऽयमन्तर्हृदये आकाशः"—

इत्येवमेकस्याकाशस्य स्थानविशेषादेव भेदस्योपपत्तेश्च। तथैव चोपाधिभेदाद् भिन्नानामीदृशानामुपाधिकृतस्वरूपतिरोभावे सति।

स्वमपीतो भवति"—

इत्येवं स्वरूपसंबन्धस्यैवोपपत्तेश्च। तस्मादनन्यस्य निर्विशेषस्यैवायमन्यथा व्यपदेशा प्रकल्पिता भाव्यन्ते न तु वा तादृशनानाव्यपदेशदर्शनाद् ब्रह्मव्यतिरिक्तनानार्थ-कल्पना न्याय्या।

तथाऽन्यप्रतिषेधात्।

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।

स एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्तात् सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।

ब्रह्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरबाह्यमित्यादिश्रुतिजातैर्ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमेकान्ततः प्रतिषिध्यते। सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्तरोऽन्य आत्मा कश्चिदुपपद्यते।

अनेन सेत्वादिव्यपदेशपरिक्लृप्तपरिच्छेदनिराकरणेन ब्रह्मान्यप्रतिषेधवाक्येन चास्यात्मनः सर्वगतत्वमपि सिद्धं भवति। आयामशब्दादिभ्यश्च नित्यः"।

"ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात्"। इत्यादि।

स्मर्यते च-नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" इत्यादि।

। इति आत्मातिरिक्ततत्वाभावाधिकरणं शंकरमते।

अब आती है सम्बन्ध कथन और भेद कथन की बात तो वह एक ही अर्थ के स्थान विशेष के कारण सम्पन्न हो जाता है। प्रकाश उसका दृष्टान्त है। जैसे सूर्य या चन्द्रमा के एक ही प्रकाश का अङ्गुलि आदि उपाधि के योग से विशेषता आने पर भेद का कथन संभव हो जाता है, उपाधि के हट जाने पर वह निर्विशेष रूप से प्रकट होता है। अथवा जैसे घटाकाशका महाकाश से भेद का कथन औपाधिक रूप से घटित होता है। घट रूप उपाधि के हट जाने पर इस घटाकाश की महाकाशता संपन्न हो जाती है, इसी प्रकार यहाँ भी दो प्रकार का कथन एक ही अर्थ में विरुद्ध नहीं होता।

"जो यह पुरुष से बाहर का आकाश है, जो यह पुरुष के भीतर का आकाश है, जो यह हृदय के भीतर का आकाश है"

इस प्रकार एक ही आकाश के स्थान विशेष के कारण भेद हो जाते हैं। उसी प्रकार उपाधि के भेद से भिन्न प्रतीत होने वाले इस प्रकार के भावों में उपाधि का तिरोभाव होने पर—

"स्वयं को प्राप्त करता है"

इस प्रकार स्वरूप संबन्ध ही प्रकट हो जाता है। इस प्रकार अनन्य निर्विशेष ब्रह्म के ही ये नाना प्रकार के कथन प्रकल्पित होकर व्यवहार में आते हैं। इस प्रकार के नाना भेद कथनों के आधार पर ब्रह्म से अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अर्थों की कल्पना ठीक नहीं।

अन्य के प्रतिषेध से भी उक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है।

"जो यह पुरुष में है, जो यह आदित्य में है, वह एक है"–

"वही नीचे है, मैं ही नीचे हूं, आत्मा ही नीचे है,"–

"सब कुछ उसे दे दिया जिसने सर्वत्र आत्मा को समझ लिया।"

"यह सब ब्रह्म ही है, यहां नाना भेद वाला कुछ भी नहीं है,"

"जिससे पर कुछ भी नहीं है, वह यह ब्रह्म अनपर, अनन्तर, अबाह्य है।"

इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म से अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का पूर्णतया निषेध किया गया है। सर्वात्मा का प्रतिपादन करने वाले श्रुति वाक्य के द्वारा परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा सिद्ध नहीं होता।

इस सेतु आदि कथन से कल्पित सीमित भाव के निराकरण के द्वारा तथा ब्रह्म से अन्य वस्तु के निषेध करने वाले वाक्य के द्वारा इस आत्मा का सर्वगतत्व भी सिद्ध होता है। आयाम का अर्थ है व्याप्ति। (आयाम आदि शब्दों के प्रयोग से ब्रह्म का सर्वगत होना सिद्ध होता है) श्रुति कहती है––

"ब्रह्म आकाश के समान सर्वगत और नित्य है"

'वह द्युलोक से बड़ा है, वह आकाश से बड़ा है" इत्यादि।

स्मृति में भी कहा गया है–

"यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है" इत्यादि।

। इस प्रकार शंकराचार्य के मत में आत्मा के अतिरिक्त तत्त्व के अभाव का प्रतिपादन करने वाला अधिकरण पूर्ण हुआ।

ईश्वरातिरिक्त-परतत्त्वाभावो रामानुजमते ।

रामानुजस्त्वाह—जगत्परमकारणाच्चिदचिदेकाश्रयरूपात् परब्रह्मण: परमपि किञ्चिदस्तीति पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियते । अत उभयलिङ्गात् परतो ब्रह्मणोपि परमस्ति ।

"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरिति परस्य सेतुत्वव्यपदेशात् । अस्य सेतुत्वाच्चेतोऽन्यदनेन प्राप्यमस्तीति गम्यते । एतं सतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवतीति"

स्पष्टमन्यस्य प्राप्यस्याभिधानाच्च ।

चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलमित्युन्मानव्यपदेशश्च सेतुना प्राप्यस्य परिच्छिन्नत्वं द्योतयति ।

अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्"

अमृतस्यैष सेतुं—

रिति सेतुसेतुमतोः प्राप्यप्रापकत्वलक्षणसम्बन्धश्च व्यपदिश्यते ।

—"अक्षरात्परत: परः"—

—"परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं"—

—"परात्परं यन्महतो महान्तम्"—

तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं—

—"ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्"—

—"य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यान्ति"—

इत्यादिभिः स्पष्टमेव च भेदेन परात्परं व्यपदिशन्ति । तस्मादस्ति किञ्चित्परतोऽपि परमिति प्राप्ते ब्रूमः । न परब्रह्मणः परं किञ्चिदस्ति ।

—"एषां लोकानामसंभेदाय"—

इति सर्वलोकासांकर्य्यप्रयोजकतारूपसेतुसामान्यात्तु सेतुशब्दप्रयोगात् । सिनोति बध्नाति स्वस्मिन् सर्वं चिदचिद्वस्तुजातमिति वा सेतुः । सेतुं तीर्त्वेति तरतिः प्राप्त्यर्थः ।

यस्तु चतुष्पाद् ब्रह्मपादोऽस्य विश्वा भूतानीत्यादिरुन्मानव्यपदेशः स वाक्प्राणादिपादव्यपदेशवद् बुद्धचर्थः । अन्यथोपासकानामत्रापरिमिते बुद्धयो न संचरेयुः ।

यत्तु कश्चिद् ब्रूयात् । उपासनार्थतायामप्यस्य स्वयमपरिमितस्य परिमाणकल्पनं कथं संभाव्येतेति चेत् तत्रोच्यते । स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् तत्संभवतीति । यथा विततस्य प्रकाशादेर्वातायनघटादिस्थानभेदैः परिच्छिद्यानुसन्धानसंभवः तथा प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात् तत्सम्बन्धितयास्य परिच्छिद्यानुसंधानं संभाव्यते ।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में ईश्वर के अतिरिक्त परतत्त्व का अभाव

श्री रामानुजाचार्य ने कहा है कि—

जगत् के परम कारण, चित् और अचित् (जड़ चेतन) के एक मात्र आश्रय रूप पर ब्रह्म से पर भी कुछ तत्त्व है यह पूर्व पक्ष उपस्थित करके उसका निराकरण किया जाता है।

"जो आत्मा है, वह सेतु है, वह विधृति है"

इस वाक्य के द्वारा पर ब्रह्म को सेतु बतलाया गया है। इसके सेतु कहे जाने से इसके द्वारा कुछ अन्य प्राप्तव्य है यह प्रतीत होता है।

"इस सेतु को पार करके अन्धा अन्धत्व से रहित हो जाता है"

इस प्रकार स्पष्ट ही अन्य की प्राप्ति का कथन किया गया है।

"ब्रह्म चतुष्पाद और षोडश कला वाला है"

यह पारमाण का कथन सेतु के द्वारा प्राप्तव्य तत्त्व को परिच्छिन्न या सोमित बतला रहा है।

—"अमृत का दूसरा सेतु जले हुए इन्धन वाले अग्नि के समान है"—

"यह अमृत का सेतु है"

इस प्रकार सेतु और सेतुमान का प्राप्य और प्रापक रूप सम्बन्ध बतलाया गया है।

"अक्षर से परम तत्त्व पर है"—

—"परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है"—

"जो पर से भी पर और महान् से भी महान् है"—

–"उस पुरुष से यह सब पूर्ण है"–

–"उससे जो आगे है वह अरूप और अनामय है"–

–"जो इसे जानते हैं, वे अमृत स्वरूप हो जाते हैं, अन्य लोग दुःख ही प्राप्त करते हैं"–

इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा स्पष्ट ही भिन्न रूप से परात्पर तत्त्व को बतलाया गया है। इसलिए परब्रह्म से भी परे कोई तत्त्व है, इस सन्देह के उपस्थित होने पर हमारा कथन है कि परब्रह्म से अन्य कोई तत्त्व नहीं है।

"इन लोकों के असंभेद के लिए"

यह समस्त लोकों के सांकर्य को रोकने वाले कारण के रूप में सेतु शब्द का प्रयोग हुआ है। जो समस्त चेतन–अचेन वस्तु समूह को अपने में बांध ले उसे सेतु कहा गया है।

"सेतु का तरण करके"

यहां तरण शब्द का प्रयोग प्राप्ति के अर्थ में है।

ब्रह्म का "चतुष्पाद ब्रह्म है, इसका एक पाद समस्त भूत है"

यह जो ब्रह्म के परिमाण का कथन है, वह वाक्, प्राण आदि के पाद के कथन के समान बुद्धि में बिठाने के लिए है। अन्यथा इस अपरिमित ब्रह्म में उपासकों की बुद्धि का प्रवेश ही न हो सकेगा।

यदि कोई कहे कि उपासना के लिए समिति रूप से कथन होने पर भी जो स्वयं अपरिमित या निस्सीम है, उसकी सीमा की कल्पना कैसे की जा सकती है, उसका उत्तर है, स्थान विशेष के कारण जैसे प्रकाश आदि के सीमा की कल्पना हो जाती है, वैसे ही यहां भी हो सकेगी। जैसे फैले हुए प्रकाश, आकाश की वातायन (खिड़की) तथा घडा आदि स्थानों के भेद के कारण सीमा बद्धता की कल्पना होती है, वैसे ही उच्चारित वाणी आदि स्थान विशेष रूप उपाधि के भेद से, उस सम्बन्ध से इस पर ब्रह्म में सीमित अनुसन्धान संभव होगा।

अथ यदुक्तममृतस्यैष सेतुरित्युक्तेः प्रापकात्परं प्राप्यमन्यदस्तीति। तत्र, तत्प्राप्तेरन्यद्वाराऽनुपपत्तेः स्वयमेवोपपत्तेश्च।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते 'तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"—

इति हि तस्यानन्यलभ्यत्वं श्रावयति ।

यत्तूक्तं "ततो यदुत्तरतरं परात्परमस्तीति तदपि न । तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात् । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति किञ्चिदिति । ततो यदुत्तरतरमित्यत्र तु तत इति नापादानपञ्चमी । किन्तु हेतुपञ्चमी । यदुत्तरतरमिदं पर ब्रह्म तदेवारूपमनामयं यतोऽस्ति ततस्तद्वेत्तारोऽमृता भवन्तीत्यर्थात् ।

अनेन च ब्रह्मणा सर्वगतत्वं सर्वस्य जगतो व्याप्यत्वमायामशब्दादिभ्यो गम्यते । आयाम: सर्वव्याप्ति: ।

तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा:"

यच्च किञ्चिजगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपिवा ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण: स्थित" इत्यादि श्रवणात् सर्वव्यापकादस्मादप्यस्य नावकाशोऽस्ति । तस्मादिदं परब्रह्मैव सर्वस्माच्चिदचित् प्रपञ्चात् परं न ततोऽन्यत् परमस्तीति सिद्धम् ।

। इति ईश्वरातिरिक्तपरतत्वाभावाधिकरणम् रामानुजीयम् ।

यह जो आशंका की गई है कि

"यह अमृत का सेतु है"

इस उक्ति के कारण प्रापक से भिन्न प्राप्य कोई और है तो ऐसा नहीं है । उसकी प्राप्ति उससे अन्य के द्वारा नहीं होती ।

—"यह आत्मा प्रवचन से लभ्य नहीं है, यह मेधा या बहुत सुनने से भी प्राप्तव्य नहीं है । जिसे यह वरण करता है उसके द्वारा ही यह प्राप्तव्य है, उसके लिए यह आत्मा अपना शरीर खोल कर प्रकट कर देता है"—

इससे यह सिद्ध होता है कि वह किसी अन्य के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

जो यह कहा गया कि ब्रह्म से जो उत्तरतर है, वह परात्पर है, वह भी नहीं सिद्ध होता । क्योंकि वहीं उस भिन्न किसी पर का निषेध भी कर दिया गया है ।

—"जिससे आगे कोई दूसरा नहीं है, उससे अन्य कोई छोटा या बड़ा नहीं है"—
"ततो यदुत्तरतरम्"

इस वाक्य में अपादान पंचमी विभक्ति नहीं है, जिससे उससे भिन्न का बोध होता है। किन्तु आप शब्द में हेतु अर्थ में पंचमी विभक्ति का प्रयोग है, इसका अर्थ होता है कि-

—"उत्तरतर यह परब्रह्म है, वह क्योंकि अरूप और अनामय है, इसलिए उसके ज्ञाता अमृत स्वरूप हो जाते हैं।

आयाम शब्द आदि से ब्रह्म का सर्वगत होना और समस्त जगत् का ब्रह्म का व्याप्य होना व्यक्त होता है।

"उस पुरुष से यह सब पूर्ण है"

"नित्य, व्यापक, सर्वगत, सुसूक्ष्म जिस भूतों के उत्पादक को धीरगण देखते हैं"

—"इस जगत् में जो कुछ दिखाई देता है या सुनाई देता है, जो कुछ बाहर या भीतर है, वह सब नारायण ही स्थित है"—

इत्यादि श्रवण के कारण सर्व व्यापक इस परमतत्त्व से अन्य का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। इसलिए यह पर ब्रह्म ही समस्त चेतन अचेतन प्रपंच से पर है। इससे अन्य और कोई परम तत्त्व नहीं है यह सिद्ध हुआ।

यह रामानुजाचार्य के मत में ईश्वर के अतिरिक्त पर तत्त्व के अभाव का अधिकरण पूर्ण हुआ।

ईश्वरस्यफलप्रयोजकत्वम्

फलमत उपपत्तेः श्रुतत्वाच्च ३।२।३८, ३९।

धर्मं जैमिनिरत एव ३।२।४०।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्।३।२।४१।

इह हि लोके इष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं त्रिविधं कर्मफलं जन्तूनां दृश्यते। तदेतत्कर्मवशादेवोपपद्यते, अथवा फलदातुरीश्वरादिति चिन्तायामुच्यते। फलमत ईश्वराद् भवति उपपत्तेः। ईश्वरो हि सर्वाध्यक्षोदेशकालद्यभिज्ञत्वात् कर्म्मिणां कर्म्मानुरूपं फलं

ददातीत्युपपद्यते । कर्मणस्त्वनुक्षण विनाशितया कालान्तरभाविफलदातृत्वं नोपपद्यते। अभावाद् भावानुपपत्तेः । श्रुतत्वाच्च । श्रूयते हीश्वरस्यैव फलदातृत्वम् ।

"स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान"

"इति एष एवानन्दयति" इति च ।

जैमिनिराचार्य्यस्त्वत एवोपपत्तेः श्रुतत्वाच्च हेतोः फलदातारं धर्म्मं मन्यते ।

—"स्वर्गकामो यजेत"—

इति हि श्रुतिः कर्मजन्यापूर्वस्य धर्माख्यस्य फलदातृत्वं श्रावयति । कर्मणो हि सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्ति इति हि श्रुतिप्रामाण्यादवगम्यते । कर्मणोऽनुक्षणविनाशित्वेपि तज्जनितापूर्वस्य फलयोगपर्य्यन्तमवस्थायित्वमस्तीत्युपपद्यते तस्य कालान्तरभाविफलदातृत्वम् । ईश्वरस्य तु फलदातृत्वं नोपपद्यते । अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्य्यानुपपत्तेः वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गाच्च तदनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्म्मादेव फलं बोध्यम् ।

ईश्वर का फल का दाता होना

इस संसार में इष्ट अनिष्ट और मिश्रित तीन प्रकार के कर्मफल जन्तुओं को प्राप्त होते देखे जाते हैं। ये फलकर्म वश ही निष्पन्न होते हैं या फल दाता ईश्वर से ये फल मिलते हैं। इस विचार के प्रवृत्त होने पर कहा जाता है कि फल ईश्वर से होते हैं। क्योंकि यही मत तर्कसिद्ध है। ईश्वर सब का अध्यक्ष है, वह देश काल आदि का ज्ञाता है, वह कर्म करने वालों को कर्म के अनुरूप फल देता है, यह युक्तियुक्त है। कर्म तो अपना फल स्वयं नहीं दे सकता क्योंकि वह तो उत्तर क्षण में ही समाप्त हो जाता है। वह कालान्तर में उत्पन्न होने वाले फल को नहीं दे सकता। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति तो होती नहीं। सुना भी ऐसा ही जाता है। ईश्वर का फल प्रदाता होना श्रुति भी कहती है—

"यह महान् अज आत्मा अन्नाद, वसुदाता है"

"यही आनन्द प्रदान करता है"

आचार्य जैमिनि तो इसी युक्ति और श्रुति के कारण फल का प्रदाता धर्म को मानते हैं।

"स्वर्ग की कामना वाला यजन करे"

यह श्रुति वाक्य कर्म से उत्पन्न होने वाले धर्म नाम के अपूर्व को फलदाता बतलाती है। कर्म की कोई सूक्ष्म आगे की अवस्था अथवा फल की पूर्वावस्था का नाम अपूर्व है यह श्रुति के प्रमाण से ज्ञात होता है। कर्म के उत्तर क्षण में ही विनष्ट हो जाने पर भी उससे उत्पन्न होने वाले अपूर्व का फल के योग होने तक स्थायित्व रहता है। अतः कालान्तर में फल देने की योग्यता उसमें सिद्ध होती है। ईश्वर का फलदाता होना तो युक्ति सिद्ध नहीं है। जो अविचित्र कारण है उससे विचित्र कार्य की उत्पत्ति असंगत है। ईश्वर में फल का दातृत्व मानने पर उसमें विषमता और निर्घृणता मानने का प्रसंग आता है, और यज्ञ के अनुष्ठान की व्यर्थता होने की आपत्ति भी आती है। इसलिए फल धर्म से ही मिलता है यह समझना चाहिए।

बादरायणस्त्वाचार्य्यः पूर्वोक्तमीश्वरमेव फलदातारं मन्यते न तु केवलात्कर्मणः केवलादपूर्वाद्वा। अपि तु कर्म्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा तस्मादीश्वरात् फलमिति सिद्धान्तः। तस्यैव हेतुव्यपदेशात्। धर्माधर्मयोरपि कारयितृत्वेनेश्वर एव हेतुर्व्यपदिश्यते। वायव्यं श्वेतमालभेद् भूति कामः। वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैतं भूतिं गमयतीति देवताया एव फलदातृत्वश्रवणात्। देवताश्च सर्वा वाय्वादयस्तस्येश्वरस्यैव विभूतयः श्रूयन्ते।

—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः इति।

अन्तर्यामिब्राह्मणे च—

—"यो वायौ तिष्ठन् यस्य वायुः शरीरमित्यादिनेश्वरस्यैव वाय्वाद्यभिमानित्वव्यपदेशात्। "एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। इति चेश्वरस्यैव कारयितृत्वमाचष्टे। सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। एतदेव चेश्वरस्यफलहेतुत्वं यत् स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति। विचित्रकार्य्यानुपपत्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते"।

। इति फलप्रयोजकत्वाधिकरणम्।

। इति सर्वप्रभवत्वाधिकारः ।।१२।।

आचार्य बादरायण तो पूर्वोक्त ईश्वर को ही फल का प्रदाता मानते हैं न कि वे केवल कर्म से या केवल अपूर्व से कर्म फल को मानते हैं। सिद्धान्त यह है कि कर्म या अपूर्व के अनुसार ईश्वर से ही फल मिलता है। क्योंकि उसे ही फल का हेतु बतलाया गया है। धर्म और अधर्म के भी प्रेरक के रूप में ईश्वर ही हेतु बतलाया गया है।

"ऐश्वर्य की कामना वाला वायु देवता के श्वेत का आलभन करे,

वायु फेंकने वाला देवता है, अपने भाग्य से वायु की ओर ही दौड़ता है, वही इसे ऐश्वर्य देता है", इस प्रकार देवता को ही फल का प्रदाता सुना गया है। वायु आदि सभी देवता उसी ईश्वर की विभूतियों के रूप में श्रुति में कहे गए है।

"वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है वही चन्द्रमा है"।

और अन्तर्यामि ब्राह्मण में "जो वायु में रहता है, जिसका वायु शरीर है," इत्यादि वाक्य से ईश्वर को ही वायु आदि का अभिमानी बतलाया गया है।

"वही जिस जिसको उन्नत करना चाहता है उससे साधु कर्म करवाता है, जिस जिसको अधोगति में ले जाना चाहता है उससे वही असाधु कर्म करवाता है"—

इस प्रकार श्रुति ईश्वर को ही कर्म करवाने वाला बतलाती है। सभी वेदान्तों में सृष्टियों का कारण ईश्वर को ही बतलाया गया है। ईश्वर का फल का कारण होना यही है कि प्रजा कि सृष्टि वह उसके अपने कर्म के अनुसार करता है। विचित्र कार्य की अनुत्पत्ति आदि दोष भी किए हुए कर्मों की अपेक्षा के कारण ईश्वर में नहीं जाते।

यह फल प्रयोजकत्व का अधिकरण पूर्ण हुआ।

यह सर्वप्रभवत्व का अधिकार पूर्ण हुआ

—□—

अथ सगुणविद्यानिरूपणोऽय-मुपासनापादः ३

न्यायावताराधिकारः

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१।

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ।३।३।२।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सवच्च तन्नियमः ।३।३।३।

दर्शयति च ।३।३।४।

उपसंहारोऽर्थभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ।३।३।५।

पूर्वप्रकरणे जीवस्य लक्षणं जीवप्रसङ्गाज्जीवाधिष्ठितस्य परस्यापि लक्षणं परीक्षितम् । अथैतस्य जीवस्य यात्राप्रकारे दिदर्शयिषिते जीवयात्रायाः कर्मविद्योभय-निबन्धनत्वाद्यात्रानिरूपणात् प्राक्तन्निमित्तभूते कर्मविद्ये निरूपणमर्हतः ।

तत्र शुद्धकर्मप्रकारः, कर्मविद्याः कर्माङ्गविद्याश्च पूर्वे तन्त्रे निरूपिताः । अथ कर्माङ्गाश्रितविद्या सगुणब्रह्मविद्यात्वादपरविद्याख्या, तथाशुद्धविद्या निर्गुणब्रह्मविद्यात्वात् परविद्याख्या चावशिष्येते । तयोर्निरूपणायेदानीं विद्यालक्षणं प्रकरणमारभ्यते ।

यद्यपि प्रत्यगात्मनो जीवस्यैव निरूपणायेदं प्रवृत्तं शारीरकं शास्त्रं तथापि तद्भक्तिभूताः सर्वेऽप्यर्थास्तत्प्रसङ्गान्निरूपणमर्हन्तीति कृत्वा विद्यानिरूपणमपि स्थाने कृतं भवति।

तत्र ब्रह्मप्रतीकभूतानामुद्गीथादित्यमनोवैश्वानरादीनां ब्रह्मगुणतया तद्विज्ञानं सगुणविद्या भवति। सैव तावदेतत्पादार्थः।

उपासना वासनाराधना विज्ञानं विद्या इत्यनर्थान्तराणि। किन्तु निर्गुणोपासनायां विद्याशब्दः सगुणविद्यायां तूपासनाशब्द एव भूयसोपचर्य्यते लोके।

तथा चायं तृतीय उपासनापादश्चतुर्थस्तु विद्यापाद इति विवेक्तव्यम्।

सगुणविद्या का निरूपण–उपासनापाद तृतीय

न्यायावतार अधिकरण

पूर्व के प्रकरण में जीव का लक्षण तथा जीव के प्रसङ्ग से जीव में अधिष्ठित परमात्मा के लक्षण का भी परीक्षण किया। अब जीव के यात्रा के प्रकार का निरूपण करना अभीष्ट है, वहां जीव की यात्रा का कारण कर्म और विद्या ये दोनों हैं, अतः जीव की यात्रा के निरूपण के पहिले उसके कारण स्वरूप कर्म और विद्या का विचार अपेक्षित है वहां शुद्ध कर्म का प्रकार, कर्म विद्याएं, तथा कर्माङ्ग विद्याएं पूर्व तन्त्र में निरूपित हुई। अब कर्माङ्गाश्रित विद्या, जिसे सगुण ब्रह्म विद्या होने से अपर विद्या कहा जाता है, तथा निर्गुण ब्रह्म विद्या होने के कारण जो पर विद्या है वह अवशिष्ट है। उनका निरूपण करने के लिए अब विद्या नाम के प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। यद्यपि प्रत्यगात्मा जीव के ही निरूपण के लिए इस शारीरकशास्त्र की प्रवृत्ति है तथापि उसके भागभूत सभी अर्थ उसके प्रसङ्ग से निरूपण के योग्य है इसलिए यहां विद्या का निरूपण भी अपने स्थान पर ही है। वहां ब्रह्म की प्रतीक स्वरूप उद्गीथ, आदित्य, मन, वैश्वनर आदि विद्याओं के ब्रह्म के गुण होने के कारण उनका विज्ञान सगुण विद्या कहलाता है। वहीं विद्याएं इस उपासना पाद को प्रतिपाद्य हैं। उपासना कहें, वासना कहें, आराधना कहें, विज्ञान कहें, चाहे विद्या कहें, बात एक ही है। किन्तु निर्गुण की उपासना में विद्या शब्द तथा सगुण की विद्या में उपासना ही लोक व्यवहार में अधिक प्रचलित है। इसलिए यह द्वितीय अध्याय का तीसरा पाद उपासना पाद तथा चतुर्थ पाद विद्यापाद है यह समझना चाहिए।

शाखाभेदादनेकविधाः श्रुतिग्रन्था दृश्यन्ते तैत्तिरीयमैत्रायणीयवाजसनेयादयः। तेषु कर्मविशेषा विद्याविशेषाश्च समाननामरूपा विभिन्ननामरूपाश्चोपदिश्यन्ते।

तत्रनामरूपादिभेदे कर्मभेदो विद्याभेदश्च निर्विवाद एव किन्तु नामरूपाद्यैक्ये सति शाखाभेदात् ज्योतिष्टोमादिकर्मणो वैश्वानरादिविद्यायाश्चैक्यं प्रतिपत्तव्यं भिन्नत्वं वेति सन्दिह्यते ।

तत्र तावद्

"एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषादित्येवं कर्ममीमांसायां फलसंयोगकर्मरूप-कर्मोपदेशकर्मनाम्नामविशेषे कर्म्मैक्यं सिद्धान्तितम् ।

तथैवेहापि ब्रह्ममीमांसायां फलसंयोगविद्यारूपविद्योपदेशविद्यानाम्नामविशेषे सति विद्यैक्यं द्रष्टव्यमिति सिद्धान्तयति । सर्ववेदान्तप्रत्ययमेकं विज्ञानं स्याच्चोदनाद्य-विशेषादिति । आदिशब्देन पूर्वशास्त्रोक्तानि सयोगरूपनामानि तथा च नामरूपफलोपदेशा-विशेषे विद्यैकत्वमितिन्याय: सिद्धः ।

उद्गीथविद्या, शाण्डिल्यविद्या, पुरुषविद्या, प्राणसंवादविद्या, दहरविद्या, वैश्वानर-विद्या, मधुविद्या, संवर्गविद्या, परिमरविद्या, पञ्चाग्निविद्या, उत्क्रान्तिविद्या, उपकोशल-विद्या, षोडशकलविद्या, सद्‌विद्या, भूमविद्या, आनन्दमयविद्या, कोशविद्या, अक्षरविद्या, सप्तविद्विद्या, यज्ञविद्या, प्राणविद्या, ब्रह्मविद्या—

इत्येवमादयो बह्व्यो विद्या वेदान्तोपनिषद्विषयाः श्रूयन्ते —

तत्र यथा

"योह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद"—

इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च समाना चोदना दृश्यते । समानश्च फलसंयोगः—

"ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवतीति । समानं च ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राणतत्वं तत्र विज्ञानस्य रूपं भवति । एवं नामापि समानं प्राणविद्येति । तस्मादेकमिदं विज्ञानं सर्ववेदान्तप्रत्ययमभ्युपगम्यते न तु भिन्नम् । एवं पञ्चाग्निविद्यावैश्वानरविद्यादि-ष्वप्यैकविद्यं द्रष्टव्यम् ।

शाखाओं के भेद से तैत्तिरीय, मैत्रायणीय, वाजसनेय आदि अनेक श्रुतिग्रन्थ दिखाई देते हैं । उनमें विशेष कर्म तथा विशेष विद्याएं समान नाम और रूपों वाली तथा भिन्न नाम और रूपों वाली उपदिष्ट हैं । वहां नामरूप आदि के भेद होने पर कर्म में तथा विद्या में भेद निर्विवाद ही है किन्तु जहां नाम और रूप आदि में ऐक्य है वहां शाखाओं में भेद होने पर ज्योतिष्टोम आदि कर्मों में तथा वैश्वानर आदि विद्याओं में ऐक्य समझना चाहिए या उन्हें भिन्न मानना चाहिए यह सन्देह होता है । वहां संयोग

रूप प्रेरणा के भिन्न न होने के कारण एक ही है" इस प्रकार कर्म मीमांसा में फल संयोग कर्म रूप कर्म उपदेश कर्मों के नामों में भेद न होने के कारण एक ही विद्या है यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है। सभी वेदान्त का प्रतिपाद्य एक विज्ञान है, प्रेरणा आदि के भेद न होने के कारण प्रेरणादि में आदि शब्द से पूर्व शास्त्र में प्रतिपादित संयोग रूप नाम तथा नाम रूप और फल के भेद न होने पर विद्या का एकत्व होता है यह न्याय सिद्ध कथन है। उद्गीथविद्या, शाण्डिल्य विद्या, पुरुषविद्या, प्राणसंवाद विद्या, दहर विद्या, वैश्वानर विद्या, मधुविद्या, संवर्ग विद्या, परिमर विद्या, पञ्चाग्नि विद्या, अक्रान्ति विद्या, उपकोशल विद्या, षोड़शकल विद्या, सद्विद्या, भूम विद्या, आनन्दमय विद्या, कोश विद्या, अक्षरविद्या, सप्तचिद्विद्या, यज्ञविद्या, प्राण विद्या, ब्रह्मविद्या आदि अनेक विद्याएं वेदान्त उपनिषद् का विषय हैं यह सुना गया है। वहां—

"जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है"

—यह वाजसनेयी तथा छन्दोगों की समान प्रेरणा देखी जाती है। फल संयोग भी समान है

"अपनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है"

—वहां ज्येष्ठ श्रेष्ठादिगुण विशेष से अन्वित समान प्राणतत्त्व विज्ञान का रूप होता है। इसी प्रकार नाम भी प्राण विद्या समान है। इसलिए यह एक विज्ञान समस्त वेदान्त का प्रतिपाद्य है यह स्वीकार किया जाता है न कि भिन्न विज्ञान। इस पञ्चाग्नि विद्या, वैश्वानर विद्या आदि में भी एक ही विद्या समझनी चाहिए।

ननु यत्र गुणभेदः श्रूयते तत्र नैक्यं भवितुमर्हति। यथा छन्दोगाः—

पञ्चाग्निविद्यायां पञ्च संख्ययैवोपसंहरन्ति—

"अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेदेति। वाजसनेयिनस्तु षष्ठमप्यपरमग्निमामनन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवतीति। न चैतद्गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं छान्दोग्ये—

पञ्चसंख्याविरोधात्। तस्मात् षष्ठाग्निगुणाया विद्यायाः पञ्चाग्निगुणाया विद्ययैक्यं नोपपद्यते। तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान् वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति। वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्याहुः—

रेतो वै प्रजापतिरित्यादि। तस्मादावापोद्वापभेदेन वेद्यभेदाद् विद्याभेद इति चेन्न। एकस्यामपि विद्यायां गुणभेदोपपत्तेः। तथा च गुणोपदेशवैषम्येऽधिकस्यान्यत्रापि प्रति-

परिरिति न्यायोऽभ्युपेयते। तेन द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र साम्येनोपदेशादैक्ये निश्चिते क्वचिद्गुणविशेषः श्रूयमाणोन्यत्राप्युपसंह्रियते। पठ्यते च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैरपि—

तं प्रेतदिष्टमितोऽग्नय एव हरन्तीति पञ्चाग्निसंख्या तूपदिष्टा न विरुध्यते। तस्याः संपादिकाग्न्यभिप्रायतया विधिसमवायित्वाभावात्। एवं प्राणसंवादादिष्वपि गुणस्याधिकस्यान्यत्रोपसंहारो द्रष्टव्यः। रामानुजीयवल्लभीयादीनां तु भेदान्नेति चेदेकस्यामपीतिपाठः।

प्रश्न होता है कि जहां गुणभेद सुनाई देता है वहां उक्त ऐक्य नहीं हो सकता जैसे छन्दोगानुयायी पञ्चाग्नि विद्या में पांच संख्या से ही उपसंहार करते हैं—

"जो इन पांच अग्नियों को जानता है"

—इत्यादि वाजसनेयी गण छठे दूसरे अग्नि को भी मानते है, वहां अग्नि ही अग्नि होती है। यह गुणों का उपसंहार नहीं समझा जा सकता क्योंकि छान्दोग्य में प्रतिपादित पांच संख्या का विरोध होता है। इसलिए षष्ठ अग्नि गुण वाली विद्या से पांच अग्नि गुण वाली विद्या का ऐक्य नहीं हो सकता। तथा प्राण संवाद में श्रेष्ठ से अन्य चार वाक् चक्षु, श्रोत्र और मन नामक प्राणों छन्दोगानुयायी स्वीकार करते हैं। वाजसनेयानुयायी तो पांचवें को भो मानते हैं

—"रेत प्रजापति है"

इत्यादि। इसलिए अवाप उवद्वाप (बढ़ने घटने) के भेद से ज्ञान के भेद के कारण विद्या में भेद है, यह प्रश्न नहीं होना चाहिए क्योंकि एक ही विद्या में गुण भेद हो सकता है। न्याय या स्वीकृत सिद्धान्त यह है गुण के उपदेश की विषमता में जो अधिक संख्या वाला गुण होता है। उसको सगति अन्यत्र हो जाती है। इसलिए पंचाग्नि विद्या में द्युआदि पांच अग्नियों दोनों शाखाओं में समान रूप से उपदिष्ट होने पर जब उनकी एक रूपता निश्चित है तब कोई विशेष गुण यधिक सुना जाता है, शाखा विशेष में, तो उसका उपसंहार अन्यत्र हो जाता है। (वाजसनेयि और छन्दोगानुयायीगण में जा षष्ठ अग्नि गुण की अधिकता है उसके सन्दर्भ में कहा जाता है कि) छन्दोगानुयायीगण भी छठे अग्नि को स्वीकार करते हैं —

"उस प्रेतदिष्ट को यहां से अग्नियां ही ले जाती हैं। इसलिए पञ्चाग्नि संख्या का उपदेश कोई बिरोध नहीं रखता। उस अग्नि संपादक अग्नि के अभिप्राय के रूप में गृहीत होने के कारण वह विधि में गणनीय नहीं होती। इसी प्रकार प्राणसवाद आदि

में भी अधिक संख्या वाले गुण का अन्यत्र उपसंहार संगत हो जाता है। रामानुजीय और वल्लभीय सूत्र पाठ में तो ३।३।२। सूत्र को

"भेदान्नेति चेदेकस्यामपि"

इस प्रकार पढ़ा गया है।

ननु रूपभेदाद् गुणभेदे मास्तु विद्याभेदः किन्तु धर्मभेदाद गुणभेदे विद्याभेदः स्यात्। तथाहि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णमिति मुण्डशिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेशनियमः श्रूयते।

तथा चैषां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेदः प्राप्नोति। तत् प्रत्युच्यते। स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः। तथा हि मुण्डकोपनिषदध्ययनधर्मतयैवायं शिरोव्रतोपदेशनियमः क्रियते। समाचाराख्ये वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे स्वाध्यायधर्मत्वेनैव व्रतान्तराण्युपन्यस्य तेषामपि शिरोव्रतोक्तसर्वकर्मप्राप्तये—

—"इदमपि वेदव्रतेन व्याख्यातम्"—

इत्येवं वेदव्रतापरपर्य्यायशिरोव्रतसाधर्म्यातिदेशात्।

नैतदचीर्णव्रतोऽधीते इतिचाध्ययनशब्दसयोगादध्ययनाधिकाराच्च। अत्र तथात्वेनेति तृतीयापाठे सप्तमीपाठो रामानुजादीनाम्। तथा चायमर्थो भवति। स्वाध्यायस्य तथात्वे हि तन्नियमः।

स्वाध्यायस्य स्वजन्यसंस्कारोत्पत्तिद्वारा स्वाध्यायत्वसिद्धचर्थे शिरोव्रतोपदेशनियमो द्रष्टव्यः। नैतदचीर्णव्रतोऽधीयीतेति तस्याध्ययनसंयोगात् समाचारेधिकारश्च।

समाचाराख्ये ग्रन्थे इदमपि वेदव्रतेन व्याख्यातमित्यतिदेशात्। सर्ववच्च तन्नियमः। यथा आरोगोभ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्नरो ज्योतिषीमान् विभास इति सप्त सौर्य्योपक्रमाः शतौदनपर्य्यन्ताः सवहोमाः आथर्वणिकंकाग्निसंबन्धादुक्ता इति तेषामेवैते नियम्यन्ते न तु वेदान्तरोदितत्रेताग्निषु ते क्रियन्ते।

तथायमपि धर्मो मुण्डकादिस्वाध्यायविशेषसंबन्धात् तत्रैव नियम्यत इतिसिद्धम्। तस्माद्धर्मभेदेपि न विद्याभेदः। स्वाध्यायविशेषकारणं धर्माणामुपदेष्टृभेदस्य च विद्याविशेषकत्वाभाव इतिन्यायानुगमात्।

प्रश्न होता है रूप के भेद से गुण में भेद होने पर भले ही विद्या में भेद न हो किन्तु धर्म भेद के कारण जब गुण में भेद आता है तब तो विद्या में भेद होगा। जैसे कि—

"इस ब्रह्म विद्या का उन्हें ही उपदेश किया जाना चाहिए जिन्हें विधिवत् शिरोव्रत का आचरण किया हो"

इस प्रकार मुण्डित शिरोव्रत वाले आथर्वणिकों के ही लिए विद्या के उपदेश का नियम सुना जाता है। इस प्रकार विद्या ग्रहण के प्रति इनके शिरोव्रत आदि की अपेक्षा के कारण तथा अन्य लोगों को उसकी अपेक्षा न होने के कारण विद्या भी भिन्न भिन्न है यह पक्ष प्राप्त होता है। उसका निराकरण किया जाता है कि यह स्वाध्याय का नियम है, विद्या का नहीं। जैसे कि मुण्डकोपनिषद अध्ययन के धर्म के रूप में ही इस शिरोव्रत के उपदेश का नियम बनाया गया है। समाचार नामके वेद व्रत का उपदेश देने वाले ग्रन्थ के सन्दर्भ में स्वाध्याय के धर्म के रूप में ही अन्य व्रतों का कथन करके उनका भी शिरोव्रत में कहे गए सभी कर्मों को प्राप्ति के लिए—

"यह भी वेदव्रत के द्वारा व्याख्यात है"

ऐसा कहकर वेदव्रत नामवाले शिरोव्रत की समान धर्मता को सम्मिलित किया गया है।

'इस को भी व्रत का आचरण न करने वाला नहीं पढ़ता'

यहां अध्ययन शब्द का प्रयोग है, और अध्ययन का अनधिकार बतलाया गया है।

यहां सूत्र ३।३।३

"स्वाध्यायस्य तथात्वेन"

में 'तथात्वेन' शब्द में जो तृतीया विभक्ति है, रामानुजाचार्य आदि उसे सप्तमी विभक्ति युक्त पाठ मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ यह होता है, कि स्वाध्याय के तथात्व में वैसा नियम होता है। स्वाध्याय की अपने में उत्पन्न संस्कार की उत्पत्ति के द्वारा स्वाध्यायत्व की सिद्धि के लिए शिरोव्रत के उपदेश का नियम समझना चाहिए। व्रत का आचरण न करने वाला इसका अध्ययन न करे"

ऐसा कहकर उसका अध्ययन संयोग होने के कारण समाचार में अधिकार है। समाचार नामक ग्रन्थ प्रकरण में इसका भी वेदव्रत के रूप में व्याख्यान किया गया है यह अतिदेश है।

'सब के समान उसका नियम है'।

जैसे अरोग, अभ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्नर, ज्योतिषीमान, विभास, ये सात सूर्य से उपक्रम करके वातौदनपर्यन्त सब होम आथर्वणिक एक अग्नि के सम्बन्ध से कहे गये हैं। उन्हीं के लिए इनका नियमन होता है, अन्यवेद में बतलाए गए त्रेताग्नि में उनका विधान नहीं है। उसी प्रकार यह धर्म भेद भी मुण्डक आदि के स्वाध्याय विशेष का सम्बन्ध होने के कारण वहीं नियत होते हैं यह सिद्ध हुआ। इसलिए धर्म भेद होने पर भी विद्या भेद नहीं होता। स्वाध्याय विशेष के कारण, धर्मों के उपदेष्टा के भेद से विद्या भेद नहीं होता इस सिद्धान्त या न्याय का यहां अनुगम है।

दर्शयति च वेदोपि विद्यैकत्वम्।

—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"—

इति सर्ववेदान्तेषु वेद्यैकत्वोपदेशात्।

—"एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्य्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः"—

इत्यादिभिरप्येकस्यैव सर्वत्र वेद्यत्वं प्रतिपाद्यते।

तदित्थं वेदभेदादुपदेशभेदेऽपि विद्यैकत्वं न विहन्यते इत्यतः समाने विज्ञानेऽन्य-वेदोक्तानां तद्विज्ञानसंबन्धिनामधिकगुणानामन्यवेदोक्तविज्ञानेष्युपसंहारः शक्यः कर्तुमर्थाभे-दात्। एको ह्युभयोर्वेदयोः संविज्ञानार्थः यथाग्निहोत्रादिकर्म्म क्वचिन्न्यूनगुणं क्वचिदधिक गुणं चान्यान्यशाखासूक्तं तत्राप्यर्थाभेदादधिकोक्तो विधिशेषो न्यूनगुणेऽप्युपसह्रियते तद्वत्।

तथा च समाने नाम रूपफलोपदेशे विद्यैकत्वप्रतिपत्तेर्न्यूनगुणेऽधिकगुणोपसंहारः स्यादिति न्यायोऽवसेयः। तेन छन्दोगानांपञ्चाग्निविद्यायामनुक्तोपि षष्ठोऽग्निर्वाजसने-यानामुक्तया समुच्चीयते। प्राणसंवादे च छान्दोग्योक्ते प्राणचतुष्के पञ्चमो रेतःप्राणोपि वाजिनिर्दिष्टः संगृह्यते। एवं चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैकत्वमेकत्वे च गुणोपसंहारः कर्तव्य इत्युक्तम्। एतत्सूत्रार्थः सर्वाभेदादित्यारभ्य पुनः प्रपञ्चयिष्यते।

। इति विद्याशेषोपसंहाराधिकरणम्।

वेद भी विद्या को एक कहता है।

—"समस्त वेद जिस को स्वीकार करते हैं।"

यह कहते हुए सभी वेदान्तों एक विद्या का उपदेश है।

"इसकी बह्वृच पाठी महान् उक्थ में मीमांसा करते हैं, अध्वर्यु इसको अग्नि में तथा छन्दोगगण इसे महाव्रत में देखते हैं"

इत्यादि वचनों के द्वारा भी एक का ही सर्वत्र वेद्यत्व प्रतिपादित है।

इस प्रकार वेद के भेद से उपदेश के भेद होने पर भी विद्या के एक होने पर आघात नहीं होता, अतः समान विज्ञान में अन्य वेद में कहे गये उस विज्ञान से सम्बन्धित अधिक गुणों का अन्य वेद में कहे गये विज्ञान में भी उपसंहार किया जा सकता है क्योंकि अर्थ में भेद नहीं है दोनों वेदों के संविज्ञान का अर्थ एक हो है। जैसे अग्निहोत्र आदि कर्म कहीं कम गुण वाले कहीं अधिक गुण वाले अन्य अन्य शाखाओं में कहे गए हैं, वहां भी अर्थ में भेद न होने के कारण जो विधि शेष अधिक कहा गया है, वह न्यून गुण वाले में समाहित कर लिया जाता है। वही बात यहां भी समझी जानी चाहिए। अतः नाम, रूप और फल का उपदेश समान होने पर विद्या की एकता को स्वीकार कर लिये जाने पर न्यून गुण वाले में अधिक गुण का उपसंहार होगा। इस न्याय को समझना चाहिए। इसलिए छन्दोगों की पञ्चाग्नि विद्या में न कहा गया भी छठा अग्नि वाजसनेयी गणों की उक्ति के द्वारा गृहीत हो जायगा। तथा छन्दोग्योक्त प्राण संवाद में चार प्राणों में वाजसनेय में निर्दिष्ट पंचम रेत प्राण का भी संग्रह कर लिया जाता है। इसी प्रकार प्रेरणा आदि में भेद न होने के कारण विद्या के एक होने से गुणों का संग्रह समझ लेना चाहिए। "उपसंहार" आदि सूत्र के अर्थ का विस्तार "सर्वाभेदात्" से आरम्भ होने वाले प्रकरण में किया जायगा।

यह विद्याशेष के उपसंहार का अधिकरण पूर्ण हुआ।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।३।३।६।

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।३।३।९।

अस्त्युद्गीथविद्या वाजिनां छन्दोगानां च। तत्र कनीयसा देवा ज्यायसा असुरा इत्युभयेप्राजापत्या एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त। तत्र देवा यज्ञे उद्गीथेनासुरानत्ययामेत्युक्त्वा वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांस्यूचुः यूयं न उद्गायतेति। तेभ्यो वागादय उदगायन्। ये वागादिषु भोगास्तान् देवेभ्य आगायन्। यत्कल्याणं वदति, जिघ्रति, पश्यति, शृणोति, संकल्पयति वा तदात्मने। अथासुरा विदुरेनैवं न उद्गातृभिरत्येष्यन्तीति तानभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्।

यदेवेदमप्रतिरूपं वदति जिघ्रति पश्यति शृणोति संकल्पयति वा स एव स पाप्मा । एवं खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन् । एवमेताः पाप्मनाऽविध्यन् । ततो देवा आसन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तेभ्य एष प्राण उदगायत् । तमप्यसुरा अभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन् किन्तु यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेत एवं ते विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुः ततो देवा अभवन् असुराः पराभवन् । य एवं वेद सोऽप्यात्मना भवति द्विषन् भ्रातृव्योस्य पराभवतीति हि वाजिनां विद्यारूपम् ।

वाजासनेयानुयायी और छन्दोगानुयायी गणों में उद्गीथ विद्या है। वहां कहा गया है कि अवस्था में छोटे देवता और बड़े असुर दोनों आपस में स्पर्धा करने लगे । वहां देवों ने कहा कि हम यज्ञ उद्गीथ के द्वारा असुरों पर अधिकार करे यह कह कर उन्होंने वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन से कहा कि तुम उद्गान करो । उनके प्रति वाक् आदि ने उद्गान किया । वाक् आदि के जो भोग हैं उनका देवों के लिए गान किया । जो कल्याण को बोलता है, सूंघता है, देखता है, सुनता है, संकल्पित करता है, वह आत्मा के लिए होता है । अब असुर जान गए कि इन उद्गाताओं से देव गण हमारा अतिक्रमण करेंगे । उन्होंने जाकर उसे पाप से विद्ध किया । इस प्रकार ये देवता पाप से मुक्त हुए । इस प्रकार ये पाप से विद्ध हुए । जो भी कुछ यहां अयथार्थ बोलता है, सूंघता है, देखता है, सुनता है, संकल्प करता है वह पाप है। इस प्रकार ये देवता पाप से उपसृष्ट हुए । ये पाप से विद्ध हुए । उसके अनन्तर देवों ने समीपस्थ प्राण से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो। उनके लिए इन प्राणों ने उद्गान किया । उसको भी असुरों ने शीघ्र पहुचकर पाप से विद्ध किया, किन्तु जैसे पत्थर को लकड़ी मारती है और वह स्वयं नष्ट हो जाती है, वैसे ही ये सारे असुर विनष्ट हो गए । तब देवताओं की विजय हुई और असुर पराभूत हुए । जो इस प्रकार जानता है, वह विजयी होता है और इसका द्वेषीभ्रातृव्य पराभूत होता है । यह वाजसनेयी में पठित उद्गीथ विद्या का प्रकरण है ।

छन्दोगानां तु—

देवासुरा उभये प्राजापत्याः संयेतिरे । तत्र देवा उद्गीथमाहृरनेनैनानभिभविष्याम इति । ते नासिक्यप्राणं वाचं चक्षुः श्रोत्रं मनश्चोद्गीथमुपासांचक्रिरे । तानसुराः पाप्मना विविधुः ।

तेन सुरभि च दुर्गन्धि चोभयं जिघ्रति सत्यं चानृतं चोभयं वदति । दर्शनीयं चादर्शनीयं चोभयं पश्यति । श्रव्यं चाश्रव्यं चोभयं शृणोति । संकल्प्यं चासंकल्प्यं चोभय

संकल्पयते। पाप्मना ह्येतानि विद्धानि। ततो मुख्यप्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत् एवं हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति। स एषोऽश्माखणः। अपहतपाप्मा ह्येषः। तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमेवान्ततोऽवित्वोत्क्रामति व्याददात्येव ह्यन्तत इति।

तमङ्गिरश्च बृहस्पतिश्चायास्यश्चोद्गीथमुपासांचक्रिरे। इति विद्यारूपं भवति।

छान्दोग्य का उद्गीथ विद्या का प्रकरण इस प्रकार है।

देव और असुर दोनों प्राजापत्य एकत्र हुए। वहां देवताओं ने उद्गीथ के प्रति कहा कि हम इससे असुरों का अभिभव करेंगे। उन्होंने नासिका प्राण, वाक् चक्षु, श्रोत्र और मन से उद्गीथ को उपासना की, उन्हें असुरों ने पाप से विद्ध किया। उससे सुगन्धित और दुर्गन्ध दोनों को सूंघता है, सत्य और मिथ्या दोनों बोलता है, दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को देखता है। श्रव्य और अश्रव्य दोनों को सुनता है। संकल्प के योग्य और उसके अयोग्य दोनों का संकल्प करता है, क्योंकि ये सब पाप से विद्ध हुए। उसके अनन्तर देवों ने मुख्य प्राण से उद्गीथ की उपासना की। उसको जाकर असुरों ने वैसे ही विद्ध किया जैसे पत्थर पर लकड़ी प्रहार करे। जो ऐसे ज्ञान वाले पर पाप से आक्रमण करता है, वह असफल होता है। क्योंकि यह पाप से दूर है। उससे जो अपान करता है, जो पान करता है, वह इतर प्राणों की रक्षा करता है। उसकी रक्षा करके ही अन्ततः आक्रमण करता है। अन्ततः यह ग्रहण करता है। अङ्गिरा और बृहस्पति ने उद्गीथ की उपासना की। यह उद्गीथ विद्या का रूप है।

तत्र संशय्यते—

एकविद्यं वा नानाविद्यं वेति। तत्र विदिधात्वर्थगतचोदनायाः शत्रुपरिभवरूप-फलसंयोगस्य उद्गीथद्वारकदेवविजयासुरपराभवात्मकविद्यारूपस्य, उद्गीथविद्यानाम्नश्चाविशेषात् पूर्वाधिकारन्यायेनैकविद्यं प्राप्नोति। तत्रेदमाशङ्क्यते—

इह हि रूपान्यथात्वं वा शब्दात् प्रतीयते वाजिनां तावत् त्वं न उद्गायेति तेभ्यः प्राण उदगायदित्येव प्राणकर्तृकोद्गानादसुरे पराभवः प्रोक्तः छन्दोगानां तु मुख्यप्राण-मुद्गीथमुपासांचक्रिरे इतिप्राणकमकोपासनाधर्म्मादसुरपराभवः प्रोच्यते। तदित्थं श्रुति-शब्दादेवान्यथात्व प्राप्नोति न तु ताद्रूप्यमिति चेन्न। एवमप्यविशेषान्न विद्यैकत्वं व्याहन्यते। अविशेषेण ह्युभयत्रोपक्रमे।

—"असुरान् यज्ञे उद्गीथेनात्ययामेति, अनेनैतानभिभविष्याम इति चोद्गीथेनैवा-सुरपराभव उपक्रान्तः। मुख्यप्राणपरिग्रहणादेव चासुरपराभवोऽन्ते निर्णीत इत्युपक्रमोप-संहारयोरविशेषादेकविद्यं प्रतिपद्यामहे।

अथ सिद्धान्तमाह । न वा विद्यैकत्वमत्रान्याय्यम् प्रकरणभेदात् । छान्दोग्येतावत् ओमित्येतदक्षरमुदगीथमुपासीतेत्येवमुद्गीथावयवस्योंकारस्योपासनामुपक्रम्य तद्विषयतयैव देवासुराख्यायिक द्वारा तं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे इत्याह् । तत्र प्राणमुद्गीथमिति सामानाधिकरण्योक्तावपि उपक्रमानुरोधेनावयवे ओंकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते । तेनैत-मुद्गीथावयवप्रणवोपासनं विज्ञायते ।

वाजसनेयके त्ववयवग्रहणकारणाभावादुद्गीथस्य सकलैव भक्तिः प्राणत्वेन निरूप्यते इतिकृत्स्नोद्गीथविषयमधीयते तस्मादेतत प्रस्थानान्तरंभवति । प्राणमुद्गीथमिति उद्गीथसामानाधिकरण्यं तूद्गातृतयैव दिदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थ-मिति न ततो विद्यैकत्वं सिध्यति । प्रकरणभेदाद् विधेयभेदेन रूपभेदाद् परोवरीयस्त्वा-दिवत् । यथा परमात्मदृष्टयध्याससाम्येपि आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायण स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः"—

इति परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यगतहिरण्यश्मश्रुत्वादि-गुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिद्यते । एवमिहाप्युपक्रमभेदाद् विद्याभेद इति सिद्धान्तः ।

यहाँ सन्देह होता है कि यह एक विद्या है या अनेक विद्याएं हैं । वहां विद धातु में प्रेरणा के शत्रु पराभव रूप फल संयोग के, उद्गीथ के द्वारा देवताओं के विजय और असुरों का पराभव जो विद्या का रूप है उसके साथ उद्गीथ विद्या के उपदेश का अभेद है, अतः पूर्व अधिकार के न्याय से एक ही विद्या का होना प्राप्त होता है । वहां यह शङ्का होती है कि यहां विद्या के रूप में अन्यथाभाव 'वा' शब्द से प्रतीत होता है । वाजसनेय में—

"तुम हमारे लिए उद्गान करो

उनके लिए प्राणने उद्गान किया, इस प्रकार प्राण के किये हुए उदगान से असुरों का पराभव बतलाया गया । छन्दोगों के पाठ में कहा गया कि मुख्य प्राण उद्गीथ की उपासना की । इस प्रकार प्राणकर्मक उपासना धर्म से असुरों का पराभव बतलाया गया । इस प्रकार श्रुति के शब्दों से ही अन्यथा भावकी प्राप्ति होती है, न कि एक रूपता सिद्ध होती है, यह शंका नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार भी भेद न होने से विद्या के एकत्व की हानि नहीं होती । दोनों के उपक्रम में समानता है ।

'असुरों का यज्ञ में उद्गीथ से अतिक्रमण करें, इससे इनका पराभव करेंगे'

इस प्रकार उद्गीथ से ही असुरों के पराभव का उपक्रम हुआ है । और अन्त में मुख्य प्राण का परिग्रह करके ही असुरों के पराभव का निर्णय किया गया है, अतः उप-क्रम और उपसंहार में समानता के कारण एक विद्या है ऐसा ही हम समझते हैं । अब

सिद्धान्त बतलाते हैं कि यहां एक विद्या नहीं है क्योंकि प्रकरण का भेद है। छान्दोग्य में 'ओम' इस अक्षर उद्‌गीथ की उपासना करें। इस प्रकार उद्‌गीथ के अवयव ओंकार की उपासना का उपक्रम करके उसके विषय के रूप में ही देवासुरों की आख्यायिका के द्वारा उस प्राण उद्‌गीथ की उपासना की, ऐसा कहा है। वहां प्राण उद्‌गीथ को एक ही बतलाकर भी उपक्रम के अनुरोध अवयव ओंकार में प्राण की दृष्टि का उपदेश है। इससे यह उद्‌गीथ के अवयव ओंकार की उपासना ज्ञात होती है। वाजसनेय पाठ में तो अवयव रूप ओंकार के ग्रहण करने का कोई कारण न होने से समस्त उद्‌गीथ की भक्ति का ही प्राणत्वेन निरूपण हुआ है, इसलिए समस्त उद्‌गीथ विषय का अध्ययन होता है, इसलिए यह प्रस्थान भेद होता है। प्राणका उद्‌गीथ के साथ जो एकत्व या सामानाधिकरण्य है वह तो उद्‌गाता के रूप कहने के लिए। अभीष्ट प्राण ही सर्वात्मा है यह प्रतिपादन करने के लिए है, इससे विद्या का एक होना सिद्ध नहीं होता। प्रकरण के भेद से विधेय में भेद होता है। जैसे रूप के भेद परीवरीयस्त्व आदि में भेद हो जाता है। जैसे परमात्मा की दृष्टि में अध्यासकी समानता होने पर भी।

"आकाश इन सबसे बड़ा है, आकाश परायण है, वह परोवर उद्‌गीथ है, वह अनन्त है"

यहां परोवरीयस्त्व आदि गुण से विशिष्ट उद्‌गीथ की उपासना नेत्र में आदित्य में हिरण्यश्मश्रुत्व आदि गुणविशिष्ट उद्‌गीथ की उपासना से भिन्न है। इसी प्रकार यहां भी उपक्रम के भेद से विद्या में भेद है, यह सिद्धान्त है।

ननूभयोरपि विद्ययोरुद्‌गीथविद्येत्येका संज्ञा भवति। संज्ञैकत्वाच्च विद्यैकत्वं न्याय्यमिति चेत् तदुक्तं नानाविद्यं न वा प्रकरणभेदादिति"—

प्रकरणभेदाच्च विद्याभेदे सिद्धे संज्ञातो विद्यैक्यं नोपपद्यते।

अस्तु तु तदपि संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्‌गीथविद्येति। तस्माद्रूपसंज्ञयो रूपस्य प्राबल्यात्तदनुरोधेन विद्याभेदे सिद्धे संज्ञैकत्वमप्रयोजकं बोध्यम्। अत एव संवर्गविद्यापरिमरविद्ययोः संज्ञाभेदेपि रूपैक्याद्विद्यैक्यमिच्छन्ति केचित्। रामानुजस्त्विदं सूत्रमित्थं व्याचष्टे। समानसंज्ञातस्तद्विद्यैक्यमुक्तं चेत् तदपि संज्ञैक्यं छान्दोग्ये प्रथमपाठकोक्तासु बह्वीषु भिन्नास्वपि विद्यासूद्‌गीथविद्येत्येवमस्ति किन्तु न ततस्तासु विद्यैक्यमध्यवसीयते तद्वदिहापि विद्याभेदो द्रष्टव्य इति।

इत्थं विद्यैक्यं विद्याभेदो वेति विरुद्धे मतद्वये व्याप्तिदर्शनाद्धेतोः समञ्जसं च पश्यामः। तथाहि छान्दोग्ये तावत्—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेति प्रणवोद्गीथोपासनविज्ञानं भिन्नभिन्नासूद्गीथ-प्रसङ्गादभिव्याप्नोतीति दर्शयितुमादौ प्रणवोद्गीथोपासनं प्रस्तुत्य नानाविधा उद्गीथ-विद्यास्तत्र संगृह्य पठ्यन्ते । तथा च तत्र प्रणवोद्गीथोपासननविद्या एव प्रस्तुतत्वात् तस्याश्च पञ्चखण्डान्यावदभिव्याप्तेस्तन्मध्यपतितया द्वितीयखण्डात्मिकयाल्पीयस्योद्गीथ-विद्यया नैक्यं संभवति । ततो विद्याभेदः संप्रतिपन्नः । किन्तु "देवासुरा ह वै यत्रेत्यारभ्य --

यावतीयं द्वितीयखण्डात्मिकोद्गीथविद्या निर्दिश्यते तस्या वाजसनेयाद्युक्तयोद्गीथ-विद्यया भेदो नास्तीति विद्यैक्यं संप्रतिपन्नम् । तस्मादुभयसमञ्जसम् ।

। इति विद्यान्तर्गतविद्यायां भेदाभेदसामञ्जस्याधिकरणम् ।

पुनः प्रश्न होता है कि दोनों ही प्रकरणों में उक्त विद्याओं की उद्गीथ विद्या यही एक संज्ञा कही गई है । एक संज्ञा होने से दोनों को एक ही विद्या समझना चाहिए तो यह प्रश्न नहीं उठता । नाना विद्याएं हैं क्योंकि प्रकरण का भेद है । प्रकरण के भेद से जब विद्या में भेद सिद्ध हो गया तो सज्ञा के एक होने के कारण विद्या का ऐक्य नहीं हो सकता । प्रसिद्ध भेदों में भी संज्ञा में एकता है, जसे परोवरीयस्त्व आदि उपासना में भी उद्गीथ—विद्या यह संज्ञा है । इसलिए रूप और संज्ञा में रूप की प्रबलता के कारण उसके अनुरोध से जब विद्या में भेद सिद्ध हो गया तब सज्ञा को एकता होने पर अभेद नहीं रहा । इसलिए सवर्ग–विद्या और परिमर–विद्या में संज्ञा भेद होने पर भी रूप की एकता के कारण कोई आचार्य विद्या में भी एकता का होना मानते हैं । श्रीरामानुज तो इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि समान संज्ञा के कारण उन विद्याओं में यदि एकत्व माना जायगा तो वह संज्ञा को एकता छान्दोग्य में प्रथम पाठक में कही गई बहुत सी भिन्न विद्याओ में भी उद्गीथ विद्या इस संज्ञा से है, किन्तु इससे उन विद्याओं में एक विद्या का निश्चय किया जाता है। वैसे ही यहां भी विद्या में भेद समझना चाहिए ।

इस प्रकार दोनों विद्याओं में एकता है या भेद है इन दो मतों में व्याप्ति के दिखाई देने से सामञ्जस्य हमें दिखाई देता है । जैसे कि छान्दोग्य में 'ओं' इस अक्षर उद्-गीथ की उपासना करें" यह प्रणव उद्गीथ उपासना का विज्ञान भिन्न-भिन्न विद्याओं में उद्गीथ के प्रसंग से अभिव्याप्त है यह दिखाने के लिए प्रारम्भ में प्रणव उद्गीथ की उपासना को प्रस्तुत करके अनेक विध उद्गीथ विद्याएं वहां सग्रहोत करके पढ़ी जाती हैं । इस प्रकार वहां प्रणव उद्गीथ उपासना का ही प्रसंग होने से और उसके पांच खण्डों तक अभिव्याप्य होने से उसके मध्य आजाने के कारण द्वितीय खण्ड में आई छोटीसी उद्-गीथ विद्या से एकत्व नहीं हो सकता । इसलिए विद्या भेद स्वीकार किया गया । किन्तु—

"देवता और असुरों" का प्रकरण आरम्भ करके जितनी यह द्वितीय खण्ड वाली उद्गीथ विद्या निर्दिष्ट है उसका वाजसनेय आदि में उक्त उद्गीथ विद्या से भेद नहीं है इसलिए विद्या की एकता बन जाती है, इसलिए दोनों में सामञ्जस्य है।

इस प्रकार विद्यान्तर्गत विद्या में भेदाभेद के सामञ्जस्य का अधिकरण हुआ।

रामानुजस्तु व्याप्तेश्च समञ्जसमिति सूत्रमन्यथा व्याचष्टे—

तथाहि छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तरास्वप्युद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्य व्याप्तेर्हेतोस्तत्प्रकरणपठितस्य—

—"तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरित्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समञ्जसं भवति।

अवयवे च समुदायशब्दस्य पटो दग्ध इत्यादिषु दर्शनादुद्गीथावयवेऽप्युद्गीथशब्द-प्रयोगसंभवाच्छान्दोग्ये उदगीथशब्देन गृहीतप्रणव एव प्राणदृष्टचोपास्यतया निर्दिश्यते। वाजसनेयके तु कृत्स्नोद्गीथकर्तोद्गाता प्राणदृष्टचोपास्य इति विद्यानानात्वं सिद्धम्।

। इति विद्यान्तर्गतविद्यायां रूपाद्यैक्येपि विद्यानानात्वाधिकरणं शंकररामानुजादीनाम्।

श्रीरामानुज तो

"व्याप्तेश्च समञ्जसम्"

इस सूत्र की व्याख्या अन्यथा रूप से करते हैं। जैसे कि छान्दोग्य में प्रथम प्रपाठक में उत्तर उद्गीथ विद्याओं में उद्गीथ के अवयव प्रथमतया प्रस्तुत प्रणव की व्याप्ति के कारण उस प्रकरण में पठित—

"वहां देवों ने उद्गीथ का आवाहन किया"

यहां उद्गीथ शब्द का अर्थ प्रणव ही है यह समञ्जस होता है। समुदाय शब्द का अवयव में भी प्रयोग होता है, जैसे कपड़े के अंश के जल जाने पर कपड़ा जल गया, कहा जाता है, उसी प्रकार उद्गीथ के अवयव में भी उद्गीथ शब्द का प्रयोग किया जाना संभव होने के कारण छान्दोग्य में उद्गीथ शब्द से गृहीत प्रणव ही प्राण की दृष्टि से उपास्य के रूप में निर्दिष्ट होता है। वाजसनेय में तो सम्पूर्ण उद्गीथ कर्त्ता उद्गाता प्राण की दृष्टि से उपास्य होता है, यह विद्या की अनेकता सिद्ध होतीं है।

इस प्रकार विद्या के अन्तर्गत विद्या के निरूपण रूप आदि की एकता होने पर भी विद्या भेद के प्रतिपादन का अधिकरण श्री शंकराचार्य श्री रामानुजाचार्य आदि के मत से पूर्ण हुआ।

शंकरस्त्वनेन सूत्रेण अधिकरणान्तरमपेक्षते तथाहि –

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ इति श्रुतावक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्यश्रवणात् तत्र चत्वारः पक्षाः प्रतिभासन्ते अध्यासो वापवादो वैकत्वं वा विशेषणं वा। बुद्धिपूर्वका-भेदारोपोध्यासः। तत्र हि द्वयोर्वस्तुनोः स्वस्वबुद्धावनिर्वर्तितायामेवान्यत्रान्यबुद्धिरनुवर्त्यते।

अथ चैत्रो मम हस्त इत्यत्र चैत्रे हस्तबुद्धिः क्रियते न तु हस्तबुद्धया चैत्रे बुद्धि-निवर्त्यते। एवमिहाप्यक्षरे उद्गीथबुद्धिरध्यस्यते उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरित्येकः पक्षः।

अथ बाधोऽपवादः। तत्र हि मिथ्याबुद्धयाऽन्यथाप्रतीते क्वचिद्वस्तुनि पश्चादु-पजातया यथार्थबुद्ध्या पूर्वस्या मिथ्याबुद्धेर्निवृत्तिः क्रियते। यथा सर्पत्वेन गृहीतायां रज्जौ पश्चादुपजातया रज्जुबुद्धया सर्पबुद्धिनिवृत्तिः। एवमिहाप्यक्षरबुद्धयोद्गीथबुद्धिरपोद्यते उद्गीथबुद्धयाक्षरबुद्धिर्वा इति द्वितीयः पक्षः।

अथैकत्वं वास्तवाभेदः। तत्र द्वयोः शब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वं विवक्ष्यते। यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति एवमिहाप्यक्षरोद्गीथशब्दयोरैकार्थ्यम् इति तृतीयपक्षः।

अथ विशेषणं व्यावर्तकम्। तत्र हि समुदायदृष्टस्य व्यापकार्थस्य विशेषणेनेतर-वारणमर्य्यादया तदेकदेशे व्याप्ये उपरोधः क्रियते। यथा नीलमुत्पलमिति नीलपीतादि सर्ववर्णसाधारणोत्पलशब्दः पीतादिव्यावृत्मा नीलमात्रे विश्राम्यते –

एवमिहापि सर्ववेदव्यापिनः प्रणवस्योद्गात्रविषयमात्रे पर्य्यवसानं क्रियते—

उद्गीथो य ओंकारस्तमुपासीतेति चतुर्थपक्षः।

तदित्थं चतुर्ष्वपि पक्षेष्वनिर्धारणप्रस्ताविदं निर्धार्य्यते–व्याप्तेश्च समञ्जसमिति ओमित्येतदक्षरस्य व्याप्तेः सर्ववेदव्यापकार्थत्वात् सर्वविधस्य ग्रहणप्रसङ्गे विवक्षितस्योद्-गात्रविषयस्यैव ग्रहणार्थमुद्गीथमित्येतद् विशेषणं समञ्जसं भवति। अत्र ब्रूमः –

नेदं शंकरव्याख्यानमतीव समञ्जसं भवति। सूत्राक्षरस्वारस्येन तादृशार्थस्याप्रति-पत्तेः विद्यैक्यानैक्यविचारप्रसंगे तादृशार्थविचारस्याप्रासङ्गिकत्वाच्च।

इत्युद्गीथाक्षरोपासनाधिकरणम् ॥शङ्करमतेन॥

उद्गीथ उपासना, शंकर मत में

श्री शंकराचार्य तो इस सूत्र के द्वारा दूसरा अधिकरण मानते हैं। जैसे कि -

"ओम्' यह उद्‌गीथ अक्षर"

इस श्रुति में अक्षर और उद्‌गीथ शब्दों के एक ही अधिकरण में श्रवण होने से वहां चार पक्ष उपस्थित होते हैं, अध्यास या अपवाद या एकत्व या विशेषण। दो पृथक् वस्तुओं में बुद्धिपूर्वक अभेद का आरोप करना अध्यास कहलाता है। वहां दो वस्तुओं में अपनी-अपनी बुद्धि न हटने पर ही अन्य में अन्य की बुद्धि होती है। जैसे कहा जाय कि–

'चैत्र मेरा हाथ है"

यहां चैत्र में हाथ की बुद्धि की जाती है, न कि हाथ की बुद्धि से चैत्र की बुद्धि हटाई जाती है। इसी प्रकार यहां भी अक्षर में उद्‌गीथ की बुद्धि का अध्यास होता है, अथवा उद्‌गीथ में अक्षर की बुद्धि का अध्यास होता है। यह एक पक्ष हुआ।

अपवाद का अर्थ होता है बाध। वहां किसी वस्तु में मिथ्या बुद्धि से यदि अन्य वस्तु की प्रतीति हो गई हो तो अनन्तर होने वाली यथार्थ बुद्धि से मिथ्या बुद्धि की निवृत्ति की जाती है। जैसे रस्सी को प्रारम्भ में यदि सर्प समझ लिया तो अनन्तर होने वाले रस्सी के ज्ञान से सर्प का ज्ञान हट जाता है। इसी प्रकार यहां भी अक्षर बुद्धि के द्वारा उद्‌गीथ की बुद्धि हटा दी जाती है अथवा उद्‌गीथ की बुद्धि से अक्षर बुद्धि हटा दी जाती है। यह दूसरा पक्ष हुआ।

अब एकत्व का पक्ष जो आता है वहां एकत्व का अर्थ है वास्तविक अभेद वहां दो शब्दों का अर्थ किसी भी अंश में अतिरिक्त नहीं है यह अभीष्ट होता है। जैसे–द्विजोत्तम, ब्राह्मण, भूमिदेव। इसी प्रकार यहां भी अक्षर और उद्‌गीथ शब्दों का अर्थ एक ही है। यह तीसरा पक्ष हुआ।

विशेषण व्यावर्तक अर्थात् पृथक् करने वाला होता है। वहां समुदाय में दिखाई देने वाले व्यापक अर्थ का विशेषण के द्वारा अन्य से हटाने की मर्यादा से एक देश व्याप्य में सीमा बन्धन किया जाता है। जैसे 'नील उत्पल' इस प्रयोग में नील पीत आदि सभी रंगों में मिलने वाले उत्पल (कमल) को नील इस विशेषण के द्वारा नीले रंग में पीले आदि को हटा कर स्थापित किया जाता है। इसी प्रकार समस्त वेद में व्याप्त प्रणव का उद्‌गाता के विषय मात्र में पर्यवसान किया जाता है,

"उद्‌गीथ जो ओंकार है उसकी उपासना करे",

यह चतुर्थ पक्ष है।

इस प्रकार चारों पक्षों में जब कहां निर्धारण हो यह निश्चय नहीं होता तब कहा जाता है कि—

"व्याप्ति से समञ्जस है"।

'ओम्' इस अक्षर के अर्थ की समस्त वेद में व्यापकता के कारण सर्वविध 'ओंकार' के ग्रहण की प्राप्ति होने पर जब सभी के ग्रहण का प्रसङ्ग आता है तब विवक्षित उद्गाता के विषय का ही ग्रहण करने के लिए उद्गीथ को विशेषण मानने पर ही समञ्जसता बनती है। यहां हमारा विचार है कि श्री शंकराचार्य का यह व्याख्यान श्रुति सामञ्जस्य वाला नहीं है। क्योंकि सूत्रों के अक्षरों पर दृष्टि डालने सेवैसे अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। पुनश्च विद्या के ऐक्य या भिन्नता के विचार के प्रसंग में इस प्रकार के अर्थ का विचार अप्रासंगिक भी है।

।। श्री शंकराचार्य के मत से उद्गीथ अक्षरोपासना का अधिकरण पूर्ण ।।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे

छान्दोग्ये वाजसनेयके कौषीतकीये च प्राणसंवादविद्या श्रूयते। तथाहि—

"प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च। वाग् वसिष्ठा। चक्षुः प्रतिष्ठा। श्रोत्रं संपत्। मन आयतनम्। अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूचिरेऽहं श्रेयानहं श्रेयानिति। ते प्रजापतिं पितरमुचुः भगवन् को नः श्रेष्ठ इति। स उवाच। यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ततो वाचि तावदुत्क्रान्तायाम्—

अवदन्तोऽपि तेऽकला अजीवन्। अविशेषतो वाक्। अथ चक्षुषि श्रोत्रे मनसि च क्रमेणोत्क्रान्तेऽन्धा बधिरा बालाश्च तेऽजीवन्। ततस्ते पुनः प्रविविशुः। अथ प्राण उत्क्रान्तुमिच्छन् यथा सुहयः पाड्वीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् संबबर्ह। ततस्ते तमूचुः।

त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति। या वाग् वसिष्ठा त्वं तद्वसिष्ठोसि। यच्चक्षुः प्रतिष्ठा, त्वं तत्प्रतिष्ठासि। यच्छ्रोत्रं संपत् त्वं तत्संपदसि। यन्मन आयतनं त्वं तदायतनमसीति : वाक् चक्षुःश्रोत्रमनांस्यपि प्राणा इत्येवाचक्षते। प्राणो ह्येवतानि सर्वाणि भवन्तीति छान्दोग्ये (५।१)।

वाजसनेयकेऽप्येवं सर्वं किन्तु रेतः प्रजापतिरप्यत्र षष्ठः प्राण आख्यातः। तस्मिंश्चोत्क्रान्ते क्लीबा अप्रजायमाना अजीवन्निति होवाच (६।१।)

कौषीतकीये तु—

अथातो निःश्रेयसादानम्। एता देवता अहंश्रेयसे विविदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुः। तद्दारुभूतं शिश्ये। अथैतद्वाक्चक्षुःश्रोत्रं मनश्च प्रविविशुः तद्वदत्पश्यच्छृण्वद्ध्याय-

च्छ्रिश्य एव। अथैतत् प्राणः प्रविवेश तत तत् समुत्तस्थौ। तद्देवाः प्राणे निःश्रेयसं विचिन्त्य प्राणमेव तत्प्रज्ञात्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः। ते वायुप्रतिष्ठाकाशात्मनः स्वर्ययुः (२।१४)।

इत्येवमियं प्राणसंवाद विद्याम्नायते। तथा च न्यूनाधिकभावेनाख्यानात् रूपभेदात् संशयो भवति। किमियं विद्या भिद्यते न वेति। तत्रेदमुच्यते नात्र विद्याभेदः कल्प्यः। किन्तु सर्वाभेदादन्यत्र इमेऽनुक्ता गुणा उपसंहार्य्या इति। प्रतिज्ञातप्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यौपपादनप्रकारस्य सर्वस्य सर्वत्रैकरूप्यादैकविद्ये प्रतिपन्ने सत्यन्यत्रोक्ता इमेऽधिकगुणा अन्यत्रापि नेयाः स्युः। तथा च छान्दोग्येपि रेतसः प्रजापतः प्रवेशः कार्य्यः। कौषीतकीयेऽपि वसिष्ठत्वादयो वागादिगुणा भाव्यास्ते प्राणे प्रत्यर्पणीयाश्च। तदित्थमेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्रैवोच्यमानाः सर्वत्राप्युपनेया इति सिद्धम्।

इत्थं शङ्करादयः सूत्रमेतद् व्याचक्षते। तन्न साधु प्रतीमः। एतद्व्याख्यानस्य—

"उपसहारोऽर्थाभेदादिति सूत्रेण गतार्थत्वादेतत्सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न हि भगवान् कृतधीराचार्य्यः सूत्रद्वयमेकार्थं वृथा ब्रूयात्। तस्माच्चिन्त्यमेतत्।

। इति गुणोपसंहाराधिकरणम् शंकरादिमतेन।

गुणोपसंहाराधिकरण

छान्दोग्य, बाजसनेय, तथा कौषीतकि उपनिषद में प्राण संवाद विद्या सुनी जाती है। वहां—

"प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। वाग् वसिष्ठा है, चक्षु प्रतिष्ठा है, श्रोत्र संपत्ति है, मन आयतन है, इन पृथक् पृथक् प्राणों में अपने को बड़ा मानने का विवाद हुआ कि—मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं।"

वे अपने पिता प्रजापति से बोले कि-भगवन् हममें कौन श्रेष्ठ है। उसने कहा कि तुम में से जिसके निकल जाने पर शरीर अधिक पापमय दिखाई दे वही तुममें श्रेष्ठ है। तब वाणी ने शरीर को छोड़कर उत्क्रमण किया। तब शेष प्राण बिना बोले भी शरीर में सुखपूर्वक रहे। तब चक्षु, श्रोत्र और मन के क्रम से उत्क्रमण करने पर वे अन्ध, बहिरे और बालक होकर जीवित रहे। तब उन्होंने शरीर में पुनः प्रवेश किया। जब प्राण ने शरीर से बाहर उत्क्रमण की इच्छा की तो उसने अन्य सभी प्राणों को समेटा। तब सभी

ने उससे कहा कि तुम्हीं हम सब में श्रेष्ठ हो, तुम शरीर के बाहर उत्क्रमण न करो। जो वाक वसिष्ठा है, वह तुम्हीं वसिष्ठ हो। जो चक्षु प्रतिष्ठा है, तुम्हीं प्रतिष्ठा हो। जो श्रोत्र सम्पत्ति है, वह तुम्हीं सम्पत्ति हो जो मन आयतन है, वह तुम्हीं आयतन हो। वाक् चक्षु, श्रोत्र, मन ये सभी प्राण ही कहे जाते हैं। प्राण ही ये सब होते हैं। यह विषय छान्दोग्य (५।१) तथा वाजसनेय में भी है। किन्तु रेत प्रजापति को भी वहां छठा प्राण बतलाया गया है। उसके उत्क्रान्त होने पर समस्त प्राण नपुंसक, उत्पन्न न करने वाले होकर जीवित रहे ऐसा कहा (६।१) कौषीतकीय में तो कहा गया है–

"अब निःश्रेयस बतलाया जाता है, ये देवता,

"मैं इस विवाद में पड़कर इस शरीर से बाहर हुए। वह शरीर लकड़ी के समान हो गया। तब इस शरीर में वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन ने प्रवेश किया। तब वह बोलते हुए, देखते हुए, सुनते हुए, ध्यान करते हुए सोता ही रहा। अब इसमें प्राण ने प्रवेश किया तब वह उठ खड़ा हुआ। तब देवताओं ने प्राण में निःश्रेयस का विचार करके प्राण की ही प्रज्ञात्मा के रूप में स्तुति करके इन सभी के साथ इस लोक से उत्क्रमण किया। वे वायु, प्रतिष्ठा, आकाशात्मा स्वर्ग गए (२।१४)।

इस प्रकार यह प्राण संवाद विद्या बतलाई गई है। इस प्रकार न्यून अधिक भाव से वर्णित होने से रूप भेद हो जाने के कारण सन्देह होता है कि यह विद्या भिन्न है या नहीं। वहां यह कहा जाता है कि यहां विद्या भेद की कल्पना नहीं करनी चाहिये। किन्तु सब के अभेद से अन्यत्र नहीं कहे गए इन गुणों का संग्रह कर लेना चाहिए। प्रतिज्ञात जो प्राण की ज्येष्ठता ओर श्रेष्ठता के कथन की शैली है उसमें सर्वत्र एक रूपता होने से एक ही विद्या के निश्चय होने पर अन्यत्र कहे गये, ये जो अधिक गुण हैं उनको अन्यत्र भी ग्रहण कर लेना चाहिए। जैसे कि छान्दोग्य में भी रेत प्रजापति का प्रवेश करना चाहिए। कौषीतकीय में भी वसिष्ठत्व आदि, जो वाक् आदि के गुण हैं, उनकी भावना करनी चाहिए और उनका प्राण में प्रत्यर्पण करना चाहिए। इस प्रकार एक प्रधान से सम्बद्ध जो धर्म एक ही स्थान पर कहे गए हैं उन्हें सर्वत्र समझ लेना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार श्री शंकराचार्य आदि इस सूत्र की व्याख्या करते हैं। उसे हम ठीक नहीं समझते। क्योंकि इस व्याख्या की "उपसंहारेऽर्थभेदात्" इस सूत्र से गतार्थता होने के कारण प्रस्तुत सूत्र के निर्माण की व्यर्थता होगी, कृतधी भगवान् आचार्य एक ही अर्थ के लिये दो सूत्रों का निर्माण नहीं कर सकते। इसलिए यह व्याख्यान चिन्त्य हैं।

। इस प्रकार श्री शंकराचार्य के मत से गुणों के उपसंहार का अधिकरण पूर्ण हुआ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ।३।३।११।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।३।३।१२।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ।३।३।१३।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।३।३।१४।

आत्मशब्दाच्च ।३।३।१५।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३।३।१६।

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ।३।३।१७।

रामानुजानुसारेणादौ व्याख्यायते । सर्वाभेदादिति पूर्वसूत्रतोऽभेदादित्यनुवर्तते । प्रधानस्य गुणिनो ब्रह्मणः सर्वेषूपासनेष्वभिन्नत्वादानन्दादयो ब्रह्मस्वरूपेण एकत्रोपदिष्टा अन्यत्रापि सर्वासु विद्यासु ब्रह्मगुणतयोपसंहर्तव्याः । ननु तर्हि तस्यानन्दस्य धर्माः प्रियशिरस्त्वादयोऽपि सर्वत्र ब्रह्मगुणतया प्रसज्येरन् इति चेन्न । प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मण्यप्राप्तिः, तेषां ब्रह्मणः पुरुषविधत्वरूपणमात्रान्तर्गतत्वेन ब्रह्मगुणत्वाभावात् । अन्यथा शिरःपक्षपुच्छाद्यवयवभेदाद् ब्रह्मणोऽप्युपचयापचयौ प्रसज्येयाताम् । यद्यपि भगवद्विग्रहविशेषो नित्योऽभ्युपगम्यते नित्यौ च परमव्योमनिलयेऽस्मिन् भगवद्विग्रहे तदंशभूतव्यूहविभावादिविग्रहप्रवेशनिर्गमावभ्युपगम्येते । तदंशभूतेषु च विग्रहेषु बाल्ययौवनवामनत्वमहीयस्त्वादिकं च दृश्यते तथापि तस्य स्वेच्छायतत्वादविरोधः । ननु प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तावपि कारुण्यगाम्भीर्यौदार्यादयोऽनन्ता ब्रह्मगुणाः सर्वत्र प्रसज्येरन्निति चेन्न इतरे त्वानन्दादयोऽर्थसामान्यात् सर्वत्रानुवर्तन्ते ते हि आनन्दसत्यज्ञानानन्तत्वामलत्वादयो ब्रह्मगुणा अर्थप्रतीत्यनुबन्धित्वादर्थसमाना एव सन्तीत्युपास्यब्रह्मस्वरूपावगमाय सर्वासु विद्यास्वनुवर्तन्ते । ये तु निरूपितस्वरूपस्य ब्रह्मणः कारुण्यादयो गुणाः ब्रह्मनिष्ठतया प्रतिपद्यन्ते ते यत्र श्रुतास्तत्रैव भाव्या न त्वन्यत्रोपसंहार्य्याः । आश्रितधर्म्माणां तेषामर्थसमानत्वाभावात् ।

प्रारम्भ में इन सूत्रों की श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार व्याख्या की जाती है । पहिले के–

–"सर्वाभेदात्"–

इस सूत्र से यहां–

"अभेदात्"–

शब्द की अनुवृत्ति है। गुणवान् जो प्रधान ब्रह्म है, उसकी सारी उपासनाओं में अभिन्नता के कारण आनन्द आदि जो ब्रह्म स्वरूप से एकत्र उपदिष्ट हैं उनका अन्य भी सभी विद्याओं में ब्रह्म के गुण के रूप में संग्रह करना चाहिए। प्रश्न होता है कि तब तो आनन्द के धर्म जो प्रिय और शिर आदि है वे भी ब्रह्म के गुण के रूप में सर्वत्रसंगृही होंगे, तो यह प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि प्रिय शिर आदि की ब्रह्म में प्राप्ति नहीं है। उनका तो ब्रह्म के पुरुष रूप में बखान मात्र के लिए निरुपण के अन्तर्गत होने से, वे ब्रह्म के गुग नहीं है। अन्यथा शिर, पक्ष, पुच्छ आदि अवयवों के भेद से ब्रह्म में भी उपचय और अपचय (घटना, बढ़ना) होने लगेगा यद्यपि भगवान् का विशेष शरीर नित्य माना जाता है और परमाकाश के निलय इस भगवान् के शरीर में उनके अंशभूत व्यूह विभाव आदि विग्रहों का प्रवेश और निर्गमन माना जाता है, और उनके अंशभूत विग्रहों में बाल्य, यौवन, वामनत्व, महत्ता आदि (विशाल आकार) आदि देखे जाते हैं तब भी उनके स्वेच्छायत्त होने से कोई विरोध नहीं आता। पुनः प्रश्न होता है कि प्रिय, शिरस्त्व आदि को न मानने पर भी कारुण्य, गाम्भीर्य, औदार्य आदि अनन्त ब्रह्म के गुण सर्वत्र प्राप्त होंगे तो यह बात भी नहीं है क्योंकि अन्य आनन्द आदि तो अर्थ की समानता के कारण सर्वत्र अनुगत हैं। वे आनन्द, सत्य, ज्ञान, अनन्तत्व अमलत्व आदि ब्रह्म के गुण अर्थ की प्रतीति के साथ हैं अत: वे अर्थ के समान ही हैं अतः उपास्य ब्रह्म के स्वरूप के अवगम के लिये सभी विद्याओं में अनुगत होते हैं। जो निरूपित स्वरूप वाले ब्रह्म कारुण्य आदि गुण ब्रह्मास्थित के रुप में समझे जाते हैं वे केवल वहीं समझने चाहिये, उनका अन्यत्र उपसंग्रह नहीं करना चाहिए। क्योंकि आश्रित धर्म होने के कारण उनका अर्थ में समानत्व नहीं है।

ननु यदि प्रियशिरस्त्वादयो धर्मा ब्रह्मणः पुरुषविधत्वनिरूपणमात्रार्थाः कोशगुणा न ब्रह्मगुणास्तर्हि तथात्वेन ब्रह्मनिरूपणं किमर्थं क्रियते तत्राह —

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्। आध्यानमनुचिन्तनमुपासनम्। न चाध्यानं निर्गुणस्योपपद्यते। तस्मादन्नमयप्राणमयमनोमयक्रमेणास्मिन्नानन्दमये कोशेऽपि कल्पितावयवे चित्तस्थैर्य्यद्वारा तदन्त प्रविष्टे निर्गुणे ब्रह्मणि चित्तावस्थानसिद्धये कोशगुणोपन्यासो ब्रह्मणि क्रियते न त्वन्यप्रयोजनार्थम्। प्रयोजनान्तरानुपपत्तेः। **आत्मशब्दाच्च।** अथोऽन्तर आत्मानन्दमयइत्यात्मशब्देन प्रतिपन्नस्य शिरःपक्षपुच्छादिप्रयोजनं किमपि नास्तीत्यतस्ते आध्यानार्था एव स्युरिति प्रतिपद्यामहे।

नन्वयमात्मशब्दोऽन्नमयप्राणमयादिष्वनात्मस्वपि दृश्यते तथा च कथमात्मविषयत्वं तस्याध्यवसेयमिति चेत् तत्राह—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरादिति। आत्मग्रहणमिहेतरे साम्ये तद्द्रष्टव्यम्-यथेतरत्र-

—"आत्मा वा इदमेक एवाग्रे आसीत्"—

इत्यादिषु परमात्मनो ग्रहणं तथेहाप्यस्तीति गम्यते ।

—"सोऽकामयद् बहु स्यां प्रजायेयेत्यानन्दमयविषयादुत्तरवाक्यात् । पूर्वत्रान्नमय-प्राणमयमनोमयादिष्वनात्म वात्मशब्दान्वयादिहात्मशब्दो नेतरवत्परमात्मवचनः स्यादिति चेत तत्रोच्यते । स्यादेवायं परमात्मवचनोऽवधारणात । पूर्वत्रापि—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इत्यादिना परमात्मैवबु द्धयावधारितः । स एवान्नमयादिष्वन्तरान्तरक्रमेणाक्तार्य्यमाणः सर्वान्तिरेऽस्मिन्नानन्दमये तदन्तराभावाद्वि-श्रान्तः । उत्तरत्र च सोऽकामयतेत्यादिवाक्ये स एव प्रकान्तः परमात्मा परामृश्यते । तस्मात् परमात्मैवायमात्मा स्यात् । तस्याध्यानायैव च प्रियशिरस्त्वादिकल्पनाऽस्तीति वस्तुदृष्टया ब्रह्मणि तेषामप्राप्तिरभ्युपगम्यते । आनन्दत्वादयस्तु धर्म्मास्तत्रोपपद्यन्त एवेति सिद्धम्।

। इति रामानुजमतेन पञ्चकोशविद्यायामात्मस्वरूपधर्म्माश्रितधर्मयोरुपसंहारा-नुपसंहाराविवेकाधिकरणम् ।

प्रश्न होता है कि यदि प्रिय शिरस्त्व आदि धर्म ब्रह्म को पुरुष रूप में समझाने मात्र के उद्देश्य से कोश के गुण हैं. वे जब ब्रह्म के गुण नहीं हैं, तब उनके रूप में ब्रह्म का निरुपण क्यों किया जाता है, इसके उत्तर के रूप मे सूत्र हैं—"आध्यानाय-प्रयोजना भावात्"—आध्यान का अर्थ है अनुचिन्तन या उपासना आध्यान या उपासना निर्गुण को नहीं हो सकती । इसलिए अन्नमय, प्राणमय, मनोमयक्रम से इस आनन्दमय कोश में भी अवयवों की कल्पना करके चित्त की स्थिरता के द्वारा उसके भीतर प्रविष्ट निर्गुण ब्रह्म में चित्त की स्थिरता की सिद्धि के लिए कोश के गुण का कथन ब्रह्म में किया जाता है, जबकि इसका कोई अन्य प्रयोजन है । क्योंकि अन्य कोई प्रयोजन मुक्तिसिद्ध नहीं हैं । आत्म शब्द के कारण भी ऐसा है । "इसके अन्दर आनन्दमय आत्मा है" इस प्रकार आत्मा शब्द से समझे जाने वाले तत्त्व में शिर, पक्ष, पुच्छ आदि को बतलाने का कोई भी प्रयोजन नहीं है । अतः इनका कथन केवल आध्यान या उपासना के लिए ही है, ऐसा हम मानते है ।

प्रश्न होता है कि इस आत्मशब्द का प्रयोग अन्नमय, प्राणमय आदि अनात्माओं में भी होता है तब उसको आत्मा का विषय कैसे स्वीकार किया जाय । उसके उत्तर में सूत्र है—

—"आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्" ।

अर्थात् यहां आत्मा का अन्य की समानता के सन्दर्भ में देखना चाहिये। जैसे अन्यत्र—

"प्रारम्भ में यह आत्मा ही था"

इत्यादि में आत्मा का ग्रहण है वैसे ही यहां भी है यह बोधित होता है। क्योंकि—

"उसने कामना की कि मैं बहुतों में उत्पन्न हो जाऊं।'

इस उत्तर वाक्य में आनन्दमय का विषय है। पहिले अन्नमय, प्राणमय मनोमय आदि अनात्मा में आत्म शब्द का जो अन्वय है इससे यहां आत्मा शब्द अन्यत्र की तरह परमात्मा का वाचक नहीं है यदि यह कहा जाय तो वहां यह उत्तर होगा कि—

'अवधारण के कारण यह आत्मार्थक होगा।"

पूर्व सन्दर्भ में भी—

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ इत्यादि के द्वारा परमात्मा ही बुद्धि से निश्चित होता है। वही अन्नमयादि में एक के अनन्तर दूसरे के क्रम से अवतरित होकर सबके अन्तर में स्थित इस आनन्दमय में किसी अन्य के मध्य में न आने के कारण विश्रान्त होता है।"

"उसने कामना की"

आदि उत्तर वाक्य में उसी प्रकरणागत का परामर्श होता है। इसलिए परमात्मा ही यहां आत्मा शब्द का अर्थ हो सकता है। उसी के ध्यान के लिए यह प्रिय शिरस्त्व आदि की कल्पना होती है इसलिए वास्तविक दृष्टि से उन प्रिय शिरस्त्व आदि की ब्रह्म में प्राप्ति नहीं है यह प्रतीत होता है। आनन्दत्व आदि धर्म तो वहां युक्तियुक्त होते हो है, यह सिद्ध हुआ।

। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य के मत में पञ्चकोश विद्या में आत्मा के स्वरूप धर्म तथा आश्रित धर्मों में उपसंहार और अनुपसंहार अधिकरण हुआ।

रामानुजाद्यनुसारेण सप्तभिः सूत्रैरित्थमैकाधिकरण्यं व्याख्यातम्। शङ्करस्तत्र त्रिभिः सूत्रैरेकं पश्चाद् द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकमेकमित्यधिकरणत्रयमारचयति। तथा हि—

आनन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मकत्वमित्येवंजातीया ब्रह्मधर्मा-भिन्नभिन्नासु श्रुतिषु क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते। ते यावन्तो यत्र श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र भाव्या

उत सर्वं सर्वत्रेति सन्दिह्यते तत्रोच्यते । आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र भाव्याः । सर्वभिदाद्गणोपसंहाराधिकरणन्यायात् । सर्वत्र हि गुणोपदेशे तदेवैकं प्रधानं विशिष्यं ब्रह्म न भिद्यते । नन्वेवं सत्यानन्दमयधर्मतयोक्ताः प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वत्र संकीर्य्येरन् इति चेत् तत्राह—

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्म्माणां तैत्तिरीयकोक्तानामन्यत्र प्राप्तिर्नास्ति । प्रियमोद-प्रमोदानन्दानां परस्परापेक्षया भोक्तृभेदापेक्षया बोपचितापचितरूपत्वात् भेदेऽप्युपचया-पचयौ संभवतो निर्भेदं तु ब्रह्म श्रूयते —

एकमेवाद्वितीयमिति । तस्मात् कोशधर्मा एते प्रियशिरस्त्वादयो न ब्रह्मधर्मा इत्यानन्दमयोऽभ्यासादिति सूत्रे निरूपितम् ।

उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते । न निर्गुणे परस्मिन् ब्रह्मणि । अतएव सत्यकामत्वसंपद्वामत्वादिधर्माणामप्यस्मिन्निर्गुणे निर्विशेषे परब्रह्मण्यप्राप्तिः प्रतिपत्तव्या ।

ननु तर्हि निर्धर्म्मकत्वादस्मिन्नानन्दसत्यज्ञानादयः स्वरूपधर्मा अपि प्रतिषिद्धाः स्युरिति चेन्न । इतरे त्वानन्दादयो धर्माः प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजनः अर्थस्य प्रतिपाद्यब्रह्मणः सर्वत्र प्रतिपद्यन्ते न क्वापि प्रतिषिध्यन्ते ।

। इति शङ्करमतेन स्वरूपेतरधर्माणां परब्रह्मवृत्तित्वप्रतिषेधाधिकरणम् ।

श्रीरामानुजाचार्य आदि के अनुसार सात सूत्रों में यह एक अधिकरण व्याख्यात हुआ । श्री शंकराचार्य यहां तीन सूत्रों से एक अधिकरण बनाते हैं उसके अनन्तर दो दो सूत्रों से फिर एक एक अधिकरण कहते है, इस प्रकार इन सात सूत्रों में तीन अधिकरण की रचना उन्होंने की है । उनका मत है कि आनन्दरूपता, विज्ञानघनता, सर्वगत होना, सर्वात्मक होना, इस प्रकार के ब्रह्म के धर्म भिन्न भिन्न श्रुति वाक्यों मे कहीं काई सुने जाते हैं । वहां जहां जितने सुने जाते हैं वहां उतने समझने चाहिए या सभी धर्म सर्वत्र समझने चाहिए । यहां सबके अभेद से गुणों के संग्रह की अधिकरण का न्याय है । सर्वत्र ही गुणों के उपदेश में वही एक प्रधान विशेष्य ब्रह्म भिन्न नहीं है । सन्देह होता है कि ऐसा होने पर आनन्दमय धर्म के रूप में कहे गए प्रिय शिरस्त्व आदि धर्म भी सर्वत्र लिये जायेंगे, इस सन्देह पर कहा जाता है कि तैत्तिरीयक में कहे गए प्रिय शिरस्त्व आदि धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति नहीं है । प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द में एक दूसरे के अपेक्षा के कारण अथवा भोक्ता के भेद की अपेक्षा से घटना बढ़ना इस रूप के होने से भेद में भी घटना बढ़ना होगा हो, और ब्रह्म भेद रहित सुना जाता है—

"वह एक अद्वितीय ही है"

इसलिए ये प्रिय शिरस्त्व आदि कोश के धर्म हैं ये ब्रह्म के धर्म नहीं है, ऐसा —

"आनन्दमयोऽभ्यासात्"

इस सूत्र में निरूपित हुआ है । गुणों के उपचय (वृद्धि) और अपचय (ह्रास) तो भेद व्यवहार होने पर सगुण ब्रह्म में होते हैं । वे निर्गुण परब्रह्म में नहीं होते । इसीलिए सत्य कामत्व संपत्ति का घर होना आदि धर्मों की भी इस निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म में प्राप्ति नहीं है यह समझना चाहिए । फिर प्रश्न होता है कि निर्धर्मक होने के कारण इस परब्रह्म में आनन्द, सत्य, ज्ञान आदि स्वरूप धर्मों का भी प्रतिषेध ही रहेगा तो ऐसा नहीं है, अन्य आनन्द आदि धर्म तो ज्ञानमात्र का प्रयोजन रखने वाले हैं वह अर्थभूत प्रतिपाद्य ब्रह्म के प्रति सर्वत्र ही स्वीकार किये जाते हैं, उनका कहीं भी प्रतिषेध नहीं होता ।

यह श्री शंकराचार्य के मत से स्वरूप से इतर धर्मों का पर ब्रह्म की
वृत्ति के रूप में प्रतिषेध का अधिकरण पूर्ण

पुरुष परत्वाधिकरणम्

आध्यानाय प्रयोजना भावादात्मशब्दाच्च

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन"

इत्यारभ्य,

"पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिरिति"

काठके पठ्यते । तत्र सर्व इमेऽर्थादयस्ततस्ततः परत्वेनाख्यायन्ते अथवा पुरुष एव सर्वेभ्यः पर इष्यते इति संशये ब्रूमः । पुरुषएवैभ्यः सर्वेभ्यः पर इष्यते न प्रत्येकमेषां परो विवक्ष्यते । प्रयोजनाभावात् । नहीतरेषां परत्वप्रतिपादने किञ्चित् प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा । पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन् प्रतिपन्ने मोक्षसिद्धिः प्रयोजनम् । श्रूयते हि—

निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते इति । पुरुषान्न परं किञ्चिदिति परप्रतिषेधेन काष्ठादिशब्देन च पुरुषविषयसादरं दर्शयन् पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयत्याध्यानायेति । सम्यग् दर्शनार्थायाध्यानायेत्यर्थः आत्मशब्दाच्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिर्गम्यते यतः—

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरित्येवं हि तस्मिन्नेव पुरुषे आत्मशब्दं विधत्ते । अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते । तद्विज्ञानायैव च यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः"—

इत्याध्यानं विदधाति । व्याख्यातं चेदमानुमानिकमप्येकेषामित्यत्र (१।४।१)

अपि च । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमित्युक्ते किं तदध्वनः पारमित्याकाङ्क्षायां तत्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ।

। इति शङ्करमतेन पुरुषपरत्वाधिकरणम् ।

पुरुष की श्रेष्ठता

"इन्द्रियों से पर अर्थ है, अर्थ से पर मन है"

यहां से आरम्भ करके—

"पुरुष से पर और कुछ नही है, वह पराकाष्ठा है, वह परागति है,"

यह कठोपनिषद् में पढा जाता है । वहां ये सभी अर्थ आदि एक दूसरे से पर या श्रेष्ठ रूप से बतलाये जाते हैं अथवा यहां के कथन का प्रयोजन पुरुष को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाने में है इस सन्देह पर कहना हैं कि यहां का उद्देश्य पुरुष को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाने मे है एक दूसरे से श्रेष्ठ बतलाने में नहीं, क्योंकि एक को दूसरे से श्रेष्ठ बतलाने का कोई प्रयोजन नहीं है । अन्यों को एक दूसरे से श्रेष्ठ बतलाने का कोई प्रयोजन देखा या सुना नहीं जाता । इन्द्रिय आदि से पुरुष को श्रेष्ठ समझने का प्रयोजन तो मोक्ष-सिद्धि है । क्योंकि श्रुति कहती है कि –

"उसका निश्चय करके मत्यु के मुख से छुटकारा मिल जाता है ।"

"पुरुष से पर और कुछ नहीं है"

इस प्रकार पर का निषेध करने से तथा उसको पराकाष्ठा बतलाने से पुरुष के विषय को आदर सहित वर्णित करते हुए पुरुष के ज्ञान के लिए ही इन्द्रियादि में परस्पर की श्रेष्ठता के प्रवाह की उक्ति समझी जाती है । क्योंकि—

"समस्त भूतों में स्थित यह गूढ़ात्मा प्रकाशित नहीं होता, सूक्ष्मदर्शियों के द्वारा कुशाग्रवत् सूक्ष्म बुद्धि से यह देखा जाता है"

इस प्रकार उसी पुरुष के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए उससे भिन्न अर्थों को अनात्मा ही समझना चाहिए यह प्रतीत होता है। और उसी के ज्ञान के लिए—

"प्राज्ञ अपनी वाणी और मन का अर्पण करे" इस प्रकार ध्यान का विधान हुआ है।

इस विषय को "आनुमानिक मप्येकेषाम्"—[१।४।१]

इस सूत्र के व्याख्यान में भी कहा गया है।

पुनश्च—"वह मार्ग के उस पार जो विष्णु का परम पद है, उसे पा जाता है"

इस उक्ति में वह मार्ग का पार क्या है? इस प्रश्न पर उसी परमपद के ज्ञान के लिए यह प्रयत्न है यह निश्चय होता है।

। यह श्री शंकराचार्य के मत में पुरुष की परता (श्रेष्ठता) का अधिकरण हुआ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्।
अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात्।

वाजसनेयके—

"कतम आत्मेति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"—

इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य—

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म (बृ० ४।४)

इत्येवं तस्य सर्वसङ्गविमुक्तब्रह्मात्मत्वमवधारयति। छान्दोग्ये च—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—

इत्यात्मशब्दं विनैवोपक्रम्योदर्के—

"स आत्मा तत्त्वमसीत्यात्मशब्देनोपसंहरति। तथा चैतयोराम्नानयोरुपक्रमभेदादकार्थ्यं नास्तीति प्राप्ते उच्यते। आत्मगृहीतिरितरवत् द्रष्टव्या। सदेव सौम्येदमिति छन्दोगाम्नानेऽपि—

"कतम आत्मा"—

इत्यादीतराम्नानवदात्मन एव ग्रहणमस्ति। उत्तराद्—

"स आत्मा तत्त्वमसीत्युदर्कवाक्येन तादात्म्योपदेशात्। ननूपक्रमस्यान्वयादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिरिति चेत् तत्र ब्रूमः स्यादवधारणात्।

"येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्"—

इत्येकविज्ञानमवधार्य्यते। तन्न मुख्यादात्मनोऽन्यत्र संभवति। अपि च प्रागुत्पत्तेरेकत्वमवधार्य्यते, जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः तस्मादुपक्रमे आत्मशब्दासंकीर्तनेऽपि वाक्यशेषे आत्मत्वावधारणादुपक्रमेऽप्यात्मन एव परिग्रहः स्यात्। तस्मादेवं जातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपद्यार्थाभेद इति सिद्धम्। आत्मशब्देनानुपक्रमेऽपि परिशेषादवधारणाच्चात्मनो ग्रहणं कार्य्यमिति न्यायानुगमात्।

। इति सद्विद्याया आत्मविद्यात्वाधिकरणम्।

वाजसनेय में—

"कौनसा आत्मा है, जो यह प्राणों में हृदयस्थित अन्तर्ज्योति पुरुष है"

इस "प्रकार आत्मा शब्द से उपक्रम करके—

"वह यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय है" (बृ. ४।४)

इस विवरण के द्वारा उसकी सर्वसङ्गविमुक्तता और ब्रह्मात्मत्व का निश्चय कहा गया है। और छन्दोग्य में—

"हे सौम्य, प्रारम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था"

इस प्रकार आत्मा शब्द के प्रयोग के बिना ही उपक्रम करके अन्त में—

"वह आत्मा है, वह तुम हो"

इस प्रकार आत्मा शब्द से उपसंहार किया गया है। इस प्रकार इन दोनों विबरणों में उपक्रम के भेद के कारण एकार्थता नहीं है, इस सन्देह पर कहा जाता है, कि

"आत्मा का ग्रहण इतर के समान समझना चाहिए"।

'हे सौम्य, यह सत्य ही है"

इस छान्दोग्य विवरण में भी—

"कौनसा आत्मा है"

इत्यादि अन्यत्र के विवरणों की भांति आत्मा का ही ग्रहण है। आगे के—

"वह आत्मा है, वह तुम हो"

इस उपसंहार वाक्य से तादात्म्य का उपदेश के कारण वहां आत्मा ही गृहीत होता है। सन्देह होता है कि अन्वय या शाब्दिक सम्बन्ध तो उपक्रम का ही होता है और उपक्रम के—

"यह सत् ही है"

आदि वाक्य में आत्माशब्द का श्रवण हुआ नहीं, इसलिए वहां आत्मा का ग्रहण भी नहीं होगा तो उसके उत्तर में कहते हैं कि—

"अवधारण से ऐसा होगा।"।—

"जिससे बिना सुना हुआ, सुना हुआ हो जाता है, मनन में न आया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है, अज्ञात ज्ञात हो जाता है"

इस प्रकार एक के ही विज्ञान का अवधारण होता है। यह बात मुख्य आत्मा के अतिरिक्त में संभव नहीं है। पुनश्च उत्पत्ति के पहिले एकत्व का निश्चय होता है। और जीव का आत्मशब्द से ग्रहण या परामर्श होता है। इसलिए उपक्रम में आत्मा शब्द के न कहे जाने पर भी वाक्य शेष में (अन्त में) आत्मत्व का अवधारण करने से उपक्रम में भी आत्मा का ही ग्रहण होगा।

इस प्रकार ऐसे वाक्यों में कथनशैली में भेद होने पर भी वक्तव्य अर्थ में अभेद है यह सिद्ध हुआ। आत्मा शब्द के प्रयोग के द्वारा उपक्रम या प्रारम्भ न होने पर भी परिशेष वाक्य के द्वारा तथा अवधारण वाक्य के द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिए यह न्याय यहां अनुगत है।

। यह सद्विद्या का आत्मविद्यात्व अधिकरण हुआ ।

अत्रैवाधिकरणान्तरमप्युच्यते

ऐतरेयके श्रूयते—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत । स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति—

स इमाँल्लोकानसृजत अम्भोमरीचीमंरमाप इत्यादि । अत्रात्मशब्देनोपक्रमेऽपि तेन परमेश्वरो गृह्यते । ईश्वरो वेत्यनिश्चये लोकाद्युत्तरकालिकसृष्टिवचनाद् विशेषवानीश्वर एवायमात्मा स्यादिति प्राप्नोत्यत उच्यते । आत्मगृहीतिरितरवत् । इतरेषु सृष्टिश्रवणेषु"–

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"

इत्येवमादिषु यथा तथैवेहाप्यात्मग्रहणं द्रष्टव्यम् । तत्र परमात्मनो ग्रहणादिहापि परमात्मैव गृह्यते इति तात्पर्य्यम् । एतच्च—

"स ऐक्षत लोकान्नु सृजै स इमानसृजत"

इत्याद्युत्तरवाक्याद् गम्यते, इतरसाधारण्येनेहापि स्रष्टृत्वाख्यानात् परमात्मनो ग्रहणात् ।

यहीं दूसरा अधिकरण भी बतलाया जाता है—

ऐतरेयक में सुना जाता है कि—

"प्रारम्भ में केवल एकमात्र आत्मा ही था, और कुछ भी अस्तित्व में नहीं था, उसने सोचा कि—

मैं लोकों की सृष्टि करूं, उसने इन लोकों की सृष्टिकी, अम्भ-मरीचि, मर, आप आदि बनाये",

यहां आत्मा शब्द से उपक्रम होने पर भी उससे परमेश्वर का ग्रहण होता है या ईश्वर यह निश्चय न होने पर उत्तरकालिक लोक आदि की सृष्टि का कथन होने से विशेषवान् ईश्वर ही यहां आत्मा होगा ऐसा प्राप्त होता है, इसलिए कहा जाता है,

"इतर के समान, आत्मा का ग्रहण है"

सृष्टि के प्रसंग का जहां अन्यत्र श्रवण हुआ है जैसे—

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ",

इत्यादि वाक्यों में जिस अर्थ में आत्माशब्द का प्रयोग है, वसा ही आत्माशब्द का अर्थ यहां भी समझना चाहिए । वहां आत्माशब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है तो यहां भी परमात्मा का ही ग्रहण होना चाहिए यह तात्पर्य है । यह बात—

"उसने ईक्षण किया कि लोकों की सृष्टि करूं, उसने इनकी सृष्टि की"

इस आगे के वाक्य से ज्ञात होती है । अन्यत्र विवरणों के समान यहां स्रष्टा होने का विवरण है । स्रष्टा के रूप में परमात्मा ही है का ही ग्रहण होता है ।

ननु चास्ति पुरुषविधो नराकार आत्मा हिरण्यगर्भः प्रजापतिः।

'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत।"

इति स्मृतेरात्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः (बृ० १।४)—(शत० १४।४।२)

इति श्रुतेश्च। तत्रैवायमैतरेयवाक्यानामन्वयः संभाव्यते।

"तस्याप्यात्मशब्दात् स्रष्टृत्वाच्च। लोकान्नु सृजै"

इत्यादिना चोत्तरवाक्येन लोकस्रष्टृत्वमुच्यते तच्च प्रजापतावेवान्वेति न परमात्मनि। तस्य सर्वादौ महाभूतसृष्टिकर्तृत्वेऽपि तदुत्तरभाविन्यां महाभूतसंनिवेशविशेषरूपाणां लोकानां सृष्टौ प्रजापतेरेवाधिकारात्। अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवा इत्यादिनैतरेयिभिरपि पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकाया एव सृष्टेराख्यानाच्च। तस्मादम्भोमरीच्यादिलोकस्रष्टृत्वं न परमात्मनः स्यादिति चेत् तत्रोच्यते। परमात्मन एवेह ग्रहणं स्यादवधारणात्। एक एवाग्र आसीदिति हि सृष्टेः प्रागात्मैकत्वमवधार्य्यते। प्रजापतेस्तु प्रागेव परमात्मकर्तृकमहाभूतादिसृष्टिसत्त्वादात्मैकत्वावधारणं व्याहन्येत। अपि च आत्मैवेदमग्र इत्युपक्रम्य—

"स एतमेव सीमानं विदार्य्यैतया द्वारा प्रापद्यतेत्यादिना तस्यैवात्मनः शरीरे प्रवेशमुक्त्वा"

"स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यद्"—
इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति।
अन्ते च "एष ब्रह्मैष इन्द्रः सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानं ब्रह्म"

इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति। तस्मादिह भूयोऽवधारणादुपक्रमवाक्ये परमात्मन एव ग्रहणमिति सिद्धम्। आत्मसामान्योपादानेऽपि परिशेषादवधारणाच्च परमात्मनो ग्रहणं कार्य्यमिति न्यायानुगमात्।

। इति परमेश्वरकर्तृकलोकसृष्ट्यधिकरणम्।

प्रश्न होता है कि पुरुष के समान नराकार आत्मा हिरण्यगर्भ प्रजापति का वर्णन मिलता है।

—"वह प्रथम शरीरधारी है, वह पुरुष कहलाता है, वह भूतों का आदि निर्माता ब्रह्मा सर्व प्रथम प्रादुर्भूत हुआ"—

इस स्मृतिवचन से तथा—

"पुरु। के आकार में आत्मा ही प्रारम्भ में प्रादुर्भूत हुआ"

(बृ १।४)—(शत १४।४।२) इस श्रुतिवचन से आत्मा की नराकारता प्रारम्भ में ज्ञात होती है। इन ऐतरेय श्रुति के वाक्यों का अन्वय वहीं संभावित है। उसके लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग है और उसे स्रष्टा भी कहा गया है।

"लोकों की सृष्टि करूं"

इत्यादि आगे के वाक्य से लोकों की सृष्टि का कर्ता भी उसे कहा गया है। इसका अन्वय प्रजापति में ही होता है, परमात्मा में उसका अन्वय नहीं होता। यद्यपि परमात्मा सबसे आदि में महाभूतों की सृष्टि का कर्ता है परन्तु उसके अनन्तर होने वाली महाभूतों के विशेष प्रकार के संनिवेश रूपी लोकों की सृष्टि में प्रजापति का ही अधिकार है। आगे रेतस् सृष्टि में, 'प्रजापति के रेतस् देव हैं' इत्यादि वचनों के द्वारा ऐतरेय के अनुयायी गण भी पहिले के प्रकरण में प्रजापति के द्वारा ही सृष्टि का कथन करते हैं। इसलिए अम्भ मरीचि आदि लोकों की रचना का कर्ता भी परमात्मा नहीं अपितु प्रजापति ही है, इस सन्देह पर यह कहा जाता है कि—

"यहां परमात्मा का ही अवधारण के कारण ग्रहण होता है।

"प्रारम्भ में एक ही था"

इस कथन से सृष्टि के पहिले एक ही तत्त्व का अवधारण या निश्चय है। प्रजापति के तो पहिले ही परमात्मा की बनाई महाभूतादि की सृष्टि के विद्यमान होने से एकत्व के अवधारण में प्रजापति को आत्मा मानने के पक्ष में बाधा उपस्थित होती है। पुनश्च—

"प्रारम्भ में आत्मा ही था"

ऐसा उपक्रम करके

उसने इसी सीमा का विदारण करके इसके द्वारा प्राप्त किया।

इत्यादि कथन के द्वारा उसी आत्मा का शरीर में प्रवेश कहकर—

—"उसने इसी पुरुष ब्रह्म को व्याप्त देखा"।

इस प्रकार ब्रह्मात्म के दर्शन का अवधारण किया है। तथा अन्त में—

"यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है यह सब प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञान में प्रतिष्ठित प्रज्ञानब्रह्म है।

इस प्रकार श्रुति ब्रह्मात्मत्व के दर्शन का ही अवधारण करती है। इस प्रकार यहां पुनः अवधारण करने से उपक्रम वाक्य में परमात्मा का ही ग्रहण है यह सिद्ध होता है। सामान्य रूप से आत्मा शब्द का प्रयोग होने पर भी परिशिष्ट वाक्य के आधार पर तथा अवधारण के द्वारा परमात्मा का ग्रहण करना चाहिए। इस न्याय का भी यहां अनुगम है।

। यह परमेश्वर के द्वारा लोक-सृष्टि का अधिकरण हुआ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।

शङ्करमतेनेत्थमधिकरणत्रयं व्याख्यातम्। वयं त्वत्राधिकरणद्वयं पश्यामः। तथा हि—

"सर्वाभेदादन्यत्रेमे आनन्दादयः प्रधानस्येत्यन्तमिदमेकं सूत्रम्।

इतः पूर्वं विद्यैक्यानैक्यविचारपरिभाषा सामान्येन प्रदर्शिता। अतः परं गुणोल्लेखपूर्वकं विशिष्य गुणविद्या विचार्य्यन्ते। तत्र तावत् तैत्तिरीयकश्रुतौ अन्नमयं ब्रह्म प्राणमयं ब्रह्मेत्यादिना पञ्चकोशविद्या निदर्श्यते। तत्रोक्ता इमे आनन्दविज्ञानमनःप्राणान्नरूपाः पञ्चार्थाः प्रधानाद् ब्रह्मणोऽन्यत्र प्रतिपत्तव्याः। प्रधानस्य ब्रह्मणः सर्वाभेदात्। सर्वैरेवानन्दादिभिरस्याभेद आम्नायते आनन्दमयं ब्रह्म, विज्ञानमयं ब्रह्म, मनोमयं ब्रह्मेत्यादिना।

अयं भावः यद्यानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं मुख्यमुपदिष्टं स्यात् तर्हि विज्ञानमयस्य ब्रह्मत्वमुच्यमानसमञ्जसं स्यात्। आनन्दमयत्वविज्ञानत्वयोः पार्थगर्थ्यात तस्माद् ब्रह्म स्वरूपतो निर्विशेषं निर्धर्मकं प्रतिपत्तव्यं। तस्यैते पञ्च कोशाः स्युरानन्दमयादयः।

पञ्चस्वपि तेषु कोशेषूत्तरोत्तरसंवरकेषु ब्रह्मेदमनुस्यूतं भवतीति सर्वेषां ब्रह्मशब्देन व्यपदेशः। अर्चिष एव मुख्यदीपत्वेपि सर्वातिकस्य सतैलस्य सपात्रस्य साधारस्तम्भस्य च

दीपसम्बन्धाद्दीपत्वमनुवर्तते । शुद्धवाचिनः स्वार्थसंबन्धात् सोपकरणेऽपि व्यपदेश इति न्यायात् । तथेहापि प्रधानस्य ब्रह्मणः संबन्धात्पञ्चकोशानां प्रत्येकस्य ब्रह्मत्वमुपचर्यते । आनन्दादय आनन्दमयादिकोशावच्छिन्नस्य ब्रह्मणो धर्माः संभवन्ति न तु प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्मा इति सिद्धम् ।

श्री शंकराचार्य के मत से उक्त तीन अधिकरणों की व्याख्या की गई । हम तो इन सूत्रों में दो ही अधिकरण देख रहे हैं । जैसे कि—

"सर्वभेदादन्यत्रेमे आनन्दादयः प्रधानस्य"

यहां तक एक सूत्र है । इससे पूर्व विद्या के एक होने और अनेक होने के विचार की परिभाषा सामान्यतया प्रदर्शित की गई । अब यहां से आगे गुणों के उल्लेख पुरस्सर विशेष रूप से गुण विद्या का विचार किया जाता है । वहां तैत्तिरीय श्रुति में

"अन्नमय ब्रह्म है, प्राणमय ब्रह्म है,"

इत्यादि के द्वारा पञ्चकोश विद्या का निदर्शन उपस्थित किया जाता है । वहां व्याख्यात ये आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण अन्न रूप पांच अर्थ प्रधान ब्रह्म से अन्यत्र समझने चाहिए । क्योंकि प्रधान ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं या वहां सब प्रकार का अभेद है । सभी आनन्द आदि के द्वारा इसका अभेद बतलाया जाता है ।

"आनन्दमय ब्रह्म है, विज्ञानमय ब्रह्म है, मनोमय ब्रह्म है"

इत्यादि वचनों के द्वारा ब्रह्म के साथ इनके अभेद का बोधन होता है । भाव यह है कि यदि आनन्दमय को मुख्य ब्रह्म बतलाया जाता है तो विज्ञानमय को ब्रह्म बतलाने में असमञ्जसता होगी । क्योंकि आनन्दमयत्व तथा विज्ञानत्व दोनों के अर्थ में भिन्नता है । इसलिए ब्रह्म को स्वरूपतः निर्विशेष और निर्धर्मक मानना चाहिए. उसके ये आनन्द विज्ञान मन प्राण अन्न पांच कोश हैं ऐसा मानना चाहिए । उन पांचो कोशों में, जो एक दूसरे का संवरक या ढँकने वाला है, उनमें यह ब्रह्म अनुस्यूत है । इसलिए उन सभी का ब्रह्म शब्द से निर्देश होता है । यद्यपि अर्चि या लौ ही मुख्य रूप से दीपक है तथापि बत्ती सहित, तैल सहित, पात्र सहित, आधार स्तम्भ सहित का दीप से सम्बन्ध होने के कारण उनमें भी दीपक का व्यवहार होता है । शुद्ध के वाचक का ही यद्यपि अर्थ से सम्बन्ध है तथापि उपकरण सहित में व्यवहार होता है यह न्याय या सिद्धान्त है । इसी प्रकार यहां भी प्रधान ब्रह्म का सम्बन्ध होने के कारण पांच केशों में भी प्रत्येक में ब्रह्मत्व का गौण रूप से व्यवहार होता है । आनन्द आदि आनन्दमयादि कोश से अवच्छिन्न या परिमित ब्रह्म के धर्म हो सकते हैं न कि ये प्रधान ब्रह्म के धर्म है यह सिद्ध हुआ ।

यत्तु तत्र आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते-तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्म पच्छं प्रतिष्ठेति । त इमे प्रियशिरस्त्वादयो धर्माः कोशवद् ब्रह्मनिष्ठाः शुद्धे ब्रह्मण्यपि संकीर्य्येरन् इ त चेत् तत्रोच्यते । प्रियशिरस्त्वादीनां धर्म्माणां ब्रह्मणि प्राप्तिर्नास्ति । प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परतो भोक्तृभेदाच्चोपचितापचितरूपाः स्युरित्यतो निर्भेदेऽस्मन् ब्रह्मणि तेषां प्रसराभावः । उपचयापचयौ हि भेदे सति संभवतः । तस्मात् कोशधर्मा एते न ब्रह्मधर्म्माः । सति भेदे हि प्रतिपत्तव्याः परस्परविरुद्धधर्मा उपासनार्थं क्वचित् क्वचिदुपदिष्टा अपि न शक्याः ब्रह्मण्युपनेतुम् ।

तेनान्नमयत्वप्राणमयत्वमनोमयत्वादयो धर्मा ब्रह्मण्युक्ता अपि न गृह्यन्ते—

"अप्राणो ह्यमनाः शुद्ध"

इत्यादिना प्रतिषिद्धत्वात ।

अतएव चाग्निरहस्यश्रुतौ—

"अयं वाव यजुर्योऽयं पवते"

इत्येव वायोर्यजुष्ट्वं प्रतिज्ञाय—

"तदेतज्ज्येष्ठं ब्रह्म तदेतद ब्रह्मापूर्वमपरवत तस्य वा एतस्य यजुषो रस एवोपनिषत् । तृप्तिरेवास्य गतिरानन्द एवास्य विज्ञानमात्मा । आनन्दात्मनो हैव सर्वे देवाः । सा हैषैव देवानामद्धा विद्या । सह स न मनुष्यो य एवं चित्—

"देवानां हैव स एकः"

इत्येवं ब्रह्मणि यजुष्ट्वं रसत्ववायुत्वभिन्नानेकदेवरूपत्वादयो धर्मा उपासनार्थमुपदिश्यन्ते नैते ब्रह्मण्युपनीयन्ते निर्विशेषे ब्रह्मणि विशेषाणामेषामप्रसरात ।

वहाँ आत्मा की आनन्दमयता का उपक्रम करके जो कहा गया है कि प्रिय ही उसका सिर है, मोद उसका दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आत्मा ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है"—

ये प्रिय शिर आदि धर्म कोश की तरह ब्रह्मनिष्ठ हैं, ये शुद्ध ब्रह्म में भी माने जाने लगेंगे, इस सन्देह पर कहा जाता है, प्रिय शिरस्त्व आदि धर्मों की ब्रह्म में प्राप्ति नहीं है । प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द ये परस्पर भोक्ता के भेद से अधिक और न्यून रूप होते हैं, इसलिए भेदरहित इस ब्रह्म में उनका अवकाश नहीं होता । न्यून और अधिक

भाव भेद होने पर संभव होता है, इसलिए ये प्रिय शिर आदि धर्म कोश के हैं, ये ब्रह्म के धर्म नहीं हैं। भेद के होने पर स्वीकार करने योग्य जो परस्पर विरुद्ध धर्म उपासना के लिए कहीं कहीं उपदिष्ट होते हैं वे भी ब्रह्म में स्वीकार नहीं किये जाते। इसलिए अन्नमयत्व प्राणमयत्व मनोमयत्व आदि ब्रह्म में बतलाये गये धर्म भी गृहीत नहीं होते क्योंकि—

"अप्राण अमना शुद्ध"

इत्यादि वचनों से उसका प्रतिषेध है। तथा इसीलिए अग्निरहस्य श्रुति में—

"यह यजु है जो बहता है"

इस कथन के द्वारा वायु को यजु बतलाकर—

"यह ज्येष्ठ ब्रह्म है, यह अपर ब्रह्म है, इस यजु की रस ही उपनिषत् है, तृप्ति ही इसकी गति है, आनन्द ही इसका विज्ञानात्मा है, सारे देव आनन्दात्मा हैं, यही वह देवताओं की विद्या है, जो मनुष्य इसको जानता है वह मनुष्य नहीं, देवताओं में ही एक हो जाता है"

इस प्रकार ब्रह्म में यजुत्व, रसत्व वायुत्व आदि भिन्न भिन्न देवताओं के रूपत्व आदि धर्मों का उपासना के लिए उपदेश होता है, इनको ब्रह्म में नहीं समझा जाता। क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है उसमें इन विशेषों का प्रसार नहीं होता।

नन्वेवं तर्हि निर्धर्मके तस्मिन्ब्रह्मणि धर्ममात्रप्रत्याख्यानादानन्दत्वविज्ञानघनत्व-सर्वगतत्वादयोऽपि धर्माः प्रत्याख्याताः स्युरिति चेन्न। इतरे त्वर्थसामान्यादनुवर्तरन्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः"—

इत्यादयो हि गुणा अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनार्थप्रतीत्यनुबन्धिनस्तेऽर्थस्वरूपवत् परब्रह्मण्यनुवर्तन्ते।

शंकरस्तु सत्यकामत्वसंपद्धामत्वादिधर्माणामप्यस्मिन्निर्गुणे निर्विशेषे परब्रह्मण्यप्राप्तिमाचष्टे।

ननु अन्नमयत्वप्राणमयत्वमनोमयत्वादीनाभिवैतेषामानन्द सत्यज्ञानादीनामप्युपासनार्थत्वमेव कस्मान्नाभ्युपगम्यते।

"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यति ध्यायमानः"–

इति श्रुतेस्तादृशानन्दादिरूपेण ध्यानादेव निष्कलसाक्षात्कारसंभवादिति चेन्न। आध्यानाय प्रयोजनाभावात्।

उपासितुर्हि द्विविधावस्था भवति साधनरूपा सिद्धरूपा च। साधनावस्थायामुपासकोऽल्पगुणं प्रत्यगात्मानमधिकगुणं तूपास्यं परमात्मानं भेदेन पश्यन्नुपास्ते। तत्रैते उपास्यस्य परमात्मनः सर्वे गुणा उपासनार्था उपकुर्वन्त्युपासनधर्मम्। गुणमर्य्यादयैव गुणिनि बुद्ध्युपपत्तेः।

अथ स ध्यायमानो यदा ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वो निर्गुण ब्रह्म पश्यति तदास्य सा सिद्धावस्था भवति, न तदानीमाध्यानाय प्रयोजनमवशिष्यते उपास्योपासकभेदबुद्धि विलोपात्।

अतो न तदानीमाध्यानाय गुणानामपि प्रयोजनं पश्यामः। आत्मशब्दाच्च। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। आत्मैवाभूद् विजानतः।

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् ततः केन कं पश्येदित्यादिश्रुतिभिरुपास्योपासकयोरेकत्वसंपत्तावात्मशब्देनैवाविशेषमुभयोर्ग्रहणात् तदानीं गुणिग्रहणाय गुणानपेक्षणात्। तस्मान्नानन्दादयो ब्रह्मणि द्रष्टव्या गुणा अपि त्वानन्द एव निर्धर्मकं ब्रह्मेति विद्यात्।

। इत्यात्मस्वरूपधर्मविशेषकधर्मविवेकाधिकरणम्।

प्रश्न होता है कि–तब तो धर्मरहित उस ब्रह्म में धर्म मात्र का निषेध हो जाने के कारण आनन्दविज्ञानघन होना, उसका सर्वगत होना आदि धर्म भी निषिद्ध हो जायेंगे, तो यह बात नहीं है, अन्य धर्मों का अनुवर्तन तो अन्यों में सामान्यता के कारण ब्रह्म में होता है।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है"

ब्रह्म नित्य विज्ञान आनन्द रूप है"

आत्मा पाप से दूर जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधा रहित, पिपासा रहित, सत्यकाम, सत्यसकल्प है"

इत्यादि गुण अर्थ के स्वरूप के निरूपण के धर्म के रूप में अर्थ की प्रतीति कराने वाले होने के कारण अर्थ के स्वरूप के समान परब्रह्म में अनुवर्तमान हैं।

श्री शंकराचार्य तो सत्यकामत्व, संपत्तियों का वामत्व आदि धर्मों की भी इस निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म में प्राप्ति नहीं है ऐसा कहते हैं।

प्रश्न होता है कि अन्नमयत्व, प्राणमयत्व, मनोमयत्व आदि के समान ही इन आनन्द, सत्य, ज्ञान आदि को भी उपासना के लिए ही क्यों नहीं मान लिया जाता—

—"ज्ञान के प्रसाद से विशुद्धसत्व बन कर तब ध्यान के द्वारा उसे देखता है"

इस श्रुति से उस प्रकार के आनन्द आदि के रूप से ध्यान के द्वारा ही निष्कल का साक्षात्कार संभव है, तो ऐसा नहीं है। आध्यान के लिए प्रयोजन होने से उक्त धर्मों को केवल उपासना के लिए नहीं माना जाता। उपासक की दो प्रकार की अवस्थाएं होती हैं, एक साधन रूपावस्था और दूसरी सिद्ध रूपावस्था। साधनावस्था में उपासक अल्प गुण वाले प्रत्यगात्मा या जीवात्मा तथा अधिक गुण वाले उपास्य परमात्मा को भिन्न भिन्न देखता हुआ उपासना करता है। वहां ये उपास्य परमात्मा के सारे गुण उपासनार्थ होने के कारण उपासना के धर्म का उपकार करते हैं। क्योंकि गुणों की मर्यादा से ही गुणी में बुद्धि का स्थिरीकरण होता है। इसके अनन्तर जब वह ध्यान करता हुआ ज्ञान के प्रसाद से, विशुद्ध को प्राप्त करता हुआ निर्गुण ब्रह्म को जानता है, तब यह उसकी सिद्धावस्था होती है, तब उसका ध्यान के लिए कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि तब उपास्य और उपासक की भेद बुद्धि का विलोप हो जाता है। अतः उस अवस्था में आध्यान के लिए गुणों का भी कोई प्रयोजन हम नहीं देखते। आत्मा शब्द के कारण भी यही सिद्ध होता है।

"ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो हो जाता है"

ज्ञानी के लिए सब आत्मा ही हो जाता है"

"जहां इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया वहां किससे किसको देखें"

इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा उपास्य और उपासक की एकता संपन्न होने पर आत्मा शब्द से ही बिना भेद के दोनों का ग्रहण होने से उस अवस्था में गुणी के ग्रहण के लिए गुणों की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए आनन्द आदि ब्रह्म में द्रष्टव्य गुण नहीं है हैं अपितु आनन्द ही निधर्मक ब्रह्म है, यह समझना चाहिए।

। इस प्रकार आत्मस्वरूप धर्म के विशेषक धर्मों के विवेक का अधिकरण हुआ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।
अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ।

उपक्रमोपसंहाराभ्यां सर्वत्रार्थनिर्णयो भवतीत्युपनिषत्प्रकरणेऽपि ताभ्यामेवात्मग्रहणं क्रियते । किन्तु यत्रोपक्रमे स आत्मशब्दो नोपादीयते तत्राप्यन्यत्रेवात्मग्रहणं कार्य्यम् । उपसंहारोपात्तेनात्मशब्देन तत्प्रतीतेः ।

ननु येऽर्थेनोपक्रमस्तेनैवार्थेनोपसंहारे तस्यार्थस्य तत्प्रकरणेऽनुगमो भवतीत्यत उपक्रमोपसंहाराभ्यामर्थनिर्णयः कर्तुं पार्य्यते । उपक्रमे तदर्थानुपादाने तु तदन्वयप्रतिपत्त्यसंभवान्न केवलेनोपसंहारेणार्थनिर्णयः शक्यः कर्तुमिति चेत् सत्यम् । तथा सत्यवधारणादर्थनिर्णयः स्यात् ।

विनिगमकप्रतिज्ञाविशेषो वा तस्यार्थस्याभ्यासेनोपादानं वाऽन्यतरत् । आभ्यां स्वत एवार्थावधारणसंभवात् ।

तथा च उपक्रमोपसंहाराभ्यामर्थनिर्णयस्ताभ्यामप्रतिपत्तौ त्ववधारणादर्थनिर्णयः कार्य्य इति न्यायोऽनुगम्यते । तत् प्रदेशो यथा—

सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यात्मशब्दं विनैवोपक्रम्य —

स आत्मा तत्त्वमसीत्यात्मशब्देनोपसंहरति । तत्रोपसंहारादात्मनि प्रत्ययो भवति । अपि च

"येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति"—

आत्मविनिगमकप्रतिज्ञाविशेषात् स आत्मा स आत्मेत्यभ्यासेनात्मोपादानाच्चात्मनः प्रकरणमवधार्य्यते । अथ यत्राप्यात्मशब्देनोपक्रम्यते तत्रापि जीवाक्षरपराख्यानां त्रयाणामात्मनामन्यतमस्यानिर्णयेऽवधारणादेवात्मविशेषनिर्णयः कार्य्यः ।

उपक्रम और उपसंहार से सर्वत्र अर्थ का निर्णय होता है, इसलिए उपनिषद् के प्रकरण में भी उन्हीं के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जाता है । किन्तु जहां उपक्रम में उस आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं है वहां भी अन्यत्र के समान आत्मा का ग्रहण करना चाहिए । उपसंहार में गृहीत आत्मा शब्द से उसकी प्रतीति हो जाती है । प्रश्न होता है जिस अर्थ को लेकर उपक्रम किया जाता है उसी अर्थ से उपसंहार होने पर उस अर्थ का उस प्रकरण में अनुगम होता है । इसलिए उपक्रम और उपसंहार से प्रकरण के अर्थ का निर्णय किये

जाने में सहायता मिलती है । उपक्रम में यदि उस अर्थ का ग्रहण नहीं हुआ तब तो उस अर्थ की आगे प्रतिपत्ति या ज्ञान होना असंभव हो जाने से केवल उपसंहार से अर्थ का निर्णय करना संभव नहीं होता तो यह बात सत्य है । उस स्थिति में अवधारण से अर्थ का निर्णय होगा । अवधारण कहते हैं एकार्थ निर्णय करने वाले (विनिगमक) या किसी अर्थ के बार बार कहे जाने वाले अभ्यास को । इन दोनों से स्वतः ही वक्तव्य अथ का निर्णय करना सम्भव हो जाता है ।

तब न्याय या सिद्धान्त यही होता है कि या तो उपक्रम और उपसंहार से वक्तव्य अर्थ या प्रधानतया प्रतिपाद्य विषय का निर्णय होता है और उसके अभाव में अवधारण अर्थात् विनिगमक या अभ्यास की परीक्षा से अर्थ का निर्णय होता है । प्रस्तुत प्रसग में जैसे—"रे सौम्य, यह प्रारंभ में सत् ही था," इस प्रकार आत्मा शब्द के प्रयोग के बिना ही उपक्रम होकर–"वह आत्मा है, वह तुम हो," इस प्रकार आत्मा शब्द के प्रयोग से उपसंहार हुआ है । वहां उपसंहार से आत्मा में प्रत्यय या ज्ञान होता है, पुनश्च "जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है," इस प्रकार आत्म को बतलाने वाली (विनिगमक) विशेष प्रतिज्ञा के कारण, "वह आत्मा है, वह आत्मा है," इस प्रकार अभ्यास पूर्वक या पुनः पुनः आत्मा शब्द के प्रयोग से उपक्रम होता है वहां भी जीव, अक्षर और परमात्मा नाम के तीन आत्माओं में किसी एक का निर्णय होने से अवधारण से ही विशेष आत्मा का निर्णय करना होगा ।

प्राणवासस्त्व

कार्य्याख्यानादपूर्वम् ३।३।१८।

सर्वं हि वाक्यं कार्य्याख्यानाय प्रवर्त्तते, न कृताख्यानाय । तस्माद् वाक्यविधेयसंदहे सति यदपूर्वं तद्विधेयंक ल्प्यम् । पूर्वप्राप्तस्य विधेयत्वानौचित्यात् । अपूर्वमप्राप्तम् तथा च प्राप्ताप्राप्तविधाने सत्यप्राप्ते विधिपारिनिष्ठा इति न्यायोऽनुगम्यते ।

तथा हि छन्दोगा वाजिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्य्यादं प्राणस्यान्नमुक्त्वा तस्यापोवास आमनन्ति ततश्छन्दोगाः

तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टादद्भिः परिदधतीत्याहुः (छा० ५।२।२)

"वाजिनस्तु—

"तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्ति, अशित्वाचामन्ति. एतमेव तदन्नमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते । तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेत् । एतमेव तदनग्नं कुरुते" इत्याहुः । (बृ० ६ १।१४)

तत्रेदमपामाचमनं विधीयते वा प्राणानग्नताकरणलक्षणमपां प्राणवासस्त्वं वेति विचारे आचामेदिति विस्पष्टं विधिदर्शनादाचमनमेव विधीयते ।

अनग्नतासंकीर्तनं त्वाचमनस्यैव स्तुत्यर्थमिति प्राप्ते ब्रूमः । कार्य्यत्वेन स्मृत्या सिद्धस्यैवाचमनस्यानुवादेनाख्यानान्नाचमनस्य विधिरिह युक्तः ।

किन्त्वाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धित्वेनापूर्वप्राणानग्नताकरणमेवैतदुपदिश्यते इति भाव्यम् । न चाथमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम् । आचमनस्याविधेयत्वात् ।

सभी वाक्यों की प्रवृत्ति करणीय कार्य को बतलाने के लिए होती है, किये हुए कार्यों को बतलाने के लिए वाक्यों की प्रवृति नहीं मानी गई है । इसलिए किस वाक्य में क्या विधेय या प्रधान है इस संदेह के उपस्थित होने पर जो पहिले नहीं था, जो अपूर्व है उसका विधान कल्पित किया जाना चाहिए। वाक्य में उसी की प्रधानता स्वीकार की जानी चाहिए । क्योंकि जो पहिले ही से प्राप्त है वह प्रस्तुत वाक्य के द्वारा विधेय नहीं होगा। अपूर्व का अर्थ है कि जो अभी तक प्राप्त नहीं है, जब प्राप्त और अप्राप्त के विधान का प्रश्न उपस्थित होता है तब अप्राप्त में विधि की परिनिष्ठा होती है, विधि का प्रयोग अप्राप्त के लिए होता है, यह न्याय अनुगत होता है । जसे कि छन्दोगानुयायी तथा वाजसनेयानुयायीगण प्राणसंवाद के प्रकरण में श्वा आदि की मर्यादा तक प्राण का अन्न कह कर, उसका आपोवास या जलसंसर्ग मानते हैं । उसके अनन्तर छन्दोगानुयायीगण, "इसलिए यह अनुशासन है, आगे तथा ऊपर जल को धारण किया जाना है"(छा ५।२।२) ऐसा कहते हैं । वाजसनेयीगण तो—'विद्वान श्रोत्रिय भोजन करते हुए आचमन करते हैं, भोजन के उपरान्त आचमन करते हैं, इससे वे उस भुक्त अन्न को नग्न नहीं रहने देते, ऐसा मानते हैं, इसलिए इसको जानने वाला भोजन करने के पूर्व आचमन करे तथा भोजन करके आचमन करे, इसी से वह उस अन्न को नग्न नहीं रहने देता ।" ऐसा कहते है ।

वहां विचार यह होता है कि यह जल के आचमन का विधानकिया जा रहा है, या प्राणों को नग्न नहीं रहने देने के लिए प्राणों के वस्त्र के रूप मेंविहित किया जा रहा है ।

(आचमन करना चाहिए)

इस प्रकार स्पष्ट ही विधि के दिखाई देने से आचमन का ही विधान होता है। नग्न न रहने की बात कहना तो आचमन की ही स्तुति के लिए है, इस अर्थ के उपस्थित होने पर हमारा कथन है कि कार्य रूप से स्मृति के द्वारा सिद्ध आचमन का पुनः कथन या अनुवाद के रूप में यहां कथन होने से यहां आचमन का विधान युक्ति युक्त नहीं है। किन्तु जिस जल का आचमन होगा उसका प्राण विद्या के सम्बन्ध से अपूर्व तथा प्राण का अनग्न करना उससे विहित माना जाता है। यह अनग्नता का कथन आचमन की स्तुति के लिए है ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि यहां आचमन अपूर्व न होने के कारण विधेय नहीं है।

अपि च यदिदं किञ्चाश्वभ्य आशकुनिभ्य इत्यादिना तावन्न स सर्वान्नाभ्यवहारः कर्तव्यतया विधीयते तस्य लोकरुचिप्राप्तत्वात्।

किन्तु सर्वं प्राणस्यान्नमित्यन्नदृष्टिरेव सर्वत्रोपपाद्यते अपूर्वत्वात्। एवं तत्साहचर्य्यादापो वास इत्यत्रापि नापामाचमनं कर्तव्यतया विहितं स्यात्। अपि त्वप्सु परिधानदृष्टिरेव संपाद्यते इति प्रतीमः। अर्द्धवैशसस्यानौचित्यात्।

यत्तु आचामेदिति विस्पष्टं विधिदर्शनादाचमनविधिरित्युक्त तदप्यनुवादेन पूर्वत्वात् प्रत्युक्तम्। अतएव च काण्वास्तदननमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते इत्यत्रैव पर्य्यवस्यन्ति नामनन्ति तु तस्मादेवंविदित्याद्युत्तरपाठः। तस्मान्माध्यन्दिनानां पाठेऽप्याचमनानुवादेन प्राणाकनग्नत्वविज्ञानमेवोपदिश्यते इति प्रतिपत्तव्यम्।

रामानुजस्त्विदं सूत्रमित्थं लापयति। कार्य्याख्यानात्—

अप्राप्ताख्यानादप्राप्ताख्याने शास्त्रस्यार्थवत्त्वादिहापूर्वमप्राप्तमेवापां प्राणवासस्त्वं प्रतिपाद्यते न त्वाचमनम् तस्य स्मृत्या विहितत्वादपूर्वत्वाभावादिति।

। इत्यपां प्राणवासस्त्वाधिकरणम्।

पुनश्च यह जो 'कुत्तों से लेकर पक्षियों से लेकर' इत्यादि वाक्य के द्वारा अन्न ग्रहण का जो विचार है वह विधि नहीं कही जा सकती क्योंकि भक्षणीय का पशुपक्षियों तक के द्वारा ग्रहण किया जाना तो लोकरूचि से ही सिद्ध है, उसमें अपूर्वत्व नहीं है। किन्तु—

"सब कुछ अन्न प्राण का है इस प्रकार अन्न के प्रति विशेष दृष्टि सर्वत्र युक्ति सिद्ध होती है क्योंकि वह अपूर्व है।

इसी प्रकार उसके साहचर्य से—

"जल वसन है"

यहां भी आचमन कर्तव्य के रूप में निहित नहीं है। अपितु जल में परिधान या वस्त्र की दृष्टि रखने का ही विधान यहां किया जारहा है, ऐसा हम समझते हैं। क्योंकि आधी बात मानना और आधी बात न मानना अनुचित होता है।

'आचामेत्" "आचमन करें"

इस प्रकार स्पष्ट विधि के दिखाई देने से जो यह कहा जाता है कि यह आचमन विधि ही है, उसका भी उत्तर हमने दे ही दिया है कि वह पूर्व प्राप्त का अनुवाद मात्र होने के कारण विधि नहीं है।

इसीलिए काण्व शाखा के अनुयायीगण—"उस अन्न को अनग्न करता हुआ मानते है"

यहीं पाठ को समाप्त कर देते हैं,

"इसलिए ऐसा समझकर आचमन करे"

इस आगे के पाठ को वे मानते ही नहीं। इसलिए माध्यन्दिनों के पाठ में भी आचमन अनुवाद रूप में ही पठित है और उससे प्राणों के अनग्नताकरण का उपदेश ही विधेय है यह मानना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्य तो इस सूत्र की संगति इस प्रकार बैठाते हैं।

कार्याख्यानात्'

अर्थात् कार्य के कथन का अर्थ है अप्राप्त के कथन में शास्त्र का तात्पर्य होना, इससे यहां अपूर्व अप्राप्त प्राण का वासस्त्व या आवरण प्रतिपादित है, न कि यहां अपूर्व रूप से आचमन करो कहां जा रहा है, क्योंकि वह तो पूर्व प्रकरणागत की स्मृति से ही निहित होने के कारण अपूर्व नहीं कहा जा सकता।

। यह अप् के प्राण वासस्त्व का अधिकरण पूर्ण हुआ।

समान एवं चाभेदात् ।३।३।१९।

यथाभिन्ने तन्त्रे पृथगाम्नातयोर्विद्यासंदर्भयो रूपचोदनाद्यभेदादेकविद्यं गुणोपसं:

हारश्च नियम्यते, एवं समाने च तन्त्रे प्रतिपाद्यस्यार्थस्याभेदादैकविद्यं गुणोपसंहा श्च स्यातामित्यर्थः ।

तथा च समानतन्त्रेऽपि रूपाद्यभेदाद् विद्यैकत्वं नैयमिति न्यायोऽनुगम्यते यथा छान्दोग्यवद् (३।१४)

वाजिनामग्निरहस्येऽ (१०।४।६)–पि शाण्डिल्यविद्याख्यायते ।

"स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्"—

इत्यादिः किन्तु वाजिनां पुनर्बृहदारण्यके— (१४।६) ।

"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च"—

इति पठ्यते । तत्र यद्यपि विद्याशेषोपसंहाराधिकरणन्यायेन छान्दोग्यबृहदारण्यकाम्नातयोर्गुणोपसंहारादैकविद्यं युज्यते तथापि बृहदारण्यके समानशाखायामेकस्या विद्याया द्विराम्नाने पौनरुक्त्यापत्तेरिह गुणानुपसंहाराद्गुणातिरेकेण च रूपभेदादिमे भिन्ने द्वे विद्ये स्यातामत उच्यते समान एव चाभेदादिति ।

समानतन्त्रेऽपि गुणोपसंहारेण रूपाद्यभेदादैकविद्यं प्रतिपत्तव्यम् ।

अग्निरहस्याम्नाने हि विद्याविधानार्थे केषांचिदनुक्तानां सर्वेशानत्वसर्वाधिपतित्वसर्वप्रकाशकत्वगुणानां विधानार्थमिदं बृहदारण्यके पुनस्तद्विद्यम्नानम् । तत्र तद्विद्याप्रत्यभिज्ञानार्थोयं पूर्वोक्तकतिचिद्रूपानुवादः इति बोध्यम् ।

केचित्तु सूत्रार्थमन्यथा लापयन्ति । मनोमयत्वादिगुणके ब्रह्मण्युभयत्र समाने प्रतिपाद्ये सत्यस्तु कचिद्गुणातिरेकेण प्रतिपादनम् । एवमप्यभेदो न व्याहन्यते । वेद्यरूपाभेदे विद्याभेदस्याध्यवसातुमयोग्यत्वादिति ।

न च भिन्ने तन्त्रे तथा संभवत्यपि समाने तन्त्रे तथा नावकल्पते पौनरुक्त्यप्रसङ्गादितिवाच्यम् । तत्रापि अर्थविभागोपपत्तेरपौनरुक्त्यात् । एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमित्यर्थविभागान्नास्ति पौनरुक्त्यम् ।

। इति समानतन्त्रेऽपि गुणोपसंहाराद्वैविद्यैकत्वाधिकरणम् ।

जैसे भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कथित विद्यासन्दर्भों में रूप, प्रेरणा आदि के अभेद से एकविद्या होना तथा गुणों के संग्रह का नियमन किया जाता है, वैसे एकही शास्त्रसंदर्भ

में प्रतिपादित अर्थ के अभेद होने पर एक ही विद्या का होना तथा गुणों का उपसंहार या संग्रह होना प्राप्त है। इस प्रकार समान शास्त्र सन्दर्भ में भी रूप आदि के अभेद होने पर एक ही विद्या का मानना उचित होता है इस न्याय का अनुगमन होने पर जैसे—

छान्दोग्य (२।१४) के समान, वाजसनेय के अग्नि रहस्य में (१०।४।६) भी शाण्डिल्य विद्या का आख्यान हुआ है।

"वह आत्मा की उपसना करे, जो मनोमय, प्राणशरीर आभारूप है" इत्यादि।

किन्तु वाजसनेयानुयायियों के बृहदारण्यक में (१४।३)—

—"यह मनोमय पुरुष प्रकाश सत्य है, उसके हृदय के भीतर जैसे व्रीहि या यव, (भीतर रहते हैं) वैसे यह सबका ईशान सबका अधिपति, सबका शासन करता है, यह जो कुछ है सब उसके शासन में है"—

ऐसा पढ़ा जाता है। वहां यद्यपि विद्या शेष के उपसंहाराधिकरण के न्याय से छान्दोग्य और बृहदारण्यक में वर्णित गुणों के संग्रह से एक विद्या का होना युक्त प्रतीत होता है तथापि बृहदारण्यक में समान शाखा में एक विद्या का दो बार कथन से पुनरुक्ति होने की आपत्ति से यहां गुणों का उपसंहार न होने अथवा गुणों के अतिरिक्त कथन से रूप भेद के कारण ये दो भिन्न विद्याएं मानी जा सकती हैं, इसलिए यह सूत्र है कि—

"इस प्रकार ये अभेद के कारण समान हैं"—

"समान तन्त्र में भी गुणों का संग्रह होने पर रूप आदि के अभेद से एक विद्या स्वीकार करनी चाहिए। विद्या के विधान के लिए कथित अग्निरहस्याख्यान में कुछ न कहे गए सर्वेशानत्व, सर्वाधिपतित्व सर्वप्रशासकत्व गुणों के विधान के लिये बृहदारण्यक में पुनः उसका विधान किया गया है वहां उस विद्या की स्मृति दिलाने के लिए यह पूर्वोक्त कुछ रूपों का अनुवादकथन है यह समझना चाहिये। कुछ आचार्यगण तो इस सूत्र की संगति दूसरे प्रकार से लगाते हैं। उनके अनुसार, मनोमय आदि गुणवाले ब्रह्म के दोनों स्थानों पर समान रूप से प्रतिपाद्य होने पर कहीं यदि अतिरिक्त गुणों का प्रतिपादन है तो भी उससे अभेद में बाधा नहीं आती। वेद्य या ज्ञातव्य के रूप में अभेद होने पर विद्या में भेद मानना योग्य या उपयुक्त नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भिन्न तन्त्र में वैसा विद्या अभेद मानने पर भी समान तन्त्र में यह नहीं मानना चाहिए क्योंकि इससे पुनरुक्ति का प्रसङ्ग आ जाता है क्योंकि वहां भी अर्थ विभाग की उपपत्ति से पुनरुक्ति जनित दोष का निवारण कर दिया जाता है। एकत्र कथन को विद्या के विधान के

लिए माना जा सकता है तथा दूसरे को गुण के विधान के लिए स्वीकार किया जा सकता है, इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं रह जाती ।

। इस प्रकार समान तन्त्र में भी गुणों का संग्रह होने से विद्या के एकत्व का अधिकरण पूर्ण हुआ ।

संबन्धादेवमन्यत्रापि ।३।३।२०।

न वा विशेषाद् ।३।३।२१।

दर्शयति च ।३।३।२२।

यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसहार उक्तः एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति । एकविद्याभिसंबन्धात् । तथा च यत्र बृहदारण्यके—

—"सत्यं ब्रह्म"

इत्युपक्रम्य—

"तद् यत् तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः"—

इत्येवं तस्य सत्यस्याधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते । तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम् । तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम् । तत्रापि सत्यैकविद्यासंबन्धाद् गुणोपसंहारौचित्यादुभे द्वे अप्युपनिषदावुभयत्र प्राप्नुत इति चेत् तत्र प्रतिविधीयते । न वोभयोरेतयोरुभयत्र प्राप्तिः । उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धात् ।

य एष एतस्मिन्मंडले पुरुषस्तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतपुरुषसंबन्धेन भिन्नामुपनिषदमाख्याय—

योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मपुरुषसंबन्धेन भिन्नामुपनिषदमाचष्टे । रहस्यं ह्युपनिषत् । तत्र तस्येति संनिहितालम्बनशब्दादायतनविशेषव्यापाश्रयेणैव भेदेनोपनिषदोरुपदेशान्नोभयत्र प्राप्तिर्युज्यते वक्तुम् ।

नन्वेकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनादधिदैवतमध्यात्मं चैकस्यैव पुरुषस्य सत्त्वादुभयोरुभयत्र प्राप्तिः स्यादिति चेन्न एकस्यापित्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात् तदवस्थस्यैव तत्सिद्धेः ।

दर्शयति चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थालिङ्गम्—

—"तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्, यावमुष्य गेष्णो तो गेष्णौ यन्नाम तन्नामेति"—

इह हि अक्ष्यादित्यस्थानभेदाद्धर्म्माणामन्योन्यस्मिन्नुपसंहारभावं पश्यन्नेवातिदेशेनादित्यपुरुषगतान् रूपादीनक्षिपुरुषे उपसंहरति। तस्मादत्रोपनिषदोरनुपसंहारात् तयोर्व्यवस्थैवेति सिद्धम्। सिद्धश्चात्र विद्यैक्येऽपि प्रतिज्ञाविशेषादांशिकभेदोऽनुगृह्यते इति न्यायानुगमः।

। इति विद्यैक्येऽपि प्रतिज्ञानादांशिकभेदानुप्रवेशाधिकरणम्।

जैसे शाण्डिल विद्या में विभाग से अधीन होने पर भी गुणों का संग्रह कहा गया वैसे ही इसी प्रकार के विषय में अन्यत्र भी गुणों का इस प्रकार संग्रह हो सकता है। एक ही विद्या के सम्बन्ध के कारण यह गुणों का संग्रह होगा। जैसे कि बृहदारण्यक में—

"ब्रह्म सत्य है"

ऐसा उपक्रम करके—

"वह यह सत्य है जो यह आदित्य है, इस मण्डल में जो पुरुष है, जो इसके दक्षिण में अक्ष पुरुष है"

इस प्रकार उस सत्य का अधिदैवत तथा अध्याय में विशेष आयतन का उपदेश करके दो उपनिषदों का उपदेश दिया जाता है। उस उपनिषद् का अहः अधिदैवत पक्ष है। उस उपनिद्ष का अहम् अध्यात्म पक्ष है। उनमें भी सत्य एक विद्या का सम्बन्ध होने से गुणों के सग्रह के औचित्य से वे दोनों उपनिषद् दोनों स्थानों पर प्राप्ति होती हैं,

इस प्रश्न पर उत्तर दिया जाता है। इन दोनों की दोनों स्थानों पर प्राप्ति नहीं है। क्योंकि इनमें उपासना के स्थान का उपनिबन्धन या नियम है।

"जो इस मण्डल मे पुरुष है उसकी उपनिषद् अहः है"

इस प्रकार अधिदैवत पुरुष के सम्बन्ध से भिन्न उपनिषद् का कथन करके—

"जो यह दक्षिण मे अक्षपुरुष है उसकी उपनिषद् 'अहम्' है"

इस प्रकार अध्यात्म पुरुष के सम्बन्ध से भिन्न उपनिषद् का कथन है। उपनिषद का अर्थ है रहस्य। वहां 'तस्य' इस समीपस्थ का आश्रय ग्रहण करने वाले शब्द से आय-

तन विशेष का आश्रय लेने वाले भेद से ही दोनों उपनिषदों का उपदेश होने से दोनों की दोनों में प्राप्ति कहा जाना युक्त नहीं है।

प्रश्न होता है कि एक ही सत्यरूप ब्रह्म के दो आयतनों के प्रतिपादन से अधिदैवत और अध्यात्म में एक ही पुरुष की सत्ता होने से दोनों की दोनों स्थानों पर प्राप्ति होगी तो ऐसा नहीं है, एक को भी अवस्थाविशेष के विवरण के द्वारा विशेष उपनिषद् के उपदेश के कारण उस विशेष अवस्था में ही उस उपनिषद् की सिद्धि होती है।

इस प्रकार के धर्मों की व्यवस्था का चिन्ह दिखाया गया है कि—

"उसका वही रूप है जो इसका रूप है, जो इसका नाम है वही उसका नाम है"।

यहां अक्षि तथा आदित्य इन स्थानों के भेद के कारण धर्मों का दूसरे में संग्रह भाव देखते हुए ही आदित्य पुरुष में स्थित रूप आदि का अक्षिपुरुष में उपसंहार किया गया है।इसलिए यहां उपनिषदों का उपसंहार न होने से उनकी व्यवस्था ही की जा रही है यह सिद्ध होता है। यहां विद्या के एक होने पर भी विशेष प्रतिज्ञा के कारण आंशिक भेद को स्वीकार किया जाता है इस न्याय का अनुगम सिद्ध होता है।

। यह विद्या की एकता में भी प्रतिज्ञा के कारण आंशिक भेद के अनुप्रवेश का अधिकरण हुआ।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३।

अतश्चानुपसंहारकधर्म्मयोगेऽनुपसंहाराद्धेतोःसंभृतिद्युव्याप्त्यपि नोपसंह्रियते विशेषोपदेशस्यानुपसंहारकत्ववद्—

अक्तपरिमाणायतनद्वयविरोधस्याप्यनुपसंहारकत्वात्।

तथा हि—

"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्यासंभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। ब्रह्मभूतानां प्रथमोतजज्ञे नार्हतिब्रह्मणा स्पर्द्धितुंकः"—

—इति तैत्तिरीयके राणायनीयानां खिलेषु च ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्य्याणां संभृतिद्युर्व्याप्तिश्चेत्यादयोविभूतय आम्नायन्ते तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठचन्ते। तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियन्ते न वेति विचारे ब्रह्म-

संबन्धादुपसंहारप्राप्तौ ब्रूमः संभृतिद्युव्याप्त्यपि चानेनोपसंहार्य्यमिति । व्यक्तपरिमाणानां परस्परविरुद्धायतनानामनुपसंहारकत्वसिद्धान्तात्—

इह हि परस्परविरुद्धान्यक्तपरिमाणान्यायतनानि गृह्यन्ते ।

एष आत्माऽन्तर्हृदय–इतिहृदयायतनत्वं शाण्डिल्यविद्यायाम्—

"दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः"—

—इति दहरायतनत्वं दहरविद्यायाम् ।

"य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यते"—

—इत्यक्ष्यायतनत्वमुपकोशलविद्यायाम् इत्थमाध्यात्मिकमायतनमासु विद्यासूपदिश्यते । आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयोऽतिविस्तृतायतनसापेक्षाः । तस्मादाध्यात्मिकाधिदैविकयोरायतनयोरुक्तपरिमाणतया पूर्वाधिकरणन्यायेनानुपसंहारो न्याय्यः ।

परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वमुक्तपरिमाणत्वम् ।

द्युव्याप्तिस्तावद्धृदयाद्यल्पस्थानीये स्वसामर्थ्यादेव व्यावृत्तलक्षणा भवतीत्यनुपसंहार्य्यता ।

ननु शाण्डिल्यविद्यादिष्वपि—

"ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । एष एव भामनीः एष हि सर्वेषु भूतेषु भाति, यावान् वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः, उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते"—

—इत्यादिना हृदयाद्यल्पस्थानविरुद्धधर्मा आख्यायन्ते इति चेत् माहात्म्यप्रतिपादनपरा एते आध्यात्मिकस्येत्यविरुद्धमेतत् । अल्पस्थानविशिष्टस्य औपाधिकाल्पत्ववतो ब्रह्मणस्तस्मिन्नेव स्थाने महास्थानविशिष्टेनौपाधिकमहत्त्ववता ब्रह्मणा गुणोपसंहारत्वद्वारा साम्यप्रतिपादनं तु विरुद्धमित्यनुपसंहारो न्याय्यः ।

। इति विरुद्धधर्मोपदेशोऽनुपसंहाराधिकरणम् ।

अनुपसंहारक धर्म के योग में अनुपसंहार के कारण संभृति तथा द्युव्याप्ति का भी उपसंहार या सग्रह न होता क्योंकि विशेष उपदेश का उपसंहार या संग्रह नहीं किया जाता—

अक्त परिमाण और आयतन द्वयके विरोधका भी उपसंहार नहीं होता जैसे कि—

"ब्रह्म ज्येष्ठ वीर्य संभृत है, ज्येष्ठ ब्रह्म ने प्रारम्भ में द्युलोक का विस्तार किया, भूतों में प्रथम ब्रह्म उत्पन्न हुआ, इसलिए ब्रह्म से कौन स्पर्धा कर सकता है।"

इस प्रकार तैत्तिरीयक में तथा राणायक के अखिलपाठ में ब्रह्म में ज्येष्ठ वीर्यों की संभृति, तथा द्यु व्याप्ति आदि विभूतियों का विवरण है। उन्हीं के उपनिषद् में शाण्डिल्य विद्या आदि ब्रह्मविद्याएं पढ़ी जाती हैं। उन ब्रह्म विद्याओं में उन ब्रह्म विभूतियों का संग्रह होता है या नहीं इस विचार में ब्रह्म के सम्बन्ध से उपसंहार या संग्रह की प्राप्ति की स्थिति में कहना यह है कि यहां संभृति और द्युव्याप्ति का भी संग्रह करना चाहिए। जो व्यक्त परिमाण वाले हैं और जो परस्पर विरुद्ध आयतन वाले हैं, उनका संग्रह नहीं होता यह सिद्धान्त है।

यहां तो परस्पर विरुद्ध उक्त परिमाण आयतन वालों का ग्रहण है।

"यह आत्मा हृदय के अन्दर है"

यह हृदय का आयतनत्व शाण्डिल्य विद्या में,—

"दहर पुण्डरीक वेश्म है इसके अन्दर दहर आकाश है"

इस प्रकार दहर का आयतनत्व दहर विद्या में—

"जो यह अक्ष में पुरुष दिखाई देता है"

इस प्रकार अक्षिका आयतनत्व उपकोशल विद्या में है। इस प्रकार आध्यात्मिक आयतन इन विद्याओं में उपदिष्ट है। आधिदैविक ये विभूतियां संभृति द्यु व्याप्ति आदि तो अति विस्तृत आयतन की अपेक्षा रखती हैं।

इसलिए आध्यात्मिक और आधिदैविक आयतनों के अक्त परिमाण होने से पहिले के अधिकरण के न्याय से उनका संग्रह उचित है। परस्पर व्यावृत्त स्वरूपत्व ही अक्त परिमाणत्व कहा जाता है। द्युव्याप्ति तो हृदय आदि छोटे स्थान में अपने सामर्थ्य से ही व्यावृत्त लक्षण वाली हो जाती है अतः उसमें अनुपसंहार्यता या असंग्रहणीयता है।

प्रश्न होता है कि शाण्डिल विद्या आदि में भी

"वह दिव से बड़ा है, वह इन लोकों से बड़ा है, यही भामनी है, यही समस्त भूतों में भासित है, जितना यह आकाश है उतना ही हृदय के भीतर यह आकाश है, भीतर ही धापा पृथ्वी समाहित हैं"

इत्यादि कथन के द्वारा हृदय आदि अल्पस्थान के विरुद्ध धर्म वाले कहे गए हैं, इसका उत्तर है कि ये आध्यात्मिक के माहात्म्य को दिखाने वाले होने के कारण विरुद्ध नहीं है। जो औपाधिक ब्रह्म है वह अल्प स्थान वाला है अतः उसी के स्थान पर महास्थान विशिष्ट औपाधिक महत्व वाले ब्रह्म का गुणों के उपसंहारत्व के द्वारा समानता का प्रतिपादन तो विरुद्ध है इसलिए वहां गुणों का संग्रह नहीं होता यही न्याय युक्त है।

। इस प्रकार विरुद्ध धर्मोपदेश में अनुपसंहार का अधिकरण हुआ।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नात् ।३।३।२४।

बह्वृचः समाननामानः पुरुषविद्या उपदिश्यन्ते। तत्रैकेषां पुरुषविद्यायामिवान्येषां पुरुषविद्यायां धर्माणामनाम्नानाद् रूपादिभेदानुपसंहार इति विद्यानानात्वसिद्धिः। नामरूपफलोपदेशानां विद्यैकत्वप्रयोजकानां मध्ये नानापेक्ष्या रूपादीनां बलवत्वाभ्युपगमात्।

तथा च नामैक्येपि रूपादिभेदे विद्यानानात्वमितिन्यायोऽवसीयते तद् यथा—

'पुरुषो वाव यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनम्"—

इत्यादिना ताण्डिनां पैङ्गिना च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्याम्नायते। तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः। तस्यायुस्त्रयं सवनत्रयम् बुभुक्षापिपासोद्वेगा दीक्षा। अशनपानरमणान्युपसदः। हसनमैथुनादीनि स्तुतशस्त्राणि।

तपोदानादिर्दक्षिणा। मृत्युरवभृथः। प्राणानां यावदायुरनुसंतननमाशीः। षोडशशतवर्षजीवित्वं फलमित्युक्तम्। एवं तैत्तिरीयकेऽप्यन्या पुरुषविद्याम्नायते।

"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्मम् उरो वेदिः लोमानि बर्हिरित्यादि। तत्र संशयः। किं ताण्डचोक्ता धर्मास्तैत्तिरीयकेऽप्युपसंहर्तव्या न वेति। पुरुषयज्ञत्वविशेषादुपसंहारप्राप्तावुच्यते। ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामिवेतरेषां तैत्तिरीयकाणामनाम्नाद्विद्याभेदो विज्ञायते तस्मान्नोपसंहार इति।

विलक्षणं हि तेषां यज्ञपरिकल्पनं दृश्यते। पत्नीयजमानवेदिबर्हियूपाज्यपश्वृत्विगाद्यनुक्रमणात्। सवनान्यपि छान्दोग्ये पुरुषस्यायूंषि कल्प्यन्ते, तैत्तिरीयके तु सायंप्रातर्मध्यन्दिनानि। दीक्षोपसद्दक्षिणास्तुतशस्त्रादीनि च नेहोपकल्प्यन्ते।

तस्मादनयो रूपभेदं पश्यामः। अपि च तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं न श्रूयते। आत्मा यजमान इति पुरुषस्य यजमानत्वश्रवणात् विदुषो यो यज्ञस्तस्येति वैयधिकरण्यप्रतिपत्तेः। सत्यां गतौ मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणौचित्याच्च।

तस्मादनयोश्चोदनाभेदं पश्यामः। अपि च तैत्तिरीयके पूर्वानुवाके—

"ब्राह्मणोत्वा महसे ओमित्यात्मानं युञ्जीतेति"

ससंन्यासामात्मविद्यासभिधाय ब्रह्मणो महिमानमाप्नोतीति च तत्फलमुक्त्वा तस्यैवंविदुष इत्यादिनेयं पुरुषविद्याम्नायते। तथा च फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इत्यतस्तैत्तिरीयपुरुषविद्याया: पूर्वोक्तात्मविद्याङ्गत्वसिद्धौ ब्रह्ममहिमाप्ति रूपस्यात्मविद्याफलस्यैवेहापिसंबन्धः सिद्धचति। ताण्डचपुरुषविद्याम्नायस्य त्वनन्यशेषस्यायुरभिवृद्धिः फलमित्युभयोः फलसंयोगभेदं पश्यामः। संयोगाद्यपेक्षया च नाम्नो दौर्बल्यमित्यतो नामैक्येपि संयोगरूपचोदना वैशेष्याद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामन्यत्र तैत्तिरीयपुरुषविद्यायामनुपसंहारः।

रामानुजस्तु पुरुषविद्यायामपीत्येवमपि शब्दमिवस्थाने पठति।

।इति नामैक्येपि रूपादिभेदेऽनुपसंहाराधिकरणम्।

जहाँ अनेक समाननाम वाली पुरुष विद्याओं का उपदेश हुआ है वहां एक स्थान पर व्याख्यात पुरुष विद्या के समान अन्यस्थान में वर्णित पुरुष विद्या में धर्मों का कथन न होने से रूप आदि भेदों का संग्रह नहीं होता, इसलिए वे भिन्न भिन्न विद्याएं हैं, यह सिद्ध होता है। विद्या के एक होने के प्रयोजक या कारण होता है नाम रूप और फल का उपदेश, इनमें नाम की अपेक्षा रूप आदि ही बलवान् माने गए हैं। इस प्रकार एक नाम होने पर भी रूप आदि के भेद से विद्या में नानात्व या भेद है यह न्याय यहां उपयुक्त होता है। जैसे कि -

"पुरुष एक यज्ञ है, उसके जो चोबीस वर्ष हैं, वह प्रातः सवन है,"

"इत्यादि के द्वारा ताण्डियों तथा पैङ्गियों के यहां रहस्य ब्राह्मण में पुरुष विद्या कही गई है। वहां पुरुष की यज्ञ के रूप में कल्पना की गई है। उसकी तीन आयु तीन सवन बतलाए गए हैं। बुभुक्षा, पिपासा, उद्वेग, दीक्षा कहीं गईं। अशन, पान, रमण को उपसद कहा गया। हसन मैथुन आदि स्तुत शास्त्र कहे गए। तपदान आदि दक्षिणा बतलाए गए। मृत्यु को अवभृथ कहा गया। प्राणों का आयुपर्यन्त विस्तार आशीर्वाद हैं। षोड़शशत वर्ष जवित रहना फल कहा गया। इसी प्रकार तैत्तिरीयक में अन्य पुरुष विद्या कही गई।

"इस प्रकार जानने वाले विद्वान् रूप यज्ञो का आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर इध्म है, उर वेदी है, लोम कुशाएं हैं,।

"यहां सन्देह होता है कि ताण्ड्य में कहे गए धर्मों का तैत्तिरीयक में संग्रह करना चाहिए या नहीं। दोनों स्थलों पर पुरुष यज्ञ में अभेद होने से सग्रह की प्राप्ति पर कहा जाता है कि ताण्डियों तथा पैङ्गियों को पुरुष विद्या को तरह अन्य तैत्तिरीयकों के कथन न होने से विद्या का भेद प्रतीत होता है, इसलिए संग्रह नहीं होता। उनकी यज्ञ की कल्पना विलक्षण दिखाई देती है। वहां पत्नो, यजमान, वेद, वेदी, बर्हि, यूप, आज्य, पशु ऋत्विक् आदि का अनुक्रम बतलाया गया है। छान्दोग्य में सवन भी पुरुष की आयु को बतलाया गया है। जब कि त्तैत्तिरीयक में सायं, प्रात: और मध्य दिन को सवन कहा गया है। दीक्षा, उपसद, दक्षिणा और स्तुतशास्त्र की यहां कल्पना नहीं की गई है। इसलिए इन दोनों में रूप का भेद दिखाई देता है पुनश्च तैत्तिरीयक में पुरुष का यज्ञत्व नहीं सुना जाता।

"आत्मा यजमान है"

"यह कहते हुए पुरुष का यजमानत्व वहां सुना जाता है। ज्ञानवान् या विद्वान् का जो यज्ञ है, उसका सम्बन्ध बतलाने के कारण ज्ञानी और आत्मा भिन्न भिन्न हैं, उनमें वैयधिकरण्य की प्रतीति है। यदि मार्ग मिलता हो तो मुख्य अर्थ का ही ग्रहण उचित माना गया है।"

"इसलिए इन की प्रेरणा में हम अभेद देखते हैं। पुनश्च तैत्तिरोयक के पूर्वानूवाक में"

"ब्राह्मण तेजप्राप्ति के लिए ओम् इस आत्मा से योग करे"

"इस प्रकार सन्यास–सहित आत्मविद्या का कथन करके 'वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है"

"ऐसा उसका फल बतलाकर"

"इसको जानने वाले"

"इत्यादि के द्वारा यह पुरुष विद्या कही गई है। वहां"–

"फलवान् के समीप होने पर अफलवाला उसका अंग होता है"—

"इस न्याय से यह आम्नाय पूर्वशेष ही है स्वतन्त्र नहीं, इसलिए तैत्तिरीय विद्या के पूर्वोक्त आत्म विद्या की अङ्ग विद्या के रूप में सिद्धि हो जाने पर ब्रह्म की महिमा प्राप्ति रूप आत्म विद्या के फल का ही यहां भी सम्बन्ध सिद्ध होता है। ताण्ड्य पुरुष विद्या का आम्नाय तो किसी अन्य का शेष नहीं है अतः उसका फल तो आयु की

अभिवृद्धि है इसलिए दोनों के फल सयोग में हम भेद देखते हैं। संयोगादिकी अपेक्षा नाम साम्य दुर्बल होता है अतः नाम के एक होने पर भी संयोग रूप प्रेरणा की विशेषता से विद्या में भेद है अतः एक स्थल पर कहे गए पुरुष विद्या के धर्म आशीर्वाद मन्त्र आदि का अन्यत्र तैत्तिरीय पुरुष विद्या में संग्रह नहीं है ।

श्री रामानुजाचार्य तो इस सूत्र में 'इव' शब्द के स्थान पर अपि शब्द का पाठ मानते हैं–उनका पाठ है "पुरुष विद्यायामपि"।

। यह एक नाम होने पर भी रूप आदि के भेद से अनुपसंहार का अधिकरण पूर्ण हुआ ।

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५।

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे—

"सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्यशिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः"

इत्यादि मन्त्रसमाम्नायमधीयते ।

"देवसवितः प्रसुव यज्ञम्"

इत्यादिस्ताण्डिनः। श्वेताश्वो हरितनीलोऽसीत्यादि शाट्यायनिनः ।

"शं नो मित्रः शं वरुणः"

"सह नाववतु सह नाववतु सह नौ भुनक्तु"

इत्यादि काठास्तैत्तिरीयकाश्च । देवा ह वै सत्रं निषेदुरित्यादि प्रवर्ग्यब्राह्मणं वाजसनेयिनः ।

इन्द्रो ह वै वृत्रं हत्वा महानभवद्"—

इत्यादिकं महाव्रतब्राह्मणमैतरेयिणः । प्रजापतिर्वै संवत्सरस्तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतम्"

इत्येवं तु महाव्रतब्राह्मणकौषीतकिनः । ब्रह्मैवा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपसंयन्तीत्यग्निष्टोमब्राह्मणञ्च कौषीतकिनोऽधीयते । तत्र सर्वं प्रविध्येत्यादिमन्त्राणां प्रवर्ग्यादिकर्मणां च प्रधानोपनिषद्ग्रन्थारम्भे पाठात् संनिधिसमाम्नानसामर्थ्याद्विद्याङ्गत्वप्रतीत्या विद्यासूपसंहारः प्राप्नोति इत्यत आह वेधाद्यर्थभेदान्नैषां विद्यासूपसंहारोऽस्तीति ।

तथा हि श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् स्यादिति पूर्वतन्त्रसिद्धान्ताच्चेति लिङ्गवाक्यैः प्रवर्ग्यादिकर्मणा कर्मस्वेव विनियोगो गम्यते । शुक्रं प्राविध्येत्यादि मन्त्राणां च वेधाद्यर्थसामर्थ्यादभिचारादिशेषत्वं गम्यते । तथा च कर्माङ्गत्वे सिद्धे संनिधिपाठरूपप्रकरणस्य दौर्बल्यात् तद्वशेन विद्याङ्गत्वं नोपपद्यते ।

ननु शं नो मित्रः सहनाववतु ऋतं वदिष्यामीत्यादिमन्त्राणां श्रुतिलिङ्गवाक्यैः कर्मविशेषे विनियोगो नावगम्यत इत्यतः प्रकरणाद्विद्याङ्गत्वं स्यादिति चेन्न । तेषामपि हि सामर्थ्यात् स्वाध्यायशेषत्वमेवोपपद्यते न तु विद्याङ्गत्वम् । विद्याभिरनभिसंबद्धार्थानामेषामुपनिषदुक्तविद्याभिः संगन्तुं सामर्थ्यालाभात् ।

हृदयवेधादयश्चार्था उपनिषदर्थेभ्यो विद्यारूपेभ्यो भिन्नाः प्रतिभासन्ते ।

तस्मान्नैषां विद्याङ्गतया प्रवेशसामर्थ्यमस्तीति नोपसंहारः ।

तथा चानभिसंबद्धार्थो विद्यायां नोपसंह्रियते इति न्यायः सिद्धः ।

। इत्यसंबद्धार्थानुपसंहाराधिकरणम् ।

आथर्वणिक गण उपनिषद् के आरम्भ में—

"सर्वं प्रविध्य"

इत्यादि मन्त्र समूह पढ़ते हैं ।

ताण्ड्यानुयायी– "देव सवित" आदि पढ़ते हैं ।

शाट्यायनिगण 'श्वेताश्व' आदि पढ़ते हैं, कठानुयायी तथा तैत्तिरीयकगण—

"शं नो मित्रः"

तथा—"सह नाववतु आदि पढ़ते हैं ।

वाजसनेयीगण "देवा ह वै" आदि पढ़ते हैं ।

ऐतरेयानुयायी—

"इन्द्रो ह वै"

–आदि महाव्रत ब्राह्मण पढ़ते हैं । महव्रात ब्राह्मण कोषीतकाऽनुयायी 'प्रजापतिर्वै संवत्सरः" आदि पढ़ते हैं ।

"ब्रह्म वा अग्निष्टोमो"

—आदि मन्त्र पढ़ते हैं।

वहां "सर्वं प्रविध्य"

—आदि मन्त्रों को तथा प्रवर्ग्य आदि कर्मों को प्रधान उपनिषद् ग्रन्थ के पाठ के आरम्भ में पढ़ने से समीप पठन के सामर्थ्य से विद्या के अङ्गरूप से प्रतीति के कारण विद्याओं में संग्रह प्राप्त होता है इसलिए कहा जाता है, वेध आदि अर्थ भेद से इनका विद्या में संग्रह नहीं है। स्मरणीय है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या में एक के बाद दूसरा दुर्बल मान जाता है क्यों कि आगे वालों में अर्थ दूर होता जाता है। यह पूर्व तन्त्र अर्थात् मीमांसा का सिद्धान्त है।

इसलिए लिङ्ग वाक्यों से प्रवर्ग्य आदि कर्मों का कर्मों में ही विनियोग प्रतीत होता है।

"शुक्र प्रविध्य" आदि मन्त्रों का वेध आदि अर्थों के सामर्थ्य से अभिचारादिशेषत्व प्रतीत होता है।

इस प्रकार इनके कर्मों की अङ्गता सिद्ध होने पर समीप पाठ रूप प्रकरण की भी दुर्बलता के कारण इनकी विद्या के प्रति अङ्गता सिद्ध नहीं होती।

प्रश्न है कि 'शंनो मित्रः' सह नाववतु', 'ऋतं वदिष्यामि', इत्यादि मन्त्रों का श्रुति लिङ्ग वाक्यों के द्वारा कर्म विशेष में विनियोग प्रतीत नहीं होता, इसलिए प्रकरण के कारण इनका विद्या में अङ्गत्व हो सकता है, तो यह बात नही है, उनका भी सामर्थ्य के कारण स्वाध्यायशेषत्व ही उपपन्न होता है, विद्या में अंगत्व नहीं। विद्याओं से असम्बद्ध इन वाक्यों का उपनिषद में उक्त विद्याओं से संगत होने का सामर्थ्य नहीं है। तथा हृदय वेधादि विद्यारूप उपनिषद् के अर्थों से भिन्न प्रतिभासित होते हैं।

इसलिए इनका विद्या के अंग के रूप में प्रवेश का सामर्थ्य न होने से यहां इनका संग्रह नहीं होता। इस प्रकार असम्बद्ध अर्थं का विद्या में संग्रह नहीं किया जाता यह न्याय सिद्ध होता है।

। यह असम्बद्ध अर्थ के अनुपसंहार का अधिकरण हुआ।

—

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ३।३।२६।

ब्रह्मविदां क्रममुक्तिवादे कौषीतकिनस्तावत्—

"तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्"

इत्येवं पुण्यपापयोर्हानं सुहृद्दुर्हृद्भ्यां दायादाभ्यां तदुपायनं चामनन्ति । ताण्डिनस्तु अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि इति । तथाऽथर्वणिकाः"—

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति इति च केवलं हानमेवामनन्तस्तदुपायनं नामनन्ति । शाट्यायनिनः पुनः

"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्"—

इत्येवमुपायनमेवामनन्तो हानिं नामनन्ति । तत्र हानिरुपायनमुभयं वा विकल्प्यन्ते अथवा परस्परोपसंहारात् समुच्चायन्ते इति विचारे विकल्पापेक्षयोपसंहारात् समुच्चयो न्याय्यः । तत्रान्यैरुपायने स्वस्मिंस्तद्धानिर्न प्राप्तेत्युपायनश्रवणे हानिरप्यर्था देव समुच्चीयते । किन्तु हानिमात्रश्रवणे तदुपायनं नार्थतः सिद्धं भवति । तस्मात्तत्रोपायनं शास्त्रार्थो न वेति चिन्तायामुच्यते । हानौ केवलायां श्रूयमाणायां तु तच्छेषत्वादुपायनशब्दस्यापि तत्रोपसंहारो भाव्यः कौषीतकिरहस्ये ह्युपायनशब्दस्य हानौ शेषत्वानुगमात् ।

अत्र हानावुपायनस्य शेषत्वादिति वक्तव्ये शब्दशब्दः स्तुत्यर्थमेव हानावुपायनानुवृत्तिं प्रत्याययति । हानोपायनाभ्यां हि विद्या स्तूयते इत्युपायनद्वारकस्तुत्युपसंहारश्छन्दोगाथर्वणिकयोरपेक्ष्यते न तूपायनगुणोपसंहारो ऽप्यत्र विवक्ष्यते इति बोध्यम् । इत्थं चात्र शाखान्तरोक्तविशेषस्य शाखान्तरेऽप्युपसंहारे दृष्टान्तो भवति कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदिति ।

कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पातेति भाल्लविनां निगमे कशानां वनस्पतियोनित्वमविशेषाच्छ्रूयते । तत्रानियमे प्राप्ते—

"औदुम्बराः कुशाः" इति शाट्यायनिनां विशेषवचनादौदुम्बर्य्यः कुशा आश्रीयन्ते देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्य्यप्रसङ्गे "देवच्छन्दांसि पूर्वाणि"—

इति पैंगङ्याम्नानान्नियमोऽध्यवसीयते । अतिरात्रे षोडशिनः स्तोत्रं कदा कार्य्यमिति छन्दोगानामाकांक्षायां—

समयाध्युषिते सूर्य्ये इत्याचार्य्यश्रुतेः कालविशेषनियमः । ऋत्विज उपगायन्तीत्यविशेषश्रुतौ नाध्वर्यु रुपगायन्तीति भाल्लविनां विशेषाम्नानादध्वर्य्यु भिन्नानामेवोपगानम् । इत्थं च यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयस्तथेहापि हानावुपायनान्वयो युक्तः अन्यथा

श्रुत्यन्तरोक्तसामान्यार्थस्य श्रुत्यन्तरोक्तविशेसार्थपर्यवसानेनैकवाक्यत्वानभ्युपगमे शास्त्र-द्वयप्रामाण्याद्विकल्पः स्यात् स चान्याय्यः ।

तदुक्तं पूर्वतन्त्रे—

—"अपि तु वाक्यशेषत्वादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्याद्"—इति ।

तथा च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति सामान्यशास्त्रार्थे दीक्षितो न जुहोतीति ज्योतिष्टोमीयशास्त्रोक्तविशेषातिरिक्तत्वेन संकोचाददीक्षितो यावज्जीवं जुहुयादित्येकवाक्य-त्वं सिद्ध्यति न तु विकल्पस्तथेहापि शास्त्रान्तरार्थानियामकत्वं द्रष्टव्यम् ।

विकल्पापेक्षयोहसंहारेणार्थसमुच्चयो न्याय्य इति न्यायानुगमात् ।

संभवन्त्यामेकवाक्यतायां विकल्पो न न्याय्य इति न्यायानुगमाद्वा ।

। इति शाखान्तरप्रामाण्याद् वाक्यशेषोपसंहाराधिकरणम् ।

ब्रह्मवेत्ताओं के क्रम मुक्तिवाद में कौषीतक अध्येता—

"वह सुकृत और दुष्कृत को हरा देता है, उसके प्रियज्ञाति सुकृत को प्राप्त करते हैं अप्रिय लोग दुष्कृत को प्राप्त करते हैं,"

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता के पुण्य और पाप का उसके द्वारा हानि और सुहृद (मित्र) दुहृद (शत्रु) रूप उसके सम्बन्धियों द्वारा उनका उपादान (ग्रहण) बतलाते हैं। ताण्डि के अध्येता गण मानते हैं कि--

"जैसे अश्व अपने बालों को दूर कर देता है, वैसे ब्रह्मवेत्ता अपने पापों को हटा देता है, वह वैसे मुक्त हो जाता है जैसे चन्द्रमा राहुसे मुक्त हो जाता है, वह कृतात्मा अपने अकृत शरीर छोड़कर निरञ्जन परम साम्य को प्राप्त कर ब्रह्मलोक में जन्म लेता है"

इसी प्रकार आथर्वणिक पढ़ते हैं कि--

"तब ज्ञानी पुण्य और पाप को दूर करके निरञ्जन होकर परम तत्त्व के साथ समान हो जाता है"

इस प्रकार केवल पापों के हानि की बात कही गई है, प्रदान या ग्रहण यहां नहीं बतलाया गया। शाट्यायनी के अध्येतागण—

"उसके पुत्र उसका दाय ग्रहण करते हैं, उसके मित्र उसके साधु कृत्यों का ग्रहण करते हैं, शत्रुगण उसके पाप कृत्यों का ग्रहण करते हैं"

इस प्रकार उपायन की ही बात कहते हुए छोड़ने या देने की बात नहीं कहते। वहां हानि, उपायन, या दोनों का विकल्प है अथवा परस्पर संग्रह के द्वारा सबको एकत्रित किया जाता है इस विचार में विकल्प की अपेक्षा संग्रह के द्वारा एकत्रित करना न्याय-युक्त बनता है। वहां अन्यों के द्वारा उपायन या ग्रहण के कथन पर अपने से उसकी हानि प्राप्त नहीं होती।

इसलिए उपायन के श्रवण से हानि का अर्थ से ही समुच्चय हो जाता है। किन्तु जहां हानि मात्र का श्रवण है वहां उपायन या ग्रहण या प्रदान अर्थतः सिद्ध नहीं होता। इसलिए वहां उपायन शास्त्र का अर्थ है या नहीं इस चिन्ता पर कहा जाता है कि जहां केवल हानि सुनी जाती है वहां तो उसके शेष होने से उपायन शब्द का भी वहां संग्रह उचित है, कौषीतकि रहस्य में हानि का प्रयोग होने पर शेष के रूप में उपायन का ग्रहण हुआ है। यहां हानि में उपायन का शेषत्व होने से'—

इस कथन में शब्द शब्द का प्रयोग स्तुति के लिए ही हानि में उपायन की अनु-वृत्ति को बतलाता है। हानि और उपायन के द्वारा विद्या की स्तुति की जाती है। इस-लिए उपायन के द्वारा स्तुति का उपसंहार छन्दोग और आथर्वणिकों को अपेक्षित है, नकि उपायन गुण का संग्रह यहां विवक्षित है, यह समझना चाहिए और इस प्रकार यहां दूसरी शाखा में कहे गए विशेष का दूसरी शाखा में भो सग्रह का दृष्टान्त दिया गया है,

"कुशाछन्दस्तुतिगानवत्"।

"कुशा वनस्पति है, वे मेरी रक्षा करें"

इस भाल्लवियों के निगम में कुशाओं का वनस्पति जाति होना समान्यतया सुना जाता है। वहां अनियम के प्राप्त होने पर–

"कुशा आदुम्बर है"

ऐसे शाट्यायनियों के विशेष वचन से आदुम्बरी कुशाओं का आश्रय लिया जाता है देवासुर छन्दों के सामान्यरूप से पौर्वापर्य के प्रसङ्ग में –

"देवों के छन्द पूर्व हैं"

इस पैङ्यों के प ठ से नियम का निश्चय होता है।

"अतिरात्र में षोडशी स्तोत्र कब करना चाहिए"

इस छन्दोगों की आकांक्षा पर—

"जब सूर्य समय में अध्युषित हो"

इस आचार्यश्रुति से काल विशेष का नियम होता है।

—"ऋत्विज उपगान करते हैं"—

इस सामान्य श्रुति में—

"अध्वर्यु उपागान नहीं करते"

ऐसे भाल्लवियों के विशेष कथन से अध्वर्यु से भिन्नों का ही उपगान होता है। इस प्रकार जैसे इन कुशा आदि में अन्य श्रुतियों के विशेषों का अन्वय है वैसे ही यहां हानि में उपायन का अन्वय युक्त होता है, अन्यथा अन्य श्रुतियों में कहे गए सामान्य अर्थ का अन्यश्रुतियों के विशेष अर्थ में पर्यवसान से एक वक्यता के स्वीकार न करने पर दोनों शास्त्रों के प्रामाण्य के कारण विकल्प होगा और वह न्याययुक्त नहीं है। पूर्व तन्त्र में इसी विषय पर कहा गया है कि—

"विकल्प के जय शेष के कारण अन्याय्य होने के कारण विधियों का एकदेश होगा"।

पुनश्च—

"जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे"

इस सामान्य शास्त्र के अर्थ में दीक्षित—

"न हो हवन करता"

इस प्रकार ज्योतिष्टोमीयशास्त्र में उक्त विशेष के अतिरिक्त रूप से संकोच के कारण -

"अदीक्षित यावज्जीवन हवन करे"

यह एक वाक्यता सिद्ध होती है न कि वहां विकल्प होता है, उसी प्रकार यहां भी अन्य शास्त्रों के अर्थ का नियामक होना है, ग्राह्य है। विकल्प की अपेक्षा संग्रहपूर्वक अर्थ का समुच्चय ही न्यायसिद्ध है इस न्याय का यहां अनुगम होता है। जब एक वाक्यता का होना संभव है तब विकल्प का आश्रय लेना न्याययुक्त नहीं है, इस न्याय का अनुगमन करना उपयुक्त है।

। इस प्रकार अन्य शाखाओं के प्रामाण्य से वाक्यशेष के उपसंहार का अधिकरण पूर्ण हुआ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत्।

शंकरस्त्वत्रैवाधिकरणान्तरमप्यारचयति।

—"विधूय पापमिति ताण्डिनः पुण्यपापे विधूयेत्याथर्वणिकाः सुकृतदुष्कृते विधूनुते"—

इति कौषीतकिनश्च पुण्यपापयोविधूननमामनन्ति । तत्र धूञ् कम्पने इति स्मृते-र्लोकप्रसिद्धेश्चेदं विधूननं कम्पनं चालनं वा स्यात् तच्च पुण्यपापयोः कञ्चित्कालं फलप्रति-बन्धनात् संभवतीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः । हानौ तु विधूननशब्दो द्रष्टव्यो न कम्पने । उपायन-शब्दशेषत्वात् ।

न ह्येतयोर्हानिमन्तरेण परैरुपायनं संभवति । यद्यपीदमुपायनं विधनसाहचर्य्येण कोषीतकिभिरेवाम्नायते न त्वन्यैरपि । तथापि कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदन्यश्रुतिष्वपि विधू-ननसंनिधावुपनेतुं शक्यते । सामान्यविशेषरूपाणां शास्त्राणां विकल्पापेक्षया समुच्चयपक्ष-स्यैवौचित्यात् । तदुक्तं पूर्वतन्त्रे—

—"अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्य्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्प स्यादिति" ।।

धातूनामनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च न पाणिनिस्मृतिविरोधः ।

। इति वाक्यशेषादर्थनिर्णयाधिकरणम् ।

श्रीशंकराचार्य तो यहीं दूसरा अधिकरण भी मानते हैं । ताण्डियों के अनुसार—

"पाप का विधूनन करके,"

आथर्वणिकों के अनुसार—

"पुण्य पाप का विधूनन करके"

तथा कौषीतकों के अनुसार—

"सुकृत दुष्कृतों का विधूनन करके"

पुण्य और पाप का विधून माना गया है । वहां—

"धूञ् कम्पने"

इस निर्वचन के अनुसार तथा लोक प्रसिद्धि के अनुसार 'विधूनन' का अर्थ कम्पन या चालन होगा । वह कम्पन या चालन पुण्य और पाप का कुछ काल तक फल का प्रतिबन्ध होने पर संभव होता है इस अर्थ के प्राप्त होने पर हमारा कथन है कि विधूनन शब्द का अर्थ हानि समझना चाहिए कम्पन नहीं । क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष अश है । पुण्य और पाप की हानि के बिना अन्यों के द्वारा उनका उपायन होना संभव नहीं है । यद्यपि यह उपायन विधूनन के साहचर्य केवल कौषीतक में ही पठित है अन्यत्र नहीं, तथापि कुश छन्द स्तुति के उपगान के समान अन्य श्रुतियों में विधूनन के साथ उसका संग्रह हो सकता है । सामान्य तथा विशेष रूप वाले शास्त्रीय वचनों का विकल्प की अपेक्षा समुच्चय पक्ष ही ठीक होता हैं । पूर्व तन्त्र में कहा है कि—

"वाक्य शेष के कारण अन्य में पर्युदास होता है तथा प्रतिषेध में विकल्प होता है।"

"धूञ्" का अर्थ हानि करने में पाणिनि स्मृति के विरोध की आशंका इसलिए नहीं है कि—

"धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं"।

। यह वाक्य शेष से अर्थ निर्णय का अधिकरण हुआ।

सांपराये तर्तव्याभावात्, तथा ह्यन्ये ।३।३।२७।

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२८।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ।३।३।२९।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।३।३।३१।

सर्वासु विद्यासु कर्मणो हानमुपायनं चोक्तम्। तच्च हानं देहादुत्क्रान्तस्याध्वन्युपपद्यते वा देहावसानकाले एव वेति संशयः। उभयथा हि श्रूयते। कौषीतकिनस्तावत्—

स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकं गच्छतीत्युपक्रम्य—

स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसात्येति तत्सुकृतदुष्कृते धूनूते—

इत्येवमध्वनि हानमामनन्ति।

ताण्डिनस्तु—

—"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानीत्येवं देहावसानकाल एवाहुः। शाट्यायनिनोऽपि"—

—तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्"—

इति ब्रुवाणाः पुत्रेषु दायसंक्रान्तिसमकालमेव कर्मणामुपायनाद्धानमभिप्रयन्ति। तत्रोभयवाक्यप्रामाण्याद्विकल्पो वा स्यात् समुच्चयो वेतिसंशये उपसंहाराधिकरणसिद्धान्तात् समुच्चयः प्राप्नोति। तथा चैकदेशो देहवियोगकाले हीयते। शेषस्त्वध्वनीति प्राप्ते उच्यते—

साँपराये देहोत्क्रमणकाले एव विदुषः कर्मनिरवशेषं हीयते। देहवियोगात् पश्चात् विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्तिव्यतिरेकेण पुण्यपापाभ्यां कर्मभ्यां तरितव्यभोगाभावात्। तथाह्यन्ये तदानीं कर्मभोक्तव्यसुखदुःखाभावमधीयते—

—"अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः। एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये"—इति।

श्रुतेरर्थस्वभावस्य चोभयोरविरोधेनैव स्वाच्छन्द्यात् पदानामर्थाः कार्य्या इत्यतोऽर्थस्वाभाव्यानुरोधेनेह कोषीतकिवाक्ये—

—"तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते"—

इत्यंशः—

—"स एतं देवयानं पन्थानमापद्येति प्रथमवाक्यात् प्राग् नेयः। तथा च न श्रुतिविरोधो भवति।

सभी विद्याओं में कर्म की हानि और उपायन का कथन हुआ है। वह कर्म की हानि देह से उत्क्रान्त होने पर मार्ग में होती है अथवा देह के अवसानकाल में ही हो जाती है यह संशय होता है। श्रुति में दोनों कथन प्राप्त होते हैं। कौषीतकि में—

"वह इस देवयान मार्ग का आश्रय लेकर अग्नि के लोक में जाता है"

इस प्रकार आरम्भ करके—

"वह विरजा नदी में आता है उसका मन से अति क्रमण करता है, सुकृत तथा दुष्कृत को दूर करता है"

इस प्रकार मार्ग में हानि बतलाई गई है। ताण्डिश्रुति में तो—

—"अश्व जिस प्रकार बालों को झाड़ देता है, उसी प्रकार पापों को दूर करके राहु के मुख से चन्द्रमा के समान निकाल कर शरीर को दूर करके अकृतात्मा होता हुआ ब्रह्मलोक में उत्पन्न होऊंगा"—

इस कथन से देहावसान काल में ही सुकृत दुष्कृतकर्मों की हानि बतलाई गई है। शाट्यायनि में भी—

"उसके पुत्र दाय को प्राप्त करते है, मित्र साधुकृत्यों को प्राप्त करते हैं, शत्रु लोग पापकृत्यों को प्राप्त करते हैं"—

यह कहते हुए पुत्रों में दायके संक्रमण के काल में ही कर्मों के उपायन से उनकी हानि का अभिप्राय प्रकट किया गया है। यहां दोनों वाक्यों के प्रमाण होने से विकल्प माना जाय या दोनों का संग्रह माना जाय इस संदेह के उपस्थित होने पर उपसंहार अधिकरण के सिद्धान्त से समुच्चय या संग्रह की प्राप्ति होती है। देह के वियोगकाल में एकदेश हीन हो जाता है जो शेष है वह मार्ग में अलग होता है, ऐसा पक्ष उपस्थित होने पर कहा जाता है कि —

सांपराय अर्थात् देह के उत्क्रमणकाल में ही ज्ञानी के कर्म पूर्णरूप से पृथक् हो जाते हैं। देह वियोग होने के बाद विद्या की फलभूत ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त पुण्य और पापों के द्वारा तरणीय भोगों के अभाव के कारण उत्क्रमण काल में ही कर्मक्षय माना जाता है। अन्य विद्वान् उस समय कर्मों के द्वारा भोक्तव्य सुख दुःख के अभाव का कथन करते हैं —

"अशरीर होने पर प्रिय तथा अप्रिय स्पर्श नहीं करते, यह संप्रसाद है कि इस शरीर से उठकर परमज्योति में उपसंपन्न होकर स्वरूप में निष्पन्न होता है, उसकी तब तक वहां स्थिति होती है जब तक वह मुक्त नहीं हो जाता, तब सम्पन्न होता है।"

श्रुति तथा अर्थ के स्वभाव दोनों के अविरोध से ही स्वच्छन्दता पदों का अर्थ करना चाहिए, इसलिए अर्थ के स्वभाव के अनुरोध से यहां कौषीतकि वाक्य में—

"वह सुकृत तथा दुष्कृत को पृथक् करता है"
इस आशंका—
"वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त करके"
इस प्रथम वाक्य के पहिले लेना चाहिए। इस प्रकार श्रुतिविरोध नहीं होता।

केचित्त्वाहुः। नैतदेवं कौषीतकिश्रुतौ वाक्यव्यत्साहो युज्यते। अर्थस्वाभाव्यापेक्षया श्रुतेः प्राबल्यात्। श्रुत्यन्तरैकवाक्यत्वानुरोधेन तथा क्रियत इति चेन्न। उभयोः प्रामाण्याविशेषादेकानुरोधेनान्यत्रार्थव्यत्यासस्यान्याय्यत्वात्।

तस्मादुभयप्रामाण्यादुक्तरीत्या समुच्चयपक्ष एव साधीयान् प्रतीयते। तथा च कर्मैकदेशस्य देहवियोगकाले हानिः शेषस्य पश्चादध्वनीत्येवमुभयथा कर्मक्षये प्रतिपन्ने देवयानगतेरप्यर्थवत्वमुपपद्यते।

अन्यथा भवदुक्तरीत्या देहवियोगकाल एव कात्स्न्र्येन कर्म्मक्षये प्रतिपन्ने सूक्ष्मशरीरस्यापि नाशापत्तौ, अशरीरस्यात्मनो गतिरुच्यमाना विरुध्यते। अशरीरस्य गतेरनुपपन्नत्वात्।

अपि च विदुषां वसिष्ठापान्तरतमः प्रभृतीनां देहपातादूर्ध्वं देहान्तरसङ्गमः पुत्र-जन्मविपत्त्यादिनिमित्तसुखःदुखानुभवश्च स्मर्य्यमाणो विरुध्यते। देहपातकाले एवैकहेलया कृत्स्नकर्मपरिक्षयाभ्युपगमे सुखःदुखानुभवस्यानुपपन्नत्वात् इति चेत् तत्र ब्रूमः।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेः।

—"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते। स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः। स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषुकामचारो भवति।

स एकधा भवति त्रिधा भवतीत्यादिषु देहसम्बन्धलक्षणस्यार्थस्योपलब्धेः परि-क्षीणनिःशेषकर्म्मणोऽप्युपपन्नस्ता वदयं देवयानगतिसम्बन्धः सूक्ष्मशरीरयोगश्च। विद्यायाः सूक्ष्मशरीरानारम्भकत्वेऽपि विद्यामाहात्म्यात् सर्वेषु लोकेषु कामचारान्यथानुपपत्तेश्चोप-पद्यते सूक्ष्मशरीरयोगो लोकवत्।

यथा लोके समृद्ध्यर्थमारब्धे तडागादिके तद्धेतुषु तडागेच्छादिषु विनष्टेष्वपि तडागादिकमविनाशयन्तस्ततो जलग्रहणादिकं कुर्वन्ति तद्वत्। एवमुपपन्नो वसिष्ठादीनां देहपातादूर्ध्वमपि सुखःदुखानुभवः। न वयं ब्रूमः। सर्वेषां विदुषामविशेषेण देहपातकाल एवाशेषकर्मपरिक्षयो भवतीति।

किन्तु येषां विदुषां देहपातानन्तरमर्चिरादिगतिः प्राप्ताः तेषां देहपातकाले कृत्स्न-कर्म भवतीति ब्रूमः।

वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकाणां कर्मविशेषैणाधिकारविशेषप्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षयोपरमाद् यावदधिकारमवस्थितैर्न देहपातानन्तरमेवार्चिरादिगतिप्राप्तिः। तस्मात्तेषा-माधिकारिककर्मणोऽपरिक्षयादुपपद्यते तत्कृतः सुखदुःखानुभवः।

अन्येषां तु विदुषां देहपातादूर्ध्वं सुखदुःखानुभवो नास्ति। मृत्युसमकालं परिक्षीणा-शेषकर्मत्वादिति बोध्यम्।

। इति भुक्तप्रारब्धकर्मणामनाधिकारिकाणां विदुषां देहात्ययकालाशेषकर्मक्षयाधिकरणम्।

कुछ विद्वानों का कहना है कि इस प्रकार कौषीतक श्रुति में वाक्य को उलटफेर करना ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थ के स्वभाव की अपेक्षा श्रुति प्रबल होती है। यदि कहा जाय कि अन्य श्रुति वाक्य से एक वाक्यता के लिए ऐसा किया जाता है तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दोनों ही श्रुति वाक्य बिना भेद के प्रमाण हैं, अतः एक के अनुरोध से अन्यत्र अर्थ का‌व्यन्यास करना न्यायपूर्ण नहीं है। इसलिए दोनों के प्रमाण होने के कारण

समुच्चय का पक्ष ही ठीक प्रतीत होता है । इस प्रकार कर्म के एक अंश की देह के वियोग काल में हानि, शेष बचे हुए का पश्चात् मार्ग में त्याग इस प्रकार दोनों प्रकारों से कर्म का क्षय स्वीकार कर लिये जाने पर देवयान गति भी सार्थक हो जाती है । अन्यथा आपके कहे मार्ग से देह के वियोगकाल में ही पूर्णतया कर्मों के क्षय को मान लेने पर सूक्ष्म शरीर के भी नष्ट हो जाने पर बिना शरीर के आत्मा बतलाई जाने वाली गति में विरोध होगा । क्योंकि बिना शरीर के तो गति या गमन होता नहीं । पुनश्च वसिष्ठ अपान्तर तम आदि का देह पातके उपरान्त देहान्तर का संगम होना तथा उनका पुत्र जन्मविपत्ति आदि निमित्तों से सुख दुःख के अनुभव का जो वर्णन है वह भी विरुद्ध होगा । देहपात के काल में ही एक ही झटके में समस्त कर्मो के परिक्षय को मान लेने पर सुख दु ख का अनुभव युक्ति सिद्ध नहीं रहता, इस सन्देह पर कहना यह हैं कि—

"उसके लक्षण की उपलब्धि के कारण यह युक्तिपूर्ण है" ।

"परमज्योति में उपसंपन्न होकर अपने रूप में अभिनिष्पन्न होता है, वह वहां क्रीड़ा करता रमण करता हुआ जाता है, वह स्वराट् हो जाता है, उसका सभी लोकों में कामचार होता है । वह एक प्रकार का होता है, तीन प्रकार का होता है"

इत्यादि सन्दर्भों में देहसम्बन्धवाले अर्थ की उपलब्धि के कारण, उसके समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर भी देवयान गति का सम्बन्ध तथा सूक्ष्म शरीर का भोग बना ही रहता है । विद्या के सूक्ष्म शरीर का आरम्भ न करने पर भी विद्या के महात्म्य से समस्त लोकों में कामचार होने की बिना सूक्ष्म शरीर के युक्तियुक्तता नहीं हो सकती अतः उसका सूक्ष्म शरीर के साथ लोक के समान योग होता है। जैसे लोक में समृद्धि के तड़ागादि के निर्माण का आरम्भ करने पर उसके कारण भूत इच्छा आदि के विनिष्ट हो जाने पर भी तडाग आदि बिनष्ट न करते हुए उससे जलग्रहणादि करते हैं, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए । इस प्रकार वसिष्ठ आदि को भी देहपात के अनन्तर सुख दुःख का अनुभव होना युक्ति सिद्ध हो जाता है । हम यह नहीं कहते कि सभी ज्ञानियों के देहपात काल में ही समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं । किन्तु जिन ज्ञानियों को देहपात के अनन्तर अर्चि आदि की गति प्राप्त होती है उनके सारे कर्म देहपात काल में ही क्षीण हो जाते हैं यह हमारा कथन है जो वशिष्ठ आदि अधिकारी हैं, उनको तो विशेष कर्मों के कारण अधिकार विशेष से प्रारब्ध कर्मों का भोग के द्वारा क्षय होने उपराम के कारण अधिकार पर्यन्त अवस्थिति से देह पात के अनन्तर ही अर्चि आदि गति की प्राप्ति नहीं होती । इसलिए उनके आधिकारिक कर्मों के परिक्षय न होने से उनको सुख दुःख आदि का अनुभव होना युक्तिसंगत है । अन्य ज्ञानियों को तो देहपात के अनन्तर सुख दुःख का अनुभव नहीं होता । क्योंकि मृत्यु के साथ ही उनके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं यह समझना चाहिए ।

। इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों का भोग करने वाले अनधिकारी वेत्ताओं का देहात्यय के काल में अशेष कर्मों के क्षय होने का अधिकरण हुआ ।

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।३।३।३२

उपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्ययोरर्चिरादिगतिराम्नायते । सा संनिधानात् तदुभयविद्योपासकानामेव स्यादविशेषेण सर्वब्रह्मविद्योपासकानां वेति संशये उच्यते । अनियमः सर्वेषामिति । सर्वोपासननिष्ठानां तयैवगत्या गमनात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति ।

अनियमाभ्युपगमाच्च श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोधः । श्रुतौ तावच्छान्दोग्ये—

—"तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीति ।

वाजसनेयकेऽपि—

—"य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीति"—

—"उभयत्र पञ्चाग्निविद्यानिष्ठान् श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासिनश्चोद्दिश्यार्चिरादिगतिरुपदिश्यते । स्मृतावपि—

"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।"

इत्यविशेषेण सर्वेषां ब्रह्मविदामर्चिरादिगतिः स्मर्य्यते । तस्मात् सर्वविद्यासाधारणीयं गतिः ।

। इति सर्वविद्यासाधारणदेवयानाधिकरणम् ।

उपकोशल विद्या तथा पञ्चाग्नि विद्याओं में अर्चि आदि गति बतलाई गई है । वह समीप पठित होने के कारण दोनों विद्याओं के उपासकों के लिए ही है या सामान्यतया सभी ब्रह्म विद्या के उपासकों के लिए है इस सन्देह पर कहा जाता है—

"अनियम है, सब के लिए है" ।

सभी उपासनानिष्ठों का उसी गति से गमन होने के कारण—

"उसमें निष्ठा रखने वालों की ही वैसी गति होती है" ।

यह नियम नहीं है । और नियम न होने पर श्रुति और स्मृतियों से विरोध नहीं रहता । श्रुति में छान्दोग्य में—

"जो इस प्रकार जानते हैं, ये जो अरण्य में श्रद्धा तप से उपासना करते हैं, वे अर्चि मार्ग से जाते हैं" ।

वाजसनेय में—

"जो इस प्रकार जानते हैं, जो अरण्य में श्रद्धा सत्य की उपासना करते हैं वे अर्चि मार्ग में जाते हैं।"

दोनों स्थानों पर पञ्चाग्निविद्यानिष्ठ, श्रद्धा पूर्वक ब्रह्म की उपासना करने वालों के उद्देश्य से अर्चि आदि गति का उपदेश है। स्मृति में भी—

"अग्नि, ज्योतिर्मय अह शुक्ल ६ मास उत्तरायण होता है, वहां जाने वाले ब्रह्म वेत्ता गण ब्रह्म के पास जाते हैं।"

इस प्रकार बिना भेद के सब ब्रह्मवेत्ताओं की अर्चि आदि गति का स्मरण हुआ है। इसलिए यह गति सब विद्याओं में समान है।

। यह सब विद्याओं में समान देवमान का अधिकरण हुआ।

सांपराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥

इत्थं पञ्चभिः सूत्रैरेकं षष्ठेन चैकमित्यधिकरणद्वयं रामानुजाद्यसारेणाख्यातम्। शङ्करस्तु सांपराये इत्यादिना सूत्रषट्केनाधिकरणचतुष्टयं संपश्यति। तत्रादौ द्वाभ्यामधिकरणं प्राग्वद् द्रष्टव्यम्। तद्यथा स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छतीत्युपक्रम्य—

स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति, तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते"—

इत्यादिना पर्यङ्कविद्यामामनन्ति कौषीतकिनः। तत्र श्रुतिप्रामाण्याद् यथा श्रुतिप्रतिपत्त्या देवयानमार्गेण पर्यङ्कस्थब्रह्माभिप्रस्थानान्तरं व्यध्वनि पुण्यपापवियोगः प्राप्नोति तद्युक्तिविरुद्धं शास्त्रान्तरविरुद्धं चेत्यतः प्रतिजानीते—

सांपराये तर्तव्याभावादादावेव देहादपसर्पणकाले विद्यासामर्थ्यात् पुण्यपापे जहातीति। संपरायो देहादपसृप्तस्य लोकान्तरे गमनम्। न च विद्यावतः संपरेतस्य ब्रह्मावाप्तेः पूर्वं पापाभ्यां कश्चनमार्गभागस्तरणी यः संभाव्यते येन कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्प्येयाताम्। विद्याविरुद्धफलत्वातु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयो युज्यत इति यदैव साभिमुखी तत्क्षण एव भवितुमर्हति। न च निर्हेतुकः कालविलम्बः सम्भवति।

तस्मात् प्रागेव संपन्नोऽयं कर्मक्षयः पश्चात् पठ्यते। तथा ह्यन्ये शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागेव कर्मक्षयमामनन्ति—अश्व इव रोमाणि विधूय पापमिति।

—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति। सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्"—इति च।

कर्म्मक्षयार्थं यमनियमाभ्यासादि प्रयत्नं कुर्वतां यदि तादृशप्रयत्नाभिनिष्पत्यव्यवहितोत्तरमेव कर्म्मक्षयः स्यात् तदा छन्दतः सोऽनुष्ठितः स्यात्। ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योरविरोधश्च स्यात्।

अन्यथा देहादपसृप्तस्य देवयानेन प्रस्थितस्यार्द्धपथे कर्मक्षयो यद्यभ्युपगम्येत तदा तत्काले यमनियमादिप्रयत्नासंभवादाकस्मिकोऽयं निर्हेतुकः कर्म्मक्षयः प्रतिपन्न स्यात्। स च युक्तिविरुद्धः शास्त्रविरुद्धश्च स्यात्।

तर्हि न कोपि कर्मक्षयार्थं छन्दतः प्रवर्तेत कारणसत्त्वे कार्य्यावश्यंभावनियमात् सत्यपि छन्दतो यत्ने कर्मक्षयाभावेन यत्नानामकारणत्वप्रतिपत्तेः।

। इति विदुषां देहात्ययकालाशेषकर्मक्षयाधिकरणम्।

इस प्रकार पांच सूत्रों का एक अधिकरण तथा षष्ठ सूत्र का एक अधिकरण ये दो अधिकरण श्रीरामानुजाचार्य आदि के अनुसार व्याख्यात हुए। श्री शकराचार्य तो "सांपराये" इत्यादि ६ सूत्रों में चार अधिकरण देखते हैं। वहां प्रारम्भ के दो सूत्रों का अधिकरण तो पूर्ववत् है। वह जैसे—

"वह इस देव यान मार्ग को प्राप्त करके अग्नि लोक में आता है।"

यह उपक्रम करके—

"वह विरजा नदी में आता है, उसका मन से ही अतिक्रमण करता है, वह सुकृत और दुष्कृत को अलग करता है"

इत्यादि के द्वारा कौषीतक गण पर्यङ्क विद्या को मानते हैं। वहां श्रुति के प्रामाण्य से जैसा श्रुति में बतलाया है तदनुसार देवयान मार्ग पर्यङ्क स्थित ब्रह्म के प्रति प्रस्थान के अनन्तर मार्ग में पुण्य और पाप का वियोग प्राप्त होता है, वह श्रुति से तथा अन्य शास्त्र से विरुद्ध है, अतः वह यहां कहते हैं–

सांपराय में तरणीय के अभाव से प्रारम्भ में ही देह से अपसर्पण के काल में विद्या के सामर्थ्य से पुण्य और पाप को छोड़ देता है। सांपराय का अर्थ है देह से छूटे हुए का लोकान्तर में गमन। जो विद्यावान् देह को छोड़कर लोकान्तर में जा रहा है उसके लिए

ब्रह्म की प्राप्ति के पहिले पुण्य और पाप से कोई मार्ग तरणीय नहीं संभावित है जिस से कुछ क्षणों के लिए उनके क्षीण न होने की कल्पना की जाय। विद्या के विरुद्ध फल के कारण विद्या के सामर्थ्य से उनका क्षय होना युक्त है इसलिए जब भी विद्या की संमुखता होगी उसी क्षण उनका क्षय हो जायगा। बिना हेतु के काल में विलम्ब सभव नहीं है। इसलिए जो कर्म क्षय पहिले ही संपन्न हो जाता है उसे ही बाद में पढ़ा गया है। पुनश्च अन्य ताण्डि शाखावाले तथा शाट्यायन शाखावाले पहिले ही कर्मक्षय मानते हैं—

"वह पाप को उसी प्रकार दूर कर देता है, जैसे अश्व बालों को दूर कर देता है"—।

"उसके पुत्र दाय को प्राप्त करते हैं, मित्रगण साधुकृत्यों को प्राप्त करते हैं, द्वेषी लोग पाप कृत्यों को प्राप्त करते हैं"—आदि।

कर्म क्षय के लिए यम नियमों को अभ्यास आदि का प्रयत्न करने वालों के लिए यदि उस प्रकार के प्रयत्न करने के उत्तर क्षण में ही कर्मों का क्षय हो जाता है तब एक ही प्रयत्न में उसका संपादन हो गया। तब ताण्डि तथा शाट्यायन श्रुतियों का विरोध भी नहीं रहा। अन्यथा देह से अलग होकर देवयान मार्ग से प्रस्थित होने पर उसका आधे मार्ग में यदि कर्म क्षय माना जाता है, तब उस काल में यम नियम आदि के प्रयत्न की संभावना न होने के कारण यह कर्मक्षय आकस्मिक और बिना कारण के माना जायगा। और वह युक्ति विरुद्ध और शास्त्र विरुद्ध होगा। तब कोई भी कर्मों के क्षय के लिए इच्छा से प्रवृत्त भी नहीं होगा, कारण होने पर कार्य अवश्य होगा ऐसा नियम है। इच्छा से यत्न होने पर भी कर्मों के क्षय के अभाव में यत्नों का न किया जाना ही प्रतिपन्न होगा।

। यह ज्ञानियों का देह छोड़ने के काल में समस्त कर्म-क्षय का अधिकरण हुआ।

गतेरर्थवत्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः।
उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्।

कृत्स्नकर्महानौ क्वचिद्देवयानगतिः श्रूयते क्वचिन्न। तत्र संशयः हानौ सर्वत्रापायना तु वृत्तिवत् किमविशेषेण देवयानगतिरनुवर्तते अथवा विभागेन क्वचिदस्ति क्वचिन्नेति।

तत्रोच्यते। देवयाने गतेरर्थवत्वमुभयथा द्रष्टव्यम्। क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति विभागो युज्यते। नाविशेषेण।

अन्यथा हि सर्वत्राविशेषेण गतौ स्वीकृतायां विरोधः स्यात् ।

पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

इति श्रुतिर्हि निरञ्जनस्य देशान्तरसंचारमन्तरेणैव परसाम्योपपत्तिं श्रावयन्ती तत्र गतेरभावमावेदयति ।

उपपन्नश्चायं गतेरुभयथाभावः क्वचिद्गतिरस्ति क्वचिन्नेति । तल्लक्षणार्थोपलब्धेः गतेः कारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणोपासनेषूपलभ्यते ।

तत्र बहुदेशान्तरप्राप्त्यायत्तस्य पर्य्यङ्कारोहणब्रह्मसंवदनविशिष्टगन्धाप्राप्त्यादिरूपफलस्यान्यथानुपपत्त्याऽर्थवती गतिः । न तु सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति ।

न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरिक्तकिञ्चिदपेक्षितव्यमस्ति तस्मात्तत्रानर्थिका गतिः । लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यः ।

तत्र हि ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते नारोग्यप्राप्तौ एवमिहापीति । भूयश्चैतं विभागं चतुर्थेऽध्याये सुविशदं वक्ष्यामः ।

। इति सगुणनिर्गुणविद्याविभागेन प्राणोत्क्रान्त्यनुत्क्रान्तिविभागाधिकरणम् ।

समस्त कर्मों की हानि हो जाने पर कहीं देवयान गति सुनी जाती है, कहीं नहीं सुनी जाती । कर्मों की हानि होने पर क्या सर्वत्र देवयान गति होती है या वहां भी विभाग होता है कि कहीं वह होती है और कहीं नहीं होती । इस प्रश्न पर कहा जाता है—

"देवयान में गतिकी अर्थवत्ता को दोनों प्रकार से समझना चाहिए । कहीं गति अर्थवती होती है और कहीं नहीं होती, यह विभाग उपयुक्त है । सामान्यतया गति को नहीं मानना चाहिए । अन्यथा सर्वत्र सामान्यतया गति को स्वीकृत कर लेने पर विरोध होगा ।

"पुण्य और पाप को हटाकर निरञ्जन परम साम्य को प्राप्त करता है"

यह श्रुतिवाक्य देशान्तर में संचरण के बिना ही परमतत्त्व के साथ साम्य बतला रहा है, इससे वहां गति का अभाव है यह प्रकट हो रहा है ।

इस प्रकार गति के दोनों रूप प्रकट होते हैं, कहीं गति होती है और कहीं नहीं होती । उसके लक्षण की उपलब्धि के कारण गति का कारण भूत अर्थ पर्यङ्क विद्या आदि

सगुण उपासनाओं में मिलता है। वहाँ बहुत से देशान्तरों की प्राप्ति के आयत्त पर्यङ्का-रोहण, ब्रह्म के साथ संवदन, विशिष्ट गन्ध की प्राप्ति रूप फल की अन्यथा प्राप्त न होने से गति अर्थवती होती है। सम्यग् दर्शन में उसके लक्षण की उपलब्धि नहीं होती। जो एक ही आत्मा को देखने वाले हैं, जो आत्मकाम हैं, जिन्होंने यहीं अपने समस्तक्लेश के बीजों को जला दिया है, उनके लिए आरब्ध कर्म के आशय को नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ अपेक्षा योग्य नहीं रह जाता इसलिए उनके लिए गति निरर्थक है। इस विभाग को लोक की तरह समझना चाहिए। लोक में ग्राम की प्राप्ति होने पर अन्य देश की प्राप्ति के लिए मार्ग अपेक्षित होता है। जब लक्ष्य की या आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है तब अन्य मार्ग की अपेक्षा नहीं रहती, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। इस विभाग का पुनः चतुर्थ अध्याय में विशदता से विवरण होगा।

यह सगुण निर्गुण विद्या के विभाग से प्राणोत्क्रान्ति अनुत्क्रान्ति के विभाग का अधिकरण हुआ।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामिति पूर्वाधिकरणे उक्तम्। किन्तु सगुणास्वपि विद्यासु क्वचिदेवगतिः श्रूयते। यथा पर्यङ्कविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायामुपकोशलविद्यायां दहरविद्यायां च।

अन्यासु यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्या-याम्। तथा च संशयः। यास्वेवैषां गतिः श्रूयते तत्रैव नियम्यते अथवा सर्वासु विद्यास्वियं गतिः संबध्नातीति तत्रोच्यते।

अनियमः सर्वासामिति। सर्वासां सगुणविद्यानामविशेषेण देवयानगतिरिष्यते। प्रकरणप्राप्तस्यापि नियमस्य विरोधः श्रुतिस्मृतिभ्यां परिह्रियते।

तथाहि—

तद्य इत्थं विदुरिति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती—

—"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते"—

इति छान्दोग्यश्रुतिर्विद्यान्तरशीलानामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति। वाजसनेयकश्रुतिरप्येवमेवार्थं गमयति। स्मृतिरपि—

—"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनरिति।

विद्याविभागेन मार्गद्वयविभागं कुर्वन्ती सर्वगुणविद्यामात्रे देवयानगतिं दर्शयति ॥

रामानुजस्तु यावदधिकारसूत्रादूर्ध्वमनियमसूत्रं पठति । अनियमः सर्वेषामिति च सूत्रपाठः ।

। इति सगुणविद्यासाधारणदेवयानाधिकरणम् ।

पूर्व अधिकरण में बताया गया कि देवयान आदि गति सगुण विद्या में अपनी सार्थकता रखती है न कि निर्गुण परमात्म विद्या में उनकी कोई सार्थकता है। किन्तु सगुण विद्याओं में भी कहीं कहीं गति का श्रवण होता है।

जैसे पर्यङ्कविद्या, पंचाग्निविद्या, उपकोशलविद्या तथा दहरविद्या में गति का श्रवण हुआ है। अन्य भी कुछ विद्याएं जैसे मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, षोडशकल विद्या, वैश्वानर विद्या, इनमें भी गति का श्रवण है। इस पर सन्देह होता है कि जिन विद्याओं से इस गति का श्रवण होता है, उन्हीं में इसका नियम किया जाता है अथवा सभी विद्याओं से इस देवयान गति का सम्बन्ध होता है। वहां कहा जाता है, सभी विद्याओं मे अनियम है। सभी सगुण विद्याओं बिना भेद के देवयान गति अभीष्ट है। प्रकरण प्राप्त नियम का भी विरोध श्रुति और स्मति के द्वारा हटा दिया जाता है। जैसे कि—

"जो यह जानते है"

इस प्रकार पञ्चाग्निविद्या वालों के विषय में कहती हुई

"जो ये अरण्य में श्रद्धा तप से उपासना करते हैं"

यह छन्दोग्य श्रुति अन्य विद्याओं के परिशीलन करने वालों के लिए भी पञ्चाग्नि विद्या के वेत्ताओं के साथ एक ही मार्ग को बतला रही है। वाजसनेयक श्रुति भी इसी प्रकार के अर्थ का बोधन करती है। स्मृति भी—

"ये शुक्ल और कृष्ण गतियां जगत् में शाश्वत मानी गई है, एक गति से वापस नहीं लोटता अन्य से जाने पर पुनः लौटना पड़ता है"

इस प्रकार विद्या के विभाग से दो मार्गों का विभाग करती हुई समस्त गुणों तथा विद्यामात्र में देवयान गति को दिखा रही है। श्रीरामानुजाचार्यतो 'यावदधिकार' आदि सूत्र के आगे 'अनियमः' इस सूत्र को पढ़ते हैं। उनके सूत्र का पाठ है—

"अनियमः सर्वेषाम्"

। यह सगुण विद्या के लिए समान देवयान का अधिकरण हुआ ।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।

निर्गुणविद्यावतां गतिर्व्यर्था। अत्रैव तेषां समवलयाल्लोकान्तरगमनाय तेषां प्राणोत्क्रमणाभावात् । सगुणविद्यावतां तु सर्वत्र गतिरर्थवती । अर्चिरादिना देवयान-मार्गेणोत्क्रान्तप्राणानां ब्रह्मलोकपर्य्यन्तं गमनात् । तत्र ब्रह्मभूतानामपवर्गश्रवणादिति व्यवस्था पूर्वाधिकरणे प्रतिपन्ना । किन्त्वितिहासादौ ब्रह्मविदामपि केषांचिद् दृश्यते पुन-र्जन्मसंबन्धः ।

तथा हि अपान्तरतमा नाम देवाचार्य्यः कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः सब-भूव । वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रो निमिशापादपगतपूर्वदेहो मित्रावरुणाभ्यां पुनर्जज्ञे । भृग्वादीनामपि ब्रह्मणो मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः स्मर्यते । सनत्कुमारो ब्रह्मणो मानसः पुत्रो रुद्राय स्वयंवरं प्रदाय तत्पुत्रतया स्कन्दो नाम प्रादुर्बभूव । दक्षनारद-प्रभृतीनामपि ब्रह्मणो मानसपुत्राणां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिकथा तत्र स्मर्य्यते ।

तथा चैषां ब्रह्मविद्यापरायणानामपि देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् संशयो विदुषां वर्तमा-नदेहपातानन्तरं पुनर्देहान्तरमुत्पद्यते न वा । ब्रह्मविद्यायाश्चापवर्गहेतुत्त्वमस्ति न वेति तत्रो-च्यते । आधिकारिकाणां यावदधिकारमवस्थितिः प्रतिपद्यते इति यथा हि भगवान् सविता सहस्रयुगपर्य्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तत्पश्चादुदयास्तमयर्वाजतं कैवल्यमनुभवतीति श्रूयते ।

—"अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता"— इति ।

विदेहाश्च ब्रह्मविदः प्रारब्धकर्मभोगक्षयपर्य्यन्तं सदेहं स्थित्वा ततः कैवल्य-मायान्ति इति श्रूयते—

—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये इति । एवमपान्तरतमःप्रभृतयो ब्रह्मविदोऽप्यक्षीणाधिकारकर्म्मणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते तदवसाने चापवृज्यन्ते । ते हि सकृत् प्रवृत्तमेव कर्म्माशयमतिवाहयन्तः स्वाधिकारनिवर्तनाय गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तो अपरिमुषितस्मृतयो यावदधिकारक्षयं देहसंबन्धं न त्यजन्ति ।

—"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ।

इत्यादिस्मृतिभिः पुनः संस्मृतिबीजकर्मणां ज्ञानाग्निपरिदग्धत्वे निर्धारितेऽपि प्रवृत्तफलस्य कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयादेव निवृत्तिसंभवादेषामधिकारप्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयो, न ज्ञानादित्यतस्तत्पर्य्यवसान एवापवर्गः स्यात् ।

प्रारब्धकर्म्मातिरिक्तकर्माशयस्य तु ज्ञाननाश्यत्वादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिरिति सिद्धान्तः ।

। इति विदुषां यावदधिकारमनपवर्गाधिकरणम् ।

निर्गुण विद्या के उपासकों के लिए गति मामना व्यर्थ है । उनका यहीं लय हो जाने से लोकान्तरों में जाने के लिए उनका प्राणोत्क्रमण होता ही नहीं । सगुण विद्या के उपासकों के लिए तो सर्वत्र गति मानना अर्थवान् है । अर्चि आदि से देवयान मार्ग से उनके प्राणों का उत्क्रमण होने से उनका ब्रह्मलोक तक गमन होता है । वहां ब्रह्मीभूत होने वालों की मोक्ष प्राप्ति का श्रवण पहिले के अधिकरणों में आया है । किन्तु इतिहास आदि में कुछ ब्रह्मवेत्ताओं का भी पुनर्जन्म के साथ सम्बन्ध दिखाई देता है ।

जैसे कि अपान्तरतमा नाम के देवाचार्य कलि और द्वापर की सन्धि में कृष्ण द्वैपायन के रूप में उत्पन्न हुए । ब्रह्मा के मानस पुत्र वसिष्ठ, निमि के शाप से पूर्व देह को छोड़कर मित्र और वरुण के द्वारा पुनः उत्पन्न हुए । ब्रह्म के मानस पुत्र भृगु आदि की भी वरुण के यज्ञ में पुनः उत्पत्ति बतलाई जाती है । ब्रह्मा के मानसपुत्र सनत्कुमार रुद्र को वर देकर उसके पुत्र स्कन्द के रूप में उत्पन्न हुए । ब्रह्मा के मानसपुत्र दक्ष नारद आदि की अनेक देहान्तरों में उत्पत्ति कथाएं मिलती हैं । इस प्रकार ब्रह्मविद्यापरायण इन पुरुषों की भी देहान्तर में उत्पत्ति देखकर सन्देह होता है कि ज्ञानियों को वर्तमान देहपात के अनन्तर पुनः दूसरा देह प्राप्त होता है या नहीं । तथा ब्रह्मविद्या मोक्ष की हेतु है या नही । इस पर कहा जाता है कि अधिकारियों कि अधिकार रहने तक अवस्थिति स्वीकार की जाती है ।

जैसे कि भगवान् सविता (सूर्य) सहस्त्रयुगपर्यन्त जगत् के अधिकार पर रहकर उसके पश्चात् उदय और अस्त से वर्जित कैवल्य का अनुभव करता है । ऐसा सुना जाता है ।

"इसके बाद उदय होने पर फिर उदित नहीं होगा अकेला ही मध्य में स्थित होगा" ।

विदेह ब्रह्मवेत्तागण प्रारब्ध कर्म के भोग के क्षयपर्यन्त सदेह स्थित रहकर उसके अनन्तर कैवल्य को प्राप्त करते हैं यह सुना गया है ।

"उनका वह विलम्ब तभी तक है जब तक मुक्त नहीं होते पश्चात् वे सम्पन्न होते हैं"।

इसी प्रकार अपान्तरतम आदि ब्रह्मवेत्ता भी अधिकार कर्म का क्षय न होने तक अधिकार पर्यन्त अवस्थित रहते हैं, उसके अवसान पर निवृत्त हो जाते हैं। वे एक बार प्रवृत्त कर्माशय का ही निर्वाह करते हुए अपने अधिकार के लिए एक साथ ही देह इन्द्रिय प्रकृति को वश में करने के कारण अनेक देहों का निर्माण करके, अथवा क्रम से स्वतन्त्रता से जैसे एक घर से दूसरे घर में जाया जाता है वैसे अन्य अन्य देहों में जाकर अपनी स्मृति को न भुलाते हुए अधिकार के क्षीण होने तक देह का सम्बन्ध नहीं छोड़ते—

"हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनों को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देता है",

"जैसे अग्नि से जलाए हुए बीज पुनः नहीं बोये जा सकते वैसे ज्ञान से जलाए हुए क्लेशों के द्वारा आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता"

इत्यादि स्मृति वचनों से पुनः संस्मृति बीज धर्मों के ज्ञानाग्नि द्वारा जलाने के निर्धारण होने पर भी प्रवृत्त फल वाले कर्माशय का, छोड़े हुए बाण के समान वेग के क्षय होने पर निवृत्ति के संभव होने से, इन अधिकार से प्रारब्ध कर्म वालों का भोग से ही क्षय होता है, ज्ञान से नहीं। अतः अधिकार की समाप्ति होने पर ही इनका मोक्ष होता है। प्रारब्ध कर्म के अतिरिक्त कर्माशय वालें के कर्म तो ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं इसलिए ज्ञानी की मोक्षसिद्धि निर्विवाद है। यह सिद्धान्त है।

। यह ज्ञानी का अधिकार रहने तक मोक्ष की अप्राप्ति का अधिकरण हुआ।

अक्षरधियां त्ववरोध. सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ।३।३।३३।

इयदामननात् ।३।३।३४।

—"तद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति।

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसग- न्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्रासमसुखममात्रमनन्तरबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।

इति वाजसनेयश्रुतौ। तथाथर्वणेऽपि—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तादद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रवर्णचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादमिति"—

पठ्यते। तत्रैतदक्षरब्रह्मसंबन्धितया श्रुता अस्थूलत्वादयःप्रपञ्चधर्मप्रतिषेधाः किं सर्वासु ब्रह्मविद्यासु नेया उत यत्र श्रूयन्ते तत्रैव व्यवतिष्ठन्ते इति संशय उच्यते। अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्याम्। अयमर्थः। अक्षरब्रह्मसंबन्धिनीनां विशेषसंसर्गप्रतिषेधबुद्धीनां सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारो युज्यते।

सर्वत्र प्रतिपाद्यस्याक्षरब्रह्मणः समानत्वाद्, ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारस्य चाशेषविशेषनिराकरणरूपस्य समानत्वाद्, अस्थूलत्वादीनां सर्वत्राप्यक्षरस्वरूपभावाच्च गुणानां हि प्रधानानुवर्तित्वमौपसदवद् दृश्यते।

यथा जामदग्न्ये चतूरात्रेऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु विहितासु"—

—"अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरमित्यादीनामुद्गातृवेदपठितानां पुरोडाशप्रदानमन्त्राणामध्वर्युभिरभिसंबन्धो भवति पुरोडाशप्रदानकर्मणोऽध्वर्युकर्तृकत्वाद्।"

—"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः"—

इतिपूर्वतन्त्रेऽङ्गानां प्रधानतन्त्रतासिद्धान्तात्।

तस्मादिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात् तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदुक्तानामप्यक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्धः।

नन्वेवं तर्हि सर्वासु ब्रह्मविद्यासु ब्रह्मण एव गुणित्वाद् गुणानां च प्रधानानुवर्तित्वात्—

—"सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः"

इत्यादेर्गुण जातस्य प्रतिविद्यं व्यवस्थितस्याप्यव्यवस्था स्यादिति चेत् तत्राह—

इयदामननात्। येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानुसंधानं न संभवति तदेव सर्वत्रानुवर्तनीयम्। इयदेव च तदनुचिन्तनात् सिध्यति। यदस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दादिकं नाम। इतरे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यं व्यवस्थिता इति बोध्यम्।

। इत्यक्षरब्रह्मणो निर्विशेषत्वाधिकरणम्।

"हे गार्गि, ब्राह्मण इस अक्षर को कहते हैं, यह अस्थूल है, अनणु है, अह्रस्व है, अदीर्घ है"

इत्यादि वाजसनेयि श्रुति में कहा गया है । इस प्रकार ग्राथर्वण में भी——

"वह परा है जिससे उस अक्षर का ज्ञान होता है जो वह अद्रेश्य है, अग्राह्य है"

इत्यादि पढ़ा जाता है । यहां ये अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध के रूप में सुने गए अस्थूलत्व आदि प्रपञ्च धर्मों के प्रतिषेध क्या सभी ब्रह्म विद्याओं में लिये जायेंगे या जहां इनका श्रवण हुआ है वहीं ये गृहीत होंगे ? इस सन्देह पर कहा जाता है कि—

अक्षर बुद्धिवालों के लिए तो अवरोध है : सामान्यतया उनके भावों के कारण इसका आशय यह है कि अक्षर ब्रह्म से सम्बन्धित विशेष संसर्गों के प्रतिषेध की बुद्धियों का सभी ब्रह्म विद्याओं में संग्रह किया जाना युक्ति युक्त है । क्योंकि सर्वत्र प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म की समानता है, तथा ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकार, जो समस्त भेदों के निराकरण के रूप में है वह भी समान है । अस्थूलत्व आदि सर्वत्र अक्षर के स्वरूप को प्रकट करने वाले हैं, अतः गौणों का प्रधान का अनुवर्ती होना औपसद के समान दिखाई देता है । जैसे जामदग्न्य चातूरात्र में अहीनता में पुरोडाशिनी उपनिषदों का विधान होने पर—

"अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्"

इत्यादि उद्गातृवेद में पठित पुरोड़ाश-प्रदान के मन्त्रों का अध्वर्यु के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि पुरोड़ाश प्रदान का कर्म अध्वर्यु के द्वारा सम्पादित होता है ।

"गौण और मुख्य मे व्यतिक्रम होने पर उसके प्रधान अर्थ होने से वेद का संयोग मुख्य के साथ होता है"

इस प्रकार पूर्वतन्त्र में अङ्गों को प्रधानतन्त्रता का सिद्धान्त है। इसलिए यहां भी अक्षर तन्त्र होने से जहां कहीं भी कहे गए उसके विशेषणों से अक्षर ब्रह्म के साथ ही सर्वत्र सम्बन्ध होता है । प्रश्न होता है कि इस प्रकार सभी ब्रह्म विद्याओं में गुणवान् त ब्रह्म ही है तथा गौण प्रधान का अनुवर्तन करने वाले होते हैं--तब

"सर्वकर्मा सर्वगन्ध, सर्वरस"

इत्यादि प्रत्येक विद्या में व्यवस्थित गुण समूह की भी अव्यवस्था हो जायगी । इस प्रश्न पर उत्तर है--

"इयदामननात्"

जिस गुण समूह के बिना इतर से पृथक् ब्रह्म के स्वरूप का अनुसन्धान संभव नहीं है उसी का सर्वत्र अनुवर्तन करना चाहिए । इतना ही इस अनुचिन्तन से सिद्ध होता है ।

अन्य जो सर्वकर्मत्व आदि हैं वे प्रधान के अनुवर्ती होने पर भी प्रत्येक विद्या में चिन्तनीय के रूप में व्यवस्थित हैं यह समझना चाहिए।

। यह अक्षर ब्रह्म का निर्विशेषत्व अधिकरण हुआ।

इयदामननात्

शङ्करस्त्वियदामननादिति सूत्रेऽधिकरणान्तरं पश्यति।

—"तथा हि"—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"—

इत्याथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्चामनन्ति। कठाः पुनः—

—"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदोवदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः"—

इत्याहुः। तत्रात्मनोर्द्वित्वश्रुतिसामान्यादैकविद्यं नेयम्। अथवा द्वासुपर्णेत्यत्रैकस्य भोक्तृत्वमेकस्य चाभोक्तृत्वं श्राव्यते।

ऋतं पिबन्तावित्यत्र तूभयोरपि भोक्तृत्वमाख्यायते इति विशेषदर्शनाद् विद्यानानात्वं नेयमित्येवं संशये उच्यते—

उभयोरप्येतयोर्मन्त्रयोर्द्वित्वरूपेयत्तापरिच्छिन्नवेद्यामननाद् विद्यैकत्वं प्रत्येतव्यम्। ननु रूपभेदस्य दर्शितत्वाद्विद्यानात्वं प्राप्नोतीति चेन्न। उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरमेव प्रतिपादयतो नार्थान्तरम्। तत्रावश्यं जीव एव कृतकर्मभोक्तृ व्यते। अशनायातीतस्त्वन्य ईश्वरः स्यात्। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमिति वाक्यशेषे तदुल्लेखात्।

ऋतं पिबन्तावित्यत्र तु पिबति जीवे तत्साहचर्य्याच्छत्रिन्यायेनेश्वरः पिबतीत्युपचर्य्यते। गुहां प्रविष्टौ चात्मानावित्यत्र चैतत् प्रपञ्चितम्। अपि च—

—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्युपक्रमाद्"—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परमिति वाक्यशेषाच्चैतेषु त्रिष्वपि वेदान्तेषु परमात्मन एवेदं प्रकरणं गम्यते।

तादात्म्यप्रतिपादनविवक्षया जीवोपादानेऽपि तद्विवक्षया तत्प्रकरणानवतारात्। तस्मादुभयत्रैकविद्यं सिद्धम्। सिद्धं च जीवस्य कर्मफलभोक्तृत्वमभोक्तृत्वन्त्वीश्वरस्य।

। इतीश्वरस्य कर्मफलभोक्तृत्वाधिकरणम्।

श्री शंकराचार्य तो

"इयदामननात"

इस सूत्र में दूसरे अधिकरण का प्रतिपादन करते हैं।

"सयुज, सखा दो सुपर्ण पक्षी, समान वृक्ष पर अवस्थित हैं, उनमें से एक स्वादु पीपल को खाता है तथा दूसरा बिना खाये प्रकाशमान रहता है"

इस प्रकार आथर्वणिक तथा श्वेताश्वतर पढ़ते हैं। कठ शाखा में "ऋतं पिबन्तौ" आदि मन्त्र पढ़ते हैं। इन दोनों आत्मा के दो रूपों में सामान्यतया सुने जाने से यहां एक ही विद्या है ऐसा समझना चाहिए। अथवा "दो सुपर्ण" इस मन्त्र में एक का भोक्ता होना और एक का भोक्ता न होना सुना जाता है, 'ऋतं पिबन्तौ" इस मन्त्र में तो दोनों का भोक्त होना कहा गया है इस प्रकार विशेषता के दिखाई देने से यहां नाना विद्या मानना चाहिए, इस संदेह पर कहा जाता है कि इन दोनों मन्त्रों में दो रूपों की इयत्ता के द्वारा परिच्छिन्न या सीमित वेद्य के मनन होने के कारण एक विद्यात्व समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि रूप का भेद दिखाई देने से विद्या से भेद प्राप्त होता है तो यह प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि ये दोनों ही मन्त्र जीव-द्वितीय वाले या जीव के साथ ईश्वर का ही प्रतिपादन करते हैं, किसी दूसरे अर्थ का नहीं। वहां अवश्य जीव ही किये हुए कर्म के भोक्ता के रूप में अभीष्ट है। अशनाया से अतीत अन्य तो ईश्वर ही होगा।

"जब अन्य ईश जुष्ट को देखता है"

इस वाक्य शेष में उसका उल्लेख होने से ईश्वर ही अशनाया से अतीत है।

"ऋतं पिबन्तौ"

इस मन्त्र में तो पीने की क्रिया में जो द्विवचन का प्रयोग हुआ है, वह जीव के ऋत का पान करने वाला होने के कारण उसके साहचर्य से—

"छत्रिणो यान्ति"

इस न्याय से ईश्वर भी पीता है ऐसा गौण रूप से प्रयोग हुआ है।

"गुहा में प्रविष्ट दो आत्मा"

इस मन्त्र की व्याख्या में इसका विस्तार किया गया है। पुनश्च—

"धर्म से अन्यत्र अधर्म से भी अन्यत्र"

इस उपक्रम से—

"जो ज्ञानियों के लिए सेतु अक्षर ब्रह्म है, जो पर है,"

इस वाक्य शेष से तीनों वेदान्तों में परमात्मा का ही यह प्रकरण है, यह प्रतीत होता है। तादात्म्य के प्रतिपादन को विवक्षा से जीव का ग्रहण होने पर भी जीव के प्रतिपादन की विवक्षा से वह प्रकरण नहीं है। इसलिए दोनों स्थलों पर एक ही विद्या की सिद्धि है। और जीव का कर्मफल का भोक्ता होना और ईश्वर का अभोक्ता होना सिद्ध है।

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा।३।३।३५।

भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्।३।३।३६।

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत्।३।३।३७।

सैव हि सत्यादयः।३।३।३८।

अत्र रामानुजाद्यनुसारेणादौ व्याख्यायते—अन्तरेत्यारभ्य नोपदेशवदित्यन्तमेकं सूत्रम्।

वाजसनेयश्रुतौ—

—"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे आचक्ष्व"—

इत्येवमेकरूपेप्युषस्तिकहोडयोः प्रश्ने भिन्नभिन्नरूपेण तयोरुत्तरदर्शनात् संशयः किमनयोर्विद्यैकत्वं विद्यानानात्वं वेति। तत्र तावत् पूर्वपक्षमतमुच्यते—

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति। अयमर्थः।

—"योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति, अतोऽन्यदार्तमित्येवं कहोड-प्रश्नप्रतिवचनेऽशनाया पिपासाद्यतीतत्वलक्षणाख्यानात् परमात्मनः सर्वान्तराख्याने प्रतिपन्नेऽपि,—

—"यः प्राणेन प्राणिति योऽपानेनापानिति य उदानेनोदानित्ति स ते आत्मा सर्वान्तरः एष ते आत्मा सर्वान्तरः । न द्रष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणया, न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः—

एष ते आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्"—

इत्येवमुषस्तिप्रतिवचनेऽन्तरात्मत्वाख्यानं भूतग्रामवतो भौतिकदेहविशिष्टस्य स्वात्मनो जीवशब्दप्रतिपन्नस्य प्रत्यगात्मनो द्रष्टव्यं न परमात्मनो भौतिकरहितस्य ।

अन्यथाऽस्यापि प्रतिवचनस्य परमात्मविषयत्वाभ्युपगमेऽशनायाद्यतीतत्वलक्षणमप्यत्रै बोषस्तिप्रतिवचने प्रवेश्यैकेनैव रूपेण प्रक्तिवक्तुमौचित्याद् भेदेन प्रतिवचनमनुपपन्नं स्यात् । तस्मादुषस्तिप्रतिवचनं प्रत्यगात्मविषयं कहोडप्रतिवचनं तु परमात्मविषयमिति विद्याभेदः प्राप्नोति—

इति चेत् तत्र सिद्धान्त उच्यते—

नोपदेशवदिति । नात्र विद्याभेदः कल्प्यः । तथा सति साक्षादपरोक्षादिति विशेषणद्वयसामर्थ्यात् परमात्मविषयतयैवोभयोरेकरूपेण प्रश्ने कस्मैचित् प्रत्यगात्मविषयतया कस्मैचिद्वा परमात्मविषयतया पार्थक्येन प्रतिवचने प्रश्नप्रतिवचनयोर्विषयभेदप्रसङ्गादनौचित्यं स्यात् ।

तस्मादिह प्रत्यगात्मनः प्राणनापाननादयोमी सर्वे व्यापारा अपि परमात्मनिबन्धना एव स्युरित्येकः परमात्मैवाध्यात्मं चाधिदैवं च सर्वत्र सर्वान्तरोऽन्यत्तु सर्वमार्त्तमित्येवमुभयोरपि प्रतिवचनयोरेकस्यामुष्य परमात्मन एव तटस्थलक्षणस्वरूपलक्षणाभ्यां विवक्ष्यमाणत्वात् तादृश रूपभेदस्य विद्याभेदप्रयोजकत्वं नास्ति । अपि च—

—"अतोऽन्यदार्तम्"—

इत्युभयत्राप्यविशेषेण वाक्यशेषश्रवणात् प्रत्यगात्मनोऽप्यार्तत्वं प्रसज्येतेति स्ववचनव्याघातः स्यात् । तस्मात् प्रश्नैकरूप्यात् प्रतिवचनवाक्यशेषैकरूप्याच्च विद्यैकत्वमेव सिद्धं भवति ।

इन सूत्रों की प्रारम्भ में श्री रामानुजाचार्य के अनुसार व्याख्या की जाती है । 'अन्तरा' से आरम्भ करके 'नोपदेशवत्' यहां तक एक सूत्र है । वाजसनेय श्रुति में—

"जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसे मुझसे कहो"

इस प्रकार एक रूप वाले उषस्ति कहोड़ के प्रश्न पर उनके उत्तर के भिन्न-भिन्न रूपों में देखे जाने से यह संदेह होता है कि इनमें विद्या की एकता है या नानात्व है, भेद है। वहां पूर्व पक्ष रूप से यह सूत्र कहा जाता है—

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिः"।

इसका आशय है कि—

"जो अशना पिपासा शोक मोह जरा मृत्यु का अतिक्रमण करता है, इसके अतिरिक्त सब आर्त है"

इस प्रकार कहोड़ के प्रश्न के उत्तर में अशना या पिपासा से अतीत यह लक्षण बतलाने के कारण परमात्मा के सर्वान्तर कथन के समझे जाने पर भी—

"जो प्राण से प्राणन करता है, जो अपान से अपानन करता है, जो उदान से उदानन करता है, वह तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है, दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देखा जा सकता श्रुति के श्रोता को नहीं सुना जा सकता, गति के मन्ता का मनन नहीं हो सकता, विज्ञान के विज्ञाता का ज्ञान नहीं हो सकता, यह तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है उसके अतिरिक्त सब आर्त है"

इस उषस्ति के प्रतिवचन में जो अन्तरात्मा का कथन है वह भूतग्रामवान् भौतिक देह विशिष्ट स्वात्मा का प्रतिपादन है जो जीवशब्द से कहा गया प्रत्यागात्मा है न कि भौतिक-रहित जो परमात्मा है उसके लिए यह कथन है। अन्यथा इस वचन के भी परमात्मा के लिए होने अशनाया आदि से अतीतत्व जो लक्षण बतलाया गया है उसको भी यहीं उषस्ति के प्रतिवचन में समाविष्ट करके एक रूप से ही उत्तर देना उचित था, उसका भेदरूप से कथन निरर्थक हो जाता है। इसलिए उषस्ति का उत्तर जीवविषयक है तथा कहोड़ का उत्तर परमात्मा के विषय में है, इस प्रकार विद्या में भेद प्राप्त होता है। इस प्रश्न पर यहां सिद्धान्त कहा जाता है कि—

"नोपदेशवत्"।

यहां विद्याभेद को कल्पित नहीं किया जाना चाहिए। वैसा होने पर 'साक्षात्' अपरोक्षात् इन दो विशेषणों के सामर्थ्य से परमात्मा के विषय में ही दोनों के एक रूप से प्रश्न पर, किसी के लिए जीवात्मा को विषय बनाकर तथा किसी के लिए परमात्मा को विषय बना कर पृथक् रूप से प्रश्न और उत्तर करने में विषय भेद के प्रसङ्ग से अनौचित्य होगा। इसलिए यहां प्रत्यगात्मा या जीवात्मा के प्राणन अपानन आदि ये सारे

व्यापार भी परमात्मा के कारण ही होते हैं अतः एक परमात्मा ही अध्यात्म और अधिदैव में सर्वत्र सबके अन्तर स्थित है, उसके अतिरिक्त सभी कुछ आर्त हैं,"

इस प्रकार दोनों उत्तरों का विषय एक वही परमात्मा है जिसका तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण से वितरण करना अभीष्ट है, अतः इस प्रकार के रूप भेद को विद्या भेद का प्रयोजक नहीं माना जाता । पुनश्च—

"अतोऽन्यदार्तम्"

वह वाक्यशेष दोनों स्थानों पर सुना जाता है, इस प्रकार प्रत्यगात्मा या जीवात्मा की विद्या में परमात्मा में भी आर्तत्व होगा और परमात्मा को विद्या में प्रत्यगात्मा में भी आर्तत्व होगा इस प्रकार अपने ही वचन का व्याघात होगा। इसलिए प्रश्न के एक रूप होने से तथा उत्तरों के वाक्य शेष के एक रूप होने से यहां विद्या में एकत्व ही सिद्ध होता है।

ननु विद्यैकत्वे एकत्रैव प्रतिवचने तयोरुभयोर्लक्षणयोः समावेशसंभवादाम्नानभेदा-नुपपत्तिरिति चेत् तत्रोच्यते । उपदेशवदेतद् द्रष्टव्यम् ।

यथा सद्विद्यायां छान्दोग्यश्रुतौ--

स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"—

इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो नास्ति । एकस्यैव सतो ब्रह्मणस्तत्तन्माहात्म्य-विशेषाणां पार्थक्येन दिदर्शयिषया तथाऽवृत्त्या व्याख्यानात् । एवमिहाप्येकस्यैव सर्वान्तर-स्य तत्तल्लक्षणपार्थक्यदिदर्शयिषयाम्नानभेदेऽपि विद्यैकत्वं न विहन्यते इति सिद्धम् ।

नन्वेवमप्येकत्र प्राणापानाद्यध्यात्मलक्षणस्यान्यत्राशनायाद्यतीतत्वरूपाध्यात्मविरुद्ध-लक्षणस्य च श्रवणाद्रूपभेदो विज्ञायते ।

अत एव चैकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपासनम्—

अन्यत्राशनायाद्यतीतत्वेनेत्युपासनस्य गुणभेदेनाध्यवसानाद्रूपभेदो भवति । रूप-भेदात् प्रष्टृभेदाच्च विद्याभेदः प्राप्नोति चेत् तत्रोच्यते । व्यतिहार इति । यत्साक्षादपरो-क्षाद् ब्रह्म—

—"य आत्मा सर्वान्तर"—

इत्येवमेकरूपेण जिज्ञास्योपादानप्रश्नयोरेकविषयत्वं तावन्निर्द्धार्य्यते । द्वितीयप्रश्ने यदेवेत्यवकारेण चोत्तर प्रश्नस्य पूर्व प्रश्नविषयताऽवधार्य्यते । प्रतिवचनं चोभयत्रापि—

"स ते आत्मा सर्वान्तर"—

इऽयेवमेकरूपेणोपसंहारादेकविषयमेवेत्यवगम्यति ।

इत्थं च प्रश्नप्रतिवचनयोः परमात्मैकविषयत्वेऽवधृते सत्येकस्मिन्नेव तस्मिन्नुपास्ये द्वयोरुषस्तकहोडयोरितरेतरबुद्धिव्यतिहारः कर्त्तव्यः ।

उषस्तायोपदिष्टा सर्वप्राणिप्राणनादिहेतुत्वविषया बुद्धिः कहोडेनापि कार्य्या । कहोडायोपदिष्टा चाशनायाद्यतीतत्वविषया बुद्धिरुषस्तेनापि कार्य्या इति सूच्यते ।

तथा च प्रत्यगात्मसंनियोगेन दृष्टानप्येतान् प्राणनादिव्यापारानशनायाद्यतीतपरमात्मैकमूलकत्त्वेन व्यवस्थाप्य प्रत्यगात्ममूलकत्वं तेषां व्यावर्तयन्ति हीमानि प्रतिवचनाक्षराणि । इतरवत् ।

यथेतरत्र सद्विद्यायां भूयोभूयः प्रश्नाः प्रतिवचनानि च तदेवैकं सद्ब्रह्म व्यवच्छेदयन्ति नतु प्रश्नप्रतिवचनभेदात् प्रतिवचनं लक्ष्यं भेदेन विविचन्ति ।

तद्वदिहाप्येकविषयत्वं द्रष्टव्यम् ।

ननु तत्रापि सद्विद्यायामेकमेव लक्ष्यं प्रतिवचनमस्तीति कुतो गम्यते इति चेत् तत्राह—

सैव हि सत्यादयः इति ।

—सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायाम्"—

इति प्रकृता या सच्छब्दाभिहिता परा देवता सैव हि तत्र सर्वेषु प्रतिवचनपर्य्यायेषूपपाद्यते । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मेति प्रथमपर्य्यायोदिताः सत्यादय एव च सर्वेषु प्रतिवचनपर्य्यायेषु लक्ष्यत्त्वेन प्रतिपाद्यन्ते ।

तस्मादुपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यादेकविषयत्वं तत्र गम्यते । तद्वदिहोषस्तकहोड प्रश्नप्रतिवचनयोरप्येकविषयत्वं चेति सिद्धम् ।

इत्युषस्तकहोडप्रतिवचनयोः परमात्मैकविद्याधिकरणम् ।

। आध्यात्मिकप्राणनादिवृत्तीनां परमात्ममूलकत्वाधिकरणम् ।

प्रश्न होता है कि जब विद्या में भेद नहीं एकत्व ही है तब एक ही जगह के उत्तर में उन दोनों के लक्षणों का समावेश किया जाना संभव हाने से वर्ण के भेद की अनुपपत्ति रहेगी । इस पर कहना यह है कि—

"इसको उपदेश की तरह देखना चाहिए"

जैसे छान्दोग्य श्रुति की सद्विद्या में—

"वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो तुम वही हो"

ऐसा नौ बार उपदेश होने पर भी विद्या भेद नहीं हैं। एक ही सत् ब्रह्म का उसके भिन्न भिन्न माहात्म्यों को पृथक् पृथक् कहने की इच्छा से उस प्रकार पुनरावृत्ति करके व्याख्या की गई है। इसी प्रकार यह भी एक ही सर्वान्तर के भिन्न भिन्न लक्षणों को दिखाने की इच्छा से कथन भेद में भी विद्या का एकत्व आहत नहीं होता यह सिद्ध होता है। पुनः प्रश्न होता है कि इस प्रकार एक स्थान पर प्राण अपान आदि अध्यात्म लक्षण विवरण है अन्यत्र अशनाया आदि से अतीत रूप बतलाते हुए अध्यात्म के विरुद्ध लक्षण का श्रवण होने से रूप भेद ज्ञात होता है। इसीलिए एक स्थान पर समस्त प्राणियों के प्राणन के हेतु के रूप में उपासना है, अन्यत्र अशनाया आदि से अतीत के रूप में उपासना है, इस प्रकार गुण भेद से निश्चय किया जाने के कारण विद्या के रूप में भेद होता है। रूप भेद से तथा प्रश्नकर्ता के भेद से इस विद्या में भी भिन्नता की प्रतीति होती है, इस प्रश्न पर कहा जाता है कि यहां व्यतिहार है। जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म हैं—

'जो आत्मा सर्वान्तर है"

इस प्रकार जिज्ञास्य और उपादान प्रश्नों के एक ही विषय से सम्बद्ध होने का निर्धारण होता है। द्वितीय प्रश्न में 'यदेव' में जो 'एव' शब्द है उससे आगे के प्रश्न वही विषय है जो पूर्व प्रश्न का है ऐसा निश्चय किया जाता है। उत्तर में दोनों स्थानों पर—

"वह तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है,"

इस प्रकार एक ही रूप से उपसंहार होने के कारण एक ही विषय यहां है, यह ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार प्रश्न और उत्तर के परमात्मा रूप एक ही विषय से सम्बद्ध होने का अवधारण कर लेने पर एक ही उपास्य में दोनों उषस्ति और कहोड़ का एक दूसरे की बुद्धि का सामञ्जस्य करना चाहिए। उषस्ति के लिए उपदिष्ट समस्त प्राणियों के प्राणनकी हेतुत्व विषयक बुद्धि कहोड़ की भी करनी चाहिए। इसी प्रकार कहोड़ को उपदिष्ट अशनाया आदि से ब्रह्म के अतीत होने की बुद्धि उषस्तिकी भी करनी चाहिए, यह इस सन्दर्भ से सूचित होता है। इस प्रकार जीवात्मा के प्रकरण से दिखाए गए भी इन प्राणन् आदि व्यापारों का अशनाया आदि से अतीत परमात्मा के एकमात्र मूल होने में व्यवस्थित करके, वे जीवात्म मूलक हैं इसका इन उत्तर के अक्षरों से निषेध किया जाता है। अन्यत्र के समान यह विषय है। जैसे अन्यत्र सद्विद्या में बार बार प्रश्न और उत्तर उसी एक सत् ब्रह्म को अन्य से पृथक् करते हैं, न कि प्रश्न और उत्तर के भेद से प्रत्येक वचन से लक्ष्य का भेदपूर्वक विवेचन करते हैं। इसी प्रकार यहां भी एक विषयत्व

को समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि वहां सद् विद्या में भी एक ही लक्ष्य प्रत्येक वचन में है, यह कैसे ज्ञात होता है, तो इसका उत्तर है—

"वह सत्य आदि कहे गए हैं"।

इस देवता ने पर देवता में तेज देखा।"

इस वाक्य में प्रकृत सत शब्द से कथित जो परा देवता है उसी का वहां सभी उत्तर पर्यायों में उपपादन किया गया है—

"यह सब इसी को आत्मा मानने पर व्यवस्थित है, वही सत्य है' वह आत्मा है इस प्रकार प्रथम पर्याय में कहे गए अत्य आदि ही सभी उत्तरों को परम्परा में लक्ष्य रूप से प्रतिपादित हैं। इसलिए उपक्रम और उपसंह.र की एकरूपता के कारण वहां एक विषयता सिद्ध होती है।

। इस प्रकार उषस्ति कहोड़ संवाद में परमात्मा की विद्या का अधिग्रहण हुआ।

। आध्यात्मिक प्राणादिवृत्तियों का परमात्ममूलकत्व का अधिकरण हुआ।

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्।

अथ शंकरानुसारेण व्याख्यायते।

तत्र स्वात्मन इत्यन्तमेकं सूत्रम्। अन्यथेत्यारभ्य नोपदेशान्तरवदित्यन्यत् सूत्रम्। ताभ्यां चैकमधिकरणं विरच्यते। उषस्तिकहोडयोः प्रश्ने विद्यैकत्वं विद्यानानात्वं वेति संशये द्विराम्नानसामर्थ्याद् विद्यानानात्वं प्राप्नोति।

कर्मतन्त्रे यजत्यभ्यासात् प्रयाजादि कर्मभेदवत्। तत् प्रत्युच्यते। स्वात्मनोऽन्तराम्नाविशेषाद्विद्यैकत्वमस्तीति।

सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकदेहे सर्वान्तरौ संभवतः।

एकस्मिन् देहे एकस्य सर्वान्तरत्वे सिद्धेऽप्यनेकस्य सर्वान्तरत्वं भूतग्रामवन्नोपपद्यते।

यथा पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यश्च तेजोऽन्तरमित्यापेक्षिकान्तरत्वे सत्यपि नैषां सर्वान्तरत्वं संभवति ।

अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति ।

—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा"—

इति श्रुतौ सर्वेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तरात्माम्नायते । एवमिहाप्येक एवान्तरात्मा वेद्य इति विद्यैकत्वं भवति ।

यत्तूक्तं विद्याभेदानभ्युपगमे आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तन्न उपदेशान्तरवदुपपत्तेः यथा छान्दोग्ये सद्विद्यायां—

—"स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो"—

इति नवधोपदेशे सत्याम्नानभेदे विद्यैकत्वं न विहन्यते ।

उपक्रमोपसंहाराभ्यामैकार्थ्यावगमात् । एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् ।

– "अतोऽन्यदार्तम्"—

इति परिसमाप्त्यविशेषाच्चैकविषयत्वमुपपद्यते तस्मादेकविद्यं सिद्धम् ।

इत्युषस्तिकहोडप्रश्नयारेकविद्याधिकरणम् ।

। प्रत्यगात्मप्राणनादीनांपरमात्मनिबन्धनत्वाधिकरणम् ।

अब श्री शंकराचार्य के अनुसार व्याख्या की जाती है । वहां—

"स्वात्मनः"

यहां तक एक सूत्र है ।

"अन्यथा" से आरम्भ करके 'नोपदेशान्तरवत्'

यह इन दोनों सूत्रों के द्वारा एक अधिकरण बनाया गया है । उषस्ति और कहोड़ के प्रश्न में एक ही विद्या है या नाना विद्या है इस संशय पर दो बार कथन होने के कारण विद्या में नानात्व की प्राप्ति होती है । जैसे कर्मकाण्ड 'यजति' के बार बार आने पर प्रयाज आदि में कर्मों में भेद माना जाता है, वैसे ही यहां भी मानना प्राप्त होता है । उसका उत्तर है कि आत्मा को भीतर बनाने में भेद न होने के कारण एक ही विद्या यहां है । सबके भीतर स्थित आत्मा ही दोनों जगह बिना किसी भेद के पूछा गया है और

उसी का उत्तर दिया गया है। दो आत्मा एक ही देह में सबके भीतर स्थित नहीं हो सकते। एक देह में एक के सब के भीतर होने की सिद्धि हो जाने पर भी अनेकों का सबके भीतर होना भूत समूह के समान सिद्ध नहीं होता। जैसे पांच भूतों के समूह रूप देह में पृथिवी के भीतर जल हैं, जल के भीतर तेज है इस प्रकार आपेक्षित रूप से एक के दूसरे की भीतर होने पर भी इनका सबके भीतर होना संभव नहीं होता। अथवा—

"भूतग्रामवत्"

के उदाहरण में दूसरी श्रुति को दिखाते हैं—

"एक देव सब भूतों में गूढ़ हैं, वह सर्वव्यापि है, समस्त भूतों का वह अन्तरात्मा है"

इस श्रुति वाक्य में समस्त भूत समूहों में एक ही सबका अन्तरात्मा बतलाया गया है। इसी प्रकार एक ही अन्तरात्मा वेद्य हैं, इस प्रकार विद्या में एकत्व है। जो यह कहा जाता है कि विद्या भेद के न मानने पर विवरण या कथन के भेद में अनुपपत्ति रहेगी तो ऐसा नहीं है। अन्य उपदेशों के समान यहां उपपत्ति होगी। जैसे छान्दोग्य में सद्विद्या में—

"वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु तुम वह हो,"

इस प्रकार नौ बार उपदेश होने पर विवरण भेद होने पर भी विद्या की एकता आहत नहीं होती। क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से वहां एक ही अर्थ का अवगम या का ज्ञान होता है। इसी प्रकार यहां भी प्रश्न के रूप में अभेद के कारण तथा --

"इसके अतिरिक्त अति है"

इस परिसमाप्ति के अभिन्न होने से एक ही विषय है इसको युक्तता सिद्ध होने से एक ही विद्या की सिद्धि होती है।

। इस प्रकार उषस्ति और कहोड़ के प्रश्नों में एक विद्या का अधिकरण हुआ।

प्रत्यगात्मा तथा प्राणादि का परमात्मा में निबन्धत्व का अधिग्रहण हुआ।

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥

आदित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति—

—"तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम् इति। जाबालाश्चाहुः त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि"—इति।

तत्र संशयः किमत्र जीवस्येश्वरात्मत्वमीश्वरस्य तु जीवात्मत्वमित्युभयथा बुद्धिर्विव-क्षिता ।

अथवा जीवस्येश्वरात्मत्वमात्रं विवक्षितमिति । तत्रान्त्यपक्ष एव युक्तः ईश्वरस्यापि संसार्य्यात्मत्त्वे विवक्षिते उपास्यनिकर्षापत्तेरिति चेत् तत् प्रत्युच्यते ।

व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते । इतरवत् । यथेतरे सर्वात्मत्वप्रभृतयो गुणा आध्यानायाम्नायन्ते तद्वत् ।

तथाहि विंशिषन्ति आम्नातारः—

—"त्वमहमस्म्यहं च तत्वमसीति । एतेन ह्युभयरूपमुपदिष्टं भवति ।

अन्यथा त्वहं त्वमसीत्येकमेवरूपमुपदिष्टं स्यात् । यत्तूपास्यनिकर्षः स्यादित्युक्तं तन्न व्यतिहारेणैकात्म्यस्यानुचिन्तनीयत्वात् ।

॥ इति जीवेश्वरतादात्म्याधिकरणम् ॥

। इतिव्यतिहारश्रुतेरुभयबुद्ध्यर्थताधिकरणम् ।

आदित्य पुरुष के सन्दर्भ में ऐतरेय में कहा गया है—

'इसलिए जो मैं हूँ, वह यह है, जो यह है वह मैं हूं" ।

और जाबालि ने कहा –

"हे भगवन् देवता, आप मैं हूं, मैं आप हैं" ।

यहां संशय है कि क्या जीवका ईश्वर की आत्मा होना और ईश्वर का जोव की आत्मा होना इस प्रकार दोनों बुद्धियां यहाँ विवक्षित हैं अथवा यहां ईश्वर का जीव की आत्मा होना, इतना मात्र यहां विवक्षित है । वहां अन्तिम पक्ष ही युक्तिपूर्ण है क्योंकि ईश्वर के भी संसारी की आत्मा के रूप में विवक्षित होने पर उपास्य के रूप में उसके निर्धारण में आपत्ति होगी, इस पर प्रतिवाद किया जाता है कि—

"यह व्यतिहार आध्यान या उपासना के लिए कहा जा रहा है । यह अन्य के समान है । जैसे अन्य सर्वात्मत्व आदि गुण ध्यान के लिए कहे जाते हैं वैसा ही यहां भी हैं । जैसे कि शास्त्रकार कहते हैं—

"तुम मैं हूं, और मैं तुम हो" ।

इससे दोनों रूपों का उपदेश हो जाता है। अन्यथा तो—

"मैं तुम हो"

यह एक ही रूप उपदिष्ट होगा। जो उपास्य में अनिर्धारण रहेगा। यह कहा गया वह नहीं होगा क्योंकि परस्पर व्यतिहार से एकात्मता का ही अनुचिन्त यहां है।

। यह जीवेश्वर तादात्म्य का अधिकरण हुआ।

यह व्यतिहार श्रुति में उभय बुद्ध्यर्थता का अधिकरण हुआ।

सैव हि सत्यादयः।

स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म—

इत्यादिना वाजसनेयके सनामाक्षरा सत्यविद्या विधीयते। अनंतरमेव च—

—"तद्यत् तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः"—

इत्याम्नायते। तत्र संशयः। किमिमे द्वे सत्यविद्ये अथवा एकैवेति।

तत्र—"जयतीमान् लोकानीति"—

पूर्वत्र,—

—"हन्ति पाप्मानं जहाति"—

चेत्युत्तरत्र फलश्रुतेर्भेदेनाख्यानाद् द्वे विद्ये कश्चित् प्रतीयादत आह। सैव ह्येकेयं सत्यविद्येति।

—"तद्यत् तत्सत्यम्"—

इति प्रकृतस्यैवाकर्षणेनोत्तरत्राख्यानात्। यत्तु फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमित्युक्तं तन्न। तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकत्वेन फलान्तरश्रुतेरर्थवत्वात्।

तस्मात् सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणाम्नायते इत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन् प्रयोगे उपसंहर्तव्याः।

केचित्तु—

—"तद्यत् तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष' इति वाजसनेयके, छान्दोग्ये पुनः—

—"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यतेऽथ एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते"—

इत्युभयत्राक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्याम्नायते। तत्रैकविद्यं वा विद्यानानात्वं वेति विचारे सैव ह्येका विद्येति प्रतिज्ञायते। सत्यादयश्च तत्र तत्रोपदिष्टा गुणा इतरत्रोपसंहार्य्या इत्याहुः।

इत्यक्ष्यादित्यपुरुषैकविद्याधिकरणम्।

। इत्यक्ष्यादित्यपुरुषगतसत्यतैकविद्यात्वाधिकरणम्।

"यह जो प्रथम उत्पन्न महान् यक्ष को जानता है, सत्यब्रह्म है"

इत्यादि के द्वारा वाजसनेयक में सत्यविद्या का विधान है। उसके अनन्तर ही—

"वह जो सत्य है यह वह आदित्य है, जो उस मण्डल में पुरुष है, और जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है"

ऐसा कहा गया है। यहां सन्देह होता है, क्या ये दो सत्यविद्याएं हैं, अथवा एक ही विद्या है। वहां—

"इन लोकों को जीतता है"

ऐसा पूर्व स्थल पर तथा—

"वह पापों को नष्ट करता है'

ऐसा आगे स्थल पर फलश्रुति के भेद कथन से कोई यहां इनको दो विद्याएं समझ सकता है, इसलिए कहा जाता है कि यह वह एक ही सत्य विद्या है।

"वह यह सत्य है"

इस प्रकृति का ही आकर्षण करके आगे व्याख्यान किया गया है। जो यह कहा जाता है कि अन्य फल के श्रवण के कारण यह दूसरी विद्या हो गई, वह नहीं समझना चाहिए। उसकी—

"उपनिषदहरहम्"

इस दूसरे अङ्ग के उपदेश से स्तावक होने से अन्य फलश्रुति की अर्थवत्ता है। इसलिए यह वही एक सत्य विद्या है जिसका अनेक विशेषणों से उल्लेख हुआ है इसलिए सभी सत्य आदि गुण एक प्रयोग में संगृहीत कर लिये जाने चाहिए।

"वह जो सत्य है वह आदित्य है, जो इस मण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है"

इस प्रकार वाजसनेयक में आता है। पुनश्च छान्दोग्य में—

"यह जो आदित्य के भीतर हिरण्मय पुरुष दिखाई देता है, यह नेत्रों के भीतर पुरुष दिखाई देता है"

इस प्रकार दोनों जगह अक्षि आदित्य पुरुष विषयिणी विद्या कही गई है, वहां एक विद्या है या नाना विद्याएं हैं? इस विचार में वही एक विद्या है ऐसी प्रतिज्ञा है। सत्य आदि जो वहां उपदिष्ट गुण हैं उनका इतर स्थान पर संग्रह कर लेना चाहिए, ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है।

। इस प्रकार अक्षि आदित्य पुरुष के एक विद्या होने का अधिकरण हुआ।

इस प्रकार अक्षि आदित्य पुरुषगत सत्य एक विद्यात्व का अधिकरण हुआ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३९।

आदरादलोपः ।३।३।४०।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।३।३।४१।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्"—

इति छान्दोग्ये, वाजसनेयके तु—

—"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः"—

इत्यादि श्रूयते।

तत्र विद्यैकत्वं विद्याभेदो वेति संशये उच्यते। कामाद्येव हि रूपमितरत्र तत्र च दृश्यते तस्मादेकोभयत्र विद्येति प्रतीमः। कामशब्दः सत्यकामार्थः।

आदिपदं सत्यगुणाष्टकस्य विज्ञानगुणाष्टकस्य चोपलक्षणार्थम्।

तद् यथा—

सत्यकामः, सत्यसंकल्पः, अपहतपाप्मा, विजरः, विमृत्युः, विशोकः, अविजिघत्सः अपिपासः इति सत्यगुणाष्टकं छान्दोग्ये श्रुतमितरत्र वाजसनेयकेऽप्युपसंहार्य्यम्।

तथा महाजनत्वं, सर्ववशित्वं, सर्वेशानत्वं सर्वाधिपतित्वं भूतपालत्वं सेतुत्वं विधरणत्वं निर्विकारत्वम्—

इति विज्ञानगुणाष्टकं वाजसनेयके श्रुतमितरत्र छान्दोग्येऽप्युपसंहार्य्यम्। अन्तर्हृदयाकाशरूपायतनादिभ्योऽनन्यधर्मेभ्यस्तदन्तर्वर्तिनो वेद्यस्याभेदप्रतिपत्तेः। आयतनोपदेशसाम्येन चोदनासाम्यं दर्शयति।

आदिपदेन कामादिगुणोपसंहाराद्रूपसाम्यं, दहरब्रह्मविद्यानामसाम्यं फलसंयोगसाम्यं च। तत्र संयोगो यथा—

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। अभयं वै ब्रह्म भवतीत्येवमेकविधो दृष्टः। तस्मादेकविद्यं नेयम्।

अत्र शंकरः सूत्रसिद्धमप्यैकविद्यं नाभिप्रैति। तथाहि—

—"अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्—

इति छान्दोग्ये श्रुतावात्मवत् कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् तत्र सगुणब्रह्म विद्योपदेशः प्रतीयते। वाजसनेयके तु—

—"अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूह्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः"—

इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्,—

—"स एष नेति नित्यात्मा"—

इति निर्गुणब्रह्मणोपसंहाराच्च तत्र निर्गुणब्रह्मविद्योपदेशः सिद्ध्यति।

सूत्रे तु गुणोपसंहाराख्यानं विभूतिप्रदर्शनार्थं नोपासनार्थमित्याह।

छान्दोग्य में कहा गया है कि—

"इस ब्रह्मपुर में जो दहर पुण्डरीक वेश्म है, उसके भीतर दहर आकाश है जो उसके भीतर है उसका अन्वेषण करना चाहिए"

वाजसनेयक में तो—

"वह महान् अज आत्मा जो प्राणों में विज्ञानमय है, जो हृदय के भीतर आकाश है, वह सबको वश में करने वाला है, सब का ईशान है'

इत्यादि सुना जाता है। वहां विद्या में एकत्व है विद्या में भेद है इस सन्देह पर कहा जाता है, कि काम आदि रूप हो अन्यत्र तथा वहां भी दिखाई देते हैं इसलिए दोनों स्थलों पर एक ही विद्या है ऐसा हम समझते हैं। काम शब्द सत्यकाम के अर्थ में है। आदि शब्द आठ सत्यगुण तथा आठ विज्ञानगुण का उपलक्षण है। जैसे कि—

सत्यकाम, सत्यसंकल्प, अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिघत्स, अपिपास, ये आठ सत्यगुण छान्दोग्य में सुने गए हैं, उनका अन्यत्र वाजसनेयक में भी संग्रह करना चाहिए। तथा महाजनत्व, सर्ववशित्व, सर्वेशानत्व, सर्वाधिपतित्व, भूतपालत्व, सेतुत्व, विधरणत्व, निर्विकारात्व, इन आठ विज्ञान गुणों का श्रवण वाजसनेयक में हुआ है, इनका अन्यत्र छान्दोग्य में भी संग्रह कर लेना चाहिए।

क्योंकि हृदय के भी आकाशरूप आयतन आदि जो अनन्य धर्म हैं उनकी उनके अन्दर बैठे हुए वेद्य के साथ अभेद की प्रतीति होती है। आयतन के उपदेश का समानता के द्वारा प्रेरणा में समानता दिखाई जाती है। सूत्र में कामादि यहां आदि शब्द से काम आदि गुणों के संग्रह से रूप को समानता, दहर ब्रह्मविद्या इस नाम में समानता तथा फल संयोग में समानता बतलाई गई है। वहां संयोग जैसे कि—

"परमज्योति में उपसपन्न होकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है, वह अभय ब्रह्म हो जाता है"

यह एक प्रकार का देखा जाता है। इसलिए यहां एक विद्यात्व ही ग्रहण करना उचित है। यहां श्री शंकराचार्य सूत्र से सिद्ध होने वाले एकविद्यात्व को नहीं मानते। जैसे कि—

"जो यहां आत्मा को जानकर जाते हैं तथा उन सत्यकामों को"

इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति में आत्मा की तरह कामों के भी वेद्यत्व के श्रवण से वहां सगुण ब्रह्म विद्या का उपदेश प्रतीत होता है। वाजसनेयक में तो—

"इसके अनन्तर मोक्ष के लिए ही कहा जाता है, यह पुरुष असङ्ग है"।

इत्यादि प्रश्नोत्तर के समन्वय से,

"वह यह नेति निह्यात्मा है"

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म में उपसंहार होने के कारण वहां निर्गुण ब्रह्म विद्या का उपदेश सिद्ध हो रहा है। सूत्र में जो गुणों के उपसंहार का कथन है वह विभूति को बतलाने के लिए है, उपासना के लिए नहीं।

रामानुजादयस्तु कामादिसूत्रेण कामादिगुणानामुपसंहारविधानात् सगुणब्रह्मविद्योपदेशपरत्वमेवोभयोश्छान्दोग्यवाजसनेयशाखयोरभिप्रयन्ति। तत्र च--

—"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"—

—"एकधेवानुद्रष्टव्यम्"—

—"स एष नेति नेत्यात्मा इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणो निर्विशेषत्वश्रवणात् तद्विरोधमाशङ्क्य तदुद्धारायोत्तरसूत्रमवतारयन्ति। आदरादलोप इति।

सत्यकामत्वादिगुणानां सर्ववशत्वादिगुणानां चास्मिन् ब्रह्मणि सादरमुपदेशादेषां ब्रह्मण्यलोपो द्रष्टव्यः। नित्या ह्येते ब्रह्मगुणा, न कदाचिन्न सन्तीति, न त्वेवं निर्विशेषं तद् ब्रह्म कदाचिदनुध्येयं भवति।

अथ य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"—

इति गुणविशिष्टाऽवेदननिन्दाश्रवणाद् गुणेष्वादरः प्रतीयते। तस्मात् सगुणमेव ब्रह्म, न निर्गुणं तदुपास्यम्।

—"नेह नानास्ति किञ्चन, एकधैवानुद्रष्टव्यम् इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यतया तदात्मकत्वादेकधाऽनुदृष्टिं विधत्ते। अब्रह्मात्मकत्वेन च नानात्वबुद्धिं प्रत्याचष्टे न तु वा ततो ब्रह्मण एव निर्गुणत्वं प्रत्याय्यते।

नेति नेतीत्यत्र चेति शब्देन प्रपञ्चाकारं परामृश्य सर्वसाधारणस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते।

—"अग्राह्यो न गृह्यते, अशीर्य्यो न शीर्य्यते, असङ्गो न सज्यते, अव्यथितो न व्यथते न रिष्यति—

—"नास्य जरयैतज्जीर्य्यति, न वधेनास्य हन्यते।

एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः"—

इत्यादयः श्रुतयोप्यस्य ब्रह्मणः प्रत्यक्षादिग्राह्यविशरणीयादिप्रपञ्चरूपवैसादृश्यमेवान्वाचक्षते, न त्वात्मगुणानपि ताः प्रत्याचक्षते।

तस्मात् गुणविशिष्टमेवैतदेकं ब्रह्म न निर्गुणमिति सिद्धम्।

ननु—

—"तद् य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामाँस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोककामो भवति"—

इत्यादिना गुणविशिष्टविद्यायाः सांसारिकसंबन्धश्रवणान्न निर्गुणविद्यामन्तरेण मोक्षसिद्धिरिति चेत् तत्रोच्यते उपस्थितेऽतस्तद्वचनादिति।

उपस्थानं ब्रह्मरूपेणाभिनिष्पत्तिः। स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मन्यतः स्वरूपोपसंपत्तेरेव हेतोः स सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

श्रुतौ तथैव तद्वचनात्।

तथाहि—

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीति।

तदित्थं मुक्त्यनन्तरमेवेदृशः फलसंयोगः श्राव्यते इति सर्वलोककामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वावगमान्न मुक्त्यर्थं निर्गुणब्रह्मविद्यापेक्ष्यते।

तदेतच्चतुर्थे निपुणतरमुपपादयिष्यते।

। इति सगुणब्रह्मविद्याया मुक्तिफलत्वाधिकरणम्।

श्री रामानुजाचार्य आदि तो—

'कामादि'

इस सूत्र के द्वारा काम आदि गुणों के संग्रह का विधान होने के कारण छान्दोग्य तथा वाजसनेयक दोनों शाखाओं में सगुण ब्रह्मविद्या का उपदेश ही मानते हैं। वहां—

"मन से ही देखना चाहिए कि यहां नानात्व कहीं नहीं है, वह मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो यहां भेद के समान (नानाभाव) देखता है"

"एक ही देखना चाहिए,"

"वह यह नेति नेति आत्मा है,"

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के निर्विशेषत्व के श्रवण के कारण उसके विरोध की आशंका से आगे का सूत्र आता है—

"आदरादलोपः"।

सत्यकामत्व आदि गुणों का तथा सर्ववशित्वादि गुणों का इस ब्रह्म में सादर उपदेश होने से इनका ब्रह्म में लोप नहीं है यह समझना चाहिए। ब्रह्म के ये गुण नित्य हैं, इनका कभी अभाव नहीं होता, इसलिए वह निर्विशेष ब्रह्म कभी ध्यातव्य नहीं होता।

"जो यहां आत्मा को न जानकर तथा इन सत्यकाम आदि को न जानकर चले जाते हैं, वे सभी लोकों में कामना पूर्वक विचरण नहीं कर सकते,"

इस प्रकार विशिष्ट गुणों के अज्ञान में निन्दा का श्रवण होने से गुणों में आदर प्रतीत होता है। इसलिए जो उपास्य ब्रह्म है वह सगुण ही है, निर्गुण नहीं।

"यहां नाना कुछ नहीं है, एकधा ही देखना चाहिए"

इत्यादि में तो सब ब्रह्म का ही कार्य होने से एकधा दृष्टि का विधान है। अब्रह्म कुछ नहीं है ऐसा कहते हुए नानात्व बुद्धि का निषेध किया जाता है, इसके द्वारा ब्रह्म का ही निर्गुणत्व नहीं बतलाया जाता। 'नेति नेति' में इति शब्द के द्वारा प्रपञ्च के आकार को दिखाते हुए सब में साधारण रूप से विद्यमान ब्रह्म को प्रपञ्च से विलक्षण प्रतिपादित किया जाता है।—

"वह अग्राह्य है, गृहीत नहीं होता, वह अशीर्य है शीर्ण नहीं होता, वह असङ्ग है सक्त नहीं होता, वह अव्यथित है, व्यथित नहीं होता, वह क्रुद्ध नहीं होता, उसकी जरा से यह जीर्ण नहीं होता, उसके वेधन से यह आहत नहीं होता, यह सत्य ब्रह्म का पुर है, इसमें काम समाहित हैं"

इत्यादि श्रुतियां भी इस ब्रह्म प्रत्यक्षादि से ग्राह्य विशरणीय ग्रादि प्रपञ्च रूप की विसदृशता या विपरीतता ही बतला रही है, वे ग्रात्मा के गुणों का भी प्रत्याख्यान कर रही हों ऐसा नहीं है। इसलिए यह एक ब्रह्म गुणविशिष्ट ही है, न कि यह निर्गुण है यह सिद्ध हुग्रा। प्रश्न होता है कि—

"जो ग्रात्मा तथा सत्यकामों को जानकर जाते हैं उनका सभी लोकों में कामना पूर्वक विचरण होता है, वह यदि पितृलोक की कामना वाला होता है"

इत्यादि से गुणों से विशिष्ट विद्या का सांसारिक फलों के सम्बन्ध का श्रवण होने से निर्गुण विद्या के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, इस प्रश्न पर कहा जाता है। कि—

"उपास्थितेऽतस्तद्वचनात्"।

यहां उपस्थान का ग्रर्थ है ब्रह्म के रूप में ग्रभिनिष्पत्ति होना। जब प्रत्यगात्मा ग्रपने रूप से ग्रभिनिष्पन्न हो गया तो इसी स्वरूप संपत्ति के कारण वह सभी लोकों में कामना पूर्वक (यथेच्छ) विचरण करता है। श्रुति में उसे वैसा ही बतलाया गया है। जैसे कि—

'परम ज्योति में उपसम्पन्न होकर ग्रपने रूप में ग्रभिनिष्पन्न होता है, वह उत्तम पुरुष है, वह वहां क्रीडा करता हुग्रा स्त्रियों के साथ ग्रथवा यानों से, ग्रथवा जाति बान्धवों के साथ इस शरीर उपजन का स्मरण न करते हुए, वह स्वराट् हो जाता है, उसका सभी लोकों में कामचार होता है"

इस प्रकार मुक्ति के ग्रनन्तर ही इस प्रकार के फल का संयोग सुनाया जाता है, इसलिए समस्त लोकों में कामचार का मुक्त पुरुषों के उपभोग्य फल के रूप में ग्रवगम होने से मुक्ति के लिए निर्गुण ब्रह्मविद्या की ग्रपेक्षा है।

। ग्रागे इस विषय का विस्तार से उपादान होगा—।

। इस प्रकार सगुण ब्रह्मविद्या के मुक्ति के फल रूप होने का ग्रधिकरण हुग्रा।

ग्रादरादलोपः। उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्॥

इत्थं त्रिभिः सूत्रैरेकमधिकरणं रामानुजाद्यनुसारेणाख्यातम्।

शंकरस्तु कामादिसूत्रेणैकेन तावदेकं सत्यकामत्वादिगुणोपसंहराधिकरणं व्याख्यायोत्तरसूत्रद्वयेनाधिकरणान्तरमारचयति।

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य—

—"तद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयं स प्रथमामाहुतिं जुहुयात् प्राणाय स्वाहेति"—

इत्यादिना पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः।

तासां चाग्निहोत्रतामभिप्रयन्नाह—

—"य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति इति"—।

—"यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वाणि भूतानि अग्निहोत्रमुपासते"—इति च।

तत्र भोजने लोपे सत्यस्य प्राणाग्निहोत्रस्य लोपोऽलोपो वेति चिन्तायां प्राणाग्निहोत्रस्य भक्तागमसंयोगात् तस्य च भोजनार्थत्वाद् भोजनलोपे लोपः संभाव्यते। किन्त्वत्र पूर्वपक्षी तावदाशंकते—

आदरादलोप इति।

वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतौ—

"पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्। यथा वै स्वयमहुत्वाग्निहोत्रपरस्य जुहुयादेवं तद्"—

—इत्यतिथिभोजनप्राथम्यं निन्दित्वा गृहिभोजनप्राथम्यविधानादादरः प्राणाग्निहोत्रे दृश्यते।

तस्मात् प्राणाग्निहोत्रस्य नित्यावश्यकत्वसिद्धौ हवनीयभक्तादिगुणलोपेपि मुख्यस्य हवनस्य लोपो न कार्य्य इति स्थिते प्रतिनिधिन्यायेनाद्भिरन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन तदनुष्ठानं कार्य्यमेवेति लभ्यते।

इत्येवं प्राप्ते सिद्धान्ती प्रत्याह—

—उपस्थितेऽतस्तद्वचनादिति। उपस्थिते भोजने प्रथमोपनिपतितादतो भोजनद्रव्यादेवैतत् प्राणाग्निहोत्रं संपाद्यम्।

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयम्"—

—इति सिद्धिवद् भक्तोपनिपातपरामर्शेन तद्वचनात्।

तथा च होमसाधनद्रव्यतया भक्तस्य विशिष्योपादानाद् भोजन-पक्ष एवैते मन्त्र-द्रव्यदेवता संयोगात् पञ्च होमाः सिध्यन्ति न तु भोजनलोपे द्रव्यान्तरप्रतिनिधेयं सिध्यति। तस्मात् भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति सिद्धम्।

॥ इति प्राणाग्निहोत्रानुगतवैश्वानरविद्याधिकरणम् ॥

इस प्रकार तीन सूत्रों से एक अधिकरण श्री रामानुजाचार्य आदि के अनुसार व्याख्यात हुआ। श्री शंकराचार्य तो–

"कामादि"

सूत्र से एक सत्यकामत्वादि गुणों के उपसंहार के अधिकरण की व्याख्या करके आगे के दो सूत्रों से दूसरे अधिकरण की रचना करते हैं। छान्दोग्य में वैश्वानर विद्या को प्रकृत विषय बताकर—

"तद्भक्तं प्रथमम्"

इत्यादि से पांच प्राणाहुतियों का विधान हुआ है। उनकी अग्निहोत्रता के अभिप्राय से कहा गया–

"जो यह जानता है: अग्निहोत्र का हवन करता है"

इत्यादि।

"जैसे यहां भूखे बच्चे माता को उपासना करते हैं उस प्रकार समस्त भूत अग्निहोत्र की उपासना करते हैं"।

वहां भोजन के लोप होने पर इस प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है या नहीं इस विचार में प्राणाग्निहोत्र का भात के आगम संयोग से उसके भोजनार्थ होने से भोजन के लोप में लोप संभावित है। किन्तु यहां पूर्व पक्षी की आशंका यह है कि—

"आदरादलोपः"।

वैश्वानर विद्या में जाबालों की श्रुति में—

"पहिले अतिथि के लिए हवन करे"

इत्यादि से अतिथि भोजन के प्राथम्य की निन्दा करके गृह भोजन के प्राथम्य का विधान करने से प्राणाग्निहोत्र में आदर दिखाई देता है। इसलिए प्राणाग्निहोत्र की नित्यता और उसकी अवश्यकरणीयता की सिद्धि होने पर हवनीय पदार्थ भात आदि गुण के लोप होने पर भी मुख्य हवन का लोप नही करना चाहिए इस स्थिति में प्रतिनिधि न्याय से जल से या अन्य किसी अविरुद्ध द्रव्य से प्राणाग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए, यह प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहता है कि—

"उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्"।

भोजन के उपस्थित होने पर प्रथम उपस्थित भोजन द्रव्य से ही इस प्राणाग्नि होत्र का संपादन करना चाहिए।

"जो भात पहिले आ जाय वह होमीय है"—

इस प्रकार सिद्ध की तरह भात के आने के परामर्श से यह वचन है। इस प्रकार होम के साधन द्रव्य के रूप में भात के विशेष रूप से ग्रहण होने के कारण भोजन के पक्ष में ही ये मन्त्र द्रव्य देवता के संयोग से पांच होम सिद्धि होते हैं न की भोजन के लोप में दूसरे द्रव्य से प्रतिनिधित्व सिद्ध होता है। इसलिए भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही सिद्ध होता है।

। यह प्राणाग्निहोत्रानुगत वैश्वानर विद्या का अधिकरण हुआ।।

तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम्। ।३।३।४२।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"—

"इत्येवमादीनि विज्ञानानि कर्माङ्गतया श्रूयन्ते। तानि तत्तत्कर्मसु नित्यान्यनित्यानि वेति विचार्य्यते।

ननु नोदनीथोपासनस्य कर्माङ्गत्वमुपपद्यते अनारभ्याधीतत्वात्। आपयिता ह वै कामानां भवति समर्द्धयिता ह वै कामानां भवतीत्येव पृथक्फलश्रवणाच्चेति चेन्न। यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति"—

इत्यादीनामपापश्लोकश्रवणफलानामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्बारा क्रतुप्रवेशात् कर्माङ्गत्वं नित्यत्वं च यथाभ्युपेयते तथोद्गीथाद्युपासनानामपि स्यादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः। तन्निर्द्धारणानियमः इति।

निर्धारणं निश्चयेन मनोधारणं ध्यानमिति रामानुजः। कर्म्मसु तदुद्गीथोपास्त्यनियमो द्रष्टव्यः। नोद्गीथं तथोपास्यैवोद्गीथकर्म कुर्य्यादिति नियमोऽस्ति।

अनुपास्यापि कृतमुद्गीथकर्म्मस्वरूपेण सिद्ध्यत्येवेति भावः। शंकरस्त्वाह। आप्तिः, समृद्धिः, मुख्यः प्राण आदित्य—

इत्येवमादीनामुद्गीथादिकर्म–गुणयाथात्म्यनिर्धारणानां नित्यवत् कर्मसु नियमो नास्ति। अनिर्द्धार्य्यापि कृतानि कर्माणि सिध्यन्त्येवेति भावः।

यदि कर्माङ्गविज्ञानमपि कर्माङ्गं स्यात् तर्हि तदविदुषा कृतस्य कर्मणोऽङ्गहीनत्वादसिद्धिः स्यात् । न चैतदस्ति तद्दृष्टेः । दर्शयति ह्येवंजातीयकानामनियतत्वं श्रुतिः—

तेनाभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद—

इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञा दृश्यते । प्रस्तोतुर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसीत्यादिषु प्रस्तावाददेवताविज्ञानविहीनानामपि याजनाध्यवसानं दृश्यते ।

तस्मात् कर्माङ्गविशेषाणां विज्ञानस्य कर्म्माङ्गत्वं नास्ति । पृथग् हि तत्कर्तव्यतया विधीयते । पृथगेव च तस्य फलमुपदिश्यतेऽप्रतिबन्धो नाम ।

तथा हि श्रूयते नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"—इति ।

वीर्य्यवत्तरत्वं कर्मफलस्याप्रतिबन्धः । तत्समृद्धिरतिविशेषः कश्चित् ।

प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन स्वंभोगं यावत् । तदभावोऽप्रतिबन्धस्तत्फलं विद्यायाः । वीर्य्यवत्तरमिति तरपः प्रयोगाद्विद्याविहीनकर्मणो वीर्य्यवत्त्वं तु दूरे क्षिप्तम् ।

। इति विद्यायाः कर्म्मानङ्गत्वाधिकरणम् ।

"ओम् इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करे"

इस प्रकार के विज्ञान, कर्मों के अङ्ग के रूप में श्रुतिप्रतिपादित हैं । वे उन कर्मों में नित्य हैं या अनित्य हैं यह विचार किया जाता है । शका होती है कि उद्गीथ की उपासना की कर्माङ्गता नहीं है, क्योंकि आरम्भ पूर्वक उसका अध्ययन नहीं हुआ है ।

"वह कामों का प्राप्त करने वाला और देने वाला होता है"

इस प्रकार उसका फल भी पृथक् सुना जाता है । इस शंका पर उत्तर में कहा जाता है कि ऐसा नहीं है ।

"जिसकी जुहू पर्णमयी है वह पाप श्लोक का श्रवण नहीं करता"

इत्यादि अपाप श्लोक के श्रवण रूप फलादि का तथा प्रकरण में नहीं पढ़े गए सन्दर्भों का भी जब जुहू आदि कथनो से यज्ञ में विधान होकर उनकी कर्माङ्गता तथा नित्यता जैसे बन जाता है वैसे उद्गीथ आदि उपासनाओं की भी कर्माङ्गता और नित्यता होगी । इस विचार के प्राप्त होने पर हमारा कथन है कि—

"तन्निर्धारणा नियमः"

श्री रामानुजाचार्य निर्धारण का अर्थ करते हैं निश्चय पूर्वक मन का धारण या ध्यान। कर्मों में उस उद्गीथ की उपासना में अनियम समझना चाहिए। उद्गीथ को उस प्रकार उपासना करके ही कर्म करना चाहिए ऐसा नियम नहीं है। बिना उदगीथ को उपासना के भी किया हुआ कर्म सिद्ध होता ही है, यह उसका आशय है। श्री शंकराचार्य कहते हैं—

"आप्ति, समृद्धि, मुख्यप्राण आदित्य"

इत्यादि उदगीथादि कर्म गुण के स्वरूप के निर्धारणों से नित्य के समान कर्मों में नियम नहीं है। भाव यह है कि इनका निर्धारण न होने पर कर्मों की सिद्धि होती है। यदि कर्मों के अङ्ग का विज्ञान भी कर्माङ्ग ही हो तब उसके न जानने वाले के द्वारा किये हुए कर्मों की अङ्गहीनता के कारण असिद्धि हो जाय। ऐसा नहीं है क्योंकि इनके बिना भी कर्मों की सिद्धि देखी जाती है। इस प्रकार के विषयों की अनियतता को श्रुति दिखाती है कि —

दोनों करते हैं, जो इसे इस प्रकार जानता है"

इससे जो नहीं जानता उसे भी क्रिया के लिए अनुज्ञा कही गई है।

"प्रस्तोता को जो देवता प्रस्ताव में प्रकट है उसको न जानते वाला जो प्रस्तुत करेगा"

इत्यादि में प्रस्तानवाद तथा देवताविज्ञान से विहीनों के लिए भी याजन की विधि देखो जाती है। इसलिए कर्माङ्ग विशेषों के विज्ञान या जानने की कर्माङ्गता नहीं है। वह कर्तव्य के रूप में पृथक् विहित है। और प्रतिबन्ध का न होना उसका फल है यह भी पृथक् रूप से ही विहित है। श्रुति ने कहा है

"विद्या और अविद्या नाना प्रकार की है। जो विद्या पूर्वक करता है, श्रद्धा तथा उपनिषद् से करता है, वह अधिक वीर्यशाली होता है।"

अधिक वीर्यशाली होने का अर्थ है कर्म के फल में प्रतिबन्ध का अभाव, उसकी समृद्धि होना और उसमें किसी अति विशेषता का आना। क्योंकि अन्य प्रबल कर्म के फल से उसके भोग तक प्रस्तुत कर्म के फल का प्रतिबन्ध होता है। उसका अभाव होना ही अप्रतिबन्ध है और वह विद्या का फल है।

वीर्यवत्तर में जो तरप प्रत्यय है उसके प्रयोग से यह प्रकट होता है कि विद्या से या ज्ञान पूर्वक जो कर्म नहीं किये जाते वे वीर्यवत्तर न होकर वीर्यवान् होते हैं।

यह बात तभी सिद्ध होती है जब उस विद्या या ज्ञान का नियमन हो। यदि विद्या को नित्य माना जाय तब तो उसके अभाव में कर्मों के अङ्ग में ही हीनता के आ जाने से सभी अङ्गों के संग्रह न होने के कारण कर्म की स्वरूपसिद्धि ही नहीं हो सकेगी, उसकी वीर्यवत्ता तो दूर की बात रह जायगी। इसलिए कर्माङ्ग विद्या पूर्वक कर्मानुष्ठान वीर्यवत्तर होता है।

जो विद्या के अभाव में या बिना जाने कर्मानुष्ठान करते हैं उनका अनुष्ठान वीर्यवान् होता है, इस प्रकार फल का तारतम्य दिखाई देने से विद्या के नियम पूर्वक कर्म में प्रवेश नहीं है यह सिद्ध होता है।

। इस प्रकार विद्या का कर्म का अङ्ग न होने का अधिकरण हुआ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।३।३।४३।

अत्र शंकरो व्याचष्टे। वाजसनेयके श्रैष्ठ्यविद्यायां—

—"वादिष्याम्येवाहमिति वाग् दध्रे"—

इत्यध्यात्मं वागादिषु प्राणस्याधिदैवत्वं त्वग्न्यादीनां वायो श्रैष्ठ्यमुक्तम्।

छान्दोग्ये च संवर्गविद्यायां—

—प्राणो वाव संवर्गो वायुर्वाव संवर्गः इति वागादिषु प्राणस्याग्न्यादिषु च वायोः संवर्गत्वमुक्तम्। अग्निरहस्ये च यजुर्विद्यायां वाय्वाकाशयोरधिदैवतं प्राणाकाशयोश्चाध्यात्मं यजुष्ट्वमाख्याय ज्यैष्ठ्यमुक्तम्।

उपकोसलविद्यायां च कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति प्राणाकाशयोरैक्येन प्राणत्वमाख्याय तत्राग्नित्रैविध्यमुक्तम्। एषु सर्वत्रैतयोर्वायुप्राणदेवतयोः श्रैष्ठ्येन चोपगमनप्रयोगयोराधिदैविकत्वाध्यात्मिकत्वरूपावस्थयोर्विद्ययोश्चाभेदो भेदो वेति चतुर्धा संशये तावद्देवतयोस्तत्वाभेदः प्राप्नोति।

—"यः प्राणः स वायु"—

रिति श्रुत्या विस्पष्टं तयोरैक्योपदेशात्।

—"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशदित्यादिना,—

—"अत एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः—

—"इत्यन्तेन च वाक्येनाध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकी विभूतिरात्मभूता दर्श्यते।

वाजसनेयके प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति"——
इत्येवमेकेन प्राणेनैव श्रैष्ठ्योपदेशमुपसंहरति ।

——"तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् । प्राण्याच्चैवापान्याच्चेति चैकेनैव प्राणव्रतेनोपसंहरति । छान्दोग्येपि—

—"महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार"—

इत्यग्निसूर्य्योदकचन्द्राणां वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसां चैक एव प्रजापतिः संवर्ग उक्तः । तेनैकस्यैव तत्वस्याध्यात्मिकत्वाधिदैविकत्वाभ्यामवस्थाभेदो गम्यते । अवस्थाभेदेनैव च तयोरापाततो भेदो गम्यते । वस्तुतस्त्वेकमेव तत्त्वमधिकरणद्वये तिष्ठति नत्वधिकरणभेदात् तत्वभेद इति वायुप्राणयोरैक्ये स्थिते तयोरपार्थक्यैनैवानुचिन्तनं प्राप्नोति । अवस्थाभेदस्योपगमनभेदप्रयोजकत्वायोगात् । इत्येवमुपगमनैक्ये प्राप्ते तत् प्रत्युच्यते—

प्रदानवत् पृथगेवोपगमनं कार्यमिति । यथा—

—"इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्राधिराजायेन्द्राय स्वाराज्ञे"—

इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्ट्यामिन्द्रदेवतैक्यात् सह—प्रदानाशङ्कायां विशेषणभेदनिबन्धनविशिष्टभेदन्यायात् राज्याधिराज्यस्वाराज्यगुणभेदेन देवतापृथक्त्वादुपगमनपृथक्त्वात् प्रदानपृथकत्वं नियम्यते । एवमिहापि वायुप्राणयोरैक्यात् सहानुचिन्तनाशङ्कायामाधिदैविकत्वाध्यात्मिकत्वगुणभेदेन देवतापृथक्त्वादुपगमनपृथक्त्वं व्यवस्थापयामः । तदुक्तं संकर्षे नाम दैवत्यकाण्डे—

नाना वा देवता पृथग्ज्ञानाद्"—

इति दृष्टान्ते देवताभेदात् कर्म्मभेदोपि नियम्यते किन्त्वत्र प्रयोगभेदमात्रे दृष्टान्तसाम्यं विवक्षितं न तु देवताभेदाद्विद्याभेदेपि । उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः ।

विद्यैक्येपि प्रवृत्तभेदो न व्याहन्यते अग्निहोत्रकर्म्मैक्येपि सायं प्रातः कालभेदेन प्रयोगभेदस्य दृष्टत्वात् ।

।। इत्यध्यात्माधिदैवविभागात् पृथगनुध्यानाधिकरणम् ।।

इस सूत्र पर श्री शंकराचार्य का व्याख्यान है कि वाजसनेय में श्रैष्ठच विद्या में—

"मैं बोलूंगी, ऐसा वाणी ने धारण किया"

इस प्रकार वाणी आदि में प्राण का अधिदैवत्व तथा अग्नि आदि का वायु से श्रेष्ठत्व बतलाया गया। छान्दोग्य में संवर्ग विद्या में—

"प्राण संवर्ग है वायु संवर्ग है"

इस सन्दर्भ में वाक् आदि में प्राण का तथा अग्नि आदि में वायु का संवर्गत्व कहा गया। यजुर्विद्या में अग्नि, रहस्य में, अधिदैवत में वायु आकाश का तथा अध्यात्म में प्राण और आकाश का यजुत्व बतला कर उन्हें ज्येष्ठ कहा गया और उपकोसल विद्या में—

"कं ब्रह्म, खं ब्रह्म"

इस प्रकार प्राण और आकाश की एकता से प्राणत्व का कथन करके वहां अग्नि को तीन प्रकार का बतलाया। इनमें सर्वत्र इन वायु तथा प्राण देवताओं की श्रेष्ठता के प्रयोगों में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूप में अवस्थित विद्याओं में भेद है या अभेद इस चार प्रकार के संदेह के होने पर दोनों देवताओं के स्वरूप में अभेद प्राप्त होता है।

"जो प्राण है, वह वायु है"

इस श्रुति के द्वारा स्पष्ट रूप से उनकी एकता का उपदेश है।

"अग्निवाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुई"

इत्यादि के द्वारा तथा—

"इसलिए ये सभी समान हैं, सभी अनन्त है"

यहां तक के वाक्य से आध्यात्मिक प्राणों की आधिदैविक आत्मभूता विभूति दिखाई गई है। वाजसनेय में—

"यह प्राणों से उदित होता है, प्राण में अस्त होता है"

इस प्रकार एक प्राण से ही श्रेष्ठता के उपदेश का उपसंहार है।

"इसलिए एक ही व्रत का आचरण करे, एक से प्राणन करे, एक से ही अपानन करे,"

इस प्रकार एक ही प्राणव्रत से उपसंहार किया गया है। छान्दोग्य में भी—

"महात्मा का चतुर एक देव है, कौन वह जागृत हुआ इस प्रकार अग्नि, सूर्य, उदक तथा चन्द्र का तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र, तथा मनका एक ही प्रजापति को संवर्ग बतलाया गया।"

इससे एक ही तत्व का आध्यात्मिकत्व तथा आधिदैविकत्व से अवस्था का भेद प्रतीत होता है। और अवस्था भेद से ही उनका आपाततः भेद प्रतीत होता है।

वास्तव में तो एक ही तत्त्व दो आधारों में स्थित है, आधार के भेद से तत्व में भेद नहीं होता, इस रीति से वायु और प्राण के एक होने पर उन दोनों का अपृथक् या समान रूप से ही अनुचिन्तन प्राप्त होता है। क्योंकि अवस्था का भेद उपासना के भेद का हेतु नहीं है। इस प्रकार उपगमन की एकता होने पर उसका प्रतिवाद किया जाता है कि—

"प्रदान के समान उपगमन भी पृथक् ही करना चाहिए"। जैसे—

"राजा इन्द्र के लिए एकादश कपाल का पुरोड़ाश अधिराज इन्द्र के लिए, स्वराट् इन्द्र के लिए"

इस त्रिपुरोड़ाश इष्टि में इन्द्र देवता के एक होने से साथ साथ प्रदान की आशङ्का में विशेषण भेद के कारण विशिष्ट में भेद हो जाता है, इस न्याय से राज्य, अधिराज्य, स्वाराज्य इन गुणों के भेद से देवता के पृथक् हो जाने से प्रदान में भी पृथक्त्व का नियमन किया जाता है। इसी प्रकार यहां भी वायु और प्राण के ऐक्य से साथ साथ अनुचिन्तन की आशङ्का से आधिदैविक तथा आध्यात्मिक गुण के भेद से देवता के पृथक्त्व के कारण उपगमन में भी पृथक्त्व को व्यवस्थित किया जाता है।

संकर्ष नामक दैवत्य काण्ड में इसके समर्थन में कहा गया है कि—

"अथवा पृथक् ज्ञान के कारण देवता नाना है"।

इस दृष्टान्त से देवता में भेद के कारण कर्म मे भी भेद का नियम होता है किन्तु यहां प्रयोग मात्र के भेद में दृष्टान्त की समानता विवक्षित है, न कि देवता के भेद से विद्या का भी भेद यहां विवक्षित है।

क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से अध्यात्म और अधिदैवत के उपदेशों में एक ही विद्या के विधान की प्रतीति होती है। विद्या की एकता होने पर भी प्रवृत्त होने वाले भेद पर आघात नहीं होता जैसे कि—

अग्निहोत्र कर्म के एक होने पर भी सायं-प्रातःकाल भेद से प्रयोग का भेद देखा जाता है।

। यह अध्यात्म अधिदेव विभाग से पृथक् अनुध्यान का अधिकरण हुआ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।।

रामानुजादयस्त्वधिकरणान्तरमत्र पश्यन्ति ।

"तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामानिति दहरविद्यायां दहरात्मन उपासनमुक्त्वा गुणानामपि सत्यकामानां पृथगुपासनं विधत्ते । तत्र गुणोपासने गुणिनो दहरस्याप्यावर्तनादुपसंग्रहणमस्ति न वेति चिन्तायामुच्यते ।

प्रदानवदेवेहाप्यावृत्त्योपसंग्रहणं न्याय्यम् । यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमित्यत्रेष्टौ राज्याधिराज्यस्वाराज्यगुणसंबन्धेनेन्द्रस्यावृत्त्योपसंग्रहणं दृश्यते । स्वाराज्यविशिष्टायेन्द्राय पृथक् प्रक्षेपः क्रियते एवमिहापि सत्यकामविशिष्टं दहरात्मानं पृथगनुविद्य व्रजन्तीति श्रुत्यर्थो द्रष्टव्यः ।

स्वरूपमात्राद्दहरादपहतपाप्मत्त्वादिगुणाष्टकविशिष्टस्य दहरस्य भिन्नत्वाद्भिन्नमनुवेदनं प्रदानवदेव द्रष्टव्यम् । तदुक्तं सांकर्षणे—

"नाना वा देवता पृथक्त्वादिति ।

।। इति गुणाध्यानस्य गुणिव्यासंजकत्वाधिकरणम् ।।

श्री रामानुजाचार्य आदि तो यहां दूसरा अधिकरण बतलाते हैं ।

"जो यहां आत्मा को जानकर जाते हैं और उन सत्य कामों का"

इस प्रकार दहर विद्या में दहर आत्मा की उपासना बतलाकर सत्यकाम गुणों की भी पृथक् उपासना का विधान है । वहां गुणों की उपासना में गुणी दहर का भी आवर्तन से संग्रह है कि नहीं इस विचार पर कहा जाता है कि प्रदान के समान यहां भी आवृत्ति से सग्रह करना उचित है । जैसे–

"राजा इन्द्र के लिए पुरोड़ाश"

इस इष्टि मे राज्य, अधिराज्य, स्वाराज्य गुणों के सम्बन्ध से इन्द्र का आवृत्ति से संग्रह किया जाता है । स्वाराज्य से विशिष्ट इन्द्र के लिए पृथक् प्रक्षेप या प्रदान किया जाता है, वैसे ही यहां भी सत्यकाम विशिष्ट को पृथक् जानते हैं यह श्रुति का अर्थ देखना चाहिए । दहर का जो स्वरूप मात्र है उससे अपहत पाप्मत्व आदि आठ गुणों से विशिष्ट दहर भिन्न है अतः उसका पृथक् ज्ञान प्रदान के समान ही समझना चाहिये । सांकर्षण में कहा गया है—

"अथवा पृथक् होने से देवता अनेक हैं ।

। यह गुणाध्यान का गुणी के साथ व्यासंजकत्व का अधिकरण हुआ ।

लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि ।३।३।४४।

अत्र शङ्करो निम्बार्कादयश्च लिङ्भूयस्त्वादित्यादि सूत्राष्टकेनैकं सप्तचिद्विद्याधिकरणं पश्यन्ति ।

रामानुजस्तु प्रथमेनैकेन सूत्रेणैकं नारायणोपास्यत्वाधिकरणं भिन्नं प्रकल्पयति । तदनुसारेणादौ पृथगधिकरणं व्याख्यायते ।

तैत्तिरीयके दहरविद्यानन्तरम्—

सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वसंभवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परम प्रभुम्"—। इत्यादिकमधीयते । तत्र संशयः । किमनेन पूर्वप्रकृतदहरविद्यैकविद्यात्त्वेन तदुपास्यशेषनिर्धारणमिति । तत्र—

—"दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं परमध्यसंस्थम्"—

तत्रापि दहरं गमनं विशोकस्तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम् ।

इति पूर्वानुवाके दहरविद्यायां प्रकरणं दृश्यते । उत्तरे चास्मिन्नारायणानुवाके—

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं पुण्डरीकाभिधानमस्यानुवाकस्य दहरविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वमुपोद्वलयति । तत्र ब्रूमः—

लिङ्गभूयस्त्वादिदं परविद्योपास्यनिर्धारणमस्तीति । भूयांसि हि लिङ्गानि तथात्वे दृश्यन्ते । परविद्यासु तत्र तत्र भूयसा निर्दिष्टानामक्षर शिवपरब्रह्मपरज्योतिःपरतत्वपरमात्मा दिशब्दानामेव हि नारायणविशेषणविधेयोपादानात् । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयः । तदप्युक्तं पूर्वकाण्डे—

श्रुतिलिङ्गेत्यादि । यत्तूक्तं पद्मकोशप्रतीकाशमिति वाक्यं दहरविद्याङ्गत्वोपोद्वलकमिति तन्न ।

—"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः—

तस्याः शिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः—

स ब्रह्म स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडिति"—

वाक्येन सर्वव्यापकत्वावगमात् सर्वव्यापिनो दहरेऽप्यप्रतिरुद्धत्वादवस्थानोक्तिर्न विरुध्यते । तस्मान्नारायणोपास्यत्त्वं स्वतन्त्रं, न तु दहरविद्याङ्गमिति सिद्धम् ।

इति विद्याविशेषप्रकरणपठितानामपि लिङ्गविशेषात् स्वतन्त्रविद्यात्वाधिकरणम् ।

।। इति नारायणस्य स्वतन्त्रोपास्यत्वाधिकरणम् ।।

यहां श्रीशंकराचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि—

"लिङ्गभूयस्त्व"

आदि आठ सूत्रों से एक सप्तचिद्विधाधिकरण मानते हैं। श्री रामानुजाचार्य तो प्रथम एक सूत्र से एक नारायणोपासना का भिन्न अधिकरण कहते हैं। उनके अनुसार पहिले पृथक् अधिकरण की व्याख्या की जाती। है तैत्तिरीयक में दहर विद्या के अनन्तर—

"सहस्रशीर्ष, देव, विश्वाक्ष, विश्वसंभव, विश्व, नारायण देव, अक्षर, परम प्रभु का ध्यान करें।

इत्यादि पढ़ा जाता है। वहां यह सन्देह है कि क्या इससे पूर्व प्रकृत दहर विद्या के साथ एक ही विद्या के रूप में उस उपास्य के शेष भाग का निर्धारण किया जाता है? वहां—

'दहर विपाप्मा परवेश्मभूत जो पुण्डरीक पर मध्य स्थित है':

वहां भी दहर अर्थात् गगन विशोक है उसमें जो अन्त है उसकी उपासना करनी चाहिए, यह पहिले के अनुवाक में दहर विद्या का प्रकरण देखा जाता है। और इस उत्तर नारायणानुवाक में—

पद्मकोश के समान पुण्डरीक नाम के हृदय का इस अनुवाक के दहर विद्या में उपास्य के निर्धारण के लिए उपोद्वलन किया गया है। वहां हमारा कथन है कि अधिक चिन्हों के कारण यह पर विद्या के उपास्य का निर्धारण है। यहां इसके बहुत से चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। पर विद्याओं में अधिकतया निर्दिष्ट अक्षर, शिव, परब्रह्म, परज्योति, परतत्व, परमात्मा आदि शब्दों का ही नारायण के विशेषण के रूप में ग्रहण किया गया है। चिन्ह प्रकरण से अधिक बलवान् होता है। जैसा कि पूर्वकाण्ड (मीमांसा) में कहा गया है कि

श्रुतिलिङ्ग आदि में पूर्व पूर्व की बलवत्ता होती है। जो यह कहा जाता है कि—

"पद्मकोश के समान"

आदि वाक्य दहर विद्या के अङ्ग के रूप में उसका उपोद्वलक या उसे दृढ़ करने के लिए है तो ऐसा नहीं है।

"अन्दर और बाहर सभी को व्याप्त करके नारायण स्थित है, उसकी शिखा के मध्य में परमात्मा व्यवस्थित है। वह ब्रह्म है, वह शिव है, वह इन्द्र है, वह अक्षर है, वह परम स्वराट् है"

इस वाक्य से उसकी सर्वव्यापकता विदित होती है, जो सर्वव्यापक है, वह दहर में भी अवरुद्ध नहीं होता अतः उसके वहां अवस्थान की उक्ति में विरोध नहीं आता। इसलिए नारायण का उपास्यत्व स्वतन्त्र है, वह दहर विद्या का अङ्ग नहीं है यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार—विद्या विशेष के प्रकरण में पठित होने पर भी लिङ्ग—विशेष से स्वतन्त्र विद्या होने का अधिकरण हुआ।

इस प्रकार नारायण का स्वतन्त्र उपास्यत्व का अधिकरण हुआ।

लिङ्भूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत् ।३।३।४५।

अतिदेशाच्च ।३।३।४६।

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।३।३।४७।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४८।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ३ ३।४९।

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।३।३।५०।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।३।३।५१।

अथ शङ्करादिमतेनोच्यते—

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—

—"नैव वा इदमग्र सदासीत् (शत० १।४।१) इत्यादिना मनोऽधिकृत्य—

—"षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः इत्यधीयते। तथैव वाक्चितः, प्राणचितः चक्षुश्चितः, श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः इति पृथगग्नीनामनन्ति। तत्र संशयः। किमेते मनश्चितादयोऽग्निचित्या कर्म्मप्रकरणपठितत्वात् तच्छेषभूताः सन्ति उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति।

तत्र लिङ्गभूयस्त्वात् केवलं विद्यात्मका इति प्रतिजानीमः। भूयांसि हि लिङ्गानि विद्यात्मकत्वोपोद्बलकानि दृश्यन्ते—

यत्किञ्चेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति वाचा वदन्ति प्राणेन चक्षुषा पश्यन्ति श्रोत्रेण शृण्वन्ति कर्म कुर्वतेऽग्निमिन्धते तेषामेव साकृतिरिति प्रकृत्या संभवतोऽर्थानिव तु वेद्यत्वेनाक्षिपति। न तु कर्तव्यत्वेन विधत्ते।

अपि च—

तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते"—

इति विद्यानिबन्धनां सिद्धिमन्वाह।

अपि च—

ते हैते विद्याचित एव। विद्यया हैवैते एवं विदश्चिता भवन्ति"—

इत्येवं विस्पष्टमेव विद्यात्मकत्वमाचष्टे। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः। तदप्युक्तं-। पूर्वकाण्डे—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् स्यादिति। ननु विधिवाक्यस्थमेव लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयो नार्थवादस्थं, तस्य सांपादिकाग्निप्रशंसारूपतयाऽन्यथार्थदर्शनत्वात्, तेनेह प्रकरणवशादयं संकल्पमयत्वादिविकल्पविशेषोपदेशः क्रियामयाग्निविषय एव स्यान्न स्वतंत्रः।

अत एवैतेऽग्नयः क्रियानुप्रवेशिनः स्युर्मानसवत्। यथा द्वादशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्थसोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते स मानसोपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात् क्रियाशेष एवास्ति, तथायमप्यग्निकल्पः क्रियाशेषः स्यात्।

श्री शंकराचार्य आदि के मत से इन सूत्रों पर व्याख्यान किया जाता है। वाजसनेयी गण अग्निरहस्य में —

"प्रारम्भ में यह सत् नहीं था (शत १.४.१) इत्यादि से मन में सन्दर्भ में

"छत्तीस सहस्र आत्मा के मनोमय मनश्चित अर्क अग्नियों को देखा"

ऐसा पढ़ते हैं। इसी प्रकार वाक्चित्, प्राणचित्, चक्षुश्चित्, श्रोत्रचित्, कर्मचित्, अग्निचित्, इस प्रकार पृथक् अग्नि मानते हैं।

वहां सन्देह होता है कि क्या ये मनश्चित् आदि अग्नि चयन कर्म के प्रकरण पठित होने के कारण उसके शेषभूत है, या ये स्वतन्त्र केवल विद्यात्मक हैं। वहाँ अधिक चिन्हों के कारण ये केवल विद्यात्मक हैं ऐसा समझा जाता है। यहां बहुत से ऐसे चिन्ह हैं जो इनके विद्या होने का समर्थन करते हैं।—

"जो कुछ ये भूत मन से संकल्प करते हैं, वाणी से बोलते हैं, प्राण प्राणन करते हैं, नेत्र से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, कर्म करते हैं, अग्नि को जलाते हैं, उनकी ही वह आकृ´त है"

इस प्रकार प्रकृति से संभूत अर्थों को ही ज्ञेय के रूप में प्रस्तुत किया जाता हैं। जबकि उनका कर्तव्य के रूप में विधात है। अपिच—

"इस प्रकार जानने वाले के लिए सर्वदा सभी भूत चयन करते हुए भी सोते हैं"

इस प्रकार विद्या के कारण सिद्धि बतलाई गई है। पुनश्च—

"ये वे विद्याचित् ही हैं, विद्या से ही इस प्रकार जाने वानले चित होते हैं।"

इस प्रकार स्पष्ट ही उनका विद्यात्मक होना कहा गया है। वह चिन्ह या लिङ्ग प्रकरण से अधिक बलवान् है। पूर्वकाण्ड में यह भी कहा गया है कि—

"श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या के समवाय में आगे के तत्वों को अर्थ के दूर हो जाने के कारण दुर्बल माना जाता है।

प्रश्न होता है कि विधिवाक्य में स्थित लिङ्ग ही प्रकरण में बलवान होता है, अर्थवाद स्थित लिङ्ग प्रकरण से अधिक बलवान नहीं होता, उसके संपादित किये जाने वाले अग्नि की प्रसंसारूप होने के कारण, अन्य अर्थ के दर्शक होने के कारण, इससे यहां प्रकरण के कारण संकल्पमयत्व आदि विशेष विकल्पों का उपदेश क्रियामय अग्नि के विषय में ही है, स्वतन्त्र नहीं।

इसलिए ये अग्नि क्रिया में अनुप्रवेश करने वाले ही है, मानस के समान।

जैसे द्वादश रात्र के दशम दिन अविवाक्य में प्रजापति देवता के लिए गृह्यमाण पृथिवी पात्र के द्वारा समुद्र स्थित सोम का ग्रहण आसादन हवन आहरण, उपह्वान भक्षण मानस ही बतलाया गया है, वह ग्रहण का कल्प मानस होता हुआ भी क्रिया प्रकरण में आने के कारण क्रिया का शेष ही है, वैसे ही यह अग्निकल्प भी क्रिया शेष होगा।

—"षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः"—

इत्यतिदेशाच्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशो गम्यते। पूर्वस्येष्टकाचितस्याग्नेः क्रियानुप्रवेशो गम्यते। पूर्वस्येष्टकाचितस्याग्नेः क्रियानुप्रविष्टत्वात्।

इति चेत् तत्र प्रत्युच्यते। विद्यैव तु निर्धारणात् प्रतिपत्तव्या।
—"ते हैते विद्याचित एवाविद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ति"—
इति हि निर्धारयति।

तस्माद्विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः। पूर्वं प्रदर्शितस्य विद्यात्त्वे लिङ्गभूयस्त्वस्य दर्शनाच्चैतद् गम्यते।

ननुचोक्तं प्रकरणात् क्रियाशेषत्वमस्तीति तत्रोच्यते श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च नैतस्य विद्यात्वबाधः शक्यः कर्तुम्। बलीयांसि हि प्रकरणात् श्रुतिलिङ्गवाक्यानि। श्रुतिस्तावत्—

—"ते हैते विद्याचित एवेति सावधारणं विद्यात्वं प्रतिजानीते। लिङ्गमपि—
—"सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते"—

इति सातत्यदर्शनमेषां स्वातन्त्र्यं गमयति। क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वात् सातत्यमसमञ्जसं स्यात्। वाक्यमपि—

विद्यया ह वैत एवंविदश्चिता भवन्तीति पुरुषस्य संबंधमेषामाचक्षाणं क्रतुसंबन्धं वारयति। तस्मान्मनश्चिदादयोऽग्न्यो विद्यात्मका एवेति प्रतीमः।

अपि च अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदेषां क्रियातः पृथक्त्वं द्रष्टव्यम्।

—"ते मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त, मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवन् मनसाशंसन्, यत्किञ्चिद् यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्चिद्यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत"—

इत्यादिना हि मनःप्रभृतिव्यापारेषु क्रियावयवाननुबध्नाति। क्रियात्मकत्वे तु प्रत्यक्षा एव क्रियावयवाः स्युरिति मनः प्रभृतिष्वग्नित्वग्रहत्वाद्यनुबन्धोपकल्पनमनर्थकं स्यात्।

आदिशब्दः पूर्वनिर्दिष्टातिदेशादिहेतून् समुच्चिनोति। तद्यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्यादीनि स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबन्ध्यमानानि कर्मभ्य प्रज्ञान्तरेभ्यश्च पृथगेव स्वतन्त्राण्युपगम्यन्ते तथेहाप्यनुबन्धादिभ्यः कर्मपृथक्त्वं नीयते।

दृष्टश्चैवमुत्कर्षो उभयत्रापि। यथा क्षत्रियमात्रानुबन्धिनि राजसूयप्रकरणे पठितायाः अवेष्टेर्वर्णत्रयकर्तव्यत्त्वानुबन्धादुत्कर्षः। प्रकरणात् प्राप्तायाः क्रत्वङ्गताया निरासेन तत्क्रतुबाह्यत्वनिर्द्धारणमुत्कर्षः।

यथा वर्णत्रयकर्तव्यतया विहितावेष्टिः क्षत्रियमन्त्रकर्तव्यस्य राजसूयस्याङ्गं न संभवतीत्यनुबन्ध्यवशात् स्वतन्त्रैवेष्यते। एवमिहापि विद्यालिङ्गभूयस्त्वानुबन्धादिमेऽग्नयः कर्मप्रकरणपठिता अपि कर्मबाह्या इष्यन्ते।

तदुक्तं पूर्वकाण्डे—

क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगादिति।

"छत्तीस हजार अग्नि अर्क हैं, उनमें एक एक उतना है जितना यह पूर्व का है।"

इस अति देश से इन अग्नियों का क्रिया में अनुप्रवेश प्रतीत होता है। पहिले वर्णित इष्ट का का चित अग्नि का क्रिया में अनुप्रवेश वर्णित है।

क्योंकि पूर्व का इष्ट का चित अग्नि क्रिया में अनुप्रविष्ट है। इसका समाधान यह है कि निर्धारण से यहां विद्या को ही स्वीकार किया जाना उचित है।

"ये विद्याचित ही है अविद्या से ही इस प्रकार के ज्ञाताचित होते हैं'

यह निर्धारण है। इसलिए ये स्वतन्त्र मनश्चित् आदि अग्नि विद्यात्मक ही हैं, क्रियाशेष भूत नहीं।

पूर्व प्रदर्शित के विद्यात्व में अनेक चिन्हों के देखने से भा यह ज्ञात होता है। प्रश्न है कि कहा गया कि यहां प्रकरण के क्रियाशेषत्व हैं, उसका उत्तर है कि श्रुति आदि के बलवान होने से इनके विद्यात्व में बाधा नहीं आ सकती। क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा श्रुति लिङ्ग तथा वाक्य अधिक बलवान् हैं। श्रुति के द्वारा—

"ये विद्या चित् ही है"

इस वाक्य से अवधारण पूर्वक इनका विद्यात्व बतला रहो है। लिङ्ग भी है कि—

"सर्वदा सारे भूत चयन होने पर भी सोते हैं"

इस प्रकार सातत्य देखने से स्वतन्त्रता की प्रतीति लिङ्ग के द्वारा हो रही है यदि क्रिया का अङ्ग इसे मानलिया जाय तो क्रिया के प्रयोग के अल्पकालिक होने से इनका सातत्य असमञ्जस हो जायगा। वाक्य भी समर्थक है यहां कि—

इस प्रकार के ज्ञात विद्या से चित् होते हैं"

इस प्रकार इनका पुरुष से ही सम्बन्ध बतलाते हुए क्रतु से सम्बन्ध का तारण किया गया है। इसलिए मनश्चित् आदि अग्नियां विद्यात्मक ही हैं,

यह समझा जाता है। पुनश्च अनुबन्ध आदि के द्वारा अन्य प्रज्ञा के पृथक् होने के समान इनकी क्रिया से भिन्नता समझनी चाहिए।

"उन्होंने मन से ही अध्ययन किया, मन से ही ग्रहों को ग्रहण किया, मन से स्तुति की, मन से शासित किया, यज्ञ में जो कुछ कर्म किया जाता है, जो कुछ यज्ञीय कर्म है मन के द्वारा ही उसको मनोमय मनश्चित् में मनोमय किया गया'

इत्यादि कथन के द्वारा मन आदि के व्यापार में क्रिया के अवयवों का अनुबन्ध किया है। यदि क्रिया का अवयव माना जाय तब तो क्रिया के अवयव प्रत्यक्ष ही होंगे तब मन आदि में अग्नित्व, ग्रहत्व आदि अनुबन्धों की कल्पना व्यर्थ हो जायगी। सूत्र में

"अनुबन्धादि"

में आदि शब्द से पहिले कहे गए अतिदेश आदि हेतुओं का संग्रह किया जाता है।

जैसे शाण्डिल्य विद्या आदि भिन्न प्रज्ञा अपने-अपने अनुबन्धों से अनुबद्ध होकर अन्य प्रज्ञा कर्मों से पृथक् स्वतन्त्र सम ी जाती हैं, उसी प्रकार यहां भी अनुबन्ध आदि से कर्म का पृथक्त्व समझा जाता है। इस प्रकार का उत्कर्ष दोनों स्थानों पर देखा गया है।

जैसे केवल क्षत्रियों के द्वारा अनुबन्धित राजसूय के प्रकरण में पठित अविइष्टि का तीनों वर्णों के द्वारा करणीय कथन अनुबन्धित होने से उसका उत्कर्ष होता है। प्रकरण से प्राप्त होने वाली क्रतु की अङ्गता को हटाने से उसक्रतु के बाह्यत्व का निर्धारण उत्कर्ष है।

जैसे तीनों वर्णों के लिए कर्तव्य रूप से विहित इष्टि क्षत्रिय मात्र के द्वारा सम्पादनीय राजसूय की अङ्ग नहीं हो सकती इसलिए अनुबन्ध के कारण वह स्वतन्त्र ही मानी जाती है,

वैसे ही यहां भी विद्या के चिन्हों की अधिकता के अनुबन्ध के कारण ये अग्नि कर्म के प्रकरण में पठित होने पर भी कम से बाह्य माने जाते हैं। यही बात पूर्वकाण्ड में कही गई है कि—

"क्रत्वर्थायामिति चेन्नवर्णत्रयसंयोगात् ."

अन्यस्तु व्याचष्टे अनुबन्धश्रुतिलिङ्गाद्यनुरोधादिष्टकचितान्वयिनः क्रियामयात्क्रतोः पृथगेवायं विद्यामयः क्रतुः कल्प्यः ।

दहरविद्यादिप्रज्ञान्तरवत् । दृष्टश्चानुवादसरूपेषु कल्प्यमानो विधिः ।

तदुक्तं—वचनानि त्वपूर्वत्वादिति ।

तस्य च कल्प्यमानस्य विद्यामयक्रतोः फलमपीष्टकचिताग्निफलवदेवोपपद्यते इति तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्व इत्यतिदेशाद्गम्यते ।

यत्तु कर्मप्रकरणे पठितत्वान्मानसस्यापि ग्रहकल्पस्य क्रियाशेषत्वमिवैतस्याग्नि-कल्पस्य क्रियाशेषत्वं स्यादित्ययुक्तं तत्प्रत्युच्यते । न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं नेयम् ।

उक्तरीत्या—

"वैशेषेस्याप्युपलब्धे,"

सत्यपि यथाकथंचित्सामान्ये स्वं वैषम्यं न निवर्तते । मृत्युवत् ।

"यथा—स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः"—

"इति । अग्निव मृत्युः"—

इति चाग्न्यादित्ययोर्मृत्युशब्दसामान्येऽपि नात्यन्तसाम्यं घटते । यथा वा

"असौ वाव लोको गौतमाऽग्निरस्यादित्य एव समिद्"—

इत्यत्रापि न समिदादिसामान्यादग्निलोकयोरैकभाव्यापत्तिः तद्वत् ।

अन्य कोई यहां यह व्याख्या करता है कि अनुबन्ध श्रुति लिङ्ग आदि के अनुरोध से इष्ट चिति से अन्वित क्रियामय क्रतु से पृथक् ही इस विद्यामय क्रतु की कल्पना करनी चाहिए ।

दहर विद्या आदि प्रज्ञान्तर के समान अनुवाद में सारूप्य रखने वालों में विधि की कल्पना देखी गई है । कहा गया है ।

"अपूर्व होने से वचन तो होते हैं ।"

उस कल्पित विद्यामय क्रतु का फल भी इष्ट का से चयन किये अग्नि के फल के समान ही होता है इसलिए उनमें से एक-एक भी उतना ही है जितना यह पूर्व का है, यह अतिदेश से ज्ञात होता है ।

जो यह कहा गया कि कर्म के प्रकरण पठित होने से मानस ग्रहकल्प के भी क्रिया शेषत्व के समान इस अग्निकल्प का क्रियाशेषत्व होगा । उसका प्रतिवाद किया जाता है

कि मानस ग्रहण की समानता होने पर भी मनश्चिति आदि का क्रियाशेषत्व नहीं समझना चाहिए ।

क्योंकि उक्त रीति से उनमें विशेषता की भी उपलब्धि है । जैसे तैसे समानता होने पर भी अपनी विषमता नहीं निवृत्त होती । मृत्यु की तरह—

यह ही मृत्यु है जो इस मण्डल में पुरुष है

"अग्नि ही मृत्यु है"

इस प्रकार अग्नि और आदित्य के लिए सामान्य मृत्यु शब्द होने पर भी अत्यन्त समानता नहीं घटित होती । अथवा जैसे—

"यह लोक ही अग्नि है आदित्य ही इसकी समिधी है"

यहां भी समिधि आदि की सामान्यता के कारण अग्नि और लोक की एक रूपता हो जाती हैं, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ।

अन्यस्तु व्याचष्टे । अस्य विद्यामयक्रतोः क्रियामयेष्टकचिताग्नितुल्यवीर्य्यत्वमतिदेशादुक्तं ततश्चास्यापि क्रियामयक्रतुत्वं स्यात् । तत्प्रत्युच्यते । नावश्यमतिदेशादवान्तरव्यापारस्यापि तुल्यत्वं भाव्यते ।

यत्किञ्चित्सामान्यादप्यतिदेशोपलब्धेः । उपलभ्यते हि -

"स एष एव मृत्युर्य एतस्मिन्मण्डले पुरुषः ।"

इत्यादिषु संहर्तृत्वादिसामान्यमात्रान्मृत्युत्वातिदेशः । नैतावता तत्रादित्यस्य मृत्युवत् तल्लोकापत्तिरपि भवति । लोको देशः ।

तथा चेहापि फलसामान्यादेवेष्टकचितान्यतिदेशो न तु क्रियामयक्रतुसामान्यादप्यतिदेशः । अपिच पूर्वेण परेण च ब्राह्मणेन मध्यस्थस्यास्य ब्राह्मणस्यापि केवलविद्यात्मकत्वं लभ्यते । पुरस्तात् तावत्—

यदेतन्मण्डलं तपतीत्यत्र ब्राह्मणे—

"सोऽमृतो भवति मृत्युर्यस्यात्मा भवती"

त्वेवं विद्याफलेनैवोपसंहाराद् विद्याप्राधान्यं लक्ष्यते न कर्मप्राधान्यम् । परस्ताच्च-

"अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चित"—

इति ब्राह्मणे—

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणायन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः।"

इति श्लोकेन कर्म निन्दन् विद्यां च प्रशंसन् प्रकरणस्य विद्याविषयत्वं निगमयति। तत्सामान्यादिहापि तथात्वं द्रष्टव्यम्।

ननु तर्हि मनश्चितादयो ज्ञानप्रकरणे बृहदारण्यकेऽनुबन्धव्याः किमर्थमिह कर्मप्रकरणेऽग्निरहस्येनुवध्यन्ते।

तत्रोच्यते—भूयस्त्वात्वनुबन्ध इति।

मनश्चितादिविद्यायामग्न्यङ्गानां भूयस्त्वात्—तत्संनिधाविहानुबन्धः सौकर्य्याय कृतो नैतावता तत्र कर्म्माङ्गत्व भ्रमः कार्य्यः।

। इति कर्मप्रकरणपठितानामपि विद्यालिङ्गानां विद्यात्मकत्वाधिकरणम्।

। इति सप्तचिद्विद्याधिकरणम्।

अन्य व्याख्या यहां इस प्रकार है। इस विद्यामय क्रतु का क्रियामय इष्ट का चित अग्नि के अग्नि के समान वीर्यवान् होना अतिदेश से कहा गया है। इसलिए इसका भी क्रियामय क्रतुत्व होना चाहिए।

उसका उत्तर दिया जाता है। ऐसा नहीं हैं कि अतिदेश के कारण अवान्तर व्यापार की भी तुल्यता अवश्य स्वीकरणीय हो जाती हो। अतिदेश की उपलब्धि तो थोड़ी बहुत समानता पर भी हो जाती है।—

"जो इस मण्डल में पुरुष है वह मृत्यु है"

इत्यादि में संहरण कर्तृत्व आदि की समानता के कारण मृत्युत्व का अतिदेश दिखाई देता है। इससे वहां आदित्य के मृत्यु होने के कारण उसके लोक की प्राप्ति भी हो जाती हो ऐसा नहीं है।

लोक का अर्थ है देश।

वैसे यहां भी फल की समानता से ही इष्ट का चित अग्नि का अतिदेश है न कि क्रिया रूप क्रतु सामान्य का भी अतिदेश है। फिर पूर्व और पर ब्राह्मण वाक्य से मध्य में स्थित ब्राह्मण वाक्य का भी केवल विद्यात्मकत्व ही प्राप्त होता है पहिले आता है कि—

जो यह मण्डल तप रहा है"

इस ब्राह्मण वचन में—

"वह अमृत हो जाता है, जिसकी मृत्यु आत्मा होती है,"

इस प्रकार विद्या के फल से ही उपसंहार के कारण यहां विद्या की प्रधानता ही लक्षित होती है, कर्म की प्रधानता नहीं। आगे ब्राह्मण वचन में—

"यह लोक है, यह चयन किया हुआ अग्नि है"

"विद्या से वहां आरोहण करते हैं, जहां काम दूर हो जाते हैं, वहां दक्षिण, अविद्वान् तपस्वी नहीं जाते"—

इस श्लोक से कर्म की निन्दा करते हुए और विद्या की प्रशंसा करते हुए प्रकरण की विद्या विषयता का निगमन किया गया है। उसी की समानता के कारण यहां भी वैसा ही समझना चाहिए।

प्रश्न होता है कि तब तो मनश्चिति का कथन बृहदारण्यक के ज्ञान प्रकरण में होना चाहिए, उनका वर्णन यहां अग्निरहस्य में क्यों किया गया है। उसके उत्तर में कहा जाता है—

भूयस्त्व के कारण यहां अनुबन्ध है मनश्चित आदि विद्या में अग्नि के अङ्गों की अधिकता के कारण उनकी संनिधि में यहां उनका विवरण सौकर्य के लिए किया गया है, इससे उनमें कर्माङ्गत्व का भ्रम नहीं होना चाहिए।

। इस प्रकार कर्म प्रकरण में पठित होने पर भी विद्या के चिन्हों का विद्यात्मकत्व का अधिकरण हुआ।

। यह सप्त चिद्विद्या का अधिकरण हुआ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५३।

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।३।३।५४।

अत्र शंकरस्तावदित्थं व्याचष्टे—

अस्त्यस्मिन्देहे देहादिव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा लोकान्तरसंचारी नास्ति वेति चिन्तायामेके तावद्देहमात्रात्मवादिनो लोकायतिका आत्मनः शरीरे भावाद्धेतोः देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनः सत्तां न स्वीकुर्वंते ।

प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादय एव स्वात्मधर्मा इष्यन्ते । तेऽन्तरेव देहे उपलभ्यन्ते बहिश्च नोपलभ्यन्ते । तस्माद्देहधर्मा एवैते संभाव्यन्ते न तु देहव्यतिरिक्तः कश्चिदन्य एषां धर्म्मी युज्यते कल्पयितुं प्रमाणाभावात् ।

पृथिव्यादिभूतेषु हि शरीराकारपरिणतेषु मदशक्तिवच्चैतन्यमुद्भूयते तत्संयोगवैषम्याच्च विनश्यतीति देह एवायमात्मा संभवति । न चात्मनो लोकान्तरे संचारः प्रमाणगम्यः ।

तस्मान्नात्मनो देहाद् व्यतिरेकोऽस्तीति प्राप्ते तत्प्रत्युच्यते अस्ति व्यतिरेको देहादात्मनः ।

शरीरभावेप्यभावित्वादात्मधर्माणाम् । प्राण चेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयो हि धर्मान् देहसत्वेऽपि मृतावस्थायां भवन्ति ।

तस्मान्नत्वेवेदं शरीरमेवात्मा । उपलब्धिवत् । यथेयमुपलब्धिः शरीरे प्रतीयमानापि न शरीरमेवास्ति । तद्भावाभावित्वात् । शरीरसत्त्वेपि मृतावस्थायां तदसत्वात् ।

यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमेवोपलब्धिः । सा च भूतचतुष्टयान्यतमरूपा वा, भूतचतुष्टयसंयोगविशेषोपपन्न विकारविशेषरूपा वा, चतुर्भ्योऽतिरिक्तभूतं वा, भूतातिरिक्ततत्वं वा । नाद्यः । प्रकाशरूपाया उपलब्धेः पृथिव्यादिभ्यो वैलक्षण्यात् ।

पृथिव्यादिषु सत्स्वप्युपलब्धेः सर्वत्रानुपलब्धेस्तस्याः पृथिव्यादित्वासंभवाच्च । भूतधर्म्माणामग्नितापवद् यावद्भूतभावित्वावश्यंभावात् ।

न द्वितीयः, विकारस्यास्य चतुर्भ्योतिरिक्तत्वावसायाच्च शरीरमेवोपलब्धिः स्यात् । अपि च मदं शक्तिर्वद्धि तदा तदाविर्भावं मन्यन्ते किन्तु नेयं तत्रापि शक्तिः स्वाधिकरणद्रव्यरूपैव स्याद् । द्रव्यस्योद्भूतत्वेऽपि मदशक्तेरनुद्भूततया द्रव्ये कादाचित्कोत्पत्तियोगितया च ततो व्यतिरिक्तत्वावगमात् ।

तस्मादुपलब्धिः शरीरे सती शरीराद् व्यतिरिच्यते । तद्वदयमात्मा शरीरे सन् शरीराद् व्यतिरिच्यते ।

अथवा उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेति सिद्धमात्मनो देहाद् व्यतिरिक्तत्वम् ।

। इति देहव्यतिरिक्तात्माधिकरणम् ।

यहां श्री शंकराचार्य इस प्रकार का व्याख्यान करते हैं कि—

इस शरीर में शरीर आदि से अतिरिक्त लोकान्तर में संचरण करने वाला कोई आत्मा है या नहीं इस चिन्तन में कुछ देहमात्र को आत्म कहने वाले लौकायतिक आत्मा के शरीर रूप में उपलब्ध होने के कारण देहादि से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

प्राण चेष्टा चैतन्य स्मृति आदि ही आत्मा के धर्म माने जाते हैं। वे देह के भीतर ही उपलब्ध होते हैं, बाहर उपलब्ध नहीं होते। इसलिए देह के ही धर्म के रूप में संभावित है, देह के अतिरिक्त कोई अन्य इनका धर्मी कल्पित करने योग्य नहीं है,

क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। शरीर के आकार में परिणत होने वाले पृथिवी आदि भूतों में मदशक्ति की तरह चैतन्य उद्भूत होता है, उनके संयोग की विषमता होने पर वह चैतन्य नष्ट हो जाता है, अतः यह देह ही आत्मा हो सकता है।

अन्य लोकों में आत्मा का संचरण किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। इसलिए देह से अतिरिक्त आत्मा नहीं है, इस विचार के उपस्थित होने पर कहा जाता है देह से आत्मा की पृथक्ता है।

क्योंकि शरीर के रहते हुए भी आत्मा के धर्म नहीं रहते। प्राण, चेष्टा, चैतन्य स्मृति आदि धर्म देह के रहने पर भी मृत अवस्था में नहीं रहते। इसलिए यह शरीर ही आत्मा नहीं है।

"उपलब्धि के समान"

जैसे यह उपलब्धि शरीर में प्रतीत होने पर भी शरीर नहीं है।

"उसकी सत्ता में नहीं रहने से"।

शरीर के रहने पर भी मृत अवस्था में उसका अस्तित्व नहीं है। भूत भौतिकों का जो अनुभव है, वह चैतन्य ही उपलब्धि है। वह चारों भूतों में किसी एक के रूप की है अथवा चारोंभूतों के विशेष प्रकार के संयोग से विशेष प्रकार के विकार के रूप में है, अथवा चारों ओर से यह कोई अतिरिक्त भूत है, या भूतों से अतिरिक्त कोई तत्व है। पहिला पक्ष ठीक नहीं है,

क्योंकि प्रकाश रूप उपलब्धि की पृथिवी आदि से विलक्षणता है। तथा पृथिवी आदि के रहने पर उपलब्धि की सर्वत्र प्राप्ति नहीं होने से उसका पृथिवी आदि के साथ एकरूप होना असंभव है। जो भूतों के धर्म है।

जैसे अग्नि में गर्मी वैसे समस्त भूतों के धर्मों का समस्त भूतों में रहना अनि-वार्य है।

द्वितीय पक्ष (अर्थात् चारों भूतों के विकार के रूप में उपलब्धि को मानना) भी ठीक नहीं,

वहां प्रश्न होता है कि यह जो विकार है वह चारों भूतों में अन्तर्भूत न होने से अतिरिक्त भूत होगा या भूतों से अतिरिक्त मान लेने पर उपलब्धि या ज्ञान और शरीर एक ही नहीं हो सकेंगे।

पुनश्च मद शक्तिवान है, उसका आविर्भाव समय-समय पर होता है किन्तु वहां भी मदशक्ति और उसका आधार द्रव्य एक रूप नहीं होने या वह मदशक्ति और मादक द्रव्य एक रूप नहीं होते। मादक द्रव्य के उद्भूत होने पर भी मदशक्ति के उद्भूत न होने से द्रव्य में कदाचित् उत्पत्ति होने का योग होने से शक्ति द्रव्य से पृथक् है।

यह ज्ञात होता है। इसलिए उपलब्धि या ज्ञान शरीर में रहने पर भी शरीर से पृथक् है, अथवा हमारा अभिमत आत्मा उपलब्धि स्वरूप या ज्ञान स्वरूप ही है इसलिए आत्मा का देह से पृथक् होना सिद्ध हुआ।

। इस प्रकार देह से अतिरिक्त आत्माधिकरण हुआ।

एक आत्मनः शरीरे भावात्।
व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।

अथ रामानुजादयोऽन्यथाधिकरणमाहुः—

किमयं प्रत्यगात्मा जीवो ज्ञाता कर्ता भोक्ता इहामुत्र संचारी अथवा प्रजापतिवा-क्यानुसारेणापहतपाप्मत्वादिरूप इति विचारे एके तावदस्यात्मनः शरीरे भावाद् ज्ञातृत्वा-द्याकारमात्रतां मन्यन्ते।

द्विविधा हि तस्यावस्था संभाव्यते। स्वर्गादिफलार्थिनः कर्मस्वधिकृतस्य देहावस्था-नावस्था प्रथमा।

कृतकृत्यस्य तत्कर्मफलानुभवाय लोकान्तरे परिणतरूपस्य संपद्यमानावस्था द्वितीया। तत्र साधनानुष्ठानदशायामुपासकस्यात्मनः शरीरे भावान्न सिद्धयवस्थमपहतपा-

प्मत्वादि रूपं संभवति । उपासनावस्थायामपि सिद्ध्यवस्थारूपे नित्यतया प्रतिपन्ने सति तदर्थमुपासनानर्थक्यापत्तेः ।

ननु—

"यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" ।

इति विशेषवचनात् साधनावस्थायामप्यपहतपाप्मत्वाद्याकार एवायमनुसंधातव्यो-ऽन्यथाऽमुत्रापि तादृशरूपं न स्यादिति चेन्न ।

"तं यथायथोपासते"—

इत्यादिना तस्योपास्यविषयत्वात् यस्माज्ज्ञातृत्वाद्याकार एवायमनुसंधातव्य इति प्राप्ते तत् प्रत्युच्यते । अस्यात्मनः संसारदशापेक्षया मोक्षदशायां व्यतिरेकोऽयमपहतपाप्म-त्वादिरूपोऽनुसंधेयः ।

अस्य मोक्षदशायां यादृशं रूपं संपत्स्यते तादृग्रूप एवायमुपासनकालेप्यनुसंधेय इति तात्पर्य्यम् । तद्भावभावित्वात् तद्रूपापत्तेः ।

"यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । तं यथा यथोपासते तथैव भवति । एवं क्रतुरिहामुत्र लोकं प्रेत्याभिसंभवितास्मि"—

इति श्रुत्योपासनारूपेणैवामुत्र रूपसंपत्तेः श्रुतत्वात् । न तूपास्येश्वरस्वरूपमात्र-विषयमिदमिति । वाच्यम् ।

प्रत्यगात्मनोऽप्युपास्येश्वरशरीरतयोपास्यकोटिप्रविष्टत्वात् । तस्मान्मुक्तिप्राप्या-कारेणैवायं प्रत्यगात्मानुसंधेयः । उपलब्धिवत् । यथा ब्रह्मोपलब्धिश्चिन्तनानुसारिणी संपद्यते—तथेयमात्मोपलब्धिरपीति स्थितम् । शंकरमते भावाभावित्वादिति सूत्रपाठः ।

अत्र तु भावभावित्वादिति पठ्यते ।

। इतीश्वरस्वरूपवज्जीवानुसंधानाधिकरणम् ।

श्री रामानुजाचार्य आदि यहां दूसरे प्रकार का अधिकरण मानते हैं । उनके अनुसार—

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या यह प्रत्यगात्मा जीवज्ञाता कर्त्ता भोक्ता, यहाँ और वहां से संचरण करने वाला है अथवा प्रजापति के वाक्य के अनुसार अपहत पाप्मा-त्वादि रूप वाला है,

इस विचार में कुछ लोग इस आत्मा के शरीर स्थित होने के कारण ज्ञातृत्व आदि आकार मात्रता मानते हैं। उसकी दो प्रकार की अवस्थाएं संभावित हैं।

कर्मों में अधिकृत स्वर्ग आदि फलों की कामना से युक्त की देह आदि में अवस्थान की अवस्था प्रथम अवस्था है।

कृतकृत्य होने पर उस कर्म के फल के अनुभव के लोकान्तर में परिणतरूप से संपन्न होने वाली दूसरी अवस्था है।

वहां साधन के अनुष्ठान की स्थिति में उपासक की आत्मा शरीर में स्थित है अत: सिद्धि अवस्था वाले अपहत पाप्मात्व आदि रूप वहां संभव नहीं होते। उपासना की अवस्था में भी सिद्धि की अवस्था के रूप के नित्य मानने पर उस उपासना के व्यर्थ होने की आपत्ति होगी। प्रश्न होता है कि—

"इस लोक में पुरुष जैसा कर्मानुष्ठान करता है वैसा ही यहां से जाकर होता है"

इस विशेष वचन से साधन अवस्था में भी अपहतपाप्मा आदि आकार वाला ही यह अनुसंधान करने योग्य है अन्यथा वहां भी इसका वैसा रूप नहीं होगा, तो यह प्रश्न ठाक नहीं—

"उसकी जैसे जैसे उपासना करता है"

इत्यादि के द्वारा वह उपास्य के विषय में कहा गया कथन है। इसलिए इसे ज्ञातृत्व आदि आकार वाला ही मानना चाहिए, ऐसा विचार उपस्थित होने पर उसका उत्तर दिया जाता है कि इस आत्मा को संसार दशा की अपेक्षा मोक्षदशा में जो भेद है वह अपहतपाप्मत्वादि के रूप में समझना चाहिए।

इसका मोक्ष दशा में जैसा रूप होगा वैसा रूप ही इसका उपासना काल में भी अनुसन्धान के योग्य है, यह तात्पर्य है। क्योंकि उसके भाव से भावित होने पर उसके रूप की प्राप्ति होती है।

"जैसे कर्म वाला इस लोक में पुरुष होता है, वैसे ही यहां से जाने पर होता है, उसकी जैसे जेसे उपासना करता है वैसे ही होता है, ऐसे कर्म वाला मैं यहां से जाकर बनूंगा"।

इस श्रुति के द्वारा उपासना के रूप में से ही उस लोक में रूप की संपत्ति सुनी गई है। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि यह कथन केवल उपास्य ईश्वर के ही विषय में है।

क्योंकि जीवात्मा भी ईश्वर का शरीर होने के कारण उपास्य कोटि में प्रविष्ट है। इसलिए प्राप्त मुक्ति के आकार से ही इस जीवात्मा का अनुसन्धान करना चाहिए।

"उपलब्धि के समान"—

जैसे ब्रह्म की उपलब्धि चिन्तन के अनुसार होती है वैसे ही यह आत्मा की उपलब्धि चिन्तन के अनुसार होती है। श्री शंकराचार्य के मत में सूत्र का पाठ है—

"भावा भावित्वात्"

यहां श्री रामानुजाचार्यं ने पाठ माना है—

"भावभावित्वात्"।

। यह ईश्वर स्वरूपवत् जीव के अनुसन्धान का अधिकरण हुआ।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५५।
मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ३।३।५६।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेत्युद्गीथावयवोंकारे प्राणदृष्टिः।

लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत, पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथमादित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमिति साम्नि लोकदृष्टिः।

उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवीत्युक्थाख्यशस्त्रे पृथ्वीदृष्टिः। अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः इतीष्टकाचिताग्नौलोकदृष्टिः—

इत्येवंकर्म्माङ्गाश्रित्या उपासना दृश्यन्ते। ता यासु शाखासु श्रूयन्ते तास्वेव नियता उत सर्वासु शाखास्वविशेषणोद्गीथादिषु संबध्यन्त इति विचारे उच्यते।

नैते कर्म्माङ्गाश्रयाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठन्ते अपि तु सर्वशाखास्वनुवर्तन्ते उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात्।

अपि च मन्त्रादिवदविरोधो द्रष्टव्यः।

मन्त्राणां कर्म्मणां गुणानां च शाखान्तराम्नातानामपि तेषु गुणविधिराम्नायते। ऋतवो वै प्रयाजा इत्यादिः। तस्माद् यथा कर्म्माङ्गनामेषां सर्वत्रानुवृत्तिस्तथा कर्माङ्गाश्रितानामपीत्यविरोधः।

। इति कर्म्माङ्गाश्रितोपासनानां सर्वशाखासाधारणत्वाधिकरणम्।

"ओम इस उद्गीथ अक्षर की उपासना करे, उद्गीथ के अवयव ओंकार में प्राण दृष्टि है। लोक में पांच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए—

पृथिवी हिंकार अग्नि है, प्रस्ताव अन्तरिक्ष है, उद्गीथ आदित्य है, प्रतिहार द्यौ है निधन साम है, यह लोक दृष्टि है। उक्थ उक्थ ऐसा प्रजा कहती है, यही उक्थ है, यही पृथिवी है, यह उक्थ शास्त्र में पृथ्वी दृष्टि है। यह। लोक है, यह चयन किया हुआ अग्नि है, यह इष्ट का चित अग्नि में लोक दृष्टि है।

"इस प्रकार कर्मों के अङ्ग के आश्रय से उपासनाएं देखी जाती हैं। ये उपासनाएं जिन शाखाओं में सुनी गईं हैं उन्हीं में नियत हैं अथवा सभी शाखाओं में बिना भेद के उदगीथ आदि से सम्बद्ध हैं इस विचार पर कहा जाता है,

ये कर्मों के अङ्गों के आश्रित प्रत्येक वेद में अपनी शाखाओं में ही व्यवस्थित नहीं होते अपितु इनका अनुवर्तन सभी शाखाओं में होता है, क्योंकि उद्गीथ आदि श्रुति में भेद कथन नहीं है।

पुनश्च यहां मन्त्र आदि के समान अविरोध समझना चाहिए। क्योंकि मन्त्रों का, कर्मों का, तथा गुणों का दूसरी शाखाओं में कथन होने पर भी सभी शाखाओं में विनियोग होता है। जहां समिदादि प्रयाजों का कथन नहीं हुआ है वहां भी उनकी गुण विधि का कथन होता है।—

"ऋतु ही प्रयाज है"

इत्यादि। इसलिए इन कर्माङ्गों की सर्वत्र अनुवृत्ति होती वैसे ही कर्माङ्गाश्रितों की भी सर्वत्र अनुवृत्ति होती है। इसलिए विरोध नहीं आता–

। इस प्रकार कर्माङ्गाश्रित उपासनाओं का सर्वशाखाओं में साधारण होने का अधिकरण हुआ।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति।३।३।५७।

ताण्ड्योपनिषदि—

"प्राचीनशाल औपमन्यव"—

इत्यारभ्य वैश्वानरविद्याधीयते। तत्र—

"एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानर"

इत्यादिभिर्वाक्यैर्व्यस्तस्य वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते ।

"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो व्यस्तिरेव रयिः पृथव्येव पादौ"

—इत्यनेन च समस्तस्य तस्योपासनमुच्यते । तेनेहोभयथाप्युपासनं प्रतीतं स्यादतस्तत्र निर्धारणमाह—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वमस्तीति । भूमशब्दः समस्ताभिप्रायः । समस्तस्यैव वैश्वानरस्योपासनमिह ज्यायः प्रतीमः ।

न प्रत्येकावयवस्यापि पार्थक्येन यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासादिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते न व्यस्तानामेव प्रयाजादीनां तद्वत् ।

तथाहि भूम्नो ज्यायस्त्वमत्र श्रुतिरेव दर्शयति । तत्र हि द्युप्रभृतीनामेकैकमृषीणामुपास्यं पृथक् पृथग् दर्शयित्वा—

मूर्द्धा त्वेष आत्मनः, चक्षुष्टवे तदात्मनः, प्राणस्त्वेष आत्मनः"—

"इत्यादिवाक्यैर्मूर्द्धादिभावं तेषां विधाय मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्"

इत्यादि निन्दावचनात् तत्तद्वचस्तौपासनान्यपवदति—

समस्तोपासनं च—

"सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति"—

इत्येवं प्रशंसति । तस्मात् द्युलोकादित्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यवयव एको वैश्वानर एवोपास्य इति सिद्धम् ।

। इति वैश्वानरोपासनाधिकरणम् ।

ताण्ड्य उपनिषद् में–"प्राचीन शाल औपमन्यवः"—

यहां से आरम्भ करके विश्वानर विद्या का विधान है । वहां–

"यह सुतेजा आत्मा वैश्वानर है"

"इत्यादि वाक्यों से व्यस्त वैश्वानर की उपासना सुनी जाती है ।

"इस वैश्वानर का मस्तक ही सुतेज है चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथक् वर्त्मा आत्मा है, संदेह बहुल है, व्याप्ति रयि है, पृथिवी पाद हैं"

यहां तक के सन्दर्भ से समस्त विश्वानर की उपासना कही गई है। इस प्रकार यहां दोनों प्रकार की, व्यस्त और समस्त की उपासना प्रतीत होती है,

इसलिए उसके निर्धारण के लिए कहा जाता है—

"भूमाः क्रतु वज्ज्यायस्त्वम्"

यहां भूमा शब्द का अभिप्राय है समस्त। समस्त वैश्वानर की ही उपासना यहां श्रेष्ठ है यह हम समझते हैं। न कि पृथक् पृथक् अवयव को उपासना का श्रेष्ठत्व है। जैसे दर्श पूर्णमास आदि क्रतुओं में समस्त भाव से अङ्ग सहित प्रधान का एक प्रयोग ही विवक्षित होता है न कि व्यस्त प्रयाज आदि का, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। समस्त की उपासना की श्रेष्ठता को यहां श्रुति ही दिखलाती है, वहां द्यु आदि ऋषियों के एक एक उपास्य को पृथक् पृथक् दिखलाकर,

"यह आत्मा का मस्तक है, यह आत्मा के नेत्र हैं, मह आत्मा का प्राण है,"

इत्यादि वाक्यों से उनके मस्तक आदि भावों को बतला कर—

"तेरा मस्तक गिर गया"

इत्यादि निन्दा के कथन से उन व्यस्त उपासनाओं को तिरस्कृत किया जाता है। समस्त की उपासना की—

"सब लोकों में, समस्त भूतों में, सब आत्माओं में अन्न खाता है"

इत्यादि से स्तुति की जाती है इसलिए द्युलोक आदित्य वायु, आकाश उदक, पृथिवी इन अवयवों वाला एक वैश्वानर ही उपास्य है, यह सिद्ध हुआ।

। यह वैश्वानर उपासना का अधिकरण हुआ।

नाना शब्दादिभेदात्।

उपनिषत्सु खलु ब्रह्मविद्याप्राणविद्यासंवर्गविद्यापरिमरविद्यादयो नानाविद्याः श्रूयन्ते।

तत्र ब्रह्मप्राप्तिफलेयं ब्रह्मविद्यापि सद्विद्याभूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्या-शांडिल्यविद्यावैश्वानरविद्याऽऽनन्दमयविद्याक्षरविद्यादिभेदादनेकधा विधीयते। वेद्यं हि विद्याया रूपमित्यतो वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वादासां सर्वासां ब्रह्मविद्यानामेकत्वं प्राप्नोति। तत्रेदं प्रत्युच्यते।

नाना शब्दादिभेदात् प्रतिपत्तव्येति शब्दः श्रुतिः आदिशब्दादभ्याससंख्यागुण-प्रक्रिया नामधेयानि गृह्यन्ते ।

यथा शब्दान्तरे कर्मभेदः, कृतानुबन्धन्वादिति यजतिजुहोतिददात्यादिशब्दभेदात्कर्मभेदः पूर्वतन्त्रेऽधिगतस्तद्वदिहापि ।

"वेद उपासीत, स क्रतुं कुर्वीत—

इत्यादय- शब्दा भिद्यमाना विद्याभेदं गमयन्ति ।

यद्यपि यजतिजुहोत्यादिवदिह वेदोपासीतेत्यादिष्वर्थभेदो नास्ति तथाप्यनुबन्धभेदाद्विद्याभेदो गम्यते । एकस्याप्युपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते ।

तथा च गुणभेदाद्विशिष्टं वेद्यरूपं भिद्यते ततो विद्याभेद इति सिद्धम् ।

। इति शब्दादिभेदाद् विद्यानानात्वाधिकरणम् ।

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या, प्राणविद्या, संवर्गविद्या, परिमरविद्या आदि नाना विद्याएं सुनी जाती हैं । वहां ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल वालो यह ब्रह्म विद्या भी सद् विद्या भूमविद्या, दहर विद्या, उपकोसल विद्या, शाण्डिल्य विद्या, वैश्वानर विद्या, आनन्दमय विद्या, आदि के भेद से अनेक ही विहित हैं ।

जो वेद्य हैं वह विद्या का रूप है, इसलिए वेद्य ब्रह्म के एक होने से इन सभी ब्रह्म विद्याओं की एक के रूप में गणना प्राप्त होती है । वहा यह उत्तर है—

नाना शब्दादि के भेद से समझना चाहिये । शब्द का अर्थ है श्रुति ।

सूत्र में जो आदि शब्द है उससे अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया तथा नामधेय गृहीत होते हैं । जैसे शब्द भेद से कर्म भेद होता है, किये हुए अनुबन्ध के कारण, अतः यजतिः 'जुहोति,' 'ददाति' आदि शब्दों के भेद से कर्म का भेद पूर्वतन्त्र (मीमांसा) में माना गया है, वैसे ही यहां भी, 'वेद' 'उपासीत' 'से क्रतुं कुर्वीत', इत्यादि शब्द भिन्न रूप से प्रयुक्त होकर विद्या के भेद को प्रकट करते हैं ।

यद्यपि 'यजति' 'जुहोति' आदि शब्दों की तरह यहां 'वेद' 'उपासीत', इत्यादि शब्दों के अर्थ में भेद नहीं है तो भी अनुबन्ध के भेद से विद्या में भेद की प्रतीति होती है ।

एक हो उपास्य को प्रत्येक प्रकरण व्यावृत्त गुण विदित होते हैं। इस प्रकार गुणों के भेद से विशिष्ट वेद्य का रूप भिन्न हो जाता है, इसलिए विद्या में भो भेद हो जाता है, यह सिद्ध हुआ।

। यह शब्दादि के भेद से विद्या के नानात्व का अधिकरण हुआ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।३।३।५९।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावात् । ।३।३।६०।

यथा तावत्कर्मणामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां भिन्नानामपि समुच्चयनियमो दृश्यते तथेहाप्यासां सर्वासां विद्यानां समुच्चयनियमः प्राप्नोतीत्यतस्तत्प्रयुच्यते—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वादिति । कर्मणां तावन्नित्यताश्रुतिः समुच्चयबीजं भवति नैवं विद्यानां नित्यताश्रुतिरस्ति । सर्वासां च ब्रह्मविद्यानामविशेषेणैकं ब्रह्मप्राप्तिरेव फलं श्रूयते ।

तदन्यतमविद्यया कृतं भवतीति समुच्चयावश्यकत्वं नास्ति । तस्मात् पारिशेष्याद् विकल्पो न्याय्यः । अविशिष्टफलानां विद्यानां मध्यादन्यतमामेवादाय तत्परः स्यान्नतु तत्र तत्र विचिकित्सेत ।

"यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति श्रुत्या विचिकित्सायाश्चित्तविक्षेपहेतुतया ब्रह्मसाक्षात्कारसिद्धिप्रतिबन्धकत्वबोधनात् ।

अथ यत्र ब्रह्मसाक्षात्करणापेक्षा नास्ति किन्तु लौकिकविषयकामनयैव क्रियन्ते तथा—

"स य एतमेव वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति"—

"स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवति"

इत्येवमादयः तास्तु काम्या विद्याः क्रियावददृष्टेनैव रूपेण स्वीयं फलं साधयन्तीत्यतो यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा समुच्चीयेरन् । पूर्वहेत्वभावात् ।

नात्राविशिष्टफलत्वं विकल्पहेतुर्दृश्यते ।

तस्मादत्र याथाकाम्यं न्याय्यम् ।

। इति समफलविद्याविकल्पाधिकरणम् ।

जैसे अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदि भिन्न कर्मों का भी समुच्चय का नियम दिखाई देता है वैसे ही यहां भी इन सभी विद्याओं के समुच्चय का नियम प्राप्त होता है अतः उसके उत्तर में कहा जाता है कि—

"अविशिष्ट फलत्व के कारण विकल्प है"

कर्मों का जो समुच्चय बतलाया गया उसका बीज है कर्मों की नित्यता की श्रुति,

इस प्रकार की नित्यता की श्रुति विद्याओं के लिए नहीं है। सभी ब्रह्म विद्याओं के बिना किसी भेद के फल के रूप में एक ब्रह्म प्राप्ति ही फल सुना जाता है। वह किसी एक विद्या से भी हो सकता है इसलिए समुच्चय की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए परिशेष के रूप में विकल्प ही न्याययुक्त है। समान फल वाली विद्याओं में किसी एक का ही ग्रहण करने में तत्पर हो जाये न कि यहां वहां सन्देह करता रहे।

"जिसको विद्या प्राप्त होती है उसको सन्देह नहीं रहता"

इस श्रुति के द्वारा विचिकित्सा या सन्देह को चित्त के विक्षेप का कारण मानने से उसे ब्रह्म के साक्षात्कार का प्रतिबन्धक बतलाया गया है।

अब जहां ब्रह्म साक्षात्कार की अपेक्षा नहीं है किन्तु लौकिक विषयों की ही कामना से उपासनाएं की जाती हैं, जैसे"—

जो इस वायु की दिशा को वत्स समझता है वह पुत्र या बालक के समान नहीं रुदन करता"—

"जो ब्रह्म की उयासना करता है जहां तक नाम की गति है वहां तक इसका काम संचरण होता है"

इत्यादि जिनके उदाहरण हैं, वे तो काम्य विद्याएं हैं, वे क्रियावान अदृष्ट के रूप में ही अपने फल को सिद्ध करती हैं इसलिए उनका तो कामनाओं के अनुसार समुच्चय हो जाता है या नहीं होता, क्योंकि वहां पहले बतलाए गए हेतु का अभाव है यहां अविशिष्ट फल का होना विकल्प हेतु नहीं दिखाई देता। इसलिए सकामोपासनाओं में यथेच्छ समुच्चय या असमुच्चय न्याय्य है।

। यह समफल विद्याओं के विकल्प का अधिकरण हुआ।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।३।३।६१।

शिष्टेश्च ।३।३।६२।

समाहारात् ।३।३।६३।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।३।३।६४।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।३।३।६५।

दर्शनाच्च ।३।३।६६।

उद्गीथादिषु क्रत्वङ्गेष्वाश्रिता ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतेत्यादिका विद्या उद्गीथादिवत् क्रत्वर्थतया क्रतुषु समुच्चीयन्ते उत पुरुषार्थतया यथाकामं भवन्तीति संशये केचित्तावदाहुः यथाश्रयभाव इति ।

यथैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्ति एवं ते प्रत्यया अपि स्युः । प्रत्ययानामाश्रयतन्त्रत्वात् । ।१।

शिष्टेश्च ।

यथा चाश्रयाः स्तोत्रादयः शास्त्रेणोपदिष्टा एवं तदाश्रिताः प्रत्यया अपि दृश्यन्ते । ।२।

अपि च । ऋग्वेदिनां यः प्रणवः स सामवेदिनामुद्गीथ इतिछान्दोग्ये प्रणवोद्गीथयोरैक्यज्ञानं विधाय तत्फलार्थवादतथाह—

"होतृषदेनाद्वैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति"

इति प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नक्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधाति इत्यर्थः । तथा चेत्थमन्यत्रान्यतः समाहारादन्यत्र विहितानामुपासनानामन्यत्रविहितेषु कर्म्मस्वपि समुच्चयो न विरुद्ध इति प्रतिपद्यामहे ।

रामानुजस्तु दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथं वेदनहानौ तस्यान्यतः समाहारात् तस्य वेदनस्य नियमेनोपपादनं गम्यते इत्याह । ।३।

उपासनगुणस्य प्रणवस्य—

"तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते—

ओमित्याश्रावयति, ओमिती शंसति, ओमित्युद्गायति—

इति साधारण्यश्रुतेश्चोपासनस्यापि साधारण्यं गम्यते । उपासनस्य प्रणवसहभावनियमादुद्गीथाद्युपासनामप्युद्गीथादिवन्नियमेनोपादानमवकल्पते ।

अथवा उद्गीथादयः कर्मगुणाः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते । ततश्चाश्रय-सहभावात् तदुपासनसहभावोऽवकल्पते । अथैतन्मतं प्रत्याख्यायसिद्धान्तमाह—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः । नैतदाश्रितानामुपासनानामुक्तरीत्या यथाश्रयवः संभवति ।

उपासनानां सहभावस्याश्रुतत्वात् ।

"ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति । स्तुतमनुशंसति प्रस्तोत, साम-गाय होतरेतद् यज"—

इत्यादिना यथा स्तोत्रादीनामङ्गानां सहभावः श्रूयते नैवमुपासनानां सहभावश्रुति-रस्ति । ननु प्रयोगवचनादेव सहभावः प्राप्तः स्यादिति चेन्न ।

प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयति नोद्गीथाद्युपासना-नामपि ।

तेषां क्रत्वङ्गाश्रयत्वेऽपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थत्वादिति पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फल-मित्यत्रोक्तम् ।

दर्शनाच्चैषां प्रत्ययानामसहभावं प्रतिपद्यामहे ।

"एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाश्च ऋत्विजोऽभिरक्षति"—

इति विज्ञानवतैकेन ब्रह्मणेतरेषां परिपाल्यत्वं दृश्यते । सर्वप्रत्ययोपसंहारात्तु सर्वे सर्वविदः स्युरिति न तथाख्यायेत तस्माद् यथा काममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति सिद्धम् ।

। इति कर्म्माङ्गाश्रितोपासनानां याथाकाम्याधिकरणम् ।

इति तृतीयः सगुणोपासनापादः ।

उद्गीथ आदि क्रतु के अङ्गों में आश्रित 'ओम' इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करे"

इत्यादि विद्याएं उद्गीथ आदि की तरह क्रतु के निमित्त होने से क्रतुओं संगृहीत होती हैं, अथवा पुरुषार्थ के रूप में यथाकाम होती हैं, इस सन्देह पर कुछ लोगों का कथन है कि इनका यथाश्रय भाव है।

जैसे इनके आश्रय स्रोत आदि एकत्रित करके पढ़े जाते हैं, वैसे ही वे प्रत्यय भी होंगे। क्योंकि प्रत्यय आश्रयतन्त्र होते हैं।

शिष्टेश्च। जैसे आश्रयस्तोत्र आदि शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट हैं, वैसे ही उनके आश्रित प्रत्यय भी देख जाते हैं।

पुनश्च, ऋग्वेदियों का जो प्रणव है वह सामवेदियों का उद्गीथ है इसलिए छान्दोग्य में प्रणव और उद्गीथ के ऐक्य के विज्ञान का विधान करके उसके फल के अर्थ-वाद के रूप में कहा गया—

"होता पद से इसी दुरूद्गीथ का समाहरण करता है"

इस प्रकार प्रणव और उद्गीथ के एकता के विज्ञान के माहात्म्य से उद्गाता अपने कर्म में उत्पन्न क्षति को होत्र कर्म से समाहित करता है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार अन्यत्र अन्यत्र से समाहार करके अन्यत्रविहित उपासनाओं का अन्यत्र विहित कर्मों में भी समुच्चय या संग्रह विरुद्ध नहीं होता ऐसा हम मानते हैं। रामानुजाचार्य कहते है कि दुरुद्गीथ विना ज्ञान के बोलकर, ज्ञान की हानि में उसका अन्य स्थल से समाहार करके उसके ज्ञान का नियम से उपपादन प्रतीत होता है।

उपासना के गुण प्रणव की—

"यह त्रयी विद्या है ओम् ऐसा सुनाता है, ओम ऐसा शंसन करता है, ओम ऐसा गायन करता है"

इस प्रकार अभेद रूप से सुने जाने से उपासना में अभेद की प्रतीति होती है। उपासना के प्रणव के साथ करने का नियम होने से उद्गीथ आदि की उपासना भी उद्गीथ के साथ होने का नियम है।

अथवा उद्गीथ आदि कर्म के गुण हैं ये सभी सभी प्रयोगों में समान रूप से कह गए हैं। इसलिए आश्रय के सह भाव से उनकी उपासना में सहभाव की कल्पना होती है। अब इस मत का प्रत्याख्यान करके सिद्धान्त कहा जाता है—

"अथवा ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका सद्भाव नहीं सुना गया है"।

उक्तरीति से आश्रित उपासनाओं का आश्रय के साथ सहभाव संभव नहीं है। क्योंकि उपासनाओं का सहभाव श्रुत नहीं है।

"ग्रहं वा गृहीत्वा"

इत्यादि के द्वारा जैसे स्तोत्र आदि अङ्गों का सहभाव सुना जाता है, वैसे उपासनाओं के सहभाव की श्रुति नहीं है प्रश्न होता है कि प्रयोग के वचन से ही सहभाव प्राप्त हो जायेगा, तो ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रयोग का वचन क्रतु के लिए उद्गाथों को सहभाव प्राप्त कराता है, उद्गीथ आदि उपासनाओं को वह वचन सहभाव नहीं प्राप्त कराता उनके क्रतु के अङ्गाश्रित होने पर भी गोदोहन आदि की तरह पुरुषार्थ होने से सहभाव की प्राप्ति नहीं होती इसलिए अप्रतिबन्ध रूप उनका फल भी पृथक् है ऐसा यहां कहा गया है। देखने से भी इन प्रत्ययों का सहभाव हम नहीं स्वीकार करते।

"ऐसा जानता हुआ ब्रह्मा यज्ञ, यजमान तथा सब ऋत्विजों की रक्षा करता है" इस प्रकार विज्ञानवान् एक ब्रह्मा के द्वारा अन्यों का रक्षित होना देखा जाता है। यदि सभी प्रत्ययों का संग्रह हो जाय तो सभी सर्ववेत्ता हो जायेंगे, तब ऐसा जाना ठीक नहीं होगा, इसलिए कामानुसार उपासनाओं का समुच्चय या विकल्प होता है यह सिद्ध हुआ।

यह कर्माङ्गाश्रित उपासनाओं की यथाकामता का अधिकरण हुआ।

। यह तृतीय सगुणोपासना पाद पूर्ण हुआ।

अथ चतुर्थो निर्गुणविद्यापादः

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।३।४।१

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२।

आचारदर्शनात् ।३।४।३।

तच्छ्रुतेः ।३।४।४।

समन्वारम्भणात् ।३।४।५।

तद्वतो विधानात् ।३।४।६।

नियमाच्च ।३।४।७।

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।३।४।८।

तुल्यं तु दर्शनम् ।३।४।९।

असार्वत्रिकी ।३।४।१०।

विभागः शतवत् ।३।४।११।

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२।

नाविशेषात् ।३।४।१३।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४।

कामकारेण चैके ।३।४।१५।

उपमर्दं च ।३।४।१६।

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ।३।४।१७।

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ।३।४।१८।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१९।

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०।

ब्रह्मगुणानामादित्यमनोवैश्वानरादीनां कर्म्मरूपतया तदाश्रितविद्याया सगुणोपासनायाः कर्म्मसमुच्चितत्वात् संभवति कर्मण्युनुप्रवेशः ।

तत्र कर्मणैव पुरुषार्थसिद्धिरित्यपि शक्यये वक्तुम् ।

अर्थोतः ।

औपनिषदमात्मज्ञानमधिकारिद्वारेण कर्म्मण्येवानुप्रविशति किं वा स्वतन्त्रं पुरुषार्थसाधनमिति मीमांसायामुच्यते ।

अत औपनिषदादात्मज्ञानात् पुरुषार्थो भवतीति बादरायण आचार्य्यो मन्यते । शब्दप्रत्ययात् । तथा हि श्रूयते ।

"तरति शोकमात्मवित्—

स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।

आचार्य्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति ।

इत्येवंजातीयका श्रुतिर्विद्यायाः पुरुषार्थत्वं श्रावयति । ।१।

अथात्र मतान्तरं जैमिनिराचार्य्यो मन्यते कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात् ।

तद्विज्ञानमपि ब्रीहिप्रोक्षणादिवद् विषयद्वारेण क्रत्वर्थमेव । न तु पुरुषार्थम् । आत्मज्ञाने फलश्रुतिस्तु पुरुषार्थवादो यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु ।

यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति । यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते । इत्यादिषु कर्माङ्गद्रव्यसंस्कारस्य यथाफलश्रुतिरर्थवादस्तद्वत् ।

उक्तं च—

"द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादिति । ।२।

ब्रह्म के गुण आदित्य, मन, वैश्वानर आदि के कर्मरूप होने के कारण उसके आश्रित विद्या के सगुणोपासना के कर्म में संगृहीत हो जाने से उसका कर्म में अनुप्रवेश होना संभव है । वहां कर्म से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है ।

यह भी कहा जा सकता है ।

सूत्र—(अर्थोऽतः)

उपनिषद का आत्मज्ञान अधिकारि के द्वार से ही कर्म में ही अनुप्रवेश करता है अथवा वह पुरुषार्थ का स्वतन्त्र साधन है ।

इस विचार पर कहा जाता है कि इस औपनिषद आत्मज्ञान से पुरुषार्थ होता है ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं ।

सूत्र—(शब्द प्रत्ययात्)

जैसा कि सुना जाता है—

"आत्मवेत्ता शोक का का संतरण करता है,"

"जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही होता है,"

"ब्रह्मवेत्ता परम को प्राप्त कर लेता है"

"आचार्यवान् पुरुष जानता है, उसके लिए उतना ही विलम्ब है, जब तक उसका मोक्ष नहीं होता"

"वह सब लोकों को प्राप्त कर लेता है, तथा सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है जो उसको जानता है"।

इस प्रकार की श्रुतियां विद्या के पुरुषार्थत्व को बतलाती हैं।

यहां दूसरा मत आचार्य जैमिनि का है।

आत्मा कर्ता होने के कारण कर्म का शेष है, उसका विज्ञान भी व्रीहि प्रोक्षण के समान विषय द्वारा क्रत्वर्थ ही है उसका विज्ञान पुरुषार्थ नहीं है।

आत्मज्ञा में जो फल श्रुति है वह तो पुरुषार्थवाद है। जैसे अन्य द्रव्य संस्कारकर्मों में अर्थवआता है जैसे—

"यस्य पर्णमयी जहूर्भवति"

इत्यादि में कर्माङ्ग द्रव्यसंस्कार फलश्रुति के अनुसार अर्थवाद है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए।

कहा गया है कि—

"द्रव्य गुण संस्कार कर्मों में परार्थ होने से फलश्रुति अर्थव होगा"।

विदुषामपि यज्ञादिकर्मप्रवृत्तावाचारदर्शनाच्चैतदेवं गम्यते।

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे"।

"यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोहमस्मीत्यश्वपतिः कैकेयः प्रोचे।

एवमादयो हि ब्रह्मविदामाचारा विद्यायाः क्रत्वर्थत्वं गमयन्ति। यदि केवलादात्मज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्तर्हि तेषां जनकाश्वपत्युद्दालकादीनामात्मज्ञानवतां कर्म्मसु प्रवृत्तिर्न स्यात्।

तस्माद्विद्या कर्म्माङ्गम्।

तच्छ्रुतेः।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवतीति विद्यायाः कर्म्मोपकारत्वंश्रूयते।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते"

इति विद्याकर्म्मणो-फलारम्भे साहित्याच्च विद्यायाः स्वातन्त्र्यं नास्तीति गम्यते। अपि च—

"आचार्य्य कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः"—

इत्यादि श्रुत्या समस्तवेदार्थविज्ञानवतः कर्म्माधिकारविधानाद् विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वं नास्तीति प्रतीयते—

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे"।

"एतद्वै जरामर्य्यं सत्रं यदग्निहोत्र जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा"

—इत्येवं जातीयकान्नियमादपि कर्म्मशेषत्वं विद्याया गम्यते, तस्माद् विद्या पूर्वकं कर्म्मैव पुरुषार्थो विद्या तु क्रत्वर्था इति जैमिनेः सिद्धान्तः।।३।

ज्ञानियों की भी यज्ञादि कर्म प्रवृत्ति में आचरण के देखे जाने से यह बात सिद्ध होती है।

"वैदेह जनक ने बहुत दक्षिणा वाला यज्ञ किया,"

"कैकेय अश्वपति ने कहा हे भगवन्! मैं यज्ञ करना चाहता हूँ"

इस प्रकार के ब्रह्मवेत्ताओं के आचरण विद्या की क्रत्वर्थता को बतला रहे यदि केवल आत्मज्ञान से ही पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाती तब उन जनक अश्वपति उद्दालक आदि आत्मज्ञानियों की कर्मों में प्रवृत्ति न होती। इसलिए विद्या कर्म की अङ्ग है। [सूत्र तच्छ्रुतेः]।

"जो कुछ विद्या से करता है, श्रद्धा से करता है, उपनिषद् से करता है वह वीर्यवत्तर होता है,'—

इस प्रकार विद्या का कर्म का उपकारक होना सुना जाता है—

—"उसका विद्या और कर्म आरम्भ करते हैं"—

यहां विद्या और कर्म का फल के आरम्भ सहभाव होने से विद्या स्वतन्त्र नहीं है यह प्रतीत होता है।

पुनश्च—

—"आचार्य के कुल से वेद का अध्ययन करके विधिपूर्वक गुरु के समीप से समावर्तन करके कुटुम्ब में पवित्र स्थान पर अच्छे प्रकार से अध्ययन करता हुआ"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा समस्त वेदार्थ के ज्ञाता को कर्म के अधिकार का विधान होने से विज्ञान का स्वतन्त्रता से फल हेतुत्व नहीं है यह प्रतीत होता है।

—"कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहने को इच्छा करे—

इस प्रकार अन्यथा कुछ नहीं होता, मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता"—

—"अग्निहोत्र जरामर्त्य सूत्र है, इसके अनुष्ठान से जरा और मृत्यु से मुक्ति हो जाती है,"—

इस प्रकार के नियम से भो विद्या का कर्म शेषत्व प्रतीत होता है,

इसलिए विद्यापूर्वक कर्म ही पुरुषार्थ है, विद्या तो क्रत्वर्थ है यह जैमिनि का सिद्धान्त है।

बादरायणस्य मते तु न शेषत्वात् पुरुषार्थवादो युक्तः।

अधिकोपदेशात्।

यदि संसार्य्येवायं शारीर आत्मा कर्ता भोक्ता चेहोपनिषत्सु शरीरात् पृथक्त्वेनोपदिष्टः स्यात् तर्हि कर्तुरात्मनः क्रियाङ्गत्वात्तज्ज्ञानस्य परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्।

अधिकं तु शरीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादसंसारधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिलक्षणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते"—इति।

"नेतरोऽनुपपत्तेः भेदव्यपदेशाच्च, अनुपपत्तेस्तु न शारीरः,। इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात्, अधिकं तु भेददेशानिर्देशाद्"

—इत्येतेषु सूत्रेषु प्रागेवोपपादितम्। न स कर्तृत्वेन यज्ञाधिकारिपुरुषत्त्वेन च क्रियास्वनुप्रविशतीत्यतस्तद्विज्ञानं न क्रियाशेषः। वेद्यस्यात्मन् एवंविधस्यैव श्रुत्या दर्शनात्।

अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः"।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"

"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गिः सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतो तिष्ठतः द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत"

—इत्यादिश्रुतिभिः परमात्मैवेह वेद्यत्वेन विधीयते। तद्विज्ञानमक्रियाङ्गत्वात् स्वतन्त्रं पुरुषार्थः संभवति। ननु—

"आत्मनस्तु कामाया सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः। यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तरो य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते"

"एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि"।

इति संसारिणः प्रत्यगात्मन एव वेद्यतयाऽनुकर्षणान्न जीवात्मनोऽतिरेकेणाधिकं किञ्चिद्वेद्यमस्ति—

इति चेन्न।

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युगत्येति परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः"

इत्यादिवाक्यशेषैः पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं रूपं शारीरत्वं तूपाधिकृतमित्यावेदयितुं यत्र तत्र प्रत्यगात्मनिरूपणेऽपि मुख्यतया परमात्मनिरूपणायैव शास्त्रस्य प्रवर्तमानत्वात्।।४।

बादरायण के मत से तो शेष होने से पुरुषार्थवाद ठीक नहीं है। क्योंकि अधिक उपदेश है।

यदि यह शरीर स्थित आत्मा संसारी ही है और कर्त्ता और कर्मों के फल के भोक्ता के रूप में उपनिषदों में शरीर से पृथक् के रूप में बतलाया गया होता तब कर्त्ता होने के कारण आत्मा क्रिया का अङ्ग और उसका ज्ञान दूसरे के लिए होता (परार्थ होता) तब उसकी फल श्रुति अर्थवाद होती।

शारीर आत्मा से अधिक असंसारी ईश्वरकर्ता होने के कारण संसार के धर्मों से रहित, पापों से दूर रहने के स्वरूप वाला परमात्मा यहां ज्ञातव्य के रूप उपदिष्ट है"।

"अनुपपत्ति के कारण अन्य नहीं है, भेद कथन के करण, शारीर आत्मा का कथन नहीं है अनुपपत्ति के कारण इतर के परामर्श से उसका कथन है, ऐसा नहीं है,—

अधिक कथन है।

भेदनिर्देश के कारण"

इन सूत्रों में वेद्य परमात्मा का प्रतिपादन पहिले ही हो चुका है। वह कर्ता के रूप में, यज्ञ के अधिकारी के रूप में क्रियाओं में प्रविष्ठ नहीं होता इसलिए उसका विज्ञान क्रिया शेष नहीं कहा जा सकता। ज्ञेय आत्मा को इसी रूप में श्रुति ने वर्णित किया है—

"वह अपहत पाप्मा, विजर विमृत्यु है",

"यो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है",

उसके भय से हवा चलती है, उसके मरू से सूर्य उदित होता है",

"हे गार्गि इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा धारित होकर स्थित हैं",

"द्यावा पृथिवी धारित और स्थित हैं. उसने ईक्षण क्रिया में बहुतों में प्रकट हो जाऊं, उसने तेज को उत्पन्न किया",

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमात्मा ही ज्ञातव्य के रूप में विहित है। उसका विज्ञान क्रिया का अङ्गन होने से स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। प्रश्न है कि—

"आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है",

"आत्मा द्रष्टव्य है",

"जो प्राणों से प्राणन करता है वह तेरा आत्मा है",

"सबके भीतर वह है",

"जो यह नेत्रों में पुरुष दिखाई देता है",

इसी की तुमारे लिए मैं पुनः व्याख्या करूंगा",

"इस प्रकार संसारी जीवात्मा का ही वेद्य के रूप में ग्रहण होने से यह निष्कर्ष आता है कि जीवात्मा से अधिक और कुछ वेद्य नहीं है,',

तो यह प्रश्न व्यर्थ है,

"इस महान् भूत का यह निःश्वास है",

'जो अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु का अतिक्रमण करता है, वह परम ज्योति में उपसंपन्न होकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है, वह उत्तम पुरुष है"

इत्यादि शेष वाक्यों से शारीर आत्मा का पारमार्थिक रूप परमेश्वर ही है, उसका शरीर स्थित रूप तो उपाधि के द्वारा निर्मित है, यह बतलाने के लिए, जहां तहां

जीवात्मा के निरूपण में भी मुख्य रूप से परमात्मा के निरूपण के लिए ही शास्त्र की प्रवृत्ति है।

यदुक्तं विद्यायाः कर्मशेषत्वे आचारदर्शनं हेतुरिति, तत्र ब्रूमः।

आचारदर्शनं तु तुल्यमकर्म्मशेषत्वेपि विद्यायाः। तथा हि—

"एतद्ध स्म वैतद्विद्वांस आहुऋर्षयः कावषेयाः—

किमर्था वयमध्येषामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे—

एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे। एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति"।

इत्यादिश्रुतिः कर्मणो निवृत्तानां केवलायां विद्यायां प्रवृत्तिं श्रावयति।

"एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज,,

इत्यादिश्रुत्या च ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते।

"यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मीति हि लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। तत्र ब्रह्मविद्यायाः सोपाधिकायाः कर्मसाहित्यदर्शनेऽपि नैकान्ततः सर्वासां ब्रह्मविद्यानां कर्म्माङ्गत्वं संभवति। ।५।

यदपि तच्छ्रुतेरित्युक्तं तत्प्रत्युच्यते। यदेव विद्यया करोतीत्येषा श्रुतिरुद्गीथविद्याभिसंबन्धादसार्वत्रिकी न सर्वविद्याविषयास्ति। ।६।

यदपि—

"न विद्याकर्मणी समन्वारभेते इत्युक्तं तत्र ब्रूमः।

यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै दीयते तद्वदिहापि विभागा द्रष्टव्यः। विद्यान्यं पुरुषं स्वफलाय समन्वारभते कर्म्मान्यं स्वफलायेति। ।७।

यच्चोक्तं तद्वतो विधानादिति तच्छब्दाध्ययनमात्रवतो द्रष्टव्यम् तन्न। यमध्ययनविधिरर्थावबोधपर्य्यन्तं प्रवर्तयति।

तदर्थविचारे च पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते। तथा च कर्मार्थी कर्मज्ञाने मोक्षार्थी तु ब्रह्मज्ञाने प्रवर्तते।

तत्र कर्म्मावबोधनं भवतु कर्माधिकारे कारणम्।

औपनिषदमात्मज्ञानं तु स्वातन्त्र्येणैव संभाव्यते पुरुषार्थ इति ब्रूमः ।

अथवाध्ययनविधिरस्त्वर्थावबोधस्यापि प्रवर्तकः । तथापि न वाच्यवाचकभाव-संबन्धज्ञानमात्रं विद्या स्यात् । प्रत्यगात्मपरमात्मयाथार्थ्यज्ञानस्येह विद्यात्वेन विवक्षणात् ।

तच्च नाध्ययनमात्रवतः संभवति । मननिदिध्यासनाभ्यां पश्चादुपपाद्यत्वात् । तथा च शब्दार्थज्ञानस्याङ्गत्वोपपादनेऽपि न विद्यायां अङ्गत्त्वं संभवतीति पुरुषार्थत्वं सिद्धम् ।

एवं नियमादित्यपि विदुषो नास्ति नियमः । कुर्वन्नेवेह कर्म्माणीत्यविशेषेण नियमविधानात् तस्याविद्वद्विषयत्वात् ।

अथवा विद्वद्विषयतायामपि विद्यास्तुतये क्रमानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम् । यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि विद्यासामार्थ्यान्न कर्म्म लिप्यते नरे इत्युक्ते विद्यास्तुत्यवगमात् ।

अपि च—

"एत द्व स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मा लोकः" ।

इत्येवं प्रत्यक्षीकृतविद्याफला एके विद्वांसो विद्यया कामकारेण, प्रजादीनां गार्हस्थ्यधर्म्माणां परित्यागं परामृशन्ति ।

जो यह कहा गया कि विद्या को कर्म का शेष मानने में आचरणों के देखा जाना कारण है, वहाँ हमारा कथन है कि विद्या के कर्म का शेष न मानने पर भी आचार दर्शन तो समान ही रहेगा । श्रुति कहती है—

विद्वान, ऋषियों ने कहा, हम क्यों अध्ययन करेंगे, क्यों हम यज्ञ करेंगे, इससे पूर्व के विद्वानों ने तो अग्निहोत्र नहीं किया, इस आत्मा को जान कर ब्राह्मणों ने पुत्रैषणा, लोक वित्तैषणा, लोकैषणा, को त्याग कर भिक्षा चरण किया।

"इत्यादि श्रुति कर्म से निवृत्त होने वालों की केवल विद्या में प्रवृत्ति बतला रही है ।

"अरे, यही अमृत है यह कह कर याज्ञवल्क्य प्रव्रजित हो गए"

इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य आदि कर्मनिष्ठ नहीं रहे, यह ज्ञान होता है ।

"हे भगवन् में यज्ञ करना चाहता हूं"

यह चिन्ह तो वैश्वानर विद्या का विषय है। वह सोपाधिक ब्रह्म विद्या के कर्म के साथ देखे जाने पर भी पूर्णतया सभी ब्रह्म विद्याओं को कर्म का अङ्ग माना जाना संभव नहीं है।

तच्छ्रुतेः "इस सूत्र से जो सिद्धान्त बतलाया गया उसका उत्तर दिया जाता है-

"जो कुछ विद्या पूर्वक किया जाता है, वह वीर्यवत्तर होता है"

यह श्रुति वाक्य उद्गीथ विद्या से सम्बद्ध होने के कारण सार्वत्रिक नहीं है, उससे सभी विद्याओं में उक्त नियम का बोध नहीं होता।

जो यह कहा गया कि—

"विद्या और कर्म अन्वारम्भ नहीं करते"

वहां हमारा कथन है कि जैसे 'इन्हें सौ दे दो' यह कहने पर पचास एक को तथा पचास दूसरे को दिये जाते हैं, वैसे ही यहां भी विभाग देखना चाहिए। अन्य पुरुष को विद्या अपना फल देती है, अन्य पुरुष को कर्म अपना फल देते हैं, यह समझना चाहिए।

जो कहा गया कि

"तद्वान् का विधान होने से'

यहां 'तत्' शब्द का प्रयोग अध्ययन करने वाले पात्र के लिए है, [इससे अध्ययन की कर्माङ्गता सिद्ध होती है] तो ऐसा नहीं है। अध्ययन की विधि जिसे अर्थ के ज्ञान तक प्रवृत्त करती है, उसके अर्थ विचार में पुरुष स्वयं ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार कर्मार्थी कर्म के ज्ञान में प्रवृत्त होता है, तथा मोक्षार्थी ब्रह्म के ज्ञान में प्रवृत्त होता है। वहां का ज्ञान तो कर्म के अधिकार में कारण है। उपनिषद का आत्मज्ञान तो स्वतन्त्र रूप से ही पुरुषार्थ है, ऐसा हमारा कथन है। अथवा अध्ययन विधि अर्थ के ज्ञान की भी भले ही प्रवर्तक हो जाय, तो भी केवल वाक्य वाचक भाव के सम्बन्ध मात्र का ज्ञान तो विद्या नहीं कही जा सकती। जीवात्मा और परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को यहां विद्या कहा जाता है। और वह ज्ञान केवल अध्ययन करने वाले को नहीं हो सकता। क्योंकि उसका उत्पादन तो अध्ययन के पश्चात् मनन और निदिध्यासन से होता है। इस प्रकार शब्दार्थ के ज्ञान के कर्माङ्ग रूप से उपपादन कर देने पर भी ब्रह्म विद्या में कर्माङ्गता संभव नहीं है, अतः उसकी स्वतन्त्र पुरुषार्थता सिद्ध होती है।

इसी प्रकार "नियमात्" यह भी ज्ञानी के लिए नियम नहीं है।

"कर्म करते हुए"

यह सामान्य तया नियम का विधान है, वह अज्ञानी के लिए है। अथवा उस नियम को ज्ञानी के लिए मान लेने पर भी उसे विद्या की स्तुति के लिए कर्म का अनुज्ञान समझना चाहिए। यावज्जीवन कर्म करने वाले ज्ञान पर भी विद्या के सामर्थ्य से कर्म का लेप नहीं होता, इस कथन के द्वारा विद्या की स्तुति अवगत होती है।

अपिच—

"पहिले के ज्ञानी विद्वान गण प्रजा की कामना नहीं करते थे, (वे सोचते थे) हम प्रजा का क्या करेंगे, जिनकी यह आत्मा लोक है"

इस प्रकार विद्या के फल का प्रत्यक्षीकरण करने वाले–कुछ ज्ञानी विद्या पूर्वक अपनी इच्छा से प्रजा आदि गृहस्थ धर्म के परित्याग का परामर्श करते हैं।

अपि च—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"।

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्। केन कं जिघ्रेत्। इत्यादिना समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य कर्माधिकारहेतोः प्रपञ्चस्य विद्यासामर्थ्यादुपमर्दमामनन्ति।

तथा च कर्म्मोच्छित्तिहेतोर्विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वं नैव संभवतीति स्वातन्त्र्यं विद्यायाः सिद्धम्।

अपि च ऊर्ध्वरेतःसु विद्या श्रूयते। न च तेषामग्निहोत्रादीनि कर्माणि सन्तीति कर्माभावात् तत्र विद्यायाः कर्माङ्गत्वं नोपपद्यते।

यत्तूर्ध्वरेतसामाश्रमा नैव सन्ति यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिना कर्मणां यावज्जीवाधिकारश्रवणात् कर्मत्यागलक्षणस्याश्रमस्यासंभाव्यमानत्वादिति कश्चिद् ब्रूयात्—

तन्न। शब्दे हि—

"त्रयो धर्मस्कन्धा"

"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते"

"तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये"

—एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति"

"ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्"

इत्यादिषु तच्छ्रवणात् । यावज्जीवमग्निहोत्रमिति श्रुतिस्त्वविरक्तविषया द्रष्टव्या । जैमिनिस्तु त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां परामर्शं मन्यते न तु विधानम् । यतस्तत्र लिङ्गादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दो नास्ति । रामानुजीये त्वनुचोदनादिति पञ्चमी-पाठादविधानादित्यर्थः । तस्मान्न ते आश्रमाः श्रुत्या विधीयन्ते किन्तु ब्रह्मसंस्थताया आत्यन्तिक फलत्वं स्तोतुं स्मृत्याचाराभ्यां प्रसिद्धानामल्पफलानां तेषां त्रयाणां पुण्यलोकाना-मिहानुवादः क्रियते—

—"सर्व एते पुण्यलोकाभवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति"—

अपि चापवदन्ति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् ।"

वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" ।

"आचार्य्यायप्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः"

"नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति"

—"तत्सर्वे पशवो विदुः"—

इत्येवमाद्या । एतद्वै जरामर्य्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया बाह्ये वास्मान्मुच्यते मृत्युना वेति श्रुत्या यावज्जीवनं नित्यत्वेनाग्निहोत्रादि कर्मणां विधानात् कर्मप्रतिषेधलक्षणस्या-श्रमस्य प्रतिषेधावगमाच्च ।

एवं स्थिते—

—"ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेदिति जाबालानां श्रुतिरेकदेशिनीति चेद्—

अत्राह भगवान् बादरायणः । अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं प्रतीयात् ।

पुनश्च—

"उस परावर के दर्शन होने पर ग्रान्थियां खुल जाती हैं, समस्त सन्देह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं"

"जहां इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहां कौन किसे देखे, कौन किसे सूंघे"

इत्यादि के द्वारा समस्त क्रिया कारक फलस्वरूप कर्म के अधिकार के फल हेतु प्रपञ्च का विद्या के सामर्थ से उप मर्दन हो जाता है, यह माना गया है । इसलिए जो विद्या धर्म के बन्धन का उच्छेद करने वाली है, उसकी कर्मों के प्रति अङ्गता संभव नहीं है, अतः विद्या स्वतन्त्र है यह सिद्ध होता है ।

पुनश्च विद्या ऊर्ध्व रेताओं में सुनी जाती है। उनके लिए अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान नहीं है अतः वहां कर्मों के अभाव के कारण विद्या की कर्माङ्गता भी नहीं है। यदि कोई कहे कि ऊर्ध्वरेता पुरुषों के लिए आश्रमों का विधान नहीं है,

"यावज्जीवन अग्निहोत्र करे"

इत्यादि वाक्यों के द्वारा कर्म का अधिकार यावज्जीवन सुना जाता है, तथा कर्म-त्याग के स्वरूप वाला आश्रम असंभव है, तो ऐसा नहीं है। शब्द प्रमाण में कहा गया है कि—

"धर्म के तीन स्कन्ध हैं"—

"जो अरण्य में श्रद्धातप की उपासना करते हैं,"

"तप और श्रद्धा से जो अरण्य में रहते हैं"

"उसी लोक की इच्छा से प्रव्रजित होते है"

"ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रजित हो"

इत्यादि श्रुति वाक्यों में उस आश्रम का श्रवण है।

"यावज्जीवन अग्निहोत्र करे"

यह श्रुति वचन तो उनके लिए है जो विरक्त नहीं हैं। आचार्य जैमिनी तो "धर्म के तीन स्कन्ध हैं"

इत्यादि शब्दों में दूसरे आश्रमों का संकेत मात्र या परामर्श मानते हैं, न कि यहां उनका विधान मानते हैं। क्योंकि वहां प्रेरणा का कोई शब्द नहीं है। रामानुज भाष्य में तो—

"अनुचोदनात्"

यह पञ्चमी पाठ मान गया है।

'अविधान के कारण'

यह उसका अर्थ होता है। इसलिए इन आश्रमों का श्रुति के द्वारा विधान नहीं है, किन्तु ब्रह्मसंस्थता फल आत्यान्तिक है यह स्तुति करने के लिए स्मृति और आचरणों के द्वारा प्रसिद्ध अल्पफल वाले उन तीन पुण्य लोकों का यहाँ अनुवाद किया जाता है।

"ये सभी पुण्य लोक हैं, ब्रह्म में स्थित अमृत को प्राप्त करता है।"

इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष श्रुति अन्य आश्रम का अपवाद करती है—

"वह वीरहा होता है जो देवताओं की अग्नि को नष्ट करता है"

"आचार्य के लिए प्रिय धन का आहरण करके प्रजातन्तु को उच्छेद मत करो,"

"अपुत्र का लोक नहीं है"

"उन सबको पशु कहा जाता है,"

इत्यादि श्रुति वाक्य विहित कर्मों के परित्याग की निन्दा करने वाले हैं।

"यह सब वृद्धावस्था में भी न छोड़ने योग्य हैं, इससे जरा और मृत्यु से मुक्ति मिलती है"

इस श्रुति से यावज्जीवन नित्य रूप से अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान होने से कर्म को निषिद्ध करने वाले आश्रम का यहां प्रतिशेध। इस स्थिति में

"ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रजित हो जाय"

"यह जाबाल श्रुति एक देशिनी है"

ऐसा मन्तव्य प्रकट होने पर भगवान् बादरायण का यहां कथन है कि यहां अनुष्ठेय दूसरे आश्रम को समझना चाहिए।

साम्यश्रुतेः। सामाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते—

—"त्रयो धर्मस्कन्धा"—इत्यादिः।

अत्र हि स्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञायते। न चाश्रमत्रयसम्बन्धादन्यत्र यज्ञादीनामुत्पत्तिभिन्नानां भूयसां धर्माणां त्रित्वेऽन्तर्भावोऽवकल्पते। उपपद्यते हि यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धः। ब्रह्मचारीति स्पष्टं निर्दिष्ट एवाश्रमो द्वितीय स्कन्धः ये चेमेऽरण्ये इत्यरण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यां पञ्चाग्निविद्यया तृतीयो वानप्रस्थाश्रम ; स्कन्धः।

अथैभ्यस्त्रिभ्यो विशिष्टफलस्तुरीयो ब्रह्मसंस्थतारूपः पारिव्रज्याश्रमः प्रतिपाद्यते। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति इति इत्थं च तुरीयाश्रमस्य फलाधिकत्वं दर्शयितुमितरेषां त्रयाणां परामर्शतोऽपीदमाश्रमान्तरमनुष्ठेयं प्रतिपद्यामहे। अपि वा नेदं परामर्शमात्रं किन्तु विधिरेवायेमाश्रमान्तरस्य शक्यतेऽभ्युपगन्तुम्।

—"अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेद्—उपरि हि देवेभ्यो धारयति"—इति।

धारणवत्। यत्र यथा सत्यामप्यधो धारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ धारणस्यान्यत्र विधानाभावाद् पूर्वत्वादुपरिधारणस्य विधिः कल्प्यते एवमिहापि पुण्यलोकफलास्त्रयो

धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्था त्वमृतफलेति त्रयाणां परामर्शेनैकवाक्यताप्रतीतावपि विध्यन्तरस्यादर्शनादपूर्वत्वाद्विधिरेवाभ्युपगम्यते ।

उक्तं च शेषलक्षणे—

—विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्"—इति ।

तस्माद् ब्रह्मचारिगृहमेधिवैखानसभिक्षुलक्षणाश्चत्वार आश्रमा एवानया श्रुत्या साम्येन श्रूयन्ते—

इति सिद्धम् ।

अपि वा प्रत्यक्षमेवान्यत्र चत्वारोऽप्याश्रमाः श्रूयन्ते यथामनन्ति जाबालाः—

ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् ।

वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा–ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—इति ।

—"अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा परिव्रजेत्"—

अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति"—इत्यादिषु । तस्मात् सिद्धा ऊर्ध्वरेतस आश्रमाः सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु कर्म्मनिष्ठेष्वपि विद्याया विधानात् तस्याः स्वातन्त्र्यम् ।

। इति विद्याविशेषस्य कर्म्माङ्गत्वाभावाधिकरणम् ।

साम्यश्रुति के कारण यह मानना युक्तियुक्त है । गार्हस्थ्य से भिन्न दूसरे आश्रम का परामर्श करने वाली श्रुति भी समान अर्थ को प्रकट करने वाली है ।

"धर्म के तीन स्कन्ध हैं"

यह श्रुतिवाक्य है । यहां तीन स्कन्धों की प्रतिज्ञा की गई है । तीन आश्रमों के सम्बन्ध के अतिरिक्त यज्ञ आदि उत्पत्ति से भिन्न अनेक धर्मों का तीन में अन्तर्भाव नहीं होता । यज्ञ आदि चिन्ह वाला गृहाश्रम एक धर्म स्कन्ध के रूप में उत्पन्न है । ब्रह्मचारी के रूप में स्पष्टतया निर्दिष्ट आश्रम दूसरा स्कन्ध है ।

"जो यह अरण्य में"

इत्यादि श्रुति से बोधित अरण्य चिन्ह से श्रद्धातप से पञ्चाग्नि विद्या वाला तृतीय वानप्रस्थ आश्रम तृतीय स्कन्ध है। अब इन तीनों से विशिष्ट फल वाला चौथा ब्रह्म में स्थिति रूप परिव्रज्याश्रम प्रतिपादित होता है। इसी को लोक को कामना वाले परिव्राजक प्रव्रजित होते हैं। इस प्रकार चौथे आश्रम के फल को अधिक बतलाने के लिये अन्य तीन के परामर्श से भी इस आश्रम का अनुष्ठान करना चाहिए, यह हम स्वीकार करते हैं। अथवा यह परामर्श मात्र नहीं है किन्तु इसे भिन्न आश्रम की विधि ही माना जा सकता है।

"समिधी को नीचे धारण करके निकले, ऊपर देवों के लिए धारण करता है — [सूत्र–धारणवत्]।

"यहां अधोधारण के साथ एकता की प्रतीति होने पर भी, धारण का अन्यत्र विधान होने के अभाव से पूर्व होने से उपरिधारण की विधि कल्पित की जाती है, इसी प्रकार यहां भी पुण्यलोक का फल देने वाले तीन स्कन्ध हैं, ब्रह्म संस्था तो अमृत फल वाली है, यह तीनों के परामर्श से एक वाक्य की प्रतीति होने पर भी किसी अन्य विधि वाक्य के उपलब्ध न होने से अपूर्व होने के कारण यहां विधि ही समझी जाती है। शेष लक्षण में कहा गया है कि—

"धारण के अपूर्व के कारण विधि है"

इसलिए ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ (वैखानस्) तथा संन्यास (भिक्षु) ये चार आश्रम ही इस श्रुति के द्वारा समानता से प्रतिपादित हैं। यह सिद्ध हुआ। अथवा प्रत्यक्ष ही अन्यत्र चारों आश्रम सुने जाते हैं, जैसा कि जाबालों का कथन है—

"ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृही बने, गृही होकर बनवास करे, गृह से या वन से जिस दिन विरक्त हो जाय उसी दिन भिक्षु आश्रम में प्रव्रजित हो जाय।"

"व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, अग्नि को छोड़ने वाला हो या अग्नि को धारण ही न करने वाला हो परिव्रजित हो, जाय।"

परिव्रजित होकर वर्ण रहित वस्त्र धारण करके मुण्डित होकर, परिग्रह न करता हुआ, पवित्र, अद्रोही, भिक्षा करता हुआ, ब्रह्म भूय अवस्था को प्राप्त करता हैं।"

इसलिए ऊर्ध्वरेता का आश्रम सिद्ध हुआ, और कर्मनिष्ठ ऊर्ध्वरेता पुरुषों में भी विद्या का विधान होने से उसकी स्वतन्त्रता सिद्ध हुई।

। इस प्रकार विद्या विशेष का कर्माभाव अधिकरण पूर्ण हुआ।

स्तुतिमात्रमुपानानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१।

भावशब्दाच्च ।३।४।२२।

—"स एष रसानां रसतमः परमः परार्द्धोऽष्टमो यदुद्गीथः"—

इयमेवर्गग्निः साम । अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः"—

तदिदमेवोक्थमियमेव पृथ्वी"—

इत्येवमादिश्रुतय उद्गीथादिस्तुत्यर्थाः सन्त्युपासनविध्यर्था वेति संशये केचित्ता-वदाहुः—

कर्म्माङ्गानामुद्गीथादीनामुपादानात् स्तुतिमात्रं मन्यामहे इति । यथा—

—"इयमेवपृथ्वी जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्लोक आहवनीयः"—

इत्यादयो जुह्वादिस्तुतयस्तद्वत्क्रत्ववयवभूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रमिदं स्यादिति चेन्न । अपूर्वत्वात् । अप्राप्तार्थविधानादुपासनविधिरयं भवति । इयमेव जुहुरित्यादि तु विधिसंनिधावुपादानाद्विधिशब्दस्य वाक्यशेषत्वमापद्यते इति विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरिति न्यायेन संभवति स्तुतिः ।

प्रकृते तु प्रदेशान्तरपठितानामुद्गीथादीनां प्रदेशान्तरपठिता एताः श्रुतयो न वाक्यशेषत्वाय कल्पन्ते इति न स्तुतिः । भावशब्दाच्च ।

—"उद्गीथमुपासीत् सामोपासीत् अहमुक्थमस्तीति विद्यात्—

इत्यादश्च विस्पष्टं विधिशब्दाः श्रूयन्ते । प्रतिप्रकरणं फलानि च श्रूयन्ते—

—"आपयिता ह वै कामानां भवति कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चवृत्ताश्चेत्यादीनि । तस्मादुद्गीथादिश्रुतय उपासनविधानार्थाः सन्तीति सिद्धम् ।

। इति विद्याप्रकरण पठितानां कर्म्माङ्गस्तुतीनां कर्म्माङ्गत्वाभावाधिकरणम् ।

"यह रसों का रसतम परम रस परार्ध अष्टम है जो उद्गीथ है"

"यही अग्नि साम है, यह अग्नि से चित् लोक है"

"यही उक्थ है, यही पृथिवी है"

इत्यादि श्रुतियां उद्गीथ आदि को स्तुति के लिए हैं या उपासना की विधि के लिए हैं, इस सन्देह पर कुछ लोगों ने कहा है, कर्मों के अङ्ग उद्गीथ आदि के ग्रहण से हम इन्हें स्तुति मात्र मानते हैं। जैसे—

"यह पृथिवी जुहू है, आदित्य कूर्म हैं, स्वर्ग लोक, आहवनीया है,"

इत्यादि जैसे जुहू आदि की श्रुतियां वैसे ही क्रतु के अवयवभूत उद्गीथ आदि की स्तुति मात्र यह होगी, तो ऐसा नहीं है। क्योंकि यह अपूर्व है। अप्राप्त अर्थ के विधान के कारण यह उपासना विधि है।

"इयमेव जुहू"

आदि वाक्य तो विधि के समीप पठित होने के कारण विधि शब्द के वाक्य शेष के रूप में आ गये हैं।

"विधि से एकवाक्यता होने पर विधि की वह श्रुति मानली जाती है"

इस न्याय से वह श्रुति हो सकती है। प्रकृत में तो अन्यस्थान में पठित उद्गीथ आदि की अन्यस्थान पर पठित ये श्रुतियां वाक्य शेष नहीं बन सकती इसलिए ये श्रुति नहीं है। भाव शब्द के कारण भी ऐसा है।

"उद्गीथ की उपासना करे,"

"साम की उपासना करे"

"मैं उक्थ हू ऐसा जाने"

इत्यादि स्पष्ट रूप से विधि के शब्द सुनायी देते हैं। तथा प्रत्येक प्रकरण में फल भी सुनाई देते हैं।

"आपयिता"

आदि इसलिए उद्गीथ आदि श्रुतियां उपासना विधानार्थ हैं यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार विद्या प्रकरण में पठित कर्माङ्ग श्रुतियों का कर्माङ्गत्व के अभाव का अधिकरण हुआ।

परिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।३।४।२४।

कर्मप्रकरणे तावद् अश्वमेधे यज्ञे पुत्रामात्यपरिवृताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षीत आख्यानानि शंसन्तीत्यादिश्रुत्या नानाविधाख्यानकथनं विहितम्–प्रथमेऽहनि––

––"मनुर्वैवस्वतो राजा-इत्यादि-द्वितीयेऽहनि––

–"यमो वैवस्वत"–

इत्यादि। तृतीयेऽहनि वरुण आदित्य इत्यादि। एवमिहापि विद्याप्रकरणे उपनिषत्सु––

—"श्वेतकेतुर्हारुणेय आस। जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस"—

इत्यादीन्याख्यानानि बहूनि दृश्यन्ते। केषांचिदेवाख्यानविशेषाणां परिगणय्य तत्र पारिप्लवशब्देन विशेषितत्वात् तेषामेव पारिप्लवार्थत्वं संभवनत्वविशेषणवैयर्थ्यं स्यात्। तस्मादुपनिषत्स्वाख्यानश्रुतयो न पारिप्लवार्थत्वानभ्युपगमे सत्येतदाख्यानानां संनिहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यतयोपनिबन्धो दृश्यते।

यथा मैत्रेयीब्राह्मणे आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इति विद्यया प्रातर्दनेऽपि–

––"प्राणोस्मि प्रज्ञात्मेति विद्ययैकवाक्यता संदर्भः।

तस्माद्विद्याविध्यर्थता सिद्ध्यति न पारिप्लवार्थता।

। इत्युपनिषत्पठितानामाख्यानानां कर्म्माङ्गत्त्वाभावाधिकरणम्।

अश्वमेध के कर्म प्रकरण में पुत्र और अमात्य सहित राजा को पारिप्लव का कथन करे, आख्यान सुनाये, इत्यदि श्रुति के द्वारा अनेक प्रकार के आख्यान का विधान है। प्रथम दिन के आख्यान में मनुर्वैवस्वत राजा हैं, द्वितीय दिन यम वैवस्वत का आख्यान है, इत्यादि, तीसरे दिन वरुण आदित्य आदि। इसी प्रकार यहां भी विद्या के प्रकरण में उपनिषदों में

"आरुणेय श्वेतकेतु था, पौत्रायण जानश्रुति श्रद्धा से देने वाला, बहुत देने वाला था,"

इत्यादि बहुत से आख्यान हैं। आख्यानों की समानता होने से उनका भी पारिप्लव प्रयोगार्थ होना संभावित है। उसका निषेध किया जाता है कि ऐसा नहीं है। कुछ ही विशेष आख्यानों का परिगणन करके उनको परिप्लव यह विशेषण दिया जाने से उन्हीं

का पारिप्लवनाख्यानत्व बनता है, सब का नहीं अन्यथा पारिप्लवन यह विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा, यदि सभी उपाख्यानों का वहां ग्रहण होगा। इसलिए उपनिषद के आख्यानों की श्रुतियां पारिप्लव के लिए नहीं हैं किन्तु वे विशेष विद्याओं के ज्ञान के लिए हैं।

अथ च--

एकवाक्यता के उपबन्ध के कारण भी ऐसा है।

पारिप्लवार्थ न मानने पर इन आख्यानों की समीपस्थ विद्याओं के साथ एक वाक्यता से उपनिबन्ध देखा जाता है। मैत्रेयी ब्राह्मण में—

—"अरे आत्मा द्रष्टव्य है,"—

इस विद्या के साथ एकवाक्यता है,

प्रातर्दन आख्यान में भी--

—"मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं"—

इस विद्या से एकवाक्यता है। इसलिए उपनिषद के आख्यानों की विद्याओं के प्रति विध्यर्थता होती है न कि पारिप्लवार्थता।

: यह उपनिषद में पठित आख्यानों की कर्माङ्गता के अभाव का अधिकरण हुआ।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५।

सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् ।३।४ २६।

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।३।४।२७।

विद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वादेव च विद्यया स्वार्थसिद्धौ गृहाश्रमकर्मणामग्नीन्धनादीनामपेक्षा नास्ति ।

विद्यावन्तो ह्यूर्ध्वरेतस आश्रमिणः सन्तीति तदाश्रमेऽग्न्याधानपूर्वकाखिलयज्ञकर्मानपेक्षणात् केवलया विद्ययैवामृतत्वप्राप्तिः फलमुपपद्यते ।

। इत्यूर्ध्वरेतसांकृतविद्यानां विद्यायां यज्ञादिकर्म्मापेक्षानास्ति इति प्रथमः प्रस्तावः ।

विद्या के स्वतन्त्रता से पुरुषार्थ के हेतु होने से ही विद्या के द्वारा स्वार्थ की सिद्धि होने पर गृहस्थाश्रम के अग्नि इन्धन आदि कर्मों की अपेक्षा नहीं है। आश्रम निवासी विद्यावान् उर्ध्वरेता होते हैं इसलिए उस आश्रम में अग्नि के आधान पूर्वक सम्पूर्ण यज्ञ विधान की अपेक्षा न होने से केवल विद्या से ही अमृतत्व की प्राप्ति का फल मिल जाता है।

उर्ध्वरेता कृतविद्यों की विद्या में यज्ञादि कर्म को अपेक्षा नहीं है, यह प्रथम प्रस्ताव हुआ।

विद्यायां कर्मानपेक्षया दर्शिता तत्प्रत्युच्यते। अस्ति विद्यायां सर्वाश्रमकर्मापेक्षा दर्शिता तत्प्रत्युच्यते। अस्ति विद्यायां सर्वाश्रमकर्मापेक्षा। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"—

इति यज्ञादीनांविद्यासाधनत्वश्रुतेः।

—"अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते। ब्रह्मचर्य्यमेव तत्"—

इत्यत्र विद्यासाधनस्य ब्रह्मचर्य्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवात्तेषां विद्यासाधनत्वावगतेश्च।

—"कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।

कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते"—

इति स्मृतिरपि ज्ञानोदये कर्मणां हेतुत्वमुपपादयति। नत्वेवं सति पूर्वाधिकरणविरोधः स्यादिति चेन्न। अश्ववद्विद्याया योग्यतावशेन व्यवस्थानात्। यथाश्वो योग्यतानुरोधाद्रथचर्य्यायां युज्यते न लाङ्गलाकर्षणे। एवमियं विद्या स्वोत्पत्तौ सर्वाण्याश्रमकर्म्माण्यपेक्षते उत्पन्नया तु तया स्वफलोत्पादने स्वातन्त्र्यात् तानि नापेक्ष्यन्ते इति शङ्करः। तथा चोर्ध्वरेतसां विदुषां विद्या यज्ञादिपूर्वाश्रमसर्वकर्मनिरपेक्षा भवति उत्पन्नत्वात्।

गृहस्थानां तु कर्म्मिणां विविदिषावतां विद्या यज्ञादिसर्वकर्म्मसापेक्षा भवति उत्पन्नत्वात्—

इति रामानुजोऽधिकरणद्वयं समर्थयति।

शंकरस्तु विद्याया यज्ञादिकर्मसापेक्षत्वे निवृत्तकर्मणां परिव्राजामपि विद्यानधिकारः स्यादतो गृहस्थपरिव्राडादिसर्वसाधारण्येन विद्यायां यज्ञादिनिरपेक्षत्वं पूर्वसूत्रेण पूर्वपक्षीकृतम्। तदपवादेन चेदानीमुत्तरसूत्रेण गृहिणां परिव्राजा च तन्निवृत्तिरूपयोर्गार्हस्थ्यपारिव्राजयोर्भेदाद्व्यवस्था क्रियते—

तथा च परिव्राजकेषु विद्यायामनपेक्षितस्य यज्ञादिकर्मणो गृहस्थेष्वपेक्षा इति सूत्र-द्वयमेकाधिकरणमाहुः ।

। इति विद्योत्पत्तौ यज्ञादिकर्मापेक्षा विद्यते इति द्वितीयः प्रस्तावः ।

विद्या में कर्म की अपेक्षा नहीं है ऐसा दिखाया गया, उसका प्रतिवाद किया जाता है । विद्या में सभी आश्रमों की कर्म की अपेक्षा है ।

"उसको वेदानुवचन से, यज्ञ से, दान से, तथा अनाशक तपसा ब्राह्मण गण जानना चाहते हैं,"

यह श्रुति यज्ञ आदि को विद्या का साधन बतला रही है ।

"जिसे यज्ञ कहा जाता है, वह ब्रह्मचर्य ही है,"

यहां विद्या साधन ब्रह्मचर्य को यज्ञ आदि से श्रुति होने के कारण उनकी विद्या के साधन के रूप में अवगति होती है ।

"कर्म तो कषाय पाक के समान हैं, ज्ञात तो परम गति है, कषाय के कर्मों से पक जाने पर तब ज्ञान प्रवृत्त होता है,"

यह स्मृति भी ज्ञान के उदय में कर्मों को हेतु के रूप में बतला रही है । प्रश्न होता है कि ऐसा मानने पर पूर्व के अधिकरण का विरोध होगा, तो ऐसा नहीं है, अश्व के समान विद्या की भी योग्यता के आधार पर व्यवस्था की जाती है । जैसे अश्व अपनी योग्यता से रथ को चलाने लगाया जाता है लाङ्गल आकर्षण में नहीं, ऐसे ही यह विद्या अपनी उत्पत्ति में अभी आश्रमों के कर्मों की अपेक्षा करती है, उत्पन्न होने के अनन्तर तो वह अपने फल के उत्पादन में स्वतन्त्र होने से उन कर्मों की अपेक्षा नहीं रखती अतः उस अवस्था में कर्म अपेक्षित नहीं रह जाते ऐसा श्री शंकराचार्य मानते हैं । इस प्रकार उर्ध्वरेता ज्ञानियों की विद्या यज्ञ आदि पूर्व आश्रम के समस्त कर्मों से निरपेक्ष रहती उत्पन्न हो जाने के कारण । जो ज्ञान की इच्छा वाले गृहस्थ कर्माधिकारी हैं उनकी विद्या यज्ञ आदि समस्त कर्मों की अपेक्षा रखती है, क्योंकि वह विद्या उत्पाद्य है । इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य दो अधिकरणों का समर्थन करते हैं । श्री शंकराचार्य के मत में तो विद्या का यज्ञादि कर्मों की सापेक्षता में कर्मों से निवृत्त हुआ परिव्राजकों का भी विद्या में अधिकार नहीं रहेगा अतः गृहस्थ और परिव्राजक सभी को समान रूप से यज्ञ आदि की अपेक्षा नहीं रहती यह पहिले के सूत्र में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया । उसके अपवाद या बाधक के रूप में आगे के सूत्र में गृहस्थ और परिव्राजकों के लिए उनके निवृत्ति के रूप में गार्हस्थ्य और परिव्राजकों की भेदपूर्वक व्यवस्था की जाती है ।–

जैसे कि परिव्राजकों में विद्या में अनपेक्षित यज्ञ आदि कर्मों की गृहस्थों में अपेक्षा उपभुक्त है, इस प्रकार ये दोनों सूत्र एक ही अधिकरण बतलाते हैं।

विद्या की उत्पत्ति में यज्ञ आदि कर्मों की अपेक्षा है यह दूसरा प्रस्ताव हुआ।

यद्यपि यज्ञादिश्रुतेर्यज्ञादीनां कर्मणा विद्यासाधनत्वमाख्यातं तथापि तु विद्यासिद्ध्यर्थं शमदमाद्युपेतः स्यात्।

—"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति—

इति विद्यासाधनत्वेन तेषां विधानात्। विद्याङ्गतया च तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्। अयमर्थः। केवलं यज्ञादिभिरेवेयं विद्या स्यात् अपि तु सत्यपि यज्ञाद्याचरणे शमदमादिभिरेवैषा विद्या संपद्यते।

एवंविदिति विद्यासंयोगाच्छमादीनि यावत् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि। यज्ञादीनि तु विविदिषासंयोगाद्बहिरङ्गसाधनानि। न च करणव्यापारतद्विपर्य्ययरूपत्वेन कर्मणां शमादीनां च परस्परविरोधः शङ्कयः।

विहितत्वान्नित्यानुष्ठेयानां यज्ञादिकर्मणामत्यागेन अविहितानामविहिताप्रतिषिद्धानां भोजनादिव्यतिरिक्तानां काम्यकर्मणां चोपरामेन च कर्मणां शमादीनां च भिन्नविषयत्वादविरोधात्।

अत्र शंकरस्तु—

—"यज्ञादिभिरेवैतां विद्यामवाप्तुमिच्छतीति विद्यास्तुतिपराया यज्ञेनविविदिषन्तीति श्रुतेर्यज्ञादिविधायकत्वाभावादविहितत्वाद्विद्यायां यज्ञाद्यपेक्षा नास्ति। तथापि तु शमादीनां विद्याङ्गतया विधानाद् विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वाद्विद्यानिवृत्त्यर्थं शब्दमाद्युपेतः स्यात्—

इत्येवमिदं सूत्रं पूर्वाधिकरणेऽन्तर्भाव्य त्रिभिः सूत्रैरैकाधिकरन्यमभिप्रैति।

इति विद्यासिद्धौ शमदमादिकर्मविशेषापेक्षा विद्यते इति तृतीयः प्रस्तावः।

। इति कर्मविशेषाणां विद्याङ्गत्वाधिकरणम्।

यद्यपि यज्ञादि श्रुति के द्व)रा यज्ञ आदि कर्मों को विद्या का साधन बतलाया गया तथापि विद्या की सिद्धि के लिए शमदम आदि से युक्त होना आवश्यक है।

"इसलिए ऐसा ज्ञाता शान्त, दान्त शमदमादि से युक्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है"

एसा विद्या के साधन के रूप में उनका विधान है। विद्या के साधन के रूप में वे अवश्य अनुष्ठेय हैं। तात्पर्य यह है कि यह विधान केवल यज्ञादि के द्वारा ही सम्पन्न होगी अपितु यज्ञादि के आचरण होने पर भी शमदम आदि के द्वारा ही यह विद्या सम्पन्न होती है। 'एवं वित्' इस कथन से विद्या के सयोग से राम आदि समीप कथित विद्या के साधन हैं। यज्ञ आदि तो ज्ञान की इच्छा से संयुक्त होने के कारण वहिरङ्ग साधन होते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए के इन्द्रियों के व्यापार और उसके विपरीत कर्म शम आदि परस्पर विरोध है। विहित नित्य अनुष्ठेय यज्ञ आदि कर्मों के बिना त्याग किये तथा अविहित तथा जो न विहित हैं और न प्रतिषिद्ध हैं ऐसे भोजन आदि से अतिरिक्त काम्य कर्मों के उपराम अथवा न करने से कर्मों का तथा शम आदि का विषय भेद होने के कारण विरोध नहीं है। यहां श्री शकराचार्य तो—

"यज्ञ आदि से इस विद्या को प्राप्त करना चाहते हैं"

इससे विद्या की श्रुति प्रतीत होती है,

"यज्ञ से जानना चाहते हैं"

यह श्रुति यज्ञ आदि की विधायक नहीं है, अतः अविहित होने से विद्या में यज्ञ की अपेक्षा नहीं है, तो भी शम आदि का विद्या के अङ्ग के रूप में विधान होने से और विहितों का अनुष्ठान किया जाना आवश्यक है अतः विद्या को प्राप्ति के लिए शमदम आदि से युक्त हो, इस प्रकार इस सूत्र को पहिले के अधिकरण में अन्तर्भूत करके तीन सूत्रों से एक अधिकरण होने का अभिप्राय प्रकट करते हैं।

विद्या की सिद्धि में शमदम आदि विशेष कर्मों की अपेक्षा है यह तीसरा प्रस्ताव हुआ।

विशेष कर्मों की विद्याङ्गता का अधिकरण हुआ।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३।४।२८।

अबाधाच्च ।३।४।२९।

अपि च स्मर्य्यते ।३।४।३०।

शब्दश्चातोऽकामकारे ।३।४।३१।

प्राणसंवादविद्यायाम्—

—"न वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति छान्दोगा आमनन्ति ।

—"न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्न प्रतिगृहीतमिति वाजसनेयिनश्च । तत्रेदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयते अथवा स्तुत्यर्थं संकीर्त्यये इति चिन्तायां केचिदाहुः—

—"न कांचन परिहरेत् तद्व्रतमिति"—

वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्यापरित्यागवचनेन सामान्यविषयं गम्यागम्यविभाग-शास्त्रं बाध्यते । तथा चेयं प्राणविद्याङ्गतया भक्ष्याभक्ष्यनियमनिवृत्तिर्विधीयते इति ।

तत्रेदं प्रत्युच्यते । नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयते विधिशब्दाभावात् । किन्तु प्राणा-त्यये सति परस्यामापदि सर्व्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते ।

प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।

मटचीहतेषु कुरुषु चाक्रायणा ऋषिरापद्गत इभ्यग्रामे वसन् सामिखादितान् कुल्माषांश्चखादानुपानं तूच्छिष्टदोषात् प्रत्याचक्षे । न वा अजीविष्यमिमानखादम् कामो म उदपानमिति च ब्रुवन् प्राणात्यये प्रसंगे आपद्धर्मतया प्राणसंधारणायाभक्ष्यभक्षणमय-मनुमन्यतेस्म । तस्मान्न स्वस्थावस्थायामभक्ष्यभक्षणमनुज्ञायते ।

अनुपानप्रत्याख्यानेन तथावगमात् । एवं सत्याहारशुद्धिविधायकशास्त्राणाम-बाधाच्च ।

अन्यथा भक्ष्याभम्यव्यवस्थाया अभावे ।

—"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिरित्यादि शास्त्राणां बाधः स्यात् ।

स्मर्य्यतेऽपि चापदि सर्वान्नभक्षणमविशेषेण—-

—"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा । इति ।

अनापदि चानन्नवर्जनं स्मर्य्यते मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत् । सुरापस्य ब्राह्मण-स्योष्णामासिञ्चयुः सुरामास्ये । सुरापाः क्रिमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणादित्यादि शब्दश्चातो-ऽनन्नप्रतिषेधकोऽकामकारनिमित्तो श्रूयते । यथा कठानां संहितायां—-

—-"तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिवेत्"–

पाप्मना नोत्सृजा इति । तस्मादनन्नभक्षरणामनुमतिरापद्विषया स्यादर्थवादरूपैवेति बोध्यम् ।

। इति सर्वान्नादनस्य आपद्धर्म्मस्य विद्याङ्गत्वाभावाधिकरणम् ।

प्राण संवाद विद्या में

"ऐसा जानने वालों में कोई अनन्न नहीं रहता"

यह छन्दोग गण पढ़ते हैं ।

"उसका अनन्न जग्ध नहीं होता, क्योंकि उसने अनन्न का प्रतिग्रह नहीं किया"

यह वाजसनेयी पढ़ते हैं । वहां यह सब अन्नों की अनुज्ञा शम आदि की तरँह विद्या की अङ्ग रूप में विहित है अथवा यह स्तुति के रूप में संकीर्तित है: इस विचार में कुछ विद्वानों का कथन है कि—

"किसी का परिहार न करे, वह व्रत है"

यह वामदेव विद्या का विषय है इस सबके परित्याग के वचन से सामान्य विषय वाला गम्या-गम्य विभाग का शास्त्र जैसे बाधित होता है वैसे ही यहां भी प्राण विद्या के विषय में सर्वान्न भक्षरण के वचन से भक्ष्य अभक्ष्य के विभाग का शास्त्र बाधित होता है, इस प्रकार यहां भी प्राण विद्या के अङ्ग के रूप में भक्ष्य अभक्ष्य के नियम की निवृत्ति विहित होती है । वहां इसका प्रतिवाद है कि यह सब अन्नों की अनुज्ञा का विधान नहीं है क्योंकि यहां विधि शब्द का प्रयोग नहीं है । किन्तु प्राण संकट के उपस्थित होने पर सभी अन्न खाना चाहिए यह अनुज्ञा दी जाती है। उसको प्राण संकट के अवसर पर ही देखा जाता है। मटचोहत कुरुओं में चाक्रायण नाम का ऋषि आपत्ति में पड़ गया, इभ्य ग्राम में रहते हुए उसने आधे खाए हुए कुल्माषों को खालिया तथा अनुपान को उच्छिष्ट दोष बतलाकर निषेध कर दिया । इनको न खाकर में जीवित नहीं रहता उदपान आवश्यक नहीं है ऐसा कहते हुए प्राण संकट के प्रसंग में प्राण-संधारण के लिए अभक्ष्य भक्षण को वह ठीक समझता था । इसलिए स्वस्थ अवस्था में अभक्ष्य भक्षण की अनुज्ञा नहीं है । अनुपान के प्रत्याख्यान से यह ज्ञात होता है। ऐसा करने से आहार शुद्धि के विधायक शास्त्रों की बाधा नहीं होती । अन्यथा भक्ष्य अभक्ष्य की व्यवस्था के अभाव में—

"आहार की शुद्धि में सत्त्व शुद्ध रहता है"

इत्यादि शास्त्र वचन बाधित होते हैं । स्मृति में भी बिना भेद भाव के आपत्ति काल में सब अन्नों के भक्षण का विधान मिलता है—

"प्राण संकट के उपस्थित होने पर जो जहां तहां से अन्न खालेता है, वह जल से पद्म-पत्र की भांति पाप से लिप्त नहीं होता।"

आपत्ति न होने पर अनन्न का वर्जन स्मृति विहित है—

"ब्राह्मण नित्य मद्य-सेवन से बचे"।

जैसे कठ संहिता में

"इसलिए ब्राह्मण सुरापान न करे"

इसलिए अनन्न या निषिद्ध अन्न के भक्षण की अनुमति आपत्ति काल के लिए है, वह अर्थवाद रूप है, यह समझना चाहिए—

सर्वान्न भक्षण आपद्धर्म का विद्या के अङ्गत्व के अभाव का अधिकरण हुआ,

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।३।४।३२।

सहकारित्वेन च।३।४।३३।

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ३।४।३४।

अनभिभवं च दर्शयति।३।४।३५।

यज्ञादीनां गृहस्थाश्रमकर्मणां विद्यासाधत्वमाख्यातं किन्त्वाश्रममात्रनिष्ठैर्मुक्तीच्छारहित्याद्विद्यामकामयमानैस्तानि कर्माण्यनुष्ठेयानि न वेति चिन्तायामुच्यते।

यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुतीति नित्यविहितत्वाच्चेदमाश्रमकर्म्म यज्ञादिकं विद्यामकामयमानैरपि कर्तव्यमेव। नन्वेषां नित्यत्वेन कर्तव्यप्राप्तौ विद्यासाधनत्वं न स्यादिति चेन्न। विद्यासहकारित्वेन चैषामभ्युपगमात्। सहकारित्वं चोपकारकत्वम्।

तच्च विद्योत्पत्तौ द्रष्टव्यं न तु विद्याजन्यफलोत्पत्तौ। विद्याफलस्यासाध्यत्वात्। नन्वेवं तर्हि यज्ञादीनामाश्रमधर्मत्वेन नित्यत्वे तेषामकामेनापि कर्तव्यप्राप्तौ विद्याकामेन विद्योत्पादने सहकारितयाऽन्यानि यज्ञादीनि कार्य्याणि स्युरथवा नित्यैरेव तैः कृतैः कर्मभिर्विद्यापि संपद्यते इति चिन्तायामुच्यते।

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् इति। आश्रमधर्मत्वेन सहकारित्वेन चैकविद्या एव धर्मा अनुष्ठेया न तु नित्ययज्ञानुष्ठानानन्तरं विद्याकामनया पुनर्द्वितीयानुष्ठानमवकल्पते।

यथा कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वतीति यावज्जीवकर्तव्यान्नित्याग्निहोत्रा-त्पृथगेव मासकर्तव्याग्निहोत्रं विधीयते नैवमिह कर्मभेदो विधीयते ।

एकेषामेव कर्मणामुभयलिङ्गात् नित्यकृतकर्मभिरेवंविद्योत्पत्तेरपि संभवात् ।

उभयलिङ्गत्वमुभयनिर्वाहकत्वम् । अथवा श्रुतिस्मृति लिंगे स्तः । श्रुतिलिङ्गं तावत्—

—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीति सिद्धवदुत्पन्नरूपाणि यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते न तु सामाग्निहोत्रं जुह्वतीत्यादिवदपूर्वंरूपयुत्पादयति । स्मृति-लिङ्गं यथा—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः । इति विद्योत्पादकं कर्म दर्शयति ।

अनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्य्यादिसाधनसंपन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः ।

—"एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दते इत्यादिना । इति शंकरः ।

अहरहरनुष्ठीयमानैर्यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा विद्या भवति न तु कर्मणा विद्याया अभिभवं दर्शयतीति रामानुजः । तस्माद्यज्ञादिकर्माण्याश्रमधर्मतया नित्यानुष्ठेयानि सन्ति विद्यासहकारीणि चेति सिद्धम् ।

। इति अकामकृतानामपि नित्यानां यज्ञादिकर्मणां विद्याङ्गत्वाधिकरणम् ।

यज्ञ आदि गृहस्थाश्रम के कर्मों को विद्या का साधन बतलाया गया । किन्तु जो आश्रममात्र में निष्ठा रखने वाले हैं, तथा मुक्ति की इच्छा से रहित होने के कारण विद्या की कामना नहीं रखते उन्हें कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए या नहीं, इस विचार पर कहा जाता है कि अग्निहोत्र यावज्जीवन करना चाहिए, यह यज्ञ आदि नित्य विहित होने से आश्रम कर्म है, इसलिए विद्या की कामना न होने पर भी यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना ही चाहिए । प्रश्न होता है कि नित्य होने से कर्तव्य हो जाने पर इन यज्ञादि अनुष्ठानों की विद्या के साधन के रूप में प्राप्ति नहीं होगी, तो ऐसा नहीं है, इनको विद्या का सहकारी माना गया है । सहकारी का अर्थ है उपकारक होना । वह उपकारकत्व विद्या की उत्पत्ति में समझना चाहिए नाकि विद्या से उत्पन्न होने वाले फल की उत्पत्ति में । क्योंकि विद्या का फल साध्य नहीं माना जाता फिर प्रश्न होता है कि यज्ञ आदि के आश्रम धर्म के रूप में नित्य कर्म होने से विना कामना के भी उनकी कर्तव्यता के निश्चित होने पर विद्या की कामना वाले को सहकारी के रूप में अन्य यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना चाहिए अथवा उन नित्य कर्तव्य रूप से विहित कर्मों से ही विद्या की अवाप्ति भी

संपन्न हो जायेगी, इस विचार पर कहा जाता है, सर्वथा वहीं अनुष्ठेय हैं उभय चिन्हों के कारण । आश्रम धर्म के रूप में तथा सहकारी धर्म के रूप में एक ही प्रकार के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा नहीं है कि नित्य यज्ञ के अनुष्ठान के अनन्तर विद्या की कामना से फिर किसी दूसरे अनुष्ठान का विधान किया गया हो । जैसे कुण्ड पायियो के अयन में–

"एक मास तक अग्निहोत्र करता है"

यहाँ यावज्जीवन जिस अग्निहोत्र का विधान है उससे पृथक् ही मास पर्यन्त करणीय अग्नि होत्र का विधान होता है, इस प्रकार का कर्म भेद यहां नहीं है । एक ही प्रकार के कर्मों के दोनों चिन्ह हैं, नित्यकृत कर्मो से ही इस प्रकार विद्या की उत्पत्ति भी संभव है । उभय लिङ्गत्व का अर्थ है दोनों का निर्वाहक होना । अथवा श्रुति तथा स्मृति दोनों में इसके विधायक चिन्ह हैं ।

श्रुति चिन्ह में । "उसको वेद के अनुवचन से ब्राह्मण गण जानना चाहते हैं"

यहां सिद्ध के समान उपपन्न रूप वाले यज्ञ आदि का विविदिषा में विनियोग है, न कि—

"साम अग्निहोत्र का हवन करते हैं"

इत्यादि के समान अपूर्व रूप का उत्पादन किया जाता है। स्मृति चिन्ह भी है जैसे—

"कर्म फल का आश्रय न लेकर जो कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करता है"

इस प्रकार विद्या के उत्पादक कर्म को दिखाया गया है । श्रुति ब्रह्मचर्य आदि साधनों से संपन्न पुरुष का राग आदि केशों से आक्रान्त न होना भी बतलाती है।

"यह आत्मा नष्ट नहीं होता, जिसकी ब्रह्मचर्य से अनुमति मिलती है या प्रशंसा होती है"

यह श्री शंकराचार्य का अभिमत है ।

श्री रामानुजा चार्य कहते हैं कि प्रतिदिन अनुष्ठित यज्ञ आदि से विशुद्ध अन्तः करण में प्रतिदिन प्रकर्ष को प्राप्त करने वाली विद्या होती है, न कि कर्म से विद्या को दबाना या उसका अभिभव दिखाया जाता है ।

इसलिए सिद्ध हुआ कि यज्ञ आदि कर्म आश्रम धर्म के रूप में नित्य अनुष्ठेय हैं तथा वे विद्या के सहकारी हैं ।

अकाम कृतों का भी नित्य यज्ञ आदिकर्मों में विद्या का अङ्ग होने का यह अधिकरण हुआ ।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।३।४।३६।

अपि च स्मर्य्यते ।३।४।३७।

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८।

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।३।४।३९।

द्रव्यसंपत्त्यभावादाश्रमधर्माज्ञानाद्वा ये कमपि नाश्रमधर्मं पालयन्ति तेऽन्तरालवर्तिनो विधुराः ।

तेषां विद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति चिन्तायां विद्यां प्रत्याश्रमकर्मणां हेतुत्वाद्विधुराणां चानाश्रमित्वान्नास्ति विद्याधिकार इति प्राप्ते ब्रूमः । अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । अन्तरालवर्तिनामप्यस्ति विद्याधिकारो रैक्वाचक्नवीप्रभृतीनां विधुराणामपि ब्रह्मवित्वदर्शनात् ।

अपि च स्मर्य्यते नग्नचर्य्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणां संवर्तप्रभृतीनां महायोगिनां ब्रह्मवित्वम् । विशेषानुग्रहश्च दृश्यते स्मर्य्यते च ।

—"तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येति"—

—"यज्ञेन दानेन तपसाऽनशनेनेति"—

श्रुत्या च तपःश्रद्धादिधर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहदर्शनात् ।

जप्येनैव तु संसिद्धेद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।।

इत्यादिस्मृत्या च जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहस्मरणाच्च ।

—"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमिति"—

स्मृत्या जन्मान्तरसंचितानां संस्कारविशेषाणामपि विद्यानुग्राहकत्वस्मरणाच्च । संभवत्येवमन्तरालवर्तिनामपि विद्यानुग्रहः किन्तु अतोऽनाश्रमित्वादितरदाश्रमनिष्ठत्वं ज्यायो विद्यासाधनं मन्ये" ।

तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजश्चेति श्रुतिलिङ्गात् । अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः । संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेदिति स्मृतिलिङ्गाच्च ।

। इत्यनाश्रमिणां यज्ञादिकर्मविधुराणामपि विद्याधिकाराधिकरणम् ।

द्रव्य संपत्ति के अभाव से अथवा आश्रम धर्मों के अज्ञान से जो किसी भी आश्रम धर्म का पालन नहीं करते वे बीच में रहने वाले विधुर हैं।

उनका विद्या में अधिकार है या नहीं इस विचार पर विद्या के प्रति आश्रम के कर्मों की हेतुता होने से तथा विधुर लोगों के आश्रमों में प्रविष्ट न होने से उनका विद्या में अधिकार नहीं है ऐसे विचार के उपस्थित होने पर कहा जाता है"—

—"अन्तरा चापितु तद् दृष्टेः"—

जो अन्तराल वर्ती हैं उनका भी विद्या में अधिकार है जैसे—

रैक्व, वाचक्नवी आदि विधुरों का भी ब्रह्मवेत्ता होना देखा गया है। नग्नचर्या आदि के योग से (सर्वदानग्न रहने के आचरण से) आश्रम के कर्मों की अपेक्षा न करने वाले संवर्त आदि महायोगियों का भी ब्रह्मवेत्ता होना स्मृत हुआ है। विशेष अनुग्रह भी देखा और स्मरण किया गया है।

—"तपस्या, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्या से आत्मा का अन्वेषण करके"—

इत्यादि श्रुतिवचन से तथा—

—"यज्ञ, दान, अनावश्यक तप से"—

इत्यादि श्रुतिवचन से तप श्रद्धा आदि विशेष धर्मों से विद्या के अनुग्रह का स्मरण किया जाने से भी अन्तरालवर्तियों का विद्या में अधिकार सिद्ध होता है।

—अनेक जन्मों से संसिद्ध होकर तब परमगति को प्राप्त करता है"—

इस स्मृति से पूर्व जन्म में संचित विशेष संस्कारों का भी विद्या में अनुग्राहकत्व है। इस प्रकार अन्तराल स्थित लोगों का भी विद्या के द्वारा अनुग्रह संभव है किन्तु—

"अनाश्रमी होने की अपेक्षा अन्य आश्रम को स्वीकार करना श्रेष्ठ है, उसे हम विद्या का श्रेष्ठ साधन मानते है'

उससे ब्रह्मवेत्ता पुण्यकारी, तैजस जाता है, ऐसा श्रुति चिन्ह है।

"द्विज एक दिन भी अनाश्रमी न रहे, एक संवत्सर तक अनाश्रमी रहकर एक कृच्छ्रव्रत का पालन करे"

यह स्मृति में उक्त चिह्न भी है।

। यह यज्ञादिकर्मों से विमुख अनाश्रमियों का विद्या में अधिकार का अधिकरण हुआ।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।
।३।४।४०।

न चाधिकारिमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ।३।४।४१।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ।३।४।४२।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।३।४।४३।

पूर्वाधिकरणे विधुराणामगृहीताश्रमधर्माणां विद्याधिकार आख्यातः । अथेदानीं भ्रष्टाश्रमाणां विद्यायामधिकारोस्ति न वेति चिन्त्यते ।

तत्र तावदाश्रमाद् भ्रंशः शास्त्रेण नानुज्ञायते इत्युच्यते । नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकास्त्रयोऽमी ऊर्ध्वरेतस आश्रमाः प्रसिध्यन्ति । तद्भूतस्योर्द्ध्वरेतोभावं प्राप्तस्य पुनरतद्भावो नावकल्पते ।

अतथाभावोऽतद्भावः । परिव्राजको भूत्वा केनापि हेतुना पारिव्राज्यं परित्यज्य पुनर्यदि पौर्विकं वैखानसाश्रमं गृहीतुमिच्छेत् वैखानसो वा पुनर्गार्हस्थ्यं गृहीतुमिच्छेत् नैष्ठिको वोपकुर्वाणतयाऽवस्थातुमिच्छेत्, अथवा आश्रमी भूत्वा स्वाच्छन्द्यादाश्रमधर्ममपरिपालयन्ननाश्रमी भवितुं प्रक्रमेत, तन्नावकल्पते ।

पूर्वाश्रमादुत्तराश्रमं यथाऽऽरोहति न तथोत्तराश्रमात् पूर्वाश्रमं पुनः प्रत्यवरोढुं शक्नोति । नियमादतद्रूपादतद्भावाच्च ।

अत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्निति नैष्ठिकस्य, अरण्यमियान्न पुनरेयादित्युपनिषदिति वैखानसस्य, संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेदिति परिव्राड् भिक्षोः—

—"आचार्य्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामिकमाश्रमम् ।

आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि"—

इत्येवमाश्रममात्रस्य नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति । ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृहीभवेद् ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्"—

इत्यादीन्यारोहरूपाणि यथा श्रूयन्ते न तथा प्रत्यवरोहरूपाणि क्वचिदाम्नायन्ते । न शिष्टाचारश्च न शिष्टाचारश्च तथाभूतो दृश्यते । तस्मादुत्तराश्रमं प्राप्तस्य ततः प्रच्युतिर्नास्ति ।

रामानुजस्तु नियमादिति पृथक्पदं पठति । तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि वेषा धर्मा आचारा वा तेषामभावास्ततो निवृत्तयः ।

तथा च तद्रूपाभावेभ्यः शास्त्रकृतान्नियमादित्यर्थः । नैष्ठिकाद्याश्रमं प्रविष्टानां स्वाश्रमधर्मनिवृत्तिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि पूर्वोक्तानि ।

तस्मान्नैष्ठिकादीनामाश्रमधर्मपरित्यागपूर्वकमनाश्रमित्वेनावस्थानं नास्ति । जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिर्दर्श्यते ।

पहिले के अधिकरण में आश्रम के धर्मों का ग्रहण न करने वाले विधुरों का भी विद्या में अधिकार बतलाया गया। अब यह विचार किया जाता है कि जो आश्रम से भ्रष्ट हो चुके हैं उनका भी विद्या में अधिकार है या नहीं। वहां यह कहा जाता है आश्रम से भ्रंश की भी शास्त्र के द्वारा अनुज्ञा है। नैष्ठिक, वैखानस, परिव्राजक ये तोन ऊर्ध्वरेताओं के आश्रम के रूप में प्रसिद्ध हैं। जो इनमें रहते हुए ऊर्ध्वरेता के स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, उनका वैसा रूप न रहे यह नहीं हो सकता। वैसा न रहना ही अतद्भाव कहलाता हैं। यदि कोई परिव्राजक होकर किसी कारणवश परिव्राजता को छोड़कर पुनः यदि उससे पूर्व के वैखानस आश्रम का ग्रहण करना चाहे, अथवा वैखानस आश्रम स्थित पुरुष यदि पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे अथवा नैष्ठिक उपकारो के रूप में स्थित रहना चाहे, अथवा आश्रम स्थित होकर स्वच्छन्दता से आश्रम धर्म का परिपालन न करते हुए अनाश्रमी होने का प्रक्रम करे तो ऐसा नहीं हो सकता। पूर्वाश्रम से आगे के आश्रम में जैसे आरोहण होता है वैसे आगे के आश्रम से पूर्व के आश्रम में लौटना नहीं होता। क्योंकि नियम है, अतद्रुपता है, और अतद्भाव है। नैष्ठिक का नियम है कि स्वयं को आचार्य के कुल में अत्यन्त अवसन्न करे,—वैखानस का नियम है कि अरण्य में जाकर फिर वापस न आये यह उपनिषद है, परिव्राड् भिक्षु का नियम है कि अग्नि से संन्यास लेकर उसका पुनरावर्तन न करे।

"चारों में से किसी एक आश्रम के लिए आचार्य से अनुज्ञा लेकर, शरीर के छूटने तक विधिपूर्वक उसका पालन करे"—

इस प्रकार आश्रम के नियम के अनुसार आश्रम से प्रच्युति नहीं हो सकती या आश्रम को छोड़ा नहीं जा सकता।

"ब्रह्मचर्य को पूर्ण करके गृही बने",
"ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रजित हो जाय",

इस प्रकार दूसरे आश्रम में आरोहण जैसे सुना गया है, वैसे वापस लौटना कहीं शास्त्र विहित नहीं है। शिष्टाचार भी कहीं वैसा नहीं देखा जाता।

इसलिए आगे के आश्रम में जाने पर वहां से प्रच्युति या गिरावट नहीं होती। श्रीरामानुजाचार्य तो यहां नियमात्—

यह पृथक् पद मानते हैं। उन नैष्ठिकों के रूप, वेश, धर्म या आचरणों का अभाव ही उनसे निवृत्ति है। उस रूप के अभाव वालों के लिए शास्त्रकृत नियमों से व्यवस्था होती है यह अर्थ है। नष्ठिक आदि आश्रमों में प्रविष्ट लोगों की अपने आश्रम धर्म से निवृत्ति का पूर्वोक्त शास्त्र वचन नियमन करते हैं।

इसलिए नैष्ठिक आदि का आश्रम धर्मों के परित्याग पूर्वक अनाश्रमी होकर अवस्थान नहीं हो सकता। सूत्र में—

"जैमिनेरपि"

इस 'अपि' शब्द से आचार्य जैमिनी और आचार्य बादरायण की भी यहां सहमति दिखाई जाती है।

ननु नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्य्याद्याश्रमधर्मात् प्रच्युतानां प्रायश्चित्तेन पुनः शुद्धिः संभवतीति चेत् तदसत्।

—"ब्रह्मचार्य्यवकीर्णो नैर्ऋतं गर्द्दभमालभेत"—

इत्यधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकानां नैष्ठिकधर्माद् भ्रष्टानां नास्ति।

—"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत् स आत्महा"—

इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणात् प्रायश्चित्तायोगात्। पूर्वोक्तमाधिकारिकं प्रायश्चित्तं तूपकुर्वाणविषयं नेयम्। तेषां तादृक् पतनस्मृत्यभावात्।

अपि त्वेके आचार्य्याः नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्य्यं चेद्विशीर्य्यते तर्हि तदुपपातकमेवेति मन्यते। महापातकेष्वपरिगणनात्।

अतो यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपस्तत्प्रायश्चित्तसंस्कारश्चाम्नायते तद्वदुपकुर्वाणस्य नैष्ठिकस्याप्यविशेषणात् प्रायश्चित्तभावमाहुः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे यववराहाधिकरणे समा विप्रतिपत्तिः स्यात्।

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वादिति । प्रियङ्गुदीर्घशूकयोर्यवशब्दस्य, कृष्णशकुनिशूकरयोर्वराहशब्दस्य प्रसिद्धावपि यथमयश्चरुर्वाराहि उपानहावित्यत्र शास्त्रस्वारस्याद्दीर्घशूकशूकरयोरेव ग्रहणं भवति किन्तु प्रकृते महापातकवदुपपातके तथा प्रायश्चित्ताभावशास्त्रं नास्तीत्युपकुर्वाणनैष्ठिकयोः प्रायश्चित्तं साम्येनोपपद्यते ।

यत्तु नैष्ठिकस्य प्रायश्चित्ताभावशास्त्रं प्रागुपदर्शितं तद्यत्नगौरवातिशयद्योतनार्थं बोध्यम् । एवं वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्द्धयेत् ।

भिक्षुर्वानप्रस्थवत् सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्चेति भिक्षुवानप्रस्थयोरपि प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्—इति शंकरो व्याचष्टे ।

रामानुजस्तु तदुक्तम्—

इति पदमन्यथा व्याचष्टे ।

तथाहि तदुक्तं स्मृतिकारैः उत्तरेषां चैतदविरोधीति । ब्रह्मचारिणो यदुक्तं तत् स्वाश्रमाविरुद्धं चेदुत्तरेषामप्याश्रमिणां द्रष्टव्यम् ।

तथा च वैखानसपरिव्राजोरपि ब्रह्मचर्य्यादिस्वधर्मप्रच्यवने प्रायश्चित्तासंभवाच्छुद्धिरस्तीति गम्यते । इति परेषां मतं भवति ।

तन्निराकृत्येदानीं सिद्धान्तं ब्रूमः । ऊर्ध्वरेतसां स्वाश्रमप्रच्युतेरुपपातकत्वे वोभयथाऽप्येते बहिष्कार्य्या एव । नैषां विद्याधिकारोऽस्तीति प्रतिपद्यामहे ।

आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम् ।
उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेदिति—

निन्दास्मरणात् । आरूढो नैष्ठिकं धर्ममिति प्रायश्चित्ताभावस्मरणाच्च ।
तेषामपरिग्रहानुकूलशिष्टाचाराच्च ।

। इत्याश्रमच्युतानां विद्यानधिकाराधिकरणम् ।

जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि आश्रम धर्मो से च्युत हो गए हैं उनकी भी प्रायश्चित्त से पुनः शुद्धि हो सकती है यदि यह कहा जाय तो यह ठीक नहीं है ।

"प्रच्युत ब्रह्मचारी नैर्ऋत गर्दभ का आलभन करे"

इस अधिकार में कहा गया प्रायश्चित्त भी नैष्ठिक धर्म से भ्रष्ट नैष्ठिकों के लिए नहीं है।—

"जो नैष्ठिक धर्म पर आरूढ़ होकर पुनः वहां से प्रच्युत होता है, वह आत्महा (आत्म हत्या करने वाला पुरुष) किस प्रायश्चित से शुद्ध होगा यह हम नहीं जानते"—

इस प्रकार इस पतन का कोई समाधान नहीं है, अतः उसके प्रायश्चित्त का योग नहीं होता। पूर्वोक्त आधिकारिक प्रायश्चित्त तो उसके लिए है जो उपकुर्वाण अवस्था में है। क्योंकि उनकी उस प्रकार पतन की स्मृति का अभाव है। अपिच कुछ आचार्य नैष्ठिक का गुरुद्वारा आदि से अन्यत्र यदि कहीं ब्रह्मचर्य विशीर्ण होता है तो उसे उपपातक ही मानते हैं। क्योंकि उसकी गणना महापातकों में नहीं है। अतः जिस प्रकार मधु या मांस भक्षण में प्रवृत्त ब्रह्मचारी के व्रत का लोप और प्रायश्चित्त से उसका संस्कार उसे भी बतलाया जाता है, वैसे ही उपकुर्वाण अवस्था में नैष्ठिक के भेद न होने से प्रायश्चित्त का विधान मानते हैं। प्रमाण लक्षण में कहा गया है कि यववराहाधिकरण में समान विप्रतिपत्ति होगी। अथवा उसके निमित्त होने से यह विप्रतिपत्ति शास्त्रस्थित है। प्रियङ्गु और दीर्घशूक का यव शब्द से व्यवहार है, काला पक्षी और शूकर बराह शब्द से कहे जाते हैं, इस प्रकार इन दोनों शब्दों को इन अर्थों में प्रसिद्धि होने पर भी—

"यवमय चरु होता है"

'वाराहि उपानह (जूता) होता है',

इन वाक्यों में शास्त्र के तात्पर्य से यव शब्द से दीर्घ शूक तथा 'वराह' शब्द से शूकर का ही ग्रहण होता है। किन्तु प्रकृत इस महापातक के समान उपपातक के लिए उस प्रायश्चित्त के अभाव का शास्त्र नहीं है अतः उपकुर्वाण तथा नैष्ठिक में प्रायश्चित्त समानता से होता है। जो नैष्ठिक के लिए प्रायश्चित्त शास्त्र पहिले दिखाया गया वह बहुत बड़े यत्न से साध्य होने का गौरव रखता है यह बतलाने के लिए समझना चाहिए। इसी प्रकार वानप्रस्थ व्रतभङ्ग होने पर बारह रात्रि तक कृच्छ्र व्रत का आचरण करके महाकक्ष का वर्धन करे, भिक्षु का वानप्रस्थ के समान सोमावल्ला को छोड़कर अपने शास्त्र का संस्कार है। इस प्रकार भिक्षु और वानप्रस्थ के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान देखना चाहिए ऐसा श्री शंकराचार्य व्याख्या करते हैं। श्री रामानुजाचार्य तो 'तद्भुक्म्' इस पद की दूसरी व्याख्या करते हैं। जैसा कि स्मृतिकारों ने कहा—

आगे के लिए यह अविरोधी है। अर्थात् ब्रह्मचारी के लिए जो कहा गया वह यदि अपने आश्रम के लिए अविरुद्ध हो तो आगे के आश्रमियों के लिए भी उसे समझ लेना चाहिए। इस प्रकार वैखानस और परिव्राजों की भी ब्रह्मचर्य आदि अपने धर्म से च्युति होने पर प्रायश्चित्त के संभव न होने से शुद्धि होती है यह प्रतीत होता है। यह अन्यों का

मत है। उसका निराकरण करके अब सिद्धान्त बतलाते हैं कि ऊर्ध्वरेताओं के अपने आश्रम की प्रच्युति होने पर भले ही वह उपपातक हो उनका बहिष्कार ही करना चाहिए। उनका विद्या में अधिकार नहीं है ऐसा हम मानते हैं।

"जो विप्र आरूढ़ होकर पतित हो गया है, जो अपने मण्ड़ल से बाहर हो गया है, जो बन्धन में बंध चुका है, जो कीट से दष्ट हो चुका है, उसका स्पर्श करके चान्द्रायण व्रत करे",

इस प्रकार उसकी निन्दा की गई है।

"नैष्ठिक धर्म पर आरूढ़ होकर"

इस वाक्य से उसके प्रायश्चित्त का अभाव बतलाया गया है। उनको गृहीत न करने का शिष्टाचार भी है।

इस प्रकार आश्रम से च्युत लोगों के विद्या के अनधिकारी होने का अधिकरण हुआ।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।३।४।४५।

श्रुतेश्च ।३।४।४६।

यानि कर्माङ्गाश्रितानि उद्गीथाद्युपासनानि तानि यजमानस्य कर्माणि ऋत्विजां वेति संशये स्वामिनो यजमानस्यैव तानि कर्माणीत्यात्रेयो मन्यते।

—"वर्षति हास्मै य उपास्ते"—

इत्यादिषु फलश्रवणात् फलस्य च स्वामिगामित्वसिद्धान्तात्। दहराद्युपासनेषु फलोपासनयोरेकाश्रयत्वदर्शनाच्च। न च गोदोहनादिष्वङ्गकर्मसु यजमानकर्तृकत्वादर्शनात् तन्न्यायादङ्गाश्रितानामुपासनानामपि तत्कर्तृकत्वं न स्यादिति वाच्यम्।

गोदोहनादिष्वध्वर्युकर्तृकप्रणनाश्रयदोहनस्यान्येनाशक्यत्वात् तथात्वेपि प्रकृते तूद्गातृकर्तृकोद्गीथे तस्य रसतमत्वानुसंधानं यजमानेनैव शक्यते कर्तुमतः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरेकाश्रयताया एव न्याय्यत्वात्।

अथौडुलोमिस्त्वार्त्विज्यमेवैतदुपासनं मन्यते। यतः तस्मै साङ्गाय कर्मणे कर्तुमृत्विक् परिक्रीयते।

तस्माद्यथा कायिकानि गोदोहनाद्यङ्गकर्माणि ऋत्विग्भिः क्रियन्ते एवं मानसान्युद्-गीथाद्युपासनान्यपि प्रयोगान्तःपातीन्यधिकृताधिकारत्वादृत्विग्भिरेव कार्य्याणि ।

अत एव–"तं ह बकोदाल्भ्यो विदांचकार सह नैमिशानीयामुद्गाता बभूवे"—

त्युद्गातृकर्तृकं विज्ञानं श्रूयते ।

—"यां वै काञ्चन यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानायैव तामाशासते इति होवाच । तस्मादेवंविदुद्गाता ब्रूयात् कं ते काममागायानि"—

इति श्रुत्या ऋत्विक्कर्तृकविज्ञानगामिफलश्रुतेश्च । तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्-कर्मत्वसिद्धिः श्रुतेश्चेति सूत्रं रामानुजीया नाधीयते ।

। इति कर्माङ्गकर्मवत्कर्माङ्गविज्ञानानामपि ऋत्विक्कर्तृकत्वाधिकरणम् ।

जो कर्माङ्गाश्रित उद्गीथ आदि उपासनाएं हैं वे यजमान के कर्म हैं या ऋत्विजों के कर्म हैं इस सन्देह पर स्वामी यजमान के ही वे कर्म हैं यह आत्रेय मानते हैं ।

'वर्षा उसके लिए होती है जो उपासना करते हैं",

इत्यादि वाक्यों में फल का श्रवण है और फल स्वामी को ही मिलता है यह सिद्धान्त है । और दहरादि उपासनाओं में फल और उपासना को एक ही आश्रम में बतलाया गया है ।

गोदोहनादि अङ्ग कर्मों में यजमान का कर्तृत्व न देखे जाने से उसी न्याय से अङ्गाश्रित उपासनाओ में भी उसका कर्तृत्व न होगा । ऐसा नहीं मानना चाहिए । गोदोहनादि अध्वर्यु कर्तृक गोदोहन की अन्य के द्वारा अशक्यता होने से उसकी कर्तृता के वहां होने पर भी प्रकृत उद्गाता के द्वारा कृत उद्गीथ में तो उसके रसतमत्व का अनुसन्धान यजमान के द्वारा ही किया जा सकता है—

इसलिए कर्ता और भोक्ता का एकाश्रय होना यहाँ न्याय युक्त है । आचार्य औडुलोमि तो यहां ऋत्विक के द्वारा ही उपासना मानते हैं । क्योंकि उस साङ्ग कर्म के लिए ऋविक् का वरण किया जाता है । इसलिए जैसे –

कायिक गोदोहनादि अङ्ग कर्म ऋत्विक् के द्वारा किये जाते हैं वैसे ही मानसिक उद्गीथ आदि उपासना भी प्रयोग के भीतर समाविष्ट है और ऋत्विक उनके सम्पादन के लिए अधिकृत है, अतः उन्हें ऋत्विक को ही करना चाहिए । इसीलिए—

"उसको वक दाल्भ्य ने पहिचाना वह नैमिशीयों का उद्गाता था",

यह उद्गाता के द्वारा किया हुआ विज्ञान सुना जाता है।

"जिस किसी आशीर्वाद की ऋत्विक् आशा करता है, वह यजमान के लिए ही होता है।"

"ऐसा कहा गया है। इसलिए उद्गाता ऐसा कहे कि मैं तुमारी कौनसी कामना का गान करूं"

इस श्रुति से ऋत्विक् कर्तृक विज्ञानगामी फल सुना गया है। इसलिए अङ्गोपासना ऋत्विक् का कर्म है यह सिद्ध हुआ। श्री रामानुजानुयायी "श्रुतेश्च" इस सूत्र को नहीं पढ़ते।

। यह कर्माङ्ग कर्म के समान कर्माङ्ग विज्ञानों का भी ऋत्विक् कर्तृक होने का अधिकरण हुआ।

सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।३।४।४७।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ३।४।४८।

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४६।

विष्कुर्वन्नन्वयात् ।३।४।५०।

—"तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः, अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इत्यत्र ब्राह्मणस्य प्रागेव प्राप्तत्वादविधित्वादस्यापि मौनस्य तत्समाननिर्द्देशत्वादिति कश्चिन्मन्यते। तत्र ब्रूमः। सहकार्य्यन्तरविधिरति।

विद्यासहकारिणो मौनस्य वाल्यपांडित्याभ्यामतिरिक्तस्येह विधि क्रियते। अपूर्वत्वात्। ज्ञानातिशयार्थत्वात् प्रशान्तलक्षणं हीदं मुनित्वं पाण्डित्यादतिरिच्यते।

—"गार्हस्थ्यमाचार्य्यकुलं वानप्रस्थम्"—

इत्यादावुत्तमाश्रमे मुनिशब्दप्रयोगात् तद्वचनोऽयं शब्द इति तु न भ्रमितव्यम् ।

तत्रेतराश्रमसंनिधाने पारिशेष्यादुत्तमाश्रमस्य च ज्ञानप्रधानत्वादात्र बाल्मीकिर्मुनिपुङ्गव इत्यादौ व्यभिचारादस्य शब्दस्य तदर्थकत्वाभावनिर्णयात् ।

तस्माद्बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः पक्षेण विधीयते ।

—"आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं"—

चरन्तीत्यधिकारादर्थसिद्धः संन्यासी विद्यावान् यद्यपि स्वत एव मौनेन युज्यते तथापि यस्मिन् पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्मौनं न प्राप्तं तेन पक्षेणैव विधिर्द्रष्टव्यः । विध्यादिवत् । विधेरादिमुख्यो दर्शपूर्णमासविधिः ।

तत्र यथा अग्न्याधानादिकमङ्गजातं सहकारितया विधीयते । तथेह विद्यावाक्ये मौनविधिरिति शङ्करः ।

रामानुजस्त्वाह—

विध्यादिवदिति । विधिर्यज्ञादिः सर्वाश्रमधर्मः शमदमादयश्च । आदिशब्दाच्छ्रवणमनने । यथा—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा"

इत्यादिना च सहकारी यज्ञादिः शमदमादिश्च विधीयते, यथा वा श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादिना श्रवणमनने विद्यासहकारित्वेन गृह्येते तथैवेह—

"तस्माद् ब्राह्मणः"

इत्यादिश्रुत्या पाण्डित्यं बाल्यं मौनमिति त्रितयं विद्याः सहकार्य्यन्तरं विधीयते इति बोध्यम् ।

"इसलिए ब्राह्मण पाण्डित्य को समझकर बाल्य रूप से रहने की इच्छा करे। बाल्य और पाण्डित्य को समझकर मुनि हो जाय, मौन और अमौन को जानकर ब्राह्मण"—

इस वाजसनेय श्रुति में मौन शब्द से वाणी के संन्यास स्वरूप वाले परिव्राजत्व का विधान है अथवा मनन स्वरूप वाले ज्ञानार्थक होने से पाण्डित्य का यहां पुनः कथन या अनुवाद है यह सन्देह है ।

यहां मौन पाण्डित्य ही है। उसका यहां अनुवाद मात्र है। यह विधि नहीं है।

"अमौन को मौन सम कर ब्राह्मण",

यहां ब्राह्मण तो पहिले ही प्राप्त है, उसकी तो विधि है नहीं, उसके समान निर्देशत्व से मौन का भी अनुवाद ही है ऐसा कोई मानते हैं। वहां हमारा कहना है कि –

यह सहकारी अन्तर विधि है। विद्या का सहकारी जो मौन है, जो बाल्य और पाण्डित्य से अतिरिक्त है। उसका यहां विधान किया जाता है, क्योंकि यह अपूर्व है, पूर्व कथित नहीं है। ज्ञानातिशय का अर्थ रखने के कारण प्रशान्त स्वरूप वाला यह मुनित्व पाण्डित्य से उत्कृष्ट है।

"गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, वानप्रस्थ"—

इत्यादि में उत्तम आश्रम के लिए मुनि शब्द का प्रयोग होने से सत् या अच्छे का वाचक यह शब्द है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए। वहां दूसरे आश्रम के संविधान में परिशेष से तथा उत्तम आश्रम के ज्ञान प्रधान होने से वहां मुनि शब्द के वैसे अर्थ के उपलब्ध होने पर भी—

"वाल्मीकि मुनिपुङ्गव",:

इत्यादि में आश्रमपरक अर्थ के घटित न होने के कारण इस मुनि शब्द का संन्यासी अर्थ नहीं लिया जाता। इसलिए बाल्य पाण्डित्य आदि की अपेक्षा यह तीसरा मौन ज्ञानातिशय रूप है जिसे विद्यावान् संन्यासी के पक्ष से विहित किया जाता है।

"आत्मा को जानकर पुत्र आदि एषणाओं से ऊपर उठकर तब भिक्षा का आचरण करते हैं",

इस अधिकार से अर्थसिद्ध विद्यावान् सन्यासी यद्यपि स्वतः ही मौन से युक्त हो जाता है, तथापि जहां भेद दर्शन की प्रबलता से मौन प्राप्त नहीं हुआ उस पक्ष से इस विधि को समझना चाहिए।

(सूत्र–विधि आदि के समान) विधि का आदि अर्थात् मुख्य है दर्श पूर्णमास विधि।

वहां जैसे अग्नि का आधान आदि अङ्ग कार्यों का समूह सहकारी के रूप में विहित है, वैसे ही यहां विद्या के वाक्य में मौन की विधि है ऐसा श्री शंकराचार्य का कथन है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं (विध्यादिवत्) विधि अर्थात् यज्ञ आदि सभी आश्रमों के धर्म तथा शमदम आदि। आदि शब्द से श्रवण तथा मनन गृहीत हैं। जैसे—

"उसको ब्राह्मणगण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप से जानना चाहते हैं",

इत्यादि से सहकारी रूप से यज्ञ आदि तथा शम दम आदि विहित होते हैं, पुनश्च जैसे—

"श्रोतव्य है, मन्तव्य है'—

इत्यादि से श्रवण और मनन विद्या के सहकारी के रूप में गृहीत होते हैं, वैसे ही यहां—

"इसलिए ब्राह्मण"

इत्यादि श्रुतिवाक्य से पाण्डित्य, बाल्य मौन ये तीनों विद्या के अन्य सहकारी के रूप में विहित होते हैं यह समझना चाहिए।

नन्वेवं बाल्यादेवारभ्य कैवल्याश्रमे श्रुतिसिद्धे कथं छान्दोग्ये"—

—"अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे इत्यारभ्य—

—"स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते"—

इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेणोपसंहार इति चेत् तत्रोच्यते—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार इति।

कृत्स्नेष्वाश्रमिषु विद्यायाः सद्भावात् गृहिणोऽप्यस्ति विद्या। अहिंसेन्द्रियसंयमादीनां विद्याधर्माणां गृहिष्वप्यौचित्यात् बहुलायासानि च बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि गृहस्थकर्तव्यतयोपदिश्यन्ते। तस्मात् सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थोऽयं गृहिणोपसंहारः।

न केवलं—

—"सर्वेषणाविनिर्मुक्तस्य भिक्षाचरणपूर्वकं मौनोपदेश एवेह शास्त्रार्थः किन्तु मौनवदितरेषामप्याश्रमधर्माणामुपदेशाच्चत्वारोऽप्याश्रमाः परिपाल्याः तथाहि श्रूयते—

त्रयो धर्मस्कन्धाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति।

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति। तत्र यज्ञादित्रयं गार्हस्थ्यधर्मः। तपो वानप्रस्थधर्मः। आचार्य्यकुलवासो नैष्ठिकधर्मः ब्रह्मसंस्थता पारिव्राड्धर्मः।

प्रत्येकमेते वृत्तिभेदात्पुनश्चर्धा स्मर्य्यन्ते—

गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो वृहन्निति ब्रह्मचारी चतुर्धा। वार्तावृत्तिः शालीनवृत्तिः यायावरः घोरसंन्यासीति गृही चतुर्धा।

वैखानसोदुम्बरवालखिल्यफेनपप्रभेदाद्वानप्रस्थश्चतुर्धा। कुटीचरबहूदकहंसपरमहंस-भेदात्परिब्राडपिचतुर्धा तदित्थं षोडशप्रभेदा आश्रमधर्माः सर्वेषामुपदेशाविशेषात्। तुल्य-वद्विकल्पसमुच्चयाभ्यांप्रतिपत्तिः।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार बाल्य से ही आरम्भ करके कैवल्य आश्रम के श्रुति सिद्ध होने पर छान्दोग्य में—

"समावृत्त होकर कुटुम्ब में पवित्र देश में"

यहा से आरम्भ करके—

"वह इस प्रकार व्यवहार करता हुआ आयुपर्यन्त ब्रह्मलोक में अभिसंपन्न होता है, वह पुनः लौटकर नहीं आता"

इस प्रकार आयुपर्यन्त गृहस्थधर्म से कैसे उपसंहार किया गया है। इस प्रश्न पर कहना यह है कि—

'कृत्स्नभाव से गृही से उपसंहार होता है।"

सभी आश्रमियों में विद्या का अधिकार या सद्भाव होने से गृहस्थाश्रमियों में भी विद्या है। अहिंसा इन्द्रिय संयमादि विद्या धर्मों का गृहस्थाश्रमियों में औचित्य होने से और बहुत आयास वाले बहुत से आश्रम कर्म यज्ञादि गृहस्थ के कर्तव्य के रूप में उपदिष्ट हैं।

इसलिए गृही के द्वारा यह उपसंहार कथन सभी आश्रमों के धर्मों के प्रदर्शन के के लिए है। यहां शास्त्र का तात्पर्य केवल सभी एषणाओं से निर्मुक्ति पूर्वक भिक्षाचरण पूर्वक मौन के उपदेश में ही नहीं है, किन्तु मौन की तरंह आश्रम धर्मों का उपदेश होने से चारों आश्रम परिपालन के योग्य हैं। इसलिए श्रुति ने कहा है "धर्म के तीन स्कन्ध है। यज्ञ, अध्ययन, दान यह प्रथम है, तपही द्वितीय है, ब्रह्मचर्य से आचार्य कुल वासी होता हुआ अपने को आचार्य कुल में पूर्ण कर देने वाला तृतीय स्कन्ध है। ये सभी पुण्य लोक हैं। ब्रह्म में स्थित अमृतत्व को प्राप्त करता है। वहां यज्ञ आदि तीन गृहस्थ के धर्म हैं। तप वानप्रस्थ का धर्म है, आचार्य कुल में निवास नैष्ठिक का धर्म है। ब्रह्म में सस्थित होना परिवार का धर्म है। वृत्तियाँ व्यवहार के भेद से ये पुनः चार प्रकार से स्मृत होते हैं। गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य, बृहन्, इस प्रकार ब्रह्मचारी चार प्रकार का है।

वार्तावृत्ति वाला, शालीन वृत्ति वाला, यायावर तथा घोर संन्यासी भी इस प्रकार गृहस्थाश्रमी चार प्रकार का है। वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य फेनप भेद से वानप्रस्थ चार प्रकार का है। कुटीचर, बहूदक, हंस और परम हंस भेद से परिवार भी चार प्रकार का होता है।

इस प्रकार आश्रम धर्मों के सोलह प्रभेद हैं, सभी के लिए समान उपदेश तथ्य के समान विकल्प और समुच्चय का बोध होता है।

इति चतुर्थाश्रमधर्मस्य विद्यासहकारितया विहितस्य मौनस्य स्वरूपमाख्यातम्।

अथ विद्यासहकारितया विहितस्यैवान्यस्य चतुर्थाश्रमधर्मस्य बाल्यस्येदानीं स्वरूपं निरूप्यते।

—"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्"—

इत्यत्र विदुषो बाल्यमनुष्ठेयमुच्यते, बालस्य भावः कर्म बाल्यं स्यात्। तत्र बालभावस्य वयोऽवस्थाविशेषस्याशक्यत्वात् कर्म्मैव ग्राह्यं स्यात्।

तथा चाविशेषात् कामचारवादभक्षता, दम्भदर्पप्ररूढेन्द्रियत्वादिराहित्यलक्षणाभावविशुद्धिर्वा ग्राह्येति संशये प्रवृत्ते ग्राह्यं बालस्वभावं निर्णयति। ज्ञानाध्ययनधार्म्मिकत्वादिभिरात्मानमनाविष्कुर्वन् वर्त्तेत विद्वान्। ईदृशस्यैव बाल्यस्य विदुष्यन्वयसंभवात्।

इतरेषां तु कामचारवादभक्षतादीनामिहान्वयो न संभवति—

—"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि विज्ञानेनैनमाप्नुयात्"—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिरित्यादिना तेषां विद्याविरोधित्वश्रवणात्।

इति चतुर्थाश्रमधर्म्माणां मौनबाल्यादीनां विद्यासहकारित्वाधिकरणम्।

इस प्रकार चतुर्थ आश्रम धर्म की विद्या सहकारिता से विहित मौन के स्वरूप का कथन हुआ।

अब विद्या के सहकारी के रूप में ही विहित अन्य चतुर्थ आश्रमधर्म बालखिल्य का यहां स्वरूप निरूपित किया जाता है।

"इसलिए ब्राह्मण पाण्डित्य को जानकर बाल्य जैसे रहने की इच्छा करे"

यहां विद्वान् के लिए बाल्य को अनुष्ठेय कहा जाता है। बालक का भाव कर्म बाल्य होता है। वहां बालक का वय अवस्था विशेष के अशक्य होने के कारण उसका कर्म ही ग्राह्य होगा।

वहां बिना भेद के यथेच्छ विचरण, भाषण, दम्भदर्पप्ररूढ़ इन्द्रियत्वादि की रहितता अथवा भावविशुद्धि का ग्रहण करना चाहिए इस सन्देह पर ग्राह्य बाल स्वभाव का निर्णय करते हैं कि ज्ञान अध्ययन धार्मिकत्व आदि से अपने को प्रकट करते हुए विद्वान् व्यवहार करे।

ऐसे ही बाल्यत्व का विद्वान् में अन्वय होना सम्भव है। अन्य स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण या व्यवहार, यथेच्छ भाषण, यथेच्छ भक्षण आदि का तो विद्वान् में अन्वय होना सम्भव नहीं है। क्योंकि—

"दुश्चरित से विरत न होने वाला, अशान्त, असमाहित, अशान्तमानस व्यक्ति विज्ञान से उसे नहीं पा सकता।"

—"आहार शुद्धि में सत्त्व शुद्धि होती है"

इत्यादि से उन बातों को विद्या का विरोधी कहा गया है।

। यह चतुर्थ आश्रम के धर्म मौन बाल्य आदि का विद्या के सहकारी होने का अधिकरण हुआ।

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।३।४।५१।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५२।

विद्याकामैरिह जन्मनि प्रस्तुतेभ्यो विद्यासाधनेभ्यस्तद्विद्यासिद्धिरिहैव जन्मन्युपपद्यते, अमुत्र जन्मान्तरे वेति संशये निर्णयमाह।

ऐहिकमेव विद्याजन्म प्रतिपत्तव्यं यदि कश्चिद्बलवान् प्रतिबन्धो न प्रस्तुतः स्यात्, यदात्विह जन्मनि विद्योदयसंपत्तौ कश्चित् प्रतिबन्ध उपतिष्ठते तदामुत्र जन्मान्तरे सा विद्याविर्भवति। तद्दर्शनात्।

दृश्यते हि प्रबलेन विरोधिना कर्म्मान्तरेण कर्म्मफलप्रतिबन्धे जन्मान्तरे तत्फलोपसंपत्तिः। गर्भस्थस्यैव वामदेवस्य ब्रह्मभावप्रतिपत्तिश्रवणात्।

न हि गर्भस्थस्यैहिकं किञ्चिद्विद्यासाधनं संभाव्यते ।

—"तत्र तु बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गति मित्यादिस्मरणाच्च ।

तस्मादसति प्रतिबन्धके विद्यासाधनसंपत्ताविहैव जन्मनि विद्यां लभते । प्रतिबन्धसत्त्वे तु जन्मान्तरे इति सिद्धम् ।

विद्या की कामना रखने वालों को इस जन्म में प्रस्तुत विद्या के साधनों से विद्या की सिद्धि इसी जन्म में प्राप्त हो जाती है अथवा आगे के अन्य जन्म में विद्या की सिद्धि होती है, इस सन्देह पर निर्णय किया जाता है कि विद्या का जन्म इसी शरीर में हो जाना मानना चाहिए यदि कोई बलवान् प्रतिबन्ध प्रस्तुत न हो ।

यदि इस जन्म में विद्या के उदय के सम्पादन में कोई प्रतिबन्ध उठ खड़ा हो तब दूसरे जन्म में इस विद्या की सिद्धि होती है । उसके दर्शन के कारण ऐसा माना जाता है । देखा जाता है कि—

प्रबल विरोधी अन्य कर्म के फल का प्रतिबन्ध कर देने पर दूसरे जन्म में उसका फल मिलता है । वामदेव जब गर्भ में ही था तभी उसे ब्रह्मभाव का ज्ञान हो गया ऐसा सुना गया है । गर्भ-स्थित में तो इस देह या इस जन्म के किसी विद्या के साधन की सम्भावना रहती नहीं ।

"वहां पूर्व देह के बुद्धि संयोग को प्राप्त करता है, अनेक जन्मों में संसिद्ध होकर तब परागति को प्राप्त करता है"

इत्यादि स्मृति वाक्य भी यहां प्रमाण है । इसलिए प्रतिबन्धक के न होने पर विद्या के साधन की संपत्ति में इसी जन्म में विद्या का लाभ होता है, प्रतिबन्धक होने पर तो दूसरे जन्म में विद्या की सिद्धि होती है यह सिद्ध हुआ ।

अथ विद्याफलभूतमुक्तिसिद्धावप्येवं द्रष्टव्यम् ।

यथा कर्मसाध्याया विद्याया उपसंपत्तौ प्रतिबन्धकसद्भावाभ्यां कालनियमो व्याख्यातः एवं विद्यासाध्यायामुक्तेरत्युपसंपत्तौ कालनियमो द्रष्टव्यः । मुक्तिसंपत्यवस्थायाः विद्यासंपत्त्यैवावधारणात् ।

यथा प्रतिबन्धकासत्वं वा प्रतिबन्धकनाशो वा विद्यासंपत्तिकालः एवं तदुभयमेव मुक्तिसंपत्तिकालः स्यात् । इति रामानुजः ।

ब्रह्मावगतिर्हि विद्या नाम । सा विद्यैव च मुक्तिर्नाम ।

—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्थेति ब्रह्मण एव मुक्त्यवस्थात्वेनावधारणात् तस्य च ब्रह्मणो निर्विशेषैकरसत्वश्रवणान्न मुक्तिफले कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः शक्यतेऽध्यवसातुम् इति शङ्कर ।

अपि वा विद्येयं द्विविधा भवति सगुणा निर्गुणा च ।

तत्र—"मनोमयः प्राणशरीर"—

इत्याद्यासु सगुणविद्यासु गुणावापोद्वापवशाद् भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत् ।

—"तं यथायथोपासते तदेव भवति"—

इति लिङ्गात् निर्गुणायां तु मुक्तिसाधनभूतायां विद्यायां गुणाभावात् कर्मवद्भेदो नोपपद्यते । विद्याभेदाभावाच्च तत्फलभेदनियमाभावः । न हि विद्याया मुक्तिरूपे फले तारतम्यरूपः कश्चन भेदो नियम्यते ।

—"न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित् सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्"—

इति स्मरणात् ।

इति प्रकारान्तरेणापि शंकरो व्याचष्टे ।

विद्याफलानियमेनैवायं मुतिफलानियमो व्याख्यातः । विद्यालक्षणाया एव तु मुक्त्यवस्थाया अवधारणादित्यन्ये ।

। इति कर्म्मसाध्यविद्याया विद्यासाध्यमुक्तेश्च संपत्तौ कालनियमाधिकरणम् ।

।। इति निर्गुणविद्यानिरूपणात्मकश्चतुर्थः पादः समाप्तः ।।

[निर्गुणविद्यापादः]

जीवं परं च विद्यां सगुणामगुणां च दर्शयद्भिरयम् ।
पादैः पूर्णोऽध्यायस्तृीय एषोऽस्ति कर्म्मियात्रार्थः ।।१।।

।। इति तृतीयोऽध्यायः संपूर्णः ।।

विद्या की फल जो मुक्ति है उसके लिए भी यही समझना चाहिए। जैसे कर्मों से साध्य विद्या की सिद्धि में प्रतिबन्धक के उपस्थित होने या न होने से काल का नियम नहीं हो सकता, यह कहा गया उसी प्रकार विद्या से साध्य मुक्ति की प्राप्ति में भी काल का अनियम समझना चाहिए।

क्योंकि मुक्ति प्राप्ति की अवस्था में अवधारण विद्या की संसिद्धि से ही होता है। जैसे—

प्रतिबन्धक या रुकावट का न होना या उसका नाश विद्या की संपत्ति का काल माना जाता है, वैसे ही वे दोनों मुक्ति की प्राप्ति के सम हैं। यह श्री रामानुजाचार्य का कथन है।

विद्या का अर्थ है ब्रह्म का ज्ञान होना। वह विद्या ही मुक्ति है।

"ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है"

इससे ब्रह्मभाव रूपा मुक्ति को विद्यात्मक रूप में ही श्रुति कहती है।

इस प्रकार ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है। अतः ब्रह्म की ही मुक्ति अवस्था के रूप में अवधारणा से, और वह ब्रह्म निर्विशेष एक रस है यह श्रुति के द्वारा ज्ञात होने से मुक्ति रूपी फल में कोई विशेष नियम माना जा सकता है, ऐसा श्री शंकराचार्य का कथन है।

यह भी ध्यान रखना होगा कि यह विद्या भी सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार की है।

"मनोमय प्राण शरीर है"

इत्यादि सगुण विद्या के निरूपण में गुणों के रहने तथा न रहने से भेद होने पर स्वरूप भेद के कारण कर्म के फल की तरह फलभेद का नियम मानना होगा।

"उसके जैसी उपासना होती है, वह वैसा होता है"

इस संकेत से मुक्ति की साधनभूता निर्गुण विद्या में गुण का अभाव होने के कारण कर्म के समान भेद नहीं होता। तथा विद्या के भेद के अभाव में उसके फल में भी भेद नहीं हो सकता।

विद्या के मुक्ति रूप फल में तारतम्य या कम अधिक के रूप में किसी भेद का नियम नहीं है।

"किसी की गति अधिक नहीं है गुण के कारण असमानता होती है"—

ऐसा स्मृति कथन है। इस प्रकार दूसरी तरह से भी श्रीशंकराचार्य की व्याख्या है। विद्या के फल के अनियम से ही मुक्ति रूपीफल का अनियम बतलाया गया है। विद्या स्वरूपिणी ही मुक्ति अवस्था है, ऐसा अवधारण है—यह अन्यों का कथन है—

इस प्रकार कर्म साध्य विद्या की तथा विद्या साध्य मुक्ति की सिद्धि में काल के अनियम का अधिकरण हुआ।

इस प्रकार निर्गुण निरूपणात्मक चतुर्थ पाद समाप्त हुआ।

(निर्गुण विद्या पाद समाप्त)

"जीव और परमात्मा सगुण तथा निर्गुण विद्या को दिखाते हुए पादों के द्वारा कर्मियो की यात्रा के लिए यह तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

॥ यह तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ॥

—□—

शारीरकसूत्रव्याख्याने चतुर्थोऽध्याय आरभ्यते

प्रथमः पादः

निर्गुणोपासनास्वरूपाधिकारः

प्रथमे तावत् कर्मकाण्डे प्रयाजादिसकृद्विधानं दृश्यते न क्रियावृत्तिः श्रूयते । तथा च समानतन्त्रत्वादिह ज्ञानकाण्डेऽपि—

—"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत । सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य"—

इत्याद्यादेशे सकृत् प्रत्ययो विहितः स्यान्नतु प्रत्ययावृत्तिः प्राप्नोति, इष्यते तु प्रत्ययावृत्तिरत आह—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।४।१।१।

लिङ्गाच्च ।४।१।२।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" –

इत्येवमसकृदुपदेशात् प्रत्ययावृत्तिर्विधेयतया प्रतीयते । अपि च निदिध्यासनं निध्यानमुपासनम् । तच्चान्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते ।

उपास्ते ध्यायतीत्युक्ते धारावाहिकनिरन्तरस्मरणो ध्येयं प्रति सोत्कण्ठ इति प्रतीतेः । उपासनमेव च वेदनम् । विद्युपास्त्योः सांकर्य्येण प्रयोगात् । तथाहि—

—"यस्तद्वेद, यत् स वेद स मयैतदुक्तः"—

इत्यत्र विदिनोपक्रम्य—

—"अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से"—

इत्युपास्तिनोपसंहरति ।

—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत"—

इत्युपास्तिनोपक्रम्य भाति च तपति च य एवं वेद"—

इति विदिनोपसंहरति ।

अपि च ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वेदनेन दर्शनमुक्तं तद्वदेव"—

—"ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः"—

इति ध्यानेन दर्शनमुच्यते । तस्माद्ध्यानवेदनोपासनानामेकाग्रचित्तवृत्तिनैरन्तर्य्ये सामर्थ्यं प्रतीयते । तथा चासकृदर्थस्य नैरन्तर्य्यस्य वेदनोपासनध्यानेष्वन्तर्भाविणोपदेशादस्य यावद् ब्रह्मसाक्षात्कारो न स्यात् तावदावृत्तिः कार्य्येति शङ्करः ।

रामानुजस्तु ध्यानोपासनपर्य्यायेण वेदनशब्देनोपदेशादसकृदावृत्तिः कार्य्येत्येवं व्याचष्टे । वयं तु ब्रूमः ।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादिवाक्यं नात्मनः श्रवणमननिदिध्यासन-पूर्वकं दर्शनं विधत्ते । प्रकरणतात्पर्य्यविरोधात् ।

अपि तु चक्षुःश्रोत्रमनोबुद्धिविषयाणामर्थानामात्मत्वं विधत्ते । आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वं विदितमित्युपसंहारेण तथावगमात् । यत्किञ्चित् क्वचिद्दृश्यते श्रूयते मन्यते विज्ञायते वा तत्सर्वमात्मैव दृश्यते ।

श्रूयते मन्यते विज्ञायते इत्यतो नात्मातिरिक्तं किञ्चिद्विदितं भवतीति तात्पर्य्यात् तथा च नेदमसकृदुपदेशोदाहरणवाक्यं संगच्छते । वस्तुतस्तु—

—"तत्वमसि श्वेतकेतो"—

इत्युपदिश्य भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु"—

इति पुनः पुनः संप्रार्थ्यमानः सन्नेकमेवार्थं बहुभिः संदर्भैः प्रतिबोधयन्—

—"तत्वमसि"—

इत्येवासकृदुपदिशति। असकृदुपदेशाच्च जीवब्रह्मैकताद्यर्थस्य नानावाक्यैर्नानायुक्तिभिश्चासकृदनुभावनं तात्पर्य्यसिद्धं भवतीति प्रत्ययावृत्तिरुपपद्यते।

लिङ्गाच्च प्रत्ययावृत्तिर्गम्यते।

—आदित्य उद्गीथ"—

इत्येकपुत्रतादोषेणापोद्य—

—"रश्मींस्त्वं पर्य्यावर्तयादिति"—

रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधानः प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति। तत्सामान्यात् सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिरिति शङ्करः।

रामानुजस्त्वाह लिङ्गं स्मृतिः। स्मर्यते हि वेदनं स्मृतिसन्ततिरूपम्—

—"तद्रूपप्रत्यये चैकः संततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा"—इति।

तस्मादुपासनापरपर्य्यायं वेदनमसकृदावृत्तं कार्य्यम्।

। इति आत्मभावनापौनः पुन्याधिकरणम्।

शारीरिक सूत्र व्याख्यान-चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

निर्गुण उपासना के स्वरूप का अधिकार

प्रथम कर्मकाण्ड में प्रयाज आदि का एक बार विधान दिखाई देता है क्रिया की पुनरावृत्ति वहां नहीं है। उसी प्रकार समान तन्त्र होने के कारण यहां ज्ञानकाण्ड में भी।

"धीर पुरुष उसी का जानकर अपनी प्रज्ञा को बनावे, वह अन्वेष्टव्य है, उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए"

इत्यादि आदेश में एक बार विश्वास विहित होना चाहिए, न कि उसकी पुनरावृत्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु प्रत्यय की आवृत्ति इष्ट है इसलिए कहा जाता है—

'अरे, आत्मा को देखना, सुनना, मनन करना, निदिध्यासन करना चाहिए"—

इस प्रकार अनेक बार उपदेश से विश्वास या ज्ञान की पुनरावृत्ति विधेय के रूप में प्रतीत होती है। निदिध्यासन का अर्थ है निध्यान या उपासना। वह भीतर आवृत्ति गुण रूपी क्रिया ही है।

"उपासना करता है'

"ध्यान करता है"

ऐसा कहने पर यही प्रतीत होता है कि धारावाहिक स्मरण पूर्वक वह उत्कण्ठा से भरा हुआ है। उपासना ही वेदन या ज्ञान है, क्योंकि विद्या और उपासना का प्रयोग मिला-जुला (सांकर्य से) होता है।

"जो उसे जानता है, वह उसे जानता है, मैंने ऐसा कहा"

यहां ज्ञानार्थक विद् धातु से उपक्रम करके—

"हे भगवन्, आप उस देवता को बतलाइये, जिसकी मैं उपासना करूं"

इस प्रकार उपासना से उपसंहार किया गया है।

'मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे"

यहां उपासना के उपक्रम करके—

"वह भासित होता है, वह तेजस्वी होता है, जो ऐसा जानता है"

यह ज्ञानार्थक विद् धातु से उपसंहार है। फिर—

"ब्रह्मवेत्ता परम तत्त्व को प्राप्त करता है"

यहां वेदन से दर्शन कहा गया, इसी प्रकार—

"तब निष्कल ध्यान करता हुआ उसे देखता है"

यहाँ ध्यान से दर्शन कहा गया है। इसलिए ध्यान वेदन और उपासना शब्दों की चित्तवृत्ति की एकाग्रता पूर्वक निरन्तरता रूपी अर्थ के प्रकट करने में शक्ति है यह प्रतीत होता है। इसी प्रकार असकृत् अर्थ को प्रकट करने वाले नैरन्तर्य के वेदन, उपासन, ध्यान में अन्तर्भाव के द्वारा उपदेश से उसको जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक आवृत्ति करनी चाहिए यह श्री शंकराचार्य का अभिप्राय है। श्री रामानुजाचार्य तो ध्यान और उपासना के पर्याय के रूप से वेदन के द्वारा उपदेश से बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं। हमारा यहां यह कथन है कि—

"अरे आत्मा, द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है"

यह वाक्य आत्मा के श्रवण मनन निदिध्यासन पूर्वक दर्शन का विधान नहीं करता। आत्मा के देखने, सुनने, मनन करने, विज्ञात होने पर सब कुछ जान लिया, इस उपसंहार से यह ज्ञात होता है। सुना जाता है, मनन किया जाता है जाना जाता है, इन सबसे आत्मा के अतिरिक्त और कुछ विदित नहीं होता, यह तात्पर्य है। अतः यह बार-बार उपदेश का वाक्य नहीं संगत होता। वास्तव में तो—

"हे श्वेतकेतो, वह तुम हो"

यह उपदेश देकर—

"हे भगवान्, आप मुझे फिर कहिये"

ऐसी पुनः पुनः प्रार्थना पर एक ही अर्थ को अनेक सन्दर्भों से समझाते हुए—

"वह तुम हो"

ऐसा बार-बार उपदेश हुआ। बार-बार उपदेश से जीव ब्रह्म की एकता आदि अर्थ को अनेक वाक्यों से तथा अनेक युक्तियों से बार-बार अनुभावन कराना तात्पर्य से सिद्ध होता है इसलिए प्रत्यय या ज्ञान की आवृत्ति युक्तिसंगत होती है। लिङ्ग से भी ज्ञान की आवृत्ति बोधित होती है।

"आदित्य उद्गीथ है"

यह एक पुत्रता के दोष को हटाकर—

"तुम रश्मियों का पर्यावरण करो"

इससे रश्मिबहुत्व के विज्ञान को बहुपुत्रता के लिए विहित करते हुए प्रत्ययावृत्ति को दिखाते हैं। उसी की समानता से सभी प्रत्ययों में आवृत्ति की सिद्धि हो जाती है यह श्री शंकराचार्य कहते हैं। श्री रामानुजाचार्य ने तो कहा है कि लिङ्ग स्मृति है। वेदन को स्मृति की निरन्तरता के रूप में भी माना गया है।

"उसके रूप के प्रत्यय में अन्य से निस्पृह एक संतति या निरन्तरता ही उपयुक्त है उसका ध्यान प्रथम ६ अङ्गों से निष्पादित किया जाता है"

इसलिए उपासना या वेदन की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए।

यह आत्य भावना से पौनःपुन्य का अधिकरण हुआ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।४।१।३।

ब्रह्मभावना पौनःपुन्यं कर्तव्यतया पूर्वाधिकरणे सिद्धान्तितम् । किन्तु किंरूपेण भावयेदित्यत्राह प्रत्यगात्मायं परमेश्वर एव इति कृत्वा भावयेत् । अहमयं परमेश्वर इति भावयेत् ।

यथा शरीरस्य भिन्नत्वेपि अहमिति कृत्वा शरीरं भावयति एवं पुरुषोत्तमस्य भिन्नत्वेऽप्यहमित्येव कृत्वा तं भावयेत् । जीवात्मनः परमात्मांशतया परमात्माभेदेन जीवात्मानं भावयेत् ।

तथाहि जाबाला उपगच्छन्ति--

--त्वं वा अहमस्मि देवते अहं वै त्वमसि देवते"-इति ।

अन्येऽप्यहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिना तादात्म्यमुपगच्छन्ति । ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं श्रुतिवाक्यानि ।

--"आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्तीति पूरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्"—इति ।

एष त आत्मान्तर्याम्यमृतस्तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीत्यादीनि ।

अपि च आत्मेत्येवोपासीत । आत्मानमेव लोकमुपासीत 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्तीति न स वेद मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः वेद"—

इत्येवमाद्याः श्रुतयो भेददर्शनमपवदन्त्यः परमेश्वरमात्मत्वेनैव ग्राहयन्ति ।

नन्वधिकं तु भेदनिर्देशादिति सूत्रे ब्रह्मणः प्रत्यगात्मापेक्षयाऽर्थान्तरत्वमुक्तं तद्विरुध्यते इति चेन्न । ईश्वरस्य जीवाद्भिन्नत्वे तत्तात्पर्य्यात् । अधिकत्वहेतोरीश्वरस्य जीवाद्भिन्नत्वेपि जीवस्येश्वराद्भिन्नत्वं नास्तीति सांप्रतं ब्रूमः प्रतिबिम्बवदेतत् प्रत्येतव्यम् ।

सूर्यस्य प्रतिबिम्बाद्भिन्नत्वेऽपि प्रतिबिम्बस्य सूर्य्याद् भेदो नास्ति ।

स यथा प्रतिबिम्बं पश्यन् सूर्य्योऽयमिति भावयति । एवमिमं प्रत्यगात्मानं पश्यन् परमात्माऽयमिति भावयेत् । न हीश्वरस्य संसार्य्यात्मत्वं प्रतिपाद्यते अपि तु संसारिणः ससारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं विवक्षितम् ।

अपहतपाप्मत्वादयोऽष्टावीश्वरगुणा जीवावस्थायामपि सन्त्येवाविद्ययान्तर्हिताः । सा चाविद्या मिथ्यास्तीति भेदव्यवहारो गौणो मुख्यस्तु जीवस्येश्वरेणाभेद इति सिद्धम् ।

। इति ईश्वरानतिरिक्तजीवभावनाधिकरणं शंकरस्य ।

ब्रह्म की भावना पुनः पुनः करनी चाहिये, यह सिद्धान्त पहिले के अधिकरण में बतलाया गया । किन्तु भावना किस रूप में करनी चाहिए यह कहा जा रहा है कि यह प्रत्यागात्मा या जीवात्मा परमेश्वर ही है, यह भावना करनी चाहिए । मैं ही यह परमेश्वर हूं ऐसी भावना करे ।

जैसे शरीर के भिन्न होने पर भी "मैं" ऐसा मानकर शरीर की भावना की जाती है इसी प्रकार पुरुषोत्तम के भिन्न होने पर भी 'मैं" ऐसा मानकर ही उसकी भावना करे । जीवात्मा के परमात्मा का अंश होने से परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से जीवात्मा की भावना करे ।

जंसा कि—जाबाल गण कहते हैं—

—"हे भगवन्, देवता, आप मैं हूं, मैं आप हैं"—

अन्य आचार्य भी—

- "मैं ब्रह्म हूं,"—

—"यह आत्मा ब्रह्म है"—

इत्यादि से तादात्म्य स्वीकार करते हैं । श्रुति वाक्य आत्म को ही ईश्वर के रूप में गृहीत कराते हैं । यदि पुरुष आत्मा को—

"यह है"—

"ऐसा प्रत्यक्ष जान जाय तो क्या चाहता हुआ और किस कारण शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़े",

"यह तेरा आत्मा अमृत है, वह सत्य है, वह तू है"

इत्यादि वाक्य आत्मा को ही ईश्वर बतला रहे हैं । पुनश्च—

"आत्मा रूप से ही उपासना करनी चाहिये",

"आत्मा की ही लोक के रूप में उपासना करनी चाहिए",

"जो अन्य देवता की उपासना करता है, यह अन्य है, मैं अन्य हूं ऐसा समझता है, वह नहीं जानता, वह मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो नाना भाव को देखता है",

"सब कुछ उसे दे दिया, जिसने अन्यत्र आत्मा को जाना",

इत्यादि श्रुतियां भेद दर्शन का तिरस्कार करती हुई परमेश्वर को आत्मा के रूप में ही ग्रहण करातीं हैं।

प्रश्न होता है कि—

"अधिकं तु भेदनिर्देशात्",

इस सूत्र में ब्रह्म को प्रत्यगात्मा की अपेक्षा पृथक् अर्थ बतलाया गया है उसका विरोध होगा, तो यह बात नहीं है। ईश्वर के जीव से भिन्नता में उसका तात्पर्य है। अधिकता के कारण ईश्वर के जाव से भिन्न होने पर भी जीव की ईश्वर से भिन्नता नहीं है ऐसा हम अब कह रहे हैं, उसको प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से समझना चाहिए। सूर्य के प्रतिबिम्ब से भिन्न होने पर भी प्रतिबिम्ब का सूर्य से भेद नहीं होता। कोई जैसे प्रतिबिम्ब को देखते हुए—

"यह सूर्य है"

ऐसी भावना करता है, वैसे ही इस जीवात्मा को देखते हुए—

"यह परमात्मा है"

ऐसी भावना करे। यहां ईश्वर का संसारो आत्मा के रूप में प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है अपितु यहां ससारी को ससारित्व के अपोहन या दूरीकरण पूर्वक ईश्वरात्मत्व की विवक्षा हैं। अपहत पाप्मत्व आदि आठ ईश्वर के गुण अविद्या से अन्तर्हित होकर जीवावस्था में भो हैं ही। और वह अविद्या मिथ्या है इसलिए भेद व्यवहार गौण है, मुख्य तो जाव का ईश्वर से अभेद है यह सिद्ध हुआ।

। ईश्वर से अनतिरिक्त जीव भावना का यह श्री शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित अधिकरण हुआ।

जीवेश्वरभेदवादी रामानुजस्त्वाह। उपासकः प्रत्यगात्मा स्वशरीरस्य स्वयं यथात्मा तथा स्वात्मनोपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासीतेत्यर्थः उपासितुर्जीवात्मनोऽप्यात्मत्वेन परं ब्रह्मोपास्यमिति तात्पर्य्यम्। जाबालाद्यभेदोपासनाश्रुतीनामपि तत्रैव तात्पर्य्यात्।

। इति ईश्वरप्रत्यगात्मकत्वेन जीवभावनाधिकरणम्।

जीव और ईश्वर के भेद का प्रतिपादन करने वाले श्री रामानुजाचार्य का कथन है कि उपासक प्रत्यगात्मा अपने शरीर का स्वयं जैसे आत्मा है वैसे अपने आत्मा का भी परम ब्रह्म आत्मा है ऐसा मानकर उपासना करे। उपासक जीवात्मा का भी आत्मा रूप से परब्रह्म ही उपास्य है यह तात्पर्य है। जाबाल आदि अभेदोपासना श्रुतियों का भी यही तात्पर्य है।

ईश्वर प्रत्यगात्मत्व रूप से जीव की भावना का यह अधिकरण हुआ।

न प्रतीके न हि सः ।४।१।४।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।४।१।६।

ब्रह्मणो व्यापकत्वादशेषेऽस्मिन् जगति व्यासज्यवृत्त्या ब्रह्मत्वमिष्यते किन्तु अवयवापर्य्याप्तस्य समुदायपर्य्याप्त्यसंभवात् समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति न्यायादर्थभेदेन प्रत्येकपर्य्याप्तमपीदं ब्रह्मत्वं शक्यं वक्तुमित्यत एव तत्र तत्र श्रूयते--

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः मनो ब्रह्मेत्युपासीत आकाशो ब्रह्म स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते इत्यादि। प्रतीकोपासनान्येतानि। प्रतीकोऽवयवः खण्ड एकदेशः। यथा गुरुपादसेवया गुरुसेवा संपद्यते एवं प्रतीकोपासनया ब्रह्मोपासना संपद्यते।

तथा च प्रत्येकस्य प्रतीकस्य ब्रह्मत्वाविशेषात् पूर्वाधिकरणरीत्या तेष्वप्यात्मेति भावनाविधानं प्राप्नोति तत् प्रतिषिध्यते न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। आदित्य एवाहं मन एवाहमाकाश एवाहमित्येवमादित्यादितादात्म्येनात्मानं न भावयेत्।

न हि स आत्मा प्रतीको न हि स प्रतीक आत्मा। पर्य्यायत्वाविशेषात्। कटककुण्डलरुचकस्वस्तिकादीनां पर्य्यायाणां प्रत्येकस्य सुवर्णतादात्म्येपि न कटकादीनां कुण्डलादिभिस्तादात्म्यं शक्यं वक्तुम्। कटकस्य कुण्डलत्वाभावात्।

एवमयं प्रत्यगात्मापि आदित्याकाशादिवत् पर्य्यायभूत इति आदित्याकाशादिवत् प्रत्यगात्मतः परब्रह्मैकात्म्येऽपि नादित्येनैकात्म्यं युज्यते। ब्रह्मदृष्टिस्तु प्रत्यगात्मनि आदित्याकाशादिप्रतीकेषु च शक्यते कर्तुमुत्कर्षात्। उत्कृष्टं हि प्रत्यगात्मन आदित्यादिभिश्चेदं ब्रह्म कारणत्वात्। व्यापकभावापन्नयोः कार्य्यकारणयोस्तादात्म्यमुपपद्यते न तु कार्य्यपर्य्याणां परस्परम्।

नन्वादित्यादिषु ब्रह्मदृष्टौ सत्यामादित्यादिमतयो नितान्तमुत्सन्नाः स्युः आदित्याकाशविद्युन्मनःप्राणाद्यनेकव्यस्तरूपाणां परस्परतो भिन्नानामेकैकस्य ब्रह्मतादात्म्यानुपपत्तिश्चेति चेन्न। आदित्यादिमयश्चाङ्ग उपपत्तेः। ब्रह्माङ्गत्वाद् ब्रह्मशब्दस्तेषूपपद्यते।

यथा हस्ताङ्गुल्यां पादाङ्गुल्यां शिरसि कट्यां वा गृहीतायां देवदत्तो गृहीत इत्यभिमानः। अङ्गिन उत्कर्षात्तेष्वङ्गेष्वङ्गिदृष्ट्युपपत्तेः न तु देवदत्ते हस्तादिदृष्टिः क्रियते नापि हस्तपादशिरः कट्यादीनामन्योन्याभेददृष्टिः संभाव्यते एवमिहापि बोध्यम्।

इत्थं च कार्यपर्यायान्योन्यतादात्म्यप्रतिषेधसिद्धान्तात् प्रत्यगात्मनोऽस्मादित्यादिभिर्ब्रह्मप्रतोकैरैक्यभावना प्रतिषिद्धा भवति।

जीवात्मनीव प्रतीकेष्वपि परमात्मावयवत्वात् परमात्मत्वोपपत्तावपि जीवात्मनि प्रतीकानतिरिक्तत्वभावना प्रतिषिध्यते।

। इति प्रतीकप्रत्यगात्मैक्यभावनाप्रतिषेधाधिकरणम्।

ब्रह्म के व्यापक होने से इस समस्त संसार में पूर्ण रूप से ब्रह्मत्व इष्ट है, किन्तु यदि अवयव में पूर्णतया नहीं है, तो समुदाय में पूर्णतया नहीं हो सकता, समुदाय में देखे जाने वाले शब्द अवयव में भी रहते हैं इस न्याय से अर्थ के भेद से प्रत्येक अवयव में व्याप्त होता हुआ भी यह ब्रह्मत्व कहा जा सकता है।

इसीलिए विभिन्न वाक्यों में सुना जाता है—
"आदित्य ब्रह्म है ऐसा आदेश है",
"मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे, 'आकाश ब्रह्म है'",
"वह जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है" इत्यादि।

ये प्रतीक उपासनाएं हैं। प्रतीक, अवयव, खण्ड या एकदेश होता है। जैसे गुरु के पाद की सेवा से गुरु की सेवा सम्पन्न हो जाती है, वैसे ही प्रतीक की उपासना से ब्रह्म की उपासना सम्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक का ब्रह्म से अभेद होने से पूर्व के अधिकरण की रीति से उनमें भी आत्मभावना का विधान प्राप्त होता है। उसका प्रतिषेध किया जाता है कि प्रतोकों में आत्मा की बुद्धि को नहीं बाँधना चाहिए। मैं आदित्य ही हूं, मैं मन ही हूं, मैं आकाश ही हूं, इस प्रकार आदित्य आदि से तादात्म्य के द्वारा आत्मा की भावना नहीं

करनी चाहिए। न वह आत्मा प्रतीक है, न वह प्रतीक आत्मा है, पर्यायत्व की अविशेषता के कारण। कटक, कुण्ड़ल, रुचक, स्वस्तिक आदि पर्यायों में प्रत्येक के स्वर्ण से तादात्म्य होने पर भा कटक आदि का कुण्डल आदि से तादात्म्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कटक,कु ण्ड़ल नहीं है।

इसी प्रकार यह जोवात्मा भी आदित्य आकाश आदि की तरह पर्यायभूत है इसलिए आदित्य आकाश आदि को तरह प्रत्यगात्मा की परब्रह्म के साथ एकात्मता होने पर भी उसकी आदित्य के साथ एकात्मता युक्त नहीं है।

उत्कर्ष के कारण जीवात्मा और आदित्य आदि प्रतीकों में ब्रह्म दृष्टि तो की जा सकती है। क्योंकि कारण होने से जीवात्मा तथा आदित्य आदि से ब्रह्म उत्कृष्ट है। व्यापक भाव में अवस्थित कार्य और कारण का तादात्म्य तो होता है परन्तु कार्यपर्यायों का परस्पर तादात्म्य नहीं होता।

प्रश्न होता है कि आदित्य आदि में ब्रह्म दृष्टि होने पर आदित्य आदि बुद्धि तो पूर्ण रूप से समाप्त ही हो जायगी, आदित्य, आकाश, विद्युत, मन, प्राण आदि अनेक पृथक् पृथक् रूप वाले परस्पर भिन्न पदार्थों को एक एक की ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने में अनुपपत्ति भी रहेगी, तो यह शंका निराधार है, आदित्यादिमयता अङ्ग के रूप में उपपन्न है। ब्रह्म के अङ्ग होने से ब्रह्म शब्द उनमें युक्तियुक्त होता है।

जैसे हाथ की उंगली, शिर, कमर को पकड़ लेने पर देवदत्त को पकड़ लिया यह समझ होती है। अङ्गी के उत्कृष्ट होने से उन अङ्गों में अङ्गी की दृष्टि बनती है, देवदत्त में हस्त आदि दृष्टि नहीं की जाती, और न ही हाथ, पैर, शिर, कमर आदि में एक दूसरे से अभेद की दृष्टि बनती है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए।

इस प्रकार कार्य-पर्यायों में एक दूसरे से तादात्म्य के निषेध के सिद्धान्त से इस जीवात्मा की आदित्य आदि ब्रह्म के प्रतीकों से ऐक्य भावना का निषेध होता है।

जैसे जोवात्मा ब्रह्म का अवयव है वैसे ही अन्य प्रतोक भी ब्रह्म के अवयव हैं अतः उनकी परमात्मा के रूप में उपपत्ति होने पर भी जीवात्मा प्रतीक से भिन्न नहीं है, इस भावना का प्रतिषेध किया जाता है।

प्रतीक और जीवात्मा की ऐक्य भावना के प्रतिषेध का यह अधिकरण हुआ।

ईश्वरजीवजगतां भेदवादी रामानुजस्त्वाह। प्रतीकेष्वात्मत्वानुसंधानं न कार्य्यम् न ह्युपासितुरात्मा प्रतीकः। प्रतोकोपासनेषु प्रतीक एवोपास्यो न ब्रह्म। ब्रह्म तु तत्र दृष्टिविशेषणमात्रम्।

प्रतीकोपासनं हि अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसंधानम् । ननु आदित्यादीनामचेतनानामल्पशक्तीनामुपास्यत्वं नोपपद्यते ।

अत आदित्यादिदृष्टया ब्रह्म वोपास्यमिति चेन्न । ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। आदित्यादीनामेव ब्रह्मदृष्ट्योपासनं कार्यम् न तु ब्रह्मण आदित्यादिदृष्ट्योपासनं युक्तम् । ब्रह्मण आदित्यादिभ्य उत्कर्षात् । उत्कृष्टे हि राजनि भृत्यदृष्टिः प्रत्यवायाय । भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय ।

तथा च प्रतीकेषु परमात्मदृष्ट्योपासनासत्वेपि तेष्वहंत्वाभिमानः प्रतिषिध्यते ।

। इति प्रतीकेष्वहंत्वभावनाप्रतिषेधाधिकरणम् ।

ईश्वर जीव और जगत् को भिन्न भिन्न मानने वाले श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रतीकों में आत्मा का अनुसन्धान नहीं करना चाहिए ।

उपासना करने वाला का आत्मा प्रतीक नहीं है । प्रतीकोपासना में प्रतीक ही उपास्य होता है, ब्रह्म उपास्य नहीं होता । ब्रह्म तो वहां दृष्टि का विशेषण मात्र है। प्रतीकोपासना होती है अब्रह्म में ब्रह्मदृष्टि का अनुसन्धान करना ।

प्रश्न है कि आदित्य आदि अचेतन अल्पशक्ति वालों का उपास्य होना उपपन्न नहीं होता । इसलिए आदित्य आदि की दृष्टि से ब्रह्म ही उपास्य होता है तो ऐसा नहीं है।

ब्रह्म की दृष्टि उत्कर्ष के कारण है आदित्य आदि की ही ब्रह्म की दृष्टि से उपासना करनी चाहिए न कि ब्रह्म की आदित्य की दृष्टि से उपासना युक्तिपूर्ण है । क्योंकि ब्रह्म आदित्य आदि से उत्कृष्ट है । उत्कृष्ट राजा में भृत्य की दृष्टि करना प्रत्यवाय के लिए होती है । भृत्य में तो राजा की दृष्टि करना अभ्युदय के लिए होती है ।

इसलिए प्रतीकों में परमात्मदृष्टि से उपासना होने पर भी उनमें अहंता के अभिमान का निषेध है ।

यह प्रतीकों में अहंत्व भावना के प्रतिषेध का अधिकरण हुआ ।

शंकरस्त्वत्र सूत्राभ्यामधिकरणद्वयं निरूपयति । तथाहि प्रतीकोपासनेषु उपासको न प्रतीकानां व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत् । प्रत्यगात्मन ईश्वरेणाभेदेऽपि प्रतीकैरभेदाभावात् ।

यत्तु प्रतीकानां ब्रह्मविकारतया ब्रह्मत्वाद् ब्रह्मणा च प्रत्यगात्मनोऽस्याभेदादभेदः

शक्यं वक्तुमिति कश्चिद्ब्रूयात् तदसत् । प्रतीकस्य विकारस्वरूपोपमर्द्देन ब्रह्मत्वे स्थिते न हि स प्रतीक इदानीमवशिष्यते येन तत्रात्मबुद्धिः स्यात् ।

ब्रह्म तु तदानीं तत्संपन्नम् । ब्रह्मणि त्वात्मग्रहः पूर्वाधिकरणे सिद्धान्तित एवेत्यविशेषः । प्रतीकस्य तु यावता प्रतीकत्वं नोपैति तावदत्रात्मग्रहः प्रतिषिध्यते ।

। इति प्रतीकप्रत्यगात्मैक्यभावनाप्रतिषेधाधिकरणम् ।

श्री शंकराचार्य तो यहां दो सूत्रों से दो अधिकरणों का निरूपण करते हैं। उनका कथन है कि—प्रतीकोपासना में उपासक व्यस्त या पृथक् पृथक् प्रतीकों को आत्मा के रूप में न समझे। जीवात्मा से ईश्वर के अभेद होने पर भी प्रतीकों के साथ वह अभिन्न नहीं हैं।

यदि कोई कहे कि प्रतीक ब्रह्म के विकार होने के कारण ब्रह्म है और ब्रह्म से जीवात्मा का अभेद है तो यह ठीक नहीं है, जब प्रतीक के विकार के स्वरूप के उपमर्द होने पर वहां ब्रह्मत्व स्थित हो गया तब वह अब प्रतीक रह ही नहीं गया जिससे कि वहां आत्मबुद्धि हो। वह तो उस स्थिति में ब्रह्म ही हो गया। ब्रह्म में तो आत्मभाव को पूर्व के अधिकरण में सिद्धान्त के रूप में बतला ही दिया गया है अतः यहां कोई विशेषता नहीं आती। प्रतीक मे तो जब तक प्रतीकता नहीं जाती तब तक वहां आत्मभाव का निषेध किया जाता है।

यह प्रतीक और जीवात्मा की ऐक्य भावना के प्रतिषेध का अधिकरण हुआ।

अथ प्रतीकेष्वेवाधिकरणान्तरमुच्यते। आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः प्राणो ब्रह्म विद्युद् ब्रह्म इत्यादिषु किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्या उत वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति-संशये नियम्यते।

ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु कार्य्या। उत्कृष्टाध्यासादादित्यादयोऽप्युत्कर्षेण दृष्टाः स्युः। उचिता च लोकप्रत्ययादुत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे। तस्मान्नादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मणि शास्त्रार्थः। न विष्णौ प्रतिमाबुद्धिरुपासना स्यादपि तु प्रतिमायां विष्णुबुद्धिकरणात् प्रतिमोपासनया विष्णूपासना कृता भवति।

। इति प्रतीकोपासनाधिकरणम् ।

अब प्रतीकों के विषय में दूसरा अधिकरण कहा जाता है।

"आदित्य ब्रह्म है यह आदेश है",

"प्राण ब्रह्म है",

"विद्युत् ब्रह्म है"

इत्यादि में क्या आदित्य आदि दृष्टियां ब्रह्म में अध्यवसित की जानी चाहिए अथवा ब्रह्मदृष्टि को आदित्य आदि में अध्यवसित करना चाहिए इस सन्देह पर यह नियम किया जाता है कि ब्रह्मदृष्टि को ही आदित्य आदि में करना चाहिए। उत्कृष्ट के अध्यास होने पर आदित्य आदि भी उत्कर्ष से देखे जा सकेंगे। लोक प्रत्यय के कारण में निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि उचित होती है।

इसलिए ब्रह्म में आदित्य आदि की दृष्टि रखना शास्त्र का तात्पर्य रूप अर्थ नहीं है। उपासना विष्णु में प्रतिमा की बुद्धि से नहीं होती अपितु प्रतिमा में विष्णु बुद्धि से होती है उस प्रतिमा की उपासना से विष्णु की उपासना सम्पन्न हो जाती है।

। यह प्रतीकोपासना का अधिकरण हुआ ।

आदित्यादीति सूत्रे च शंकररामानुजादयोऽधिकरणान्तरं पश्यन्ति ।

य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत (छा० १।२)

लोकेषु पंचविधं सामोपासीत (छा० २।२)

वाचि सप्तविधं सामोपासीत (छा० २।८)

इयमेवावर्गाग्निः साम (छा० ६।१)

इत्यादिष्वङ्गावरुद्धोपासनेषु किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्तेऽथवोद्गीथादिष्वादित्यादिदृष्टय इति संशयादनियमे प्राप्ते नियम्यते—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु प्रतिक्षिप्येरन् । तथैव कर्मसमृद्धेरुपपत्तेः ।

उद्गीथोपासनाप्रकरणे तत्रैव लोकवागादि बुद्धयोपासनाविधानोपपत्तेः ।

आदित्यादिदेवताराधनद्वारा कर्मणां फलसाधनत्वादादित्यादीनामेवोत्कृष्टतया निकृष्टे तदुत्कृष्टदृष्टेरेवौचित्योपपत्तेरित्याहुः । वस्तुतस्तु उद्गीथादिष्वादित्यादिदृष्टिविधानं शंकरादीनां साहसमात्रम् ।

तस्य सगुणोपासनारूपतया पूर्वपादोपनिवेशयोग्यत्वेऽप्यत्र निर्गुणोपासनाप्रकरणे तत्संनिवेशस्याप्राकरणिकत्वात् । श्रुत्यक्षरस्वारस्यविरोधाच्चासारविचारत्वाच्चेत्युपेक्ष्यते ।

। इत्युद्गीथादिप्रतीकेष्वादित्यादिप्रतीकदृष्ट्योपासनाधिकरणम् ।

। इति निर्गुणोपासनात्मकविद्यास्वरूपाधिकारः ।

'श्रादित्यात्' इस सूत्र में श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य ग्रादि दूसरा अधिकरण देखते हैं।

"जो यह तपता है, उस उद्गीथ की उपासना करे',

"लोक में पांच प्रकार के साम की उपासना करे",

"वाणी में सात प्रकार के साम की उपासना करे"

"यह अवर्ग अग्नि हो साम है"

इत्यादि उपासनाओं में क्या आदित्य आदि में उद्गीथ आदि दृष्टियों का विधान है अथवा उद्गीथ आदि में आदित्य आदि दृष्टि का विधान है इस संशय से अनियम प्राप्त होने पर नियम किया जाता है, आदित्य आदि बुद्धियां ही अङ्गभूत उद्गोथ आदि में को जानी चाहिए।

क्योंकि उसी से कर्म की समृद्धि को उपपत्ति होता है। उद्गीथ उपासना के प्रकरण में वहीं लोक वाक् आदि के उपासना के विधान की उपपत्ति होती है। आदित्य आदि देवता की आराधना के द्वारा कर्मों के फल साधनत्व से आदित्यादि को हो उत्कृष्टता के कारण निकृष्ट में हो उत्कृष्ट की बुद्धि का उपपत्ति होती है। वास्तव में तो उद्गीथ आदि में आदित्य आदि की दृष्टि का विधान श्रीशंकराचार्य आदि का साहसमात्र है। उसके सगुणोपासना रूप के कारण पूर्व के पाद में उपनिवेश के योग्य होने पर भी यहां निर्गुण उपासना के प्रकरण में उसके संनिवेश की प्राकरणिकता नहीं है। यहां श्रुति के अक्षरों का स्वारस्य भी नहीं है और यह विचार भी सारहान है, इसलिए इसका उपेक्षा की जाती है।

उद्गीथ आदि प्रतीकों में आदित्य आदि को प्रतीक दृष्टि से उपासना का यह अधिकरण हुआ

। यह निर्गुणोपासनात्मक विद्यास्वरूप का अधिकार हुआ ।

अथ उपासनोपचाराधिकारः

आसीनः संभवात् ।४।१।७।

ध्यानाच्च ।४।१।८।

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९।

स्मरन्ति च ।४।१।१०।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११।

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२।

न सम्यग्दर्शने तावदासनाद्यपेक्ष्यते । ज्ञानस्य वस्तुतन्त्रत्वात् । नापि कर्माङ्गोपासनेषु । कर्मतन्त्रत्वात् । तथापि इतरेषूपासनेषु तिष्ठन्नासीनः शयानो वेत्यनियमे प्राप्ते नियममाह—

आसीत एवोपासीत । समानप्रत्ययप्रवाहरूपस्योपासनस्यासीनेनैव संभवात् । गतिनिद्रादीनां चित्तविक्षेपकत्वात् ।

अपि च संततस्मृतिरूपं हीदमुपासनं ध्यानं नाम । तच्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्य्यते । तच्चासीने समञ्जसम् । अचलत्वं चापेक्ष्य ध्यानव्यपदेशो दृश्यते—

—"ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यान्तीव पर्वताः"—

इत्यादौ । अचलत्वं चासीनस्योपपद्यते । स्मरन्ति चासीनस्यैव ध्यानम्—

—"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये" । इति ।

दिग्देशकालानां तु नास्ति नियमः । यत्रैवास्य दिशि देशेकाले वा मनसः सौकर्य्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत ।

—"समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्"—

इति श्रुतौ देशादिनियमो मनोऽनुकूलविशेषणादेकाग्रतोपायाभिप्राय एवेति बोध्यम्।

एतच्चोपासनमामरणादनुवर्तनीयम्। तत्रापि हि मरणकाले संततस्मृतिरूपप्रत्ययानुवर्तनं दृष्टम्। स यावत् क्रतुरस्माल्लोकात् प्रैति"—

इत्यादौ। स विज्ञानो भवति। स विज्ञानमेवान्तवक्रामति यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति"—

इत्यादौ च। अपि चाप्रायणमुपासनं विहितं दृश्यते—

—"स खल्वेवं यावदायुषं वर्तयन् ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते"—इति।

। इति उपासनोपचाराधिकारे आसनध्याननिश्चलत्वैकाग्रत्वयावज्जीवनकर्तव्यत्वाधिकरणम्।

उपासनोपचार अधिकार

सम्यक् दर्शन में आसन आदि की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि ज्ञान वस्तु तन्त्र है। कर्माङ्गोपासनाओं में भी आसन आदि की अपेक्षा नहीं है, तथा अन्य उपासनाओं में बैठकर आसीन होकर लेटकर उपासनाओं के इन विकल्पों में अनियम के प्राप्त होने पर नियम होता है कि बैठकर ही उपासना करे। समान ध्यान या प्रत्यय के प्रवाह रूप उपासना में आसोन होकर या बैठकर ही उपासना का होना संभव है। गति और निद्रा आदि वहां चित्त के विक्षेपक होते हैं।

अपिच निरन्तर स्मृति रूप यह उपासना ध्यान होती है जिनके अङ्गों की चेष्टायें शिथिल हैं, जिनकी दृष्टि प्रतिष्ठित है, जिनकी एक ही विषय में आक्षिप्त हैं उनमें उपासनः का एक उपचार होता हैं। और वह बैठकर समञ्जस होता हैं। अचलत्व की अपेक्षा करके ध्यान का कथन देखा जाता है।

"मानों जैसे पृथिवी ध्यान करती है, अन्तरिक्ष ध्यान करता है, द्यौ ध्यान करती है, जल ध्यान करते हैं, पर्वत ध्यान करते हैं,—

इत्यादि में देखा जाता है। अचलता आसीन अवस्था में होती है। आसीन अवस्था में ही ध्यान को बतलाया गया है।

"पवित्र देश में अपने स्थिर आसन को प्रतिष्ठित करके जो न बहुत ऊंचा हो न बहुत नीचा हो, रेशमी वस्त्र, चर्म और कुशा जिसमें हो, उस आसन पर आसीन होकर अपने मन को एकाग्र करके अपने चित्त इन्द्रिय और क्रियाओं को संयत करके आसन पर बैठकर आत्मा की शुद्धि के लिए योग युक्त है।"

दिशा देवा और काल का नियम तो नहीं है। जिस किसी दिशा में देश और काल में उपासक के मन की सौकर्य से एकाग्रता होती है, वही उपासना करे।

"पवित्र सम प्रदेश हो, शर्कर, वह्नि, बालू से वर्जित हो, शब्द तथा तालाब आदि से वर्जित हो, जहां मन अनुकूल हो, जहां नेत्रों को पीड़ा न हो, निर्वात प्रदेश हो, वहां आसन लगाना चाहिए।"

इत्यादि श्रुति में देश आदि का नियम, मनोनुकूल इस विशेषण से एकाग्रता के उपाय के अभिप्राय से ही है यह समझना चाहिए। इस उपासना का मरण पर्यन्त अनुवर्तन करना चाहिए। वहां भी मरण काल में निरन्तर स्मृति रूपी विश्वास का अनुवर्तन देखा जाता है।

—"वह क्रतु पर्यन्त इस लोक से प्रस्थान करता है"—

वह विज्ञान होता है। वह विज्ञान का ही अनुक्रमण करता है, जैसा चित्त होता है वैसे ही यह प्राण को प्राप्त करता है। तेज से संयुक्त होकर प्राण यथा संकल्पित लोक को ले जाता है।"

इत्यादि वचनों में यह प्रतिपादन है। प्रयाण या मृत्यु तक उपासना का विधान देखा जाता है।

—"वह इस प्रकार आयुपर्यन्त व्यवहार करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है"—

उपासना उपचार अधिकार में आसन ध्यान निश्चलत्व एकाग्रत्व का यावज्जीवन कर्तव्यत्व का यह अधिकरण हुआ।

अथनिर्गुणोपासनाफलाधिकारः

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।
।४।१।१३।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४।

अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।४।१।१५।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६।

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।४।१।१७।

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ।४।१।१९।

अथ विद्याफलमुच्यते । ब्रह्मज्ञाने जाते सति पश्चात्क्रियमाणं पापं न श्लिष्यते पूर्वकृतं तु विनश्यति । तथाहि व्यपदिशति श्रुतिः—

—"यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन"—इति ।

—"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"—

इति च न केवलं पापस्यैवाश्लेषविनाशौ किन्तु इतरस्य पुण्यस्याप्येवमसंश्लेषो विनाशश्च भवतः ।

तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते इति ।

—"उभे उ हैवेश एतेन तरति"—

इति च सुकृतदुष्कृतयोरुभयोरेव प्रणाशव्यपदेशात् ।

—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"—

इति ज्ञानफलानि प्रदर्शयन्त्या श्रुत्या निर्विशेषं कर्ममात्रक्षयस्य दर्शितत्वाच्च ।

—"सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते"—

इत्यादि श्रुतौ च पाप्मशब्दः पापवत् पुण्येति प्रवर्तते। तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वात्। अयं त्वत्र विशेष उच्यते—

य एष पूर्वेषां पुण्यपापानामविशेषादिह नाश उक्तः स विदुषः शरीरपातानन्तरं द्रष्टव्यः। आशरीरपातं प्रारब्धकर्मणामनुपक्षयात्। अनारब्धकार्य्ये एव तु पुण्यपापे जन्मान्तरसंचिते ज्ञानोत्पत्तेः प्रागिहैव जन्मनि संचिते वा विद्यासामर्थ्यात् क्षीयेते नत्वारब्धकार्य्ये।

—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"—

इति शरीरपातावधेः श्रवणात्। अन्यथा हि ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव निरवशेषकर्मक्षये शरीरस्थितिहेत्वभावात् शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत। तस्मात् संचितानामागामिनां च कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिसमकालमेव नाशेपि प्रारब्धकर्मणां शरीरजात्यायुर्भोगस्थितिहेतुभूतानां भोगादेव नाशोपगमाच्छरीरपातानन्तरमेव मुक्तिरिति सिद्धम्।

निर्गुक्ष उपासना के फल का अधिकार

अब विद्या का फल कहा जाता है। ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर उसके अनन्तर किया हुआ पाप नहीं श्लिष्ट होता (नहीं चिपकता) उससे पहिले किया हुआ नष्ट हो जाता है। श्रुति कहती है—

—"जैसे पद्मपत्र पर जल का श्लेष नहीं होता वैसे ही ब्रह्म ज्ञान होने पर पाप से लिप्त नहीं होता, अतः उसी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।"

"जैसे तिनका या सई अग्नि में डालने पर भस्म हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानी के समस्त पाप विलीन हो जाते हैं।"

यह केवल पाप के ही संयोग के अभाव और विनाश की बात नहीं है, किन्तु उससे भिन्न पुण्य का भी श्लेष नही होता और पूर्व कृत का विनाश हो जाता है।

—"वह सुकृत और दुष्कृत का विधूनन कर देता है"—

—ऐसा कहा गया है।—

—"दोनों का ही इससे तरण करता है"—

इन वचनों से सुकृत और दुष्कृत दोनों के ही विनष्ट होने की बात कही गई है।

—"उस परावर को देख लेने पर द्रष्टा की हृदयग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं"—

इस प्रकार ज्ञान का फल दिखलाने वाली श्रुतियों के द्वारा बिना भेद किये कर्म मात्र का क्षय बतलाया गया है।

—"इससे समस्त पाप निवृत हो जाते हैं"—

इत्यादि श्रुति में पाप शब्द पुण्य में भी प्रवृत होता है। क्योंकि वह भी अपने फल देने का कारण होने से ज्ञान के फल का प्रतिबन्धक है। यहां विशेषता कही जाती है कि—

यहां जो पहिले के पुण्य और पाप का बिना विशेषता के नाश बतलाया गया है वह ज्ञानी के लिए शरीर के छूटने के उपरान्त होता है। शरीर के न छूटने तक प्रारब्ध कर्मों का उपक्षय नहीं होता अनारब्ध फल वाले ही जन्मान्तर के संचित पुण्य और पाप तथा ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व इसी जन्म में संचित पुण्य और पाप विद्या के सामर्थ्य से क्षीण होते हैं, न कि प्रारब्ध कार्य वाले कर्मों का नाश हो जाता है।

—"उसका उतना ही विलम्ब है जब तक वह विमुक्त नहीं होता"—

इस प्रकार इसकी अवधि शरीर पात तक सुनी जाती है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर हो समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने पर शरीर की स्थिति के कारण का ही अभाव हो जाने से शरीर पात की प्रतीक्षा की बात नहीं कही जाती। इसलिए संचित तथा आगामी कर्मों का ज्ञानोत्पत्ति के काल में ही नाश हो जाने पर भी शरीर जाति आयु भोग और स्थिति के कारण भूत प्रारब्ध कर्मों के भोग से ही नाश का प्रतिपादन होने से शरीर पात के अनन्तर ही मुक्ति होती है यह सिद्ध हुआ।

ननु विद्यायां कर्मक्षपणसामर्थ्यं वस्तुबलादस्ति वा नास्ति वा। अस्ति चेत् प्रारब्ध-कर्माण्यप्यवश्यं क्षपयेत्। नास्ति चेत् संचितागामिकर्माण्यपि न क्षपयेत्। समानं वस्तुबलं कथमिव कानिचित् क्षपयेत् कानिचिच्चोपेक्षेतेति चेत् तत्रोच्यते। न ज्ञानेन तावत् कर्मणां नाशोऽभिप्रेयते।

—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि-शतैरपी"—

ति भोगव्यतिरेकेण कर्मणाभक्षय्यत्वस्मरणात् । सतामेव तु कर्मणां सतीनामेव तु कर्मशक्तीनां विशुद्धज्ञानरूपे विदुषामात्मनिवृत्तिप्रतिबन्धाद् भोगानारम्भं ब्रूमः ।

—"बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।

ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सपद्यते पुनः—

—"इति स्मृतेः । स च भोगानारम्भाऽनारब्धकार्य्याणां संचितागामिनामेव संभवति । न त्वारब्धानां प्रवृत्तवेगानामनारम्भः शक्यते । तस्मात् प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः । संचितागामिनां तु प्रायश्चित्तेन बलवत्कर्मान्तरेण ज्ञानेन च नाश्यत्वमिति स्थितम् ।

ननु ज्ञानेन कर्मभोगप्रतिबन्धाभ्युपगमेऽपि नाभुक्तं क्षीयते कर्मेति स्मृतिविरोधस्तदवस्थ इति चेत् । सत्यम् ।

—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्"—

इति श्रुतेस्तेषां कर्मणां तत्सुहृद्दुर्हृदात्मसु भोगोपगमादविरोधात् । अन्यकृतकर्मणामन्येन भोगो नावकल्पते इनि चेन्न । दायलाभादीनां स्वतोत्पादकतादृशकर्मणामपि स्वकीयत्वोपगमादिति ।

तथा च विद्यायाः प्रारब्धातिरिक्तकर्मभोगप्रतिबन्धकत्वं तावत् सिद्धम् ।

प्रश्न होता है कि विद्या में कर्मों को नष्ट करने का सामर्थ्य वस्तुबल के कारण है या नहीं । यदि है तो वह प्रारब्ध कर्मों को भी अवश्य नष्ट करेगा । यदि नहीं है तो संचित और आगामी कर्मो का भी उससे नाश न हो सकेगा । जब वस्तुबल समान है तो वैसे कुछ कर्मों का क्षय करेगा और कुछ की उपेक्षा करेगा, इस प्रश्न पर उत्तर दिया जाता है कि ज्ञान से कर्म का नाश हो जाता है यह अभिप्राय नहीं है ।

—"किये हुए शुभ और अशुभ कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, सैकड़ो कल्प कोटियों से भी बिना भोग कराये कर्म का क्षय नहीं हो सकता"—

इस प्रकार के वचनों से भोग के बिना कर्म अक्षय रहते हैं यह स्मृतियों का कथन हैं । कर्मों के रहने पर ही, तथा कर्म शक्तियों के रहने पर ही विशुद्ध ज्ञान के रूप में ज्ञानियों की आत्मनिवृत्ति के प्रतिबन्ध से भोग का आरम्भ नहीं होता यही हमारा कथन हैं ।

—"अग्नि में जलाये हुए बीज जैसे पुनः नहीं फल देते उसी प्रकार ज्ञान से जला दिये गए क्लेशों से आत्मा संयुक्त नहीं होता"—

यह स्मृति वाक्य है। भोगों का यह अनारम्भ अनारब्ध फल वाले संचित या आगामी कर्मों का ही हो सकता है। जो आरब्ध हो चुके हैं, जिनका वेग प्रवृत्त है उनका अनारम्भ नहीं हो सकता।

इसलिए प्रारब्ध कर्मों का क्षय तो भोग से हीं होता है। संचित और आगामी कर्मों का तो प्रायश्चित्त के द्वारा, बलवान् दूसरे के द्वारा, तथा ज्ञात के द्वारा नष्ट होना बतलाया गया है।

पुनः प्रश्न होता है कि जब ज्ञान से कर्म के भोग का प्रतिबन्ध होना मान लिया तब भी—

–"भोग के बिना कर्म क्षीण नहीं होते"–

–इस स्मृति का विरोध तो वैसा हो रहा। तो यह सत्य है। –

–"उसके पुत्र दाय को प्राप्त करते हैं, मित्र अच्छे कार्यों को प्राप्त करते हैं, शत्रु पाप कृत्य को पाते हैं"–

इस श्रुति से उन कर्मों का मित्र तथा शत्रुओं के द्वारा भोग से उपराम होने के कारण विरोध नहीं रहता। अन्य के द्वारा किये हुए कर्मों का अन्य के द्वारा फल भोग नहीं हो सकता, यह शंका नहीं होती, दाय या उत्तराधिकार का लाभ आदि स्वंय के द्वारा उत्पादित वैसे कर्मों का भी स्वकीयत्व हो स्वीकार किया गया है। इस प्रकार विद्या का प्रारब्ध के अतिरिक्त कर्मों के भोग का प्रतिबन्धक होना सिद्ध हुआ।

अथ संचितागामिनापि न सर्वेषामविशेषाज्ज्ञाननाश्यत्वमुच्यते। ज्ञानप्रतिबन्धकानामेव लौकिकानां कर्मणां ज्ञाननाश्यत्वाभ्युपगमात्। अग्निहोत्रादि तु ज्ञानकार्य्यायैव भवति।

—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपनाऽनाशकेन"—

इति श्रुत्या यज्ञस्य ज्ञानोत्पादकत्वदर्शनात् तस्मान्नाग्निहोत्रादियज्ञकर्मापि ज्ञाननाश्यं किन्तु ज्ञानमुत्पाद्य मुक्ति साधयति।

ननु अग्निहौत्राद्येव तु शास्त्रविहितत्वात् पुण्य कर्म्मास्ति। तच्चेज्ज्ञाननाश्यं नास्ति तर्हि—

—"इतरस्याप्येवमसंश्लेष"—

इति पुण्यकर्मणो ज्ञाननाश्यत्वाख्यानं विरुध्यते इति चेत् तत्राह--

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्यैकेषां शाखिनां या फलमभिसंधाय क्रियते यथेदमिष्टमापूर्त्तं दत्तं वाऽन्यद्वा किमपि लौकिकं कर्म, तस्यैव ज्ञाननाश्यत्वं पूर्वोक्तं वेदितव्यमित्युभयोर्जैमिनिबादरायणयोः संप्रतिपन्नोऽर्थ इति शंकरः। पूर्वोत्तरयोः संचितागामिनोरुभयोरप्यवस्थयोर्ज्ञाननाश्यत्वमिति रामानुजः।

तथा च विद्याया यज्ञादिव्यतिरिक्तकर्मभोगप्रतिबन्धकत्वमित्येकं मतम्।

संचित तथा आगामी कर्म भी बिना किसी भेद के सारे ही ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हों ऐसा नहीं। ज्ञान के प्रतिबन्धक लौकिक कर्मों का ही ज्ञान से नष्ट होना माना गया है। अग्निहोत्र आदि तो ज्ञान के ही लिए होते हैं।

-"उसको वेदों के अनुवचन से, यज्ञ से, दान से अनाशक तप से ब्राह्मण जानना चाहते हैं"-

इस श्रुति के द्वारा यज्ञ को ज्ञान का उत्पादक बतलाया गया है। इसलिए अग्निहोत्र आदि यज्ञ कर्म भी ज्ञान के द्वारा नष्ट होते हैं, अपितु ज्ञान को उत्पन्न करके मुक्ति को सिद्ध करते हैं। पुनः प्रश्न होता है कि अग्निहोत्र आदि ही तो शास्त्र के द्वारा विहित होने के कारण पुण्य कर्म हैं, यदि वे ज्ञान से नष्ट नहीं होते तो-

-"अन्यों का भी इस प्रकार असंश्लेष होता है"-

इस कथन से जो पुण्य कर्मों को ज्ञान से नष्ट होने वाला बतलाया गया, वह विरुद्ध हो जायगा इस पर यह कहा जाता है कि अग्निहोत्र के अतिरिक्त भी कुछ शाखाओं में साधुकृत्यों का विधान है जो फल की इच्छा से किये जाते हैं, जैसे इष्टापूर्त, दान, या अन्य भी लौकिक कर्म हैं, उसी को पूर्वोक्त रूप से ज्ञान से नष्ट होने वाला समझना चाहिए यह जैमिनि और बादरायण दोनों के द्वारा स्वीकृत अर्थ है, यह श्री शंकराचार्य का कथन है। श्री रामानुजाचार्य तो संचित और आगामी, पूर्व और उत्तर अवस्था के सभी कर्म ज्ञान के द्वारा नष्ट किये जाते हैं ऐसा मानते हैं। इस प्रकार विद्या यज्ञ आदि के अतिरिक्त कर्मों के भोग का प्रतिबन्ध करती है, यह एक मत हुआ।

परे त्वेतत्सूत्रमन्यथा व्याचक्षते। याऽग्निहोत्रादिक्रिया ज्ञानोत्पादिका भवति अतोऽन्याप्यग्निहोत्रादिक्रियास्ति या ज्ञानं नोत्पादयति। तथाहि द्विविधं ह्येतदस्ति यज्ञकर्म। विद्यासंयुक्तं केवलं चेति।

—"य एवं विद्वान् यजति, य एवं विद्वान् जुहोति, य एवं विद्वान् शंसति, य एवं विद्वानुद्गायति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत"—

इत्यादिश्रुतिभ्यो विदुषा क्रियमाणत्वात् विद्यासंयुक्तं तदुपपद्यते ।

"तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद"

इति छान्दोग्येश्रुतेस्त्वविदुषापि क्रियमाणो यज्ञः फलाय संपद्यते एवेति तादृशं यज्ञादिकर्मजातं विद्यासंयोगाभावात् केवलमुच्यते ।

तत्र विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादियज्ञकर्मणो ज्ञानोत्पादकतया स्वसंयुक्तकर्मातिरिक्तकर्ममात्रनाशकत्वादितरसर्वकर्मक्षये जाते केवलं यज्ञकर्मप्रभावाद्देवलोकेषु भोगान् भुक्त्वा तस्यापि कर्मणो नाशोत्तरं ज्ञानान्मुक्ता भवन्ति सा क्रममुक्तिर्नाम ।

तथा च विद्यासंयुक्तयज्ञादिकर्मणां विद्योत्पादनद्वारा मुक्तिजनकत्वं स्थितम् । अथ यत्पुनर्विद्यानिरपेक्षमग्निहोत्रादि यज्ञकर्मास्ति तदितरकर्मवज्ज्ञाननाश्यं भवत्येव । ज्ञानानुत्पत्तौ तु तादृशाद्यज्ञकर्मणो देवलोकेषु पितृलोकेषु वा भोगसिद्ध्यनन्तरं पुनरावृत्त्या जन्मोपपत्तिरित्याहुः ।

तथा च विद्याविधुरयज्ञादिकर्मणां स्वर्गभोगजनकत्वं पुनरावर्तकत्वं च स्थितम् । तथा च विद्याया विद्यासंयुक्तयज्ञादिव्यतिरिक्तकर्मभोगप्रतिबन्धकत्वमित्यपरं मतम् । तद्युक्तमिति बहवः ।

अन्य आचार्य तो इस सूत्र को दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हैं । जो अग्निहोत्र आदि क्रिया ज्ञान को उत्पन्न करने वाली है, उससे भिन्न भी अग्निहोत्र की क्रिया है जो ज्ञान को उत्पन्न नहीं करती । इस प्रकार यह यज्ञ कार्य दो प्रकार का है, एक विद्या से संयुक्त है और दूसरा केवल है ।—

—"जो ऐसा जानकर हवन करता है"—

इत्यादि श्रुति के द्वारा विद्वान् के द्वारा किये जाने पर वह विद्या से संयुक्त होता है ।

– "इसलिए दोनों करते हैं, जो इसको इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता"—

इस छान्दोग्य श्रुति से बिना जानकार या अविद्वान् के द्वारा किया हुआ कर्म भी फल को देने वाला होता है इसलिए ऐसे कर्म विद्या के संयोग के अभाव में केवल कहे जाते

हैं। वहां विद्या से संयुक्त अग्निहोत्र आदि यज्ञकर्म के ज्ञान का उत्पादक होने से अपने से संयुक्त कर्म के अतिरिक्त सभी कर्मों के नाशक होने से अन्य सभी कर्मों के क्षीण हो जाने पर केवल यज्ञ कर्म के प्रभाव से देवलोक में भोगों का भोग करके उस कर्म के भी नाश के अनन्तर ज्ञान से मुक्त हो जाते हैं, वह क्रम मुक्ति है। इस प्रकार विद्या से संयुक्त यज्ञ आदि कर्मों का विद्या के उत्पादन द्वारा मुक्ति का जनक होना सिद्ध होता है। अब जो विद्या से निरपेक्ष अग्निहोत्र आदि यज्ञ कर्म हैं वे तो अन्य कर्मों की तरह ज्ञान के द्वारा नष्ट होते ही हैं। ज्ञान के उत्पन्न न होने पर तो उस यज्ञ कर्म से देवलोक या पितृलोक में भोगसिद्धि के अनन्तर पुनरावृत्ति से जन्म मिलता ही है। इस प्रकार विद्या से रहित यज्ञ आदि कर्मों का स्वर्ग के भोग का जनक होना तथा वहां से पुनरावर्तन होना सिद्ध होता है। इस प्रकार विद्या के द्वारा विद्या से संयुक्त यज्ञ आदि से भिन्न कर्मों के भोग का प्रतिबन्ध कर दिया जाता है यह दूसरा मत है। यह मत ठीक है ऐसा बहुतों का मानना है।

एकेषां तु मते यद्विद्यासंयुक्तं यच्च केवलं तयोरुभयोरपि ज्ञानकार्य्यत्वमिष्यते।

—"नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"—

इति हि श्रुतौ विद्यासंयुक्तस्य वीर्य्यवत्तरत्वाख्यानादितरस्य विद्याविहितस्य स्वप्रयोजनं प्रतिवीर्य्यवत्त्वं दर्श्यते।

तस्माद्बलमान्द्येपि ज्ञानोत्पादकत्वं सर्वथा नापोद्यते इति विद्यासंयुक्तविद्याविहीनयोरुभयविधयोरपि यज्ञयोर्ज्ञानोत्पादकत्वान्मुक्तिसाधनत्वमस्त्येवेत्येकेषां मतम्। शंकरस्वामी चैतन्मतपक्षपाती।

वस्तुतस्तु—

—अमृतत्वस्य नाशास्ति"—

इति वाजसनेयश्रुत्याऽग्निचयनातिरिक्तानां यज्ञानां देवलोकेषु पितृलोकेषु वा सर्वभोगप्राकाम्यसम्पादकत्वेऽपि मोक्षप्रयोजकत्वं नास्तीति विद्याविहीनयज्ञानां पितृलोकभोगसाधकानामितरकर्मवज्ज्ञाननाश्यत्वमेवोपपद्यते। विद्यासंयुक्तयज्ञानां तु कर्मावच्छेदेन देवलोकीयदिव्यभोगप्रयोजकत्वेऽपि विद्यावच्छेदेन मोक्षप्रयोजकत्वात् कर्मभोगानन्तरं मुक्तिर्भवतीत्यभिप्रायेणैवात्राग्निहोत्रादीनां ज्ञानकार्य्यत्वमाख्यायते।

तच्च विद्यासंयुक्तानामेवास्थेयं न तु विद्याविहीनानामिति सिद्धम्।

यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरमिति श्रुतिश्च विद्यासंयुक्तस्य भोगमोक्षो-

भयसाधकत्वाद् वीर्य्यवत्तरत्वं ब्रुवन्ती विद्याविहीनस्य केवलभोगसाधकत्वादल्पवीर्य्यत्वं दर्शयति।

अपि चाहुः—

यज्ञोऽप्ययमाकाशादित्यादिवद् ब्रह्मरूपतया ब्रह्मगुणः। तद्विद्याया अपि सगुणविद्यात्वात् ततस्तत्फलभूतसर्वैश्वर्य्यप्राकाम्यलक्षणाऽवरमुक्तिः संभवतीत्यविसंवादः।

इत्थं च विद्यासंयुक्तयज्ञातिरिक्तानां कर्मणामनारब्धकार्य्यत्वे एव ज्ञाननाश्यत्वमित्युक्ते प्रारब्धकर्मणामनुपक्षयाद्विद्यावतामपि मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्कां परिहर्तुमाह—

भोगेन त्वितरे आरब्धकार्य्ये पुण्यपापे क्षमयित्वा ब्रह्म संपद्यते। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये इति श्रुतेः।

। इति विद्यानाश्यकर्मभिदाधिकरणम्।

। इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादः।

[निर्गुणोपासनापादः]

कुछ मत ऐसा है कि जो कर्म विद्या से संयुक्त हैं और दूसरे जिन्हें केवल कहा गया है, वे दोनों ही ज्ञान के कार्य हैं, यह मानना अभीष्ट है।

विद्या और अविद्या नाना है, जो कुछ विद्या वा ज्ञानपूर्वक किया जाता है, श्रद्धा और उपनिषद् से किया जाता है वह अधिक शक्तिशाली होता है"—

इस श्रुति में विद्या से संयुक्त को अधिकबलशाली (वीर्यवत्तर) कहने से इतर का अपने प्रयोजन के प्रति वीर्यवत्त्व दिखलाया गया है। इसलिए कम शक्तिशाली होने पर भी ज्ञान की उत्पादकता उसमें सर्वथा नहीं हटायी जाती इसलिएविद्या से संयुक्त और विद्या से विहीन दोनों ही यज्ञों की ज्ञान के उत्पादक होने से मुक्ति की सार्थकता है ही यह कुछ का मत है। श्रीशंकराचार्य इस मत के पक्षपाती हैं।

वास्तव में तो –

—"अमृतत्व की आशा तो नहीं है"—

इस वाजसनेय श्रुति के द्वारा अग्निचयन के अतिरिक्त यज्ञों के देवलोक या पितृलोकों में सब प्रकार के भोगों के समर्पण करने वाले होने पर भी वे मोक्ष के देने वाले

नहीं है, अतः विद्या से विहीन यज्ञों का, जो पितृलोक के भोगसाधक हैं, उनका अन्य कर्मों की तरह ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया जाना ही युक्तियुक्त है। विद्या से संयुक्त यज्ञ तो कर्म की सीमा के कारण देवलोक के दिव्य भोगों के प्रयोजक होने पर भी विद्या के प्रभाव से मोक्ष का प्रयोजक होते हैं, इस कारण कर्म के भोग के अनन्तर मुक्ति होती है इस अभिप्राय से ही अग्निहोत्र आदि को ज्ञान का कार्य होना बतलाया गया है और वह विद्या से संयुक्त होने पर ही होता है, न कि विद्या से विहीन होने पर भी, यह सिद्ध हुआ—

"जो कुछ विद्यापूर्वक किया जाता है वह वीर्यवत्तर होता है"

यह श्रुति भोग और मोक्ष दोनों का साधक होने से उनको अधिक शक्तिशाली कहती हुई, विद्या से विहीन कर्मों को केवल भोग साधक होने के कारण अल्पशक्ति वाला बतला रही है।

पुनश्च कहा है—

यह यज्ञ भी आकाश, आदित्य आदि के समान ब्रह्म का रूप होने से ब्रह्म का गुण है। उसको विद्या भी सगुण विद्या होने से उसके फलभूत सर्वैश्वर्य प्राकाम्य स्वरूप वाली अवर मुक्ति हो सकती है यहां कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार विद्या से संयुक्त यज्ञ से अतिरिक्त कर्मों का अनारब्ध फल वाला होने पर ही ज्ञान के द्वारा नष्ट होना सिद्ध होता है।

ऐसा कहने पर प्रारब्ध कर्मों के उपक्षीण न होने से विद्यावान् को भी मुक्ति नहीं होगी, इस आशङ्का को मिटाने के लिए कहा गया है कि—

"भोग के द्वारा अन्य प्रारब्ध कर्म पुण्य और पाप को क्षीण कर ब्रह्म के रूप में सम्पन्न होता है।

"उसका उतना ही विलम्ब है जब तक मोक्ष नहीं होता।"

यह श्रुति इस अर्थ को प्रकट करती है—

। विद्यानाश्य कर्मभेद का यह अधिकरण हुआ।

यह चतुर्थ अध्याय का प्रथमपाद पूर्ण हुआ।

अथ उत्क्रान्तिपादः प्रारभ्यते

अथोत्क्रान्तिक्रमाधिकारः

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१।

अत एव च सर्वाण्यनु ।४।२।२।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३।

सोऽध्यक्ष्ये तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।४।२।५।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।४।२।६।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।४।२।७।

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।४।२।८।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।९।

नोपमर्देनातः ।४।२।१०।

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ।४।२।११।

प्रतिषेधादिति चेन्न, शारीरात् ।४।२।१२।

स्पष्टो ह्येकेषाम् ।४।२।१३।

स्मर्य्यंते च ।४।२।१४।

तानि परे तथा ह्याह ।४।२।१५।

अविभागो वचनात् ।४।२।१६।

शरीरादात्मनो बहिर्भाव उत्क्रान्तिः । उत्क्रान्तस्यात्मनो बहिः प्रदेशान्तरे गन्तुं मार्गविशेषाश्रयणं गतिः । एतदुभयं प्रयाणमुच्यते । तत्रादावुत्क्रान्तिक्रमो व्याख्यायते ।

प्राणोत्क्रमणकाले वागिन्द्रियं तावन्मनसि संपद्यते। विजानतोपि भाषणसामर्थ्यो-पक्षयदर्शनात्। वागिन्द्रियोपरामेऽपि मनःप्रवृत्तिदर्शनात्—

—अस्य सौम्यपुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते। मनः प्राणे। प्राणस्तेजसि। तेजः परस्यां देवतायाम्"—

इति श्रुतिवाक्याच्च। अत्र वाग्वृत्तिर्मनसि लीयते न तु वृत्तिमत्या वाचःस्वरूपं। यथा गार्ग्यर्कमरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वैतत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति।

स यदा तेजसाभिभूतो भवति अत्रैष देवःस्वप्नान्न पश्यति तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति। स यथा वयांसि वासोवृक्षं संतिष्ठन्ते एवं हवैतत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते। एष विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते।

इति श्रुतो निद्रावस्थायां वृत्तिलोप एवाभिप्रेयते एवमिहापि श्रुतौ सूत्रे च वाक् शब्दस्य वाग्वृत्यभिप्रायत्वादिति शंकरो व्याचष्टे।

रामानुजस्त्वाह। वाक्छब्दस्य वाग्वृत्तिपरत्वमन्याय्यम्। श्रुतिसूत्राक्षरस्वारस्यविरोधात्। तस्माद्वागिन्द्रियस्यैवोपसंहारो न्याय्यः। अत एव च वागिन्द्रियोपसंहारात् क्रमेण सर्वाण्येवेन्द्रियाणि वाचमेवानुगच्छन्ति मनसः सर्वेन्द्रियार्थहरत्वात् सर्वाण्येवेन्द्रियाणि मनसि संपद्यन्ते इत्यर्थः।

तदानीं श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणादीन्यपि सर्वाण्युपरमन्ते। केवलमस्मीत्यन्तर्बोधमात्रमवशिष्यते। अथैतन्मनोपि पश्चात् प्राणे पञ्चवृत्तिके निश्वासोच्छ्वासमात्रे संपद्यते।

मनः प्राणे इत्युत्तराच्छ्रुतिवाक्यात्। स पुनः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते। प्राणवृत्तेस्तत्प्रधानत्वात्।

उत्क्रान्तिपाद का प्रारम्भ

उत्क्रान्ति क्रम का अधिकार

शरीर से आत्मा का बाहर होना उत्क्रान्ति कहलाती है। उत्क्रान्त होने वाले

आत्मा का अन्य प्रदेश में जाने के लिऐ विशेष मार्ग का आश्रय लेना गति कहलाता है। उन दोनों को प्रयाण कहा जाता है।

वहां पहिले उत्क्रान्ति क्रम की व्याख्या की जाती है। प्राण के उत्क्रमण काल में वाक् इन्द्रिय मन में समाविष्ट हो जाती हैं। उस समय जानते हुए भी देखा जाता है कि भाषण का सामर्थ्य नहीं रहता, तथा बोलने का सामर्थ्य नहीं होने पर भी मन की प्रवृत्ति रहती है—

"हे सौम्य, प्रयाण करने वाले इस पुरुष की वाणी मन में समाविष्ट हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज परदेवता में लीन हो जाता है।

यह श्रुतिवाक्य भी इस ओर संकेत करता है। यहां वाणी का व्यवहार या उसकी वृत्ति का मन में लय होता है, न कि व्यवहार या वृत्ति वाली वाणी का स्वरूप विलीन होता है—

"जैसे अस्त होने वाले सूर्य की किरणें इस तेजोमण्डल में एकत्रित हो जाती हैं, सूर्य के उदय होने पर वे पुनः फैलती हैं, इसी प्रकार प्रयाण काल में समस्त वृत्तियाँ परदेव मन में एक हो जाती हैं।

इसी कारण उस समय यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्दित होता है, न छोड़ता है, न सोता है, प्राणाग्नियां इस पुर में जागती हैं।

यहां यह देव स्वप्न में महिमा का अनुभव करता है। वह जब तेज से अभिभूत होता है तब यह देव स्वप्न नहीं देखता। तब इस शरीर में यह सुख होता है।

जैसे पक्षी अपने निवास स्थान वृक्ष पर जाते हैं वैसे यह सब पर आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं। वह पर अक्षर को ही प्राप्त करते हैं।"

इस श्रुति में निद्रावस्था में वृत्ति का लोप होने का ही अभिप्राय है, इसी प्रकार यहाँ भी श्रुति तथा सूत्र में वाक् शब्द वाक् वृत्ति से ही अभिप्राय है। यह श्री शंकराचार्य का कथन है।

श्रीरामानुजाचार्य का कथन तो यह है कि वाक् शब्द को वाक् वृत्ति कहना अन्याय है। ऐसा मानने में श्रुति वचन और सूत्र के अक्षरों के अभिप्राय का विरोध होता है।

इसलिए वाक् इन्द्रिय का ही उपसंहार होता है यह अर्थ ही संगत है। इसलिए वाक् इन्द्रिय का उपसंहार होने के क्रम से समस्त इन्द्रियां वाणी में ही चली जातीं हैं, मन समस्त इन्द्रियों को आधे भाग का हरण करता है इसलिए समस्त इन्द्रियाँ मन में उपसंहृत हो जातीं है।

यह तात्पर्य है। उस समय कान, स्पर्श, नेत्र, जिह्वा, प्राधाण आदि का भी उपराम हो जाता है। केवल "मैं हूं" ऐसा आन्तरिक बोध मात्र अवशिष्ट रह जाता है। बाद में यह मन भी पांचवृत्तियों वाले प्राण में निःश्वास और उच्छ्वास मात्र में सम्पन्न हो जाता है। 'मन प्राण में जाता है'।

इस आगे के श्रुति वाक्य का यही अभिप्राय है। और वह प्राण अविद्या कर्म पूर्व प्रज्ञा उपाधि वाले देह और इन्द्रियों के पिंजरे के स्वामी विज्ञानात्मा में स्थित होता है। क्योंकि प्राणवृत्ति में उसी की प्रधानता है।

ननु श्रुतौ तावन्मनः प्राणे प्राणस्तेजसीत्येवं क्रमो दृश्यते। तत्कथमस्य प्राणस्य तेजसि संबन्धमनुक्त्वाऽध्यक्षे संबन्धमाहेति चेत्। तदुपगमादिभ्य इति ब्रूमः।

"—एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति"—

इति श्रुत्यन्तरे सर्वेषां प्राणानामध्यक्षोपगामित्वं श्रूयते। अपि च—

—"स यत्रायमात्माऽबल्यं नेत्य संमोहमिवन्वेति—अथैन मेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। स यत्रैष चाक्षषः पुरुषः पराङ् पर्य्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति—

एकीभवति न पश्यतीत्याहुः। एकीभवति न जिघ्रतीत्याहुः। एकीभवति न रसयत इत्याहुः। एकीभवति न वदतीत्याहुः। एकीभवति न शृणोतीत्याहुः एकीभवति न मनुत इत्याहुः। एकीभवति न स्पृशतीत्याहुः। एकीभवति न विजानातीत्याहुः।

तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नोवाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।

तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति। स विज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च"—

इति श्रुतौ स विज्ञानो भवतीति वदन्नध्यक्षप्राणस्यान्तर्विज्ञानत्वं दर्शयति । तमुत्क्रामन्तमित्यादि चाचक्षाणः प्राणस्य पञ्चवृत्तेस्तदध्यक्षानुगामितां तदनुवृत्तिनां चेतरेषामिन्द्रियप्राणानामुपदर्शयति । तस्माच्छ्रुत्यन्तरप्रामाण्यात् प्राणोऽध्यक्षेऽध्यक्षस्तेजसीत्येवमत्र श्रुतावधिकावापस्यौचित्यात् तेजोऽनुप्रवेशतः प्राक् प्राणस्याध्यक्षेऽनुप्रवेशोऽभ्युपगम्यते ।

तस्य च तेजस्यनुप्रवेशो द्रष्टव्यः न केवलं तेजस्येव किन्तु प्राणस्तेजसीत्यत एव श्रुतेः तेजःसहचरितेषु देहबीजरूपेषु सर्वेष्वेव सूक्ष्मभूतेष्वनुप्रवेशोऽभ्युपगम्यते ।

तेजःशब्दस्य भूतोपलक्षकत्वात् । ननु एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान"—

इति श्रुत्यन्तरेऽपि तेजस एवाख्यानादिहापि श्रुतौ तेजस्येवैकस्मिन् प्रवेशोऽभ्युपगन्तव्य इति चेन्न तदस्ति । नैकस्मिन् तेजस्येवानुप्रवेशो मन्तव्यः । शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनादेकेनैव तेजसा शरीरान्तरारम्भासंभवात् । दर्शयतश्चैतमर्थमुद्दालकजैवलीये प्रश्नप्रतिवचने ।

—"आपः पुरुषवचस" –

इत्यत्रापां भूतमात्रोपलक्षकत्वस्य—

—"आत्मकत्वात्तु भूयस्त्वाद्"—

इति सूत्रे व्याख्यातत्वात् । श्रुतिस्मृति चैतमर्थं दर्शयतः ।

—स वा अयमात्मा पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजौमयोऽतेजोमय इत्यादिश्रुतेः ।

—अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः । ताभि सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः (मनु १।२७) इति स्मृतेश्च ।

तथा च प्राणान् प्राणं भूतमाश्च समभ्याददान आत्मा हृदयाग्रप्रद्योतेन शरीरादुत्क्रामतीत्युत्क्रान्तिक्रमः सिद्धः ।

। इतीन्द्रियमनः प्राणभूतमात्रासंकलितविज्ञानोत्क्रमणाधिकरणम् ।

प्रश्न होता है कि श्रुति में मन प्राण में, प्राण तेज में इस प्रकार का क्रम दिखाई देता है ।

तब प्राण का तेज से सम्बन्ध न बतला कर अध्यक्ष के साथ कैसे सम्बन्ध बतलाया गया। इस प्रश्न पर—

"उसके उपगम आदि के कारण"

यह उत्तर दिया जाता है।

'इसी प्रकार ये सभी प्राण अनाकाल में अभिसमाहित होते हैं,

जहां यह ऊपर श्वास लेने वाला होता है"। इस अन्य श्रुति में सभी प्राणों का अध्यक्ष का उपगामी होना सुना जाता हैं। अपि च—

"स यत्रायमात्मा से लेकर "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाच"

यहां तक के श्रुति वाक्य में वह विज्ञान होता है ऐसा कहते हुए अध्यक्ष प्राण का अन्तर्विज्ञानत्व दिखाया गया है।

"तमुत्क्रामन्तं"

इत्यादि कहते हुए पांचवृत्तियों वाले प्राण का उसके अध्यक्ष का अनुगामी होना तथा अन्य इन्द्रिय प्राणों का उसकी अनुवृत्ति करना बतलाया गया हैं।

इसलिए अन्य श्रुति के प्रामाण्य से प्राण अध्यक्ष में, अध्यक्ष तेज में, इस प्रकार श्रुति के आधार पर तेज के सहचारी देह के बीज रूप सभी सूक्ष्म भूतों में अनुप्रवेश होना अभिप्रेत हैं। क्योंकि तेज शब्द समस्त भूतों का उपलक्षक है। प्रश्न होता है—

इन तेज की मात्राओं को ग्रहण करता हुआ'

इस अन्य श्रुतिवाक्य में भी तेज का ही कथन होने से यहां भी श्रुति में एक तेज में ही प्रवेश करना मानना चाहिए तो ऐसा नहीं है। केवल तेज में ही सबका अनुप्रवेश होता है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। शरीर में अनेक तत्त्वों के होने से एक ही तेज के द्वारा दूसरे शरीर का आरम्भ करना असम्भव है। उद्दालक और जैवलीय के प्रश्नोत्तर में यह अर्थ दिखाई देता है।

"आप पुरुष रूप होते हैं"

यहां "अप्' शब्द समस्त भूतों का उपलक्षक है यह—

—"आत्मक त्वात्तु भूयस्त्वात्"

इस सूत्र के व्याख्यान में स्पष्ट हुआ है। श्रुति और और स्मृति इस अर्थ को बतला रहा हैं।

"यह आत्मा पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय अतेजोमय है"

इत्यादि श्रुतिवाक्य इस अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं—

"दशार्ध की जो अणु मात्राएं हैं वे विनाशिनी हैं, उनके साथ यह सब क्रम से उत्पन्न होता है"

यह स्मृति वचन है। इस प्रकार प्राणों तथा भूत मात्राओं को लेता हुआ आत्मा हृदय के अग्रभाग से शरीर से उत्क्रमण करता है यह उत्क्रान्ति का क्रम सिद्ध होता है।

। यह इन्द्रिय मनप्राणभूतमात्रा से संकलित विज्ञान के उत्क्रमण का अधिकरण हुआ।

समाना चैषोत्क्रान्तिर्विदुषश्चासृत्युपक्रमाद् भवति सृत्युपक्रमो नाडीविशेषानुप्रवेशरूपं मार्गानुसरणम्।

तत्र विदुषामूर्द्ध्वनाड्या शुक्लमार्गेण चाविदुषामधोनाडीभिः कृष्णमार्गेण च गमनस्य व्यवस्थानात् तत्रोभयोर्भेदेऽपि ततः प्रागुत्क्रान्तिक्रमे विद्वदविदुषोर्भेदो नास्ति। अविशेषश्रवणात्।

ननु विदुषा तावदमृतत्वं मोक्षापरनामकं प्राप्तव्यं न च तद्देशान्तरायत्तमिति विदुषो नास्त्येव सृत्युपक्रमो न वोत्क्रान्तिरपि प्रतिपद्यते।

—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतेरितिचेत् सत्यम्। द्विविधं ह्येतदमृतत्वम्। आत्यन्तिकं चापेक्षिकं च। तत्र निर्गुणविद्यायामात्यन्तिकं भवतीति सृत्युपक्रमश्चोत्क्रान्तिश्च तत्र नापेक्ष्येते।

—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुत्या समवलये गत्युत्क्रान्त्योरुभयोः प्रत्याख्यानात्। सगुणविद्यायां त्वविद्यादयः क्लेशा नात्यन्तं निवर्तन्ते इति विद्यासमुच्चितकर्मणा देवयानं पन्थानमासाद्य देवलोकानारुह्य तत्र भोगान् भुक्त्वा क्रममुक्तिं गच्छन्ति पुनर्वा निवर्तन्ते इति हि द्विविधा स्थितिर्भवति।

तथा च तत्र देवलोकेषु भोगान् भुक्त्वैवामृतत्वं लभते इति देवलोकेषु गत्यर्थमुत्क्रान्तिः सृत्युपक्रमश्चापेक्ष्येते। अभोग उपवासोऽनुपवासस्तु भोगः। रामानुजस्तु अनु-

पोष्येत्यस्य शरीरेन्द्रियादिसंबन्धमदग्ध्वा उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशरूपममृतत्वं प्राप्यते इत्यर्थमाह ।

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते"—

इति श्रुतेरुपासनवेलायां ब्रह्मानुभवरूपस्यामृतत्वस्य तदभिप्रेतत्वात् । शंकरस्त्वनु-पोष्येत्यस्य क्लेशानविद्यादीनत्यन्तमदग्ध्वैवापरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकेममृतत्वं प्रेप्स्यते इत्यर्थमाह ।

सर्वथापि तत्रोत्क्रान्तिः सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं चोपपद्यन्ते इति सिद्धम् ।

। इति विद्वदविद्वत्साधारणोत्क्रमाधिकरणम् ।

सृति के उपक्रम तक यह उत्क्रान्ति ज्ञानी और अज्ञानी की समानरूप से होती है । सृति के उपक्रम का तात्पर्य है नाडी विशेष में अनुप्रवेश रूप मार्ग का अनुसरण वहां ज्ञानियों की गति उर्ध्व नाडी से शुक्लमार्ग के द्वारा होती है और अज्ञानी की अघोनाडी से कृष्ण मार्ग के द्वारा गमन के व्यवस्थित होने से वहां उनके भेद होने पर भी वहां से पहिले उत्क्रमण के क्रम में ज्ञानी और अज्ञानी में भेद नहीं माना जाता । क्योंकि उसमें भेद के अभाव का स्मरण है ।

सन्देह होता है कि विद्वान् या ज्ञानी का प्राप्तव्य तो मोक्ष नामका अमृत स्थान है और वह किसी अन्य देश के अधिकार में नहीं है इसलिए ज्ञाना के लिए सृति का उपक्रम और उत्क्रमण अपेक्षित नहीं होते—

"उके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता"

यह श्रुति वचन इसका समर्थक है, तो यह कथन सत्य है, यह अमृतत्व दो प्रकार का है, एक है आत्यन्तिक, दूसरा है आपेक्षिका ।।निर्गुणविद्या में आत्यन्तिक अमृतत्व होता है इसलिए सृति उपक्रम तथा उत्क्रमण वहां अपेक्षित नहीं होते—

—"उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता"

इस श्रुति से ज्ञानी के लय में गति और उत्क्रमण दोनों का प्रत्याख्यान किया गया है । सगुण विद्या में तो अविद्या आदि क्लेश पूर्णतया निवृत्त नहीं होते इसलिए विद्या के द्वारा एकत्रित या सम्पादित कर्मों से देवयान मार्ग को पकडकर देवलोक में आरोहण

करके वहां भोगों को भोगकर क्रम मुक्ति को प्राप्त करते हैं या वहां से लौटते हैं, ये दो स्थितियां होती है।

देवलोक में भोगों को प्राप्त करके ही अमृतत्व का लाभ लेते हैं इसलिए देवलोक में जाने के लिए उत्क्रान्ति और सृति का उपक्रम उपेक्षित होता है। अभोग का अर्थ है उपवास, अनुपवास का अर्थ है भोग।

श्री रामानुजाचार्य तो 'अनुपोष्य' का अर्थ शरीर आदि के सम्बन्ध के नष्ट न करके पहिले और बाद के पाप कर्मों के असंयोग और विनाशरूप अमृत्व को वह प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ करते हैं।

"जब इसके हृदय स्थित सारे काम छूट जाते है, तब मर्त्य अमृत हो जाता है, वह यहां ब्रह्म का अनुभव करता है"

इस श्रुति से उपासना काल में ब्रह्म के अनुभवरूपी अमृतत्व से उसका अभिप्राय है, सभी प्रकार से उस अवस्था में उत्क्रान्ति, सृति का उपक्रम और भूतों का आश्रयत्व उपपन्न होता है यह सिद्ध हुआ।

। यह ज्ञानी और अज्ञानी के लिए समान रूप से उत्क्रमण का अधिकरण हुआ।

तदित्थं साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं चेदं तेजः परस्यां संपद्यते। इत्युत्क्रान्तस्य गत्युपसंहारः।

सर्वस्य हि जन्यस्य वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापनान्स्य तेजसश्चान्द्र सौरे वैद्युते परब्रह्मणि च वा तेजसि एकीभाव इत्युक्तं भवति। अत्रेदं बोध्यम्।

परदेवतासंपत्तिरेवैतदारोहणे गत्युपसंहारः। किन्तु तत्रायं विशेषः श्रूयते श्रद्धया केवलया युक्तेन कर्म्मणा चन्द्रे, श्रद्धाविद्योपनिषद्भिर्युक्तेन कर्मणा सूर्य्ये, ताभिश्च शमदमादिसंपत्तिभिश्चोपसंपनेन कर्मणा वैद्युने तेजस्युपसंक्रमो भवति।

तथा च श्रद्धालोरपि—अविदुषस्तावदिष्टापूर्तादिकर्मात्मनस्तेजसश्चान्द्रे संपद्यते न सूर्य्ये। स चन्द्रात् परावृत्य संसारं भजते।

अथ श्रद्धालोर्विदुषोपि च शमदमादिविधुरस्य विदुषा यज्ञतपोदानकर्मात्मनस्तेजसश्चन्द्रादूर्ध्वं सौरे तेजसि देवलोकेषु संपद्यते।

—"आदित्यं गच्छति । एतद्वै खलुलोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषामिति श्रुतेः । स ततः परावृत्य संसारं भजते । नत्वेष सूर्य्यादूर्ध्वं वैद्युते तेजस्यनुप्रविशति । शम-दमादिसंपत्तिविधुरत्वात् ।

अथ वाजसनेयके त्वेकत्र यज्ञतपोदानादिभिरपि पितृयाणमार्गेण चन्द्रगतस्य तत चव प्रत्यावृत्तिः श्राव्यते । तच्छमादिविकलस्याविदुषः संबन्धेनाभ्युपगन्तव्यम् । इत्थमनयोः प्रत्यवरोहात् पुनः संसारव्यपदेशः ।

इस प्रकार अध्यक्ष सहित, इन्द्रिय समूह सहित अन्य भूतों के साथ यह तेज परम तत्व में संपन्न होता है । इस प्रकार उत्क्रान्त होने वाले की गति का उपसंहार होता है ।

सभी उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की प्रकृति ही परम देवता है यह प्रतिष्ठापित होने से इस तेज का चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत या परब्रह्मरूप तेज में एकीभाव होता है, यह कथन का तात्पर्य है ।

यहां यह समझना चाहिए कि पर देवता में सपन्न होना ही इस आरोहण में गति का उपसंहार है । किन्तु वहां यह विशेषता सुनी जाती है केवल श्रद्धा से युक्त कर्म के द्वारा चन्द्रमा में, श्रद्धा विद्या और उपनिषद् से युक्त कर्मो के द्वारा सूर्य में, शमदमादि संपत्ति से सम्पन्न कर्म के द्वारा विद्युत के तेज में उपसंक्रमण होता है ।

इस प्रकार श्रद्धालु अविद्वान् इष्टापूर्त आदि कर्मों का सम्पादन करने वाले का चन्द्र के तेज में उपसंहार सम्पन्न होता है । सूर्य में नहीं । वह चन्द्र से लौटकर संसार में आता है । जो श्रद्धायुक्त विद्वान् हैं और शम दम आदि से रहित जो ज्ञानी हैं उसके समान यज्ञ तप दान आदि कर्मात्मक तेज वाले चन्द्रमा के ऊपर सौर तेज में देवलोक में सम्पन्न होते हैं ।

"आदित्य को जाता है यह ज्ञानियों का लोकद्वार, उनका स्थान है, और अज्ञा-नियों की रुकावट है ।"

यह श्रुति वाक्य यहां प्रमाण है । वहां से लौटकर वह संसार में आता है । वह यहां से सूर्य के ऊपर के विद्युत तेज में नहीं जाता । क्योंकि वह शम दमादि सम्पत्ति से विहीन है ।

वाजसनेयक में तो एक स्थान पर यज्ञ, तप, दान आदि से भी पितृयाण मार्ग से चन्द्र तक पहुचे हुए की वहीं से वापस आने की बात कही गई है । उसको शम आदि से

विहीन अज्ञानी के सम्बन्ध से समझना चाहिए। इस प्रकार इनके लौटने से पुनः इनका संसार व्यवहार होता है।

अथ विद्यासमुच्चितैर्यज्ञतपोदानादिभिः कर्मिणामुपासकानां शमदमादिषट्संपत्तिमतां सूर्य्यादूर्ध्वं वैद्युते समावेशः। तस्यैवोर्ध्वं ब्रह्माप्ययामुक्तिसिद्धिः। न स पुनः संसारी भवति। तदित्थं संसारिमुक्तात्मभेदेन द्वैविध्ये सिद्धे तयोः पार्थक्येन साध्यक्षप्राणकरणग्राम-भूतग्रामाणां व्यवस्था वक्तव्येत्यादौ संसारिषु निरूप्यते।

तदिदं सर्वं परतेजसि संपद्यमानं तत्रैव तिष्ठते। अप्ययपर्य्यन्तं संसारव्यपदेशात्। अप्ययो निर्गुणविद्याप्रभावाद् ब्रह्मणि लयः।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति श्रुत्या ब्रह्मणैकीभाव एवापीतिर्नाम। सापीतिर्यावन्न संभवति तावदमुष्य जीवस्यात्मनः दृश्यते।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतमिति स्मृतेः।

संसारान्यथानुपपत्या चेदं सर्वं जीवत्वापादकमुपकरणजातं तत्रात्मनि तिष्ठत्येवेति ब्रूमः। प्राणकअणभूतग्रामनिवृत्तौ तु क्लेशकर्मविपाकाशयानामुच्छेदाद् विज्ञानमयस्या-ध्यक्षस्य ब्रह्मस्वरूपाविशेषतासंपत्तौ परमात्मनैकीभावाज्जीवात्मत्वव्यपदेशो विवर्तते, अत एव च संसारव्यपदेशोपि निवर्तते।

यावता संसारव्यपदेशो न निवर्तते तावदमुष्य प्रत्यगात्मनो जीवत्वसमर्पकं तदखिलं प्राणकरणभूतग्रामादिकमर्थजातं बीजभावावशेषं तिष्ठत्येवेति विद्यात्।

तच्च न जीवलोकस्थितप्राणिनामिदानीमिव दृश्यमानं स्थूलशरीरस्वरूपमधिक-मात्रं वा भवति। किन्तु स्वरूपतो मात्रातश्चेदं सर्वं सूक्ष्मं प्रतिपत्तव्यम्। नाडीनिष्क्रमण-श्रुत्या तथोपलब्धेः। नाड्यां हि तनुत्वात् संचारः स्वच्छत्वाच्चाप्रतिघात उपपद्यते। सौक्ष्म्यादेव च देहान्निर्गच्छन्नात्मा दृश्यते।

अत एव च सौक्ष्म्यान्नैतस्य स्थूलशरीरस्योपमर्दनेदं सूक्ष्मशरीरमुपमृद्यते इति शंकरः।

विद्या के द्वारा संचित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मशील उपासकों का, जो शम दम आदि ६ सम्पत्तियों से युक्त हैं, उनका सूर्य के ऊपर की विद्युत में समावेश होता है।

उसी के ऊपर ब्रह्म में लीन होने से मुक्ति होती है। वह पुनः संसार में नहीं आता।

इस प्रकार ससारी और मुक्तात्मा इन दो भेदों के सिद्ध होने पर अनेक भेद के कारण अध्यक्ष, प्राण, इन्द्रिय समूह की व्यवस्था बतलाने योग्य है अतः पहिले संसारियों में वह व्यवस्था बतलाई जाती है। यह सब परम तेज में सम्पन्न होता हुआ वहीं रहता है।

क्योंकि विलय पर्यन्त संसार कहा जाता है। अप्यय या निर्गुण विद्या के प्रभाव से ब्रह्म में लय होना 'अप्यय' शब्द से कहा जाता है। अप्यय या अपीति का विवरण है कि—

"ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है",

इस श्रुतिवाक्य से बोधित ब्रह्म के साथ एकीभाव ही अपीति है। जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक इस जीवात्मा को संसारी ही कहा जाता है। स्मृति वचन है कि—

"कुछ देही शरीर प्राप्त करने के लिये योनियों में जाते हैं, कर्म और ज्ञान के अनुसार अन्य देही स्थाणुभाव को प्राप्त करते हैं"—

संसार भाव अन्यथा बनता नहीं इसलिए जीव भाव को बनाने वाला यह सारा उपकरण समूह वहां आत्मा में रहता ही है, यह हमारा कथन है। प्राण, इन्द्रिय, भूतसमूह की निवृत्ति हो जाने पर तो क्लेश, कर्मविपाक, आशय के उच्छेद हो जाने से, विज्ञानमय अध्यक्ष के ब्रह्मस्वरूप के साथ अभेद होने से परमात्मा के साथ एकीभाव हो जाने पर 'जीवात्मा' यह संज्ञा हट जाती है।

तब इसी कारण 'संसार' यह संज्ञा भी हट जाती है।

जब तक संसार संज्ञा नहीं हटती, तब तक इस जीवात्मा के जीवत्व के समर्पक वे सभी प्राण, इन्द्रिय, भूत समूह आदि अर्थ बीजभाव में अवशिष्ट होकर रहते ही हैं, यह समझना चाहिए।

इस अवस्था में वह स्थिति जीवलोक में इस समय स्थित प्राणियों के समान स्थूल शरीर स्वरूप में या उससे अधिक मात्रा में नहीं होती।

किन्तु स्वरूप और मात्रा से उसे सूक्ष्म समझना चाहिए। नाडी-निष्क्रमण श्रुति से वैसा ही ज्ञात होता है। नाडी में सूक्ष्म होने पर ही संचार हो सकता है तथा स्वच्छ होने पर रुकावट नहीं होती।

सूक्ष्मता के कारण देह से निकलता हुआ आत्मा पास में स्थित लोगों के द्वारा नहीं देखा जाता। इसीलिए सूक्ष्मता के कारण इस स्थूल शरीर के नष्ट होने या उपमर्दन से इस सूक्ष्म शरीर का उपमर्दन नहीं होता। ऐसा श्रीशंकराचार्य का कथन है।

रामानुजस्तु निर्गच्छत आत्मनः सूक्ष्मशरीरमस्ति। कौषीतकादिश्रुतिप्रमाणतस्तथोपलब्धेः। तत्र हि देवयानेन पथा गच्छतो विदुषश्चन्द्रमसा संवादः श्रूयते न च सूक्ष्मशरीरमन्तरेण तत्संभवति।

तस्मात् सूक्ष्मशरीरवानयं जीवो गच्छतीत्यत एवास्य बन्धो न निर्दग्ध इत्यपि ज्ञायते। अत एव च सूक्ष्मशरीरसद्भावादस्यात्मनो बन्धोपमर्देनामृतत्वमुच्यते इत्येवं व्याचष्टे।

अस्यैव च सूक्ष्मशरीरस्यैष ऊष्मा यो जीवतः शरीरे संस्पर्शेन विज्ञायते। मरणोत्तरं स्थूलशरीरसद्भावेऽपि तत्रोष्मणोऽनुपलब्ध्या तस्योष्मणः सूक्ष्मशरीरव्यपाश्रयतयैवोपपत्तेः।

—"उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन्"—

इति श्रुतिरपि मरणोत्तरं शैत्यं ब्रुवन्ती तदुष्णतायाः सूक्ष्मशरीरानुगतत्वं दर्शयति। तथा चास्य सूक्ष्मशरीरस्य ब्रह्माप्ययं यावदनिवृत्त्या तेनैव सूक्ष्मशरीरेण विदुषोऽप्यविदुष इवास्ति समानैवोत्क्रान्तिरित्युक्तं भवति।

। इति आमुक्ति सूक्ष्मशरीरानुपक्षयाधिकरणम्।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि निकलते हुए आत्मा का सूक्ष्म शरीर होता है क्योंकि कौषतक श्रुति आदि के प्रमाणों से यह ज्ञात होता है।

वहां देवयान मार्ग से जाने वाले ज्ञानी का चन्द्रमा के साथ संवाद सुना गया है, वह सूक्ष्म शरीर के बिना नहीं हो सकता। इसलिए सूक्ष्म शरीर से युक्त होकर यह जीव जाता है अतः इसका बन्धन नहीं नष्ट हुआ, यह भी ज्ञात होता है।

इसीलिए सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व के कारण इस आत्मा का बन्ध के उपमर्द से अमृतत्व बतलाया गया है।

इसी सूक्ष्म शरीर की यह ऊष्मा है जो जीवित अवस्था में शरीर के स्पर्श से ज्ञात होती है। मृत्यु के बाद स्थूल शरीर के रहने पर वहां ऊष्मा की उपलब्धि न होने से वह ऊष्मा सूक्ष्म शरीर से ही सम्बद्ध है यह सिद्ध होता है।

"जीवित रहते हुए ऊष्मायुक्त रहता है मरते समय शीत हो जाता है।"

यह श्रुति भी मरण के बाद शैत्य बतलाती हुई उस ऊष्मा को सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध बतलाती है। इस सूक्ष्म शरीर की ब्रह्म में लय होने तक निवृत्ति न होने से उसी सूक्ष्म शरीर के साथ अज्ञानी की तरह ही ज्ञानी की भी उत्क्रान्ति या शरीरत्याग समान रूप से होता है।

। यह मुक्तिपर्यन्त सूक्ष्मशरीर के क्षीण न होने का अधिकरण हुआ।

अथ मुक्तात्मसु प्राणकरणभूतग्रामाणां व्यवस्थां वक्तुमुपक्रममाण आदौ तावत् प्राणविषयं निरूपयति। तत्र वादी तावदाशङ्कते।

—"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"—

इति श्रुत्या प्रत्यक्षं प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो विदुषो देहात् प्राणानामुत्क्रान्तिः शक्यते प्रतिपत्तुम् इति चेत् तत्रोच्यते। नैतदेवमाशङ्कितव्यम्। तया श्रुत्या शारीरादात्मनः प्राणोत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते इति शरीरतः प्राणोत्क्रान्तेरप्रतिषेधात्।

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतौ तस्येति पञ्चम्यर्थे षष्ठी। स्पष्टो ह्येकेषां शाखिनां माध्यन्दिनानां श्रुतौ शारीरो जीव एव प्राणोत्क्रान्त्यपादानत्वेन निर्दिश्यते।

—"न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्तीति पञ्चम्याः श्रूयमाणत्वात्। तेन जीवात् प्राणा नोत्क्रामन्ति। उत्क्रमणवेलायामपि जीवेन सहैव प्राणास्तिष्ठन्ति।

इति हि श्रुतितात्पर्य्यमवगम्यते।

इत्थं च शारीरपुरुषात् प्राणानामनुत्क्रान्तिर्विदुषश्चाविशेषादेवेष्यते।

—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"—

इति श्रुतेर्विदुषः प्रारब्धकर्महेतुकचरमशरीरवियोगकाले ब्रह्मसंपत्तिवचनेन शरीरवत् प्राणानामपि वियोगोऽर्थतः प्राप्नोतीत्यतस्तत्परिहारार्थमिदमुच्यते। न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्तीति। तेन विदुषोऽपि देहपातोत्तरं देवयानेन पथा सूर्य्याद्रूर्ध्वं समारूढस्य ब्रह्मामृतत्वं प्राप्यते इति ब्रह्मप्राप्तेः प्रागमुष्माद्विदुषोऽपि जीवात् प्राणा न विश्लिष्यन्ते इत्येवात्र श्रुतितात्पर्य्यसिद्धोऽर्थः।

—"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति—

अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स आमेति वाह–उद्वामीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् । तदेष श्लोकः–

—"शतंचैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति"—

इति ताण्ड्यश्रुत्यादिभिर्विदुषोऽपि सूर्य्यप्राप्त्यनन्तरममृतत्वप्राप्तेरभ्युपगन्तव्यत्वात् । स्मर्य्यते चायमर्थः—

—"ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्य्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्"—इति ।

इति रामानुजः एतन्मते प्राणकरणभूतग्रामसहितस्य जीवात्मनोर्मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रान्तस्य देवयानमार्गेण सूर्य्यमारूढस्यैव मुक्तिरिति सिद्धान्तादनुत्क्रान्तिमुक्तिर्नास्तीति सिद्धं भवति ।

। इति रामानुजमतेनानुत्क्रान्तिमुक्त्यभावात् सूर्य्यमण्डलभेदितालक्षणमुक्त्यधिकरणम् ।

मुक्तात्माओं की प्राण, इन्द्रिय तथा भूत समूह की व्यवस्था को बतलाने का उपक्रम करते हुए पहिले प्राण के विषय का निरूपण करते हैं। वहां वादी यह आशङ्का उपस्थित करता है कि—

"जो कामना रहित है, अकाम, निष्काम, आप्तकाम, पूर्णकाम है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है"

इस श्रुतिवाक्य से प्रत्यक्ष निषेध के कारण परब्रह्म के वेत्ता ज्ञानवान् के देह से प्राणों का उत्क्रमण नहीं माना जा सकता, तो इस पर कहना यह है कि इस प्रकार की आशङ्का करना ठीक नहीं है, उस श्रुति के द्वारा शरीर से आत्मा के प्राणोत्क्रमण का निषेध होता है,

इससे शरीर से प्राणों के उत्क्रमण का निषेध नहीं होता।

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"

इस वाक्य के 'तस्य' इस शब्द में जो षष्ठी विभक्ति है, वह पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में है अर्थात् उसका अपादान अर्थ है। माध्यन्दिनों की श्रुति में शरीर स्थित जीव ही प्राणोत्क्रमण के अपादनत्वरूप में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। वहां

"उससे प्राण नहीं निकलते"

यहां 'तस्मात्' यह पञ्चमी विभक्ति सुनी जाती है। इससे जीव से प्राण नहीं उत्क्रान्त होते। उत्क्रमण काल में भी जीव के साथ ही प्राण रहते हैं, यह श्रुति का तात्पर्य ज्ञात होता है।

इस प्रकार शरीर स्थित पुरुष से प्राणों का उत्क्रमण ज्ञानी और अज्ञानी का समान रूप से ही होता है।

"उसका उतना ही विलम्ब है, जब तक मुक्ति नहीं होती

इस श्रुति से ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म के कारणभूत अन्तिम शरीर के वियोग काल में ब्रह्म सम्पत्ति बतलाने से शरीर के समान प्राणों का वियोग भी अर्थात् सिद्ध हो जाता है अतः उसके निराकरण के लिए यह कहा जाता है कि—

"उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता"।

इसलिए ज्ञानी, जो कि देहपात के अनन्तर देवयान मार्ग से सूर्य के ऊपर समारूढ़ है उसे ब्रह्म रूपी अमृतत्व की प्राप्ति होती है, अतः ब्रह्म की प्राप्ति के पूर्व इस ज्ञानी से भी प्राणों का वियोग नहीं होता यही श्रुति के तात्पर्य से सिद्ध अर्थ है।

"अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामति"

इत्यादि श्रुति तथा

"शतं चैकात्र हृदयस्य नाड्यः"

इत्यादि ताण्ड्य श्रुति आदि से ज्ञानी की भी सूर्यप्राप्ति के अनन्तर भी अमृतत्व की प्राप्ति बतलाई गई है। स्मृति भी कहती है कि—

"एक उनके ऊपर स्थित है जो सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक का अतिक्रमण करके परम गति को प्राप्त करता है।"

यह श्री रामानुजाचार्य का कथन है। इस मत में प्राण, इन्द्रिय, भूत समूह सहित मूर्धन्य नाडी से उत्क्रान्त जीवात्मा की, जो देवयान मार्ग से सूर्य पर आरूढ़ है, उसकी ही मुक्ति होती है इस सिद्धान्त के कारण उत्क्रान्ति के बिना मुक्ति नहीं होती।

श्रीरामानुजार्य के मत में बिना उत्क्रमण के मुक्ति अभाव से सूर्यमण्डल भेदन स्वरूप वाली मुक्ति का अधिकरण हुआ—

शंकरस्तु—

—"प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरादिति सूत्रनिर्दिष्टस्य जीवापादानकप्राणोत्क्रान्ति-प्रतिषेधवानस्य प्रतिपक्षितया—

—"स्पष्टो ह्येकेषां स्मर्य्यते चेति सूत्रद्वयं व्याचष्टे। तथाहि—

देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नाये स्पष्ट उपलभ्यते। यत्रायं पुरुषो म्रियते तदस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्याहोस्विन्नेत्यार्तभागप्रश्नेनेति होवाच याज्ञवल्क्यः। अत्रैव समवलीयन्ते स उच्छ्वशत्याध्मायति, आध्मातो मृतः शेते—

इत्येवमुत्क्रान्त्यवधेरेवोच्छ्वशनादीन्याह। तानि च देहस्यैव न देहिन इति कृत्वा देहादेवोत्क्रान्तिप्रतिषेधो गम्यते। यद्यप्यत्र विद्वदविदुषोरप्रसङ्गात् सर्वसाधारण्येनानुत्क्रान्तिः प्राप्नोति। तथापि श्रुत्यन्तरे—

—"चक्षुषो वा मूर्द्धनो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति।

तं विद्याकर्मणो समन्वारभेते"—

इत्यादिना तावदविदुषामुत्क्रान्ति संसारगतिं दर्शयित्वा—

—इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते"—

यथा हि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत—

एवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीराऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव इत्येवं विद्वांसमधिकृत्य तद्विषयतयैवाऽनुत्क्रान्तिं व्यवस्थापयति प्राणस्य चानुत्क्रान्तस्यात्रैव ब्रह्मभावाख्यानान्न देवयानादिमार्गानुसरणमस्यास्तीति प्रतीयते।

एतच्छ्रुतिवाक्यतया च पूर्वस्या अपि आर्तभागप्रश्नोत्तरश्रुतेर्विद्वद्विषयत्वं निश्चीयते। तथा च परब्रह्मविदुषां गत्युत्क्रान्त्योरभावः एवास्तीति श्रुतितात्पर्य्यादवसीयते। स्मर्य्यते च महाभारते विदुषां गत्युत्क्रान्त्योरभावः।

—"सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः"—इति।

पदैषिणो देवा अप्यस्य प्राप्यपदरहितस्य मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति मार्गाभावादित्यर्थः।

। इति शंकरमते विद्यानिर्दग्धकर्म्मणां देहपातकालानुत्क्रान्तिमुक्तिविषयाधिकरणम्।

श्री शंकराचार्य "प्रतिषेधादितिचेन्न शरीरात्" इस सूत्र में निर्दिष्ट प्राणोत्क्रमण के प्रतिषेध वाद के विरोध में "स्पष्टो ह्येकेषाम्, स्मर्यते च" इन दो सूत्रों का व्याख्यान करते हैं।

"देह से अलग होने पर ही उत्क्रान्ति का निषेध एक शाखा में स्पष्ट उपलब्ध होता है। जब यह पुरुष मरता है उस समय ईसके प्राण निकलते हैं या नहीं इस आर्तभाग के प्रश्न पर याज्ञवल्क्य ने निषधात्मक उत्तर दिया। 'उसके प्राण यहीं विलीन हो जाते हैं, वह यहीं उच्छ्वास पूर्वक मृत होकर लेट जाता है।"

इस प्रकार उत्क्रमण की अवधि में मृत अवस्था को बतलाया है यह देह का ही होता है देही का नहीं इसलिए देह से ही उत्क्रमण होने का प्रतिषेध प्रतोत होता है। यद्यपि यहां विद्वान् और अविद्वान् के प्रसङ्ग न होने से सभी की उत्क्रान्ति का निषेध प्राप्त होता है, तो भी अन्य श्रुति में—

"चक्षुषो वा मूर्द्धनो"

"इत्यादि श्रुति बचन में अविद्वान् की उत्क्रान्ति और संसार गति दिखला कर

"इति नु कामयमानो"

इत्यादि से विद्वान् को लक्ष्य करके उसके विषय में ही उत्क्रमण के अभाव को व्यवस्थापित किया है। उत्क्रमण के बिना ही विद्वान् के प्राण के ब्रह्मभाव-कथन से देवयान आदि मार्ग का अनुसरण उसे नहीं करना पड़ता, यह प्रतीत होता है।

पुनश्च इस श्रुति वाक्य से पहिले के आर्तभाग की प्रश्नोत्तर श्रुति भी ज्ञानी या विद्वान् के विषय में है ऐसा निश्चय होता है। इस प्रकार परब्रह्म के ज्ञाताओं की गति और उत्क्रान्ति नहीं होती, यही श्रुति का तात्पर्य निश्चित होता है।

"जो सब भूतों का आत्मभूत है जो भूतों का सम्यग् दर्शन करता है, जो अपद है उसके मार्ग में पद की इच्छा करने वाले देव भी मोहित हो जाते हैं।"

पद की इच्छा करने वाले देवता भी इस प्राप्य पद से रहित के मार्ग में मुग्ध हो जाते हैं, वे भी इसका मार्ग नहीं जानते, मार्ग के अभाव के कारण, यह तात्पर्य है।

। यह श्रीशंकराचार्य के मत में विद्या से निर्दग्ध कर्म वालों के लिए देहपात काल में अनुत्क्रान्ति मुक्ति विषय का अधिकरण हुआ।

ननु विदुषां गत्युत्क्रान्त्योरभावे—

"अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। टेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः"—

—इति गतिश्रुतिः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्य इत्यादिरूपा मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रान्तिश्रुतिश्च विरुध्येते। इति चेत् तत्रोच्यते। द्विविधा हीयं विद्या भवति निर्गुणत्वात् परा सगुणत्वादपरा चेति।

तत्र यो निर्गुणया परविद्यया विद्वानिहैव जन्मनि कामकर्मक्लेशाद्यविद्याधर्मैः परिहीयते स जीवन्मुक्तः प्रारब्धकर्मणा जीवन्नपि देहपातोत्तरं कर्म्मान्तराभावाद्देवयानादिना तर्तव्याभावात् सद्योमुक्तिं लभते न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति गत्युत्क्रान्त्यभावश्रुतिस्तद्विषयतया नेया।

यस्तु सगुणविद्यया विद्यानुपासकः स मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रान्तो देवयानेन पथा सूर्य्यमुपगम्य कामं भोगान् भुक्त्वा विशुद्धो विद्युत्पुरुषमासाद्य पुण्यपापे विधूय विरजा ब्रह्माप्येतीति सा क्रममुक्तिर्गत्युत्क्रान्तिविधायिन्याः श्रुतेर्विषय इत्यविरोधः।

तत्र विद्युत्पुरुषप्राप्त्यनन्तरं पुण्यपापविधूननाद्विरजस्त्वे तान्यपि सर्वाणि सप्राणानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते। तथा ह्याह पिप्पलादश्रुतिः—

स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते । स यो ह् वैतदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः ।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणभूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश–इति ।

एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति इति च ।

स च कलाप्रलयो ब्रह्मणि तत्वलयादविभागलक्षणो भवति न तु सुषुप्तिप्रलयवद् वृत्तिमात्रनिरोधाद्बीजभावावशेषरूपः ।

—"भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवती—

त्येवं श्रुतो नाम परित्यागवचनात् । यत्तु—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति"—

इति बिद्वद्विषयैवापरया मुण्डकश्रुत्या पार्थिवादीनां कलानां स्वस्वप्रकृतिषु पृथिव्यादिष्वप्ययो निरूप्यते तद् व्यवहारापेक्षमिति शंकरः समाधत्ते । एतच्च नात्यन्तं युक्तम् । विदुषां व्यवस्थाया व्यावहारिकत्वाभावात् । वस्तुतस्तु मुक्तिर्द्वेधा—

क्षीणोदर्का भूमोदर्का च । संन्यासिनामाद्या । तत्र कलानां विज्ञानतः पृथग्भवन्तीनां स्वस्वप्रतिष्ठानुगमो भवति ।

सर्वैकात्म्यविज्ञानिनां तु द्वितीया । तत्र कलानामशेषाणां परमात्मन्येव लयो भवतीति न विरोधः । विस्तरतश्चैतद् व्याख्यातं ब्रह्मविज्ञाने शुक्लत्रिसत्यादौ ।

। इति विद्वत्सूक्ष्मशरीरविलयनात् परेण सर्वात्मनैकीभावलक्षणक्रममुक्त्यधिकरणम् ।

ज्ञानियों की गति और उत्क्रान्ति के अभाव में—

"यह प्राचीन मार्ग मेरा ही बनाया हुआ विस्तृत है जो अणु है, इससे ब्रह्मवेत्ता वीर पुरुष इससे ऊपर करके स्वर्ग लोक को जाते हैं"

वह गति श्रुति तथा

एक सौ एक हृदय की नाडियां विस्तृत हैं"

इत्यादि के द्वारा मूर्धन्य नाडी से उत्क्रान्ति श्रुति का विरोध होता है, इस पर कहा जाता है कि यह विद्या दो प्रकार की है, निर्गुण होने से पराविद्या और सगुण होने से अपरा विद्या।

उनमें जो ज्ञानी निर्गुण पराविद्या से इसी जन्म में काम, कर्म क्लेश आदि अविद्या के धर्मों से छूट जाता है, वह जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त कर लेता है, वह प्रारब्ध कर्मों के कारण जीवित रहता हुआ भी देहपात के अनन्तर किसी कर्मान्तर के अभाव हो जाने से देवयान मार्ग के आश्रय से किसी तरणीय वस्तु के अभाव के कारण सद्यः मुक्ति प्राप्त कर लेता है, उसके प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती,

इसलिए गति और उत्क्रान्ति का अभाव बतलाने वाली श्रुति वहीं चरितार्थ है, उसे ही उस श्रुति का विषय समझना चाहिए और जो सगुण विद्या का उपासक विद्वान् है वह मूर्धन्य नाडी से उत्क्रमण करके देवयान मार्ग से सूर्य पर पहुंच कर कामनापूर्वक भोगों का उपभोग करके विशुद्ध होता हुआ विद्युत् पुरुष को प्राप्त करके पुण्य पाप से दूर होता हुआ विरजा अवस्था में ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है।

वह क्रम मुक्ति ही गति और उत्क्रान्ति बतलाने वाली श्रुति का विषय है अतः इनमें विरोध नहीं आता। वहां विद्युत् पुरुष की प्राप्ति के बाद पुण्य और पाप को दूर कर देने से उस ब्रह्म वेत्ता विरज हो जाने पर वे सभी प्राण सहित इन्द्रियां तथा भूत, उसी परमात्मा में विलीन हो जाते हैं।

इसी बात को पिप्पलाद श्रुति–

"संपरे अक्षरे"

आदि से कहा गया है। कलाओं का वह लय ब्रह्म में तत्त्वों के लय से अविभाग रूप से होता है, सुषुप्ति और प्रलय के समान केवल वृत्ति के निरोध से बीज मात्र का अवशेष रहजाने वाला यह लय नहीं होता।

"भिद्यते"

आदि श्रुति में नाम का परित्याग होने की बात आने से यही सिद्ध होता है। ज्ञानी के विषय में ही—

"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा"

इत्यादि दूसरी मुण्डक श्रुति में पार्थिव आदि कलाओं का अपनी-अपनी पृथिवी आदि प्रकृतियों में लय होना बतलाया गया है, वह व्यवहार की अपेक्षा के कारण है ऐसा श्रीशंकराचार्य समाधान करते हैं।

यह समाधान बहुत समीचीन नहीं है क्योंकि ज्ञानियों की व्यवस्था व्यवहार के आधार पर नहीं होती। वास्तव में तो मुक्ति दो प्रकार की है, एक है क्षीणोदर्का मुक्ति तथा दूसरी है भूमोदर्का मुक्ति। संन्यासियों की मुक्ति प्रथम कोटि की है, वहां विज्ञान से पृथक् होने वाली कलाओं का अपनी अपनी प्रकृति में लय होता है। जो सबकी एक ही आत्मा के रूप में देख लेने वाले ज्ञानी हैं। उनकी मुक्ति दूसरी भूमोदर्का है। वहां समस्त कलाओं का लय परमात्मा में ही होता है। अतः विरोध नहीं आता। इस विषय का विस्तार ब्रह्मविज्ञान में शुल्क त्रिसत्य आदि में किया गया है।

। यह ज्ञानी के सूक्ष्म शरीर के विलयन से परमात्मा से एकीभाव स्वरूप वाली मुक्ति का अधिकरण हुआ।

अथ निर्गुणविद्यां जीवब्रह्मैक्यभावं चानभ्युपगच्छन् रामानुजः सगुणोपासनया ब्रह्मणि जीवस्य सहावस्थानरूपाविभागलक्षणां मुक्तिं दर्शयितुमिदं सूत्रद्वयमन्यथा व्याचष्टे—

वाङ्मनसि मनः प्राणे, प्राणस्तेजसीत्येवमुत्तरोत्तरक्रमेण संधीयमानानि तानीन्द्रिय-प्राणभूतजातानि अन्ततः परस्मिन्नात्मनि संपद्यन्ते। तथा ह्याह श्रुतिः—

तेजः परस्यां देवतायामिति। सुषुप्तिप्रलययोर्यथा परमात्मसंपत्या सुखदुःखोपभोगायासविश्रामस्तद्वद्धिहापि बोध्यः।

सेयं परमात्मनि संपत्तिर्न प्राकृतलयवत् कारणापत्तिरूपा किन्तु वाङ्मनसीत्यादि-वदविभागरूपैव पृथग् व्यवहारानर्हसंसर्गोऽयमविभागः। तेजः परस्यां देवतायामित्यत्रापि वाङ् मनसि संपद्यते इति वचनस्यानुषङ्गाच्चैतदेवं विज्ञायते इति बोध्यम्।

। इति रामानुजमतेन विद्वत्सूक्ष्मशरीरविलयनाभावात् परेणाविभक्तसहावस्थानलक्षण-क्रममुक्त्यधिकरणम्।

। इति विद्वदुत्क्रान्तिक्रमविवेकाधिकारः।

निर्गुण विद्या तथा जीव और ब्रह्म के ऐक्य भाव को न स्वीकार करते हुए श्रीरामानुजाचार्य सगुण उपासना से ब्रह्म में जीव का सह अवस्थान रूप अविभाग वाली मुक्ति को दिखाते हुए इन दोनों सूत्रों की अन्यथा व्याख्या करते हैं।

वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में इस प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से मिलते हुए ये इन्द्रिय, प्राण और भूतसमूह अन्ततः परमात्मा में सम्पन्न होते हैं। श्रुति ने भी कहा है–

"तेज परदेवता में समाविष्ट होता है। सुषुप्ति और प्रलय में जैसे परमात्मा की सम्पत्ति के द्वारा सुख दुःख भोग के आभास का विश्राम हो जाता है वैसे ही यहां भी समझना चाहिए।

परमात्मा में यह सम्पन्न होना प्राकृत लय की तरह अपने कारण में लय होना नहीं है किन्तु जैसे वाणी मन में लीन होती है उसी प्रकार अविभागरूपा ही है। यह अविभाग ऐसा है कि उस अवस्था में पृथक् करके व्यवहार नहीं किया जा सकता।

"तेज पर देवता में विलीन होता है"

इस वचन में

'वाणी मन में संपन्न होती है'

इसका सम्बन्ध होने से यह अर्थ प्रतीत होता है, ऐसा समझना चाहिए।

यह श्रीरामानुजाचार्य के मत में ज्ञानी के सूक्ष्म शरीर के विलीन होने के अभाव से परमात्मा से अविभक्त सह अवस्थान स्वरूप क्रम मुक्ति का अधिकरण हुआ।

। यह ज्ञानी के उत्क्रमण क्रम के विवेक का अधिकार हुआ।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् । तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।४।२।१७।

रश्म्यनुसारी ।४।२।१८।

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च । ।४।२।१९।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।४।२।२०।

योगिनः प्रति च स्मर्य्यते स्मार्ते चैते ।४।२।२१।

अथ मृत्युपक्रमः प्रदर्श्यते । उत्क्रान्तिवत् मृत्युपक्रमोपि यथाविद्यं यथाकर्म चोपपद्यते । तत्र विद्या चापरा सगुणोपासनारूपा द्रष्टव्या निर्गुणविद्यायामुत्क्रान्तिमृत्युपक्रमयो प्रतिषिद्धत्वात् ।

उपसंहृतवागादिकलापोऽयं विज्ञानात्मा यदोत्क्रममाणो भवति तदा तदोकसस्तदायतनस्य हृदयस्याग्रभागः प्रज्वलिति ।

—"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति"—

इति कौषीतकश्रुतेः ।

—"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते । तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति—

चक्षुष्टो वा मूर्द्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य"—

इति वाजसनेयश्रुतेश्च । तेन द्योतनेनायमात्मा प्रकाशितद्वारो भवति । यया नाडीद्वारा तेन गन्तव्यं तद्द्वारं तस्य प्रकाशते । हृदयस्थानादेकशतनाडीषु विततास्वप्ययं विज्ञानात्मा विद्याप्रभावाद् विद्याशेषभूतमूर्द्धन्यनाडीगतिशीलनाभ्यासवशाच्च शतादतिरिक्तया एकशततम्या नाड्या निष्क्रामति । इतराभिरितरे मन्दविद्याः ।

—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमण भवन्ति"—

इति ताण्ड्यश्रुतेः ।

निष्क्रममाणश्चैष हार्द्दानुगृहीतो निष्क्रामति । हार्द्दो हृदयस्थानोऽष्टगुणः शरीराध्यक्षो विज्ञानात्मा प्राणः ।

—यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् । किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम् । यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः ।

उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ । विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् ।

तं चेद् ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समापितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः–

यदैनज्जरामाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यते इति । स ब्रूयान्नास्य जरयै-तज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् । अस्मिन् कामाः समाहिताः ।

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः––

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । तद्य इहा-त्मानमनुविद्य व्रजन्ति एतांश्च सत्यान् कामान् । तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"

इति श्रुतेः ।

एतं हार्दमात्मानमनुविद्य गच्छन् विद्वान् प्रज्ञानात्मा जीवो हार्दानुगृहीत एव गच्छ-तीति हार्दस्य रश्म्यनुसारितया सोपि रश्म्यनुसारी गच्छति ।"

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति । असौ वा आदित्यः पिङ्गलः । अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति । अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते"–इति श्रुतेः ।

अब सृति के उपक्रम को दिखाया जाता है । उत्क्रान्ति को ही तरह सृष्टि के उप-क्रम को भी विद्या तथा कर्म अनुसार ही बतलाया गया है । वहां विद्याविषयक सृति के उपक्रम का निरूपण करते हैं । विद्या का तात्पर्य यहां सगुणोपासना रूप अपरा विद्या से है, क्योंकि निर्गुण उपासना में उत्क्रान्ति और सृति के उपक्रम का प्रतिषेध है ।

"स एतास्तेजोमात्राः"

इत्यादि कौषीतक श्रुति तथा

"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं"

इस वाजसनेय श्रुति के द्वारा समझा जाता है कि वाक् आदि समूह को उपसंहृत करके यह विज्ञानात्मा जब उत्क्रमण के लिए उद्यत होता है तब उसके (ओक) आयतन रूप हृदय का अग्र भाग प्रज्वलित होता है । उस प्रकाश से इस आत्मा का द्वार प्रकाशित हो जाता है ।

नाड़ी के द्वारा जिस मार्ग से उसे जाना है वह द्वार प्रकाशित हो जाता है । हृदय के स्थान से यद्यपि एक सी नाडियां फैली हुई हैं तो भी यह विज्ञानात्मा विद्या के प्रभाव से

तथा विद्या को शेषभूत मूर्धन्य नाड़ी की गति के परिशीलन के अभ्यास से शत से अतिरिक्त एक सौ वीं नाडी से निष्क्रमण करता है। अन्य नाडियों से अन्य मन्दविद्या वालों का निष्क्रमण होता है।"

"शतं चंका"

इत्यादि ताण्ड्य श्रुति से यही प्रमाणित होता है। निष्क्रमण करता हुआ यह हार्द से अनुगृहीत होता है। हार्द हृदयस्थान में विराजित अष्ट गुण वाला शरीर का अध्यक्ष विज्ञानात्मा प्राण है।

"यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे"

इत्यादि श्रुति वाक्य से हार्द विज्ञानात्मा संकेतित है।

'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः"

इत्यादि श्रुति बतलाती है कि इस हार्द आत्मा को जान कर प्रयाण करने वाले ज्ञानी पुरुष का प्रज्ञानात्मा जीव हार्द से अनुगृहीत होकर ही जाता है, हार्द रश्मि का अनुसरण करता है। अतः वह भी रश्मि के अनुसार ही जाता है।

ननु आदित्यसूर्य्यरश्मीनामहन्येव संभवान्निशि रश्म्यनुसारिगमनं न संभवतीति चेन्न। नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात्।

जन्मकाले संभूतशिराकिरणसंपर्को यावद्देहमहोरात्रं शश्वदनुवर्तते न निशि विच्छिद्यते। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः।

—"अमुष्मादादित्यात्–प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते ता अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः"–इति।

न च दिवाभिप्रायैव सा श्रुतिः स्यादिति वाच्यम्। अविशेषश्रवणात्। दर्शयति च श्रुतिरमुष्मिन् हार्देऽहोरात्रवैशेष्याभावोऽविच्छिन्नप्रभावत्वं च। नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः सकृद्विभातो ह्येवैष"–इति।

तस्माद्दिवेव रात्रावप्यविशेषेण मार्गविशेषे निमित्तं भवति। अतएव चाहनि मृतस्य दक्षिणेऽप्ययने गमनं संभवति। अन्यथाऽहनि प्रेतस्य शुक्लपक्षद्वारोत्तरायणे गमनाद्दक्षिणायने गमनं न स्यात्।

अथवेदमन्यथा व्याख्येयम् । निशि कृष्णपक्षे दक्षिणायने वा प्रेतानां शुक्लमार्गो नोपपद्यते इति विदुषामपि मुक्तिमार्गारोहो न स्यात् ।

—"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ"—

इत्यादिनाऽहःशुक्लपक्षोत्तरायणानामेवानावृत्तिनियामकत्वस्मरणाद्भीष्मादीनां विदुषामप्युत्तरायणकालप्रतीक्षाकरणाच्चेति केचिदाहुः तत्रेदं प्रत्युच्यते । यतस्तावदात्मनो हार्दानुगृहीतस्य रात्रावपि रश्म्यनुसारिगमनं संभवति अतश्चायनेऽपि दक्षिणे तद्वच्छुक्लमार्गारोहः संभाव्यते । अर्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणादीनां धूमरात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनादीनां चातिवाहिकत्वाभ्युपगमात् प्रयाणकालोपक्षकत्वानपेक्षणात् ।

ननु तं कालं वक्ष्यामीति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानात् तद्विरोध इति चेन्न । योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्य्यते ।

न विदुषःप्रतीत्यधिकारिभेदादविरोधः । स्मार्त्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते । तस्मान्न श्रौतेषु विज्ञानेषु विरोधावतारः ।

। इति मृत्युपक्रमाधिकरणं शंकरस्य ।

प्रश्न होता है सूर्य की रश्मियों की सम्भावना दिन में हा होती है अतः रात्रि में प्राणोत्क्रमण होने पर रश्मि के अनुसार गमन सम्भव नहीं होता । तो यह बात नहीं है । नाडी और रश्मि का सम्बन्ध देहपर्यन्त रहता है । जन्म काल में होने वाला नाडी और किरण का सम्पर्क देह धारण पर्यन्त अहोरात्र निरन्तर रहता है, रात्रि को उसका विच्छेद नहीं होता—

"अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते"

आदि श्रुतिवाक्य इस अर्थ को प्रकट करता है । यह भो नहीं कहा जा सकता कि इस श्रुति का अभिप्राय दिन से ही है, क्योंकि उसमें बिना भेद का कथन है ।

अन्यत्र—

—"नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः"

इस श्रुति के द्वारा हार्द में अहोरात्र के भेद का अभाव एवं अविच्छिन्न प्रभाव दिखाया गया है । इसलिए दिन के समान रात्रि में भी नाडी से सम्बद्ध रश्मियों के द्वारा ही यह ऊपर जाता है, शरीर के प्रयाण में अहोरात्र आदि विशेष-काल विशेषमार्ग के

निमित्त होते हैं। इसीलिए दिन में मृत्यु को प्राप्त होने वाला का दक्षिण अयन में भी गमन सम्भव है। अन्यथा दिन में मरने वाले के शुक्ल पक्ष के द्वारा उत्तरायण में जाने से दक्षिणायन में गमन सम्भव न हो।

अथवा इसकी दूसरे प्रकार से व्याख्या की जाती है। रात्रि में, कृष्ण पक्ष में, या दक्षिणायन में मरने वालों का शुक्ल मार्ग में जाना युक्ति सिद्ध नहीं होने से ज्ञानियों का भी मुक्ति मार्ग में आरोहण नहीं होगा।

"जिस काल में प्रयाण करने पर योगीगण आवृत्ति (वापस लौटना) या अनावृत्ति (मुक्त हो जाना) को प्राप्त करते हैं, हे भरतर्षभ, मैं वह काल बतलाता हूं"

इत्यादि वचनों से दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण का ही अनावृत्ति या मुक्ति को नियामक स्मरण किया गया है, भीष्म आदि ज्ञानियों का भी उत्तरायण की प्रतीक्षा करना इसकी सूचना देता है, ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है। वहां यह प्रत्युत्तर में कहना है कि हार्द से अनुगृहीत आत्मा का रात्रि को भी रश्मि के अनुसार गमन जब होता है तब दक्षिणायन में भी उसी प्रकार शुक्ल मार्ग का आरोहण सम्भावित है। अर्चि, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण आदि का तथा धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष दक्षिणायन आदि का आतिवाहिकत्व माना जाता है। क्योंकि प्रयाण काल में उत्तनक्षत्र को अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न होता है कि स्मृति वाक्य में

"उस काल को बतलाता हूं"

इस काल विशेष के बोधन की प्रतिज्ञा से उसका विरोध होगा तो ऐसा नहीं है। योगो के प्रति यह दिन आदि काल का विनियोग अनावृत्ति के लिए स्मरण किया गया है। यह ज्ञानी के लिए नहीं है। इस प्रकार अधिकारी का भेद होने से विरोध नहीं रहता। और ये योग और सांख्य स्मार्त हैं, श्रौत नहीं इसलिए श्रौत विज्ञानों में कोई विरोध का प्रसंग नहीं है।

। यह श्री शंकराचार्य मत से सृति के उपक्रम का अधिकरण हुआ।

रामानुजस्तु निशि नेत्यादिसूत्रत्रयमन्यथा व्याचष्टे-यद्यपि निशायामपि सूर्य्यरश्मि-संभवात् तत्रापि रश्म्यनुसारेण गतिः संभाव्यते तथापि—

—"दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्"—

इति दिवा मरणस्योत्तमगतिहेतुत्वं निशामरणस्य चाधमगतिहेतुत्वं प्राप्नोतीति विदुषोपि निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिलक्षणगतिर्न स्यादिति चेन्न।

विदुषः कर्मसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वाददोषात्। तथाहि—अधोगतिहेतुभूतानां कर्मणामनारब्धकार्य्याणां विद्यया नष्टत्वादुत्तरेषां चाश्लेषादस्य जीवन्मुक्तस्य केवलं प्रारब्धकर्मवशाच्चरमदेहपातपर्य्यन्तं जीवनमवशिष्यते।

तद्देहपाते तु बन्धहेतुकर्मानवशेषात् दिवा वा निशि वा निर्विशेषं ब्रह्मप्राप्तिरुपपद्यते। दर्शयति च श्रुतिः—

—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये"—इति।

दिवा च शुक्लपक्षश्चेत्यादि कालवचनं त्वविद्वद्विषयं नेयम्। निशि प्रेतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तो यो हेतुरत एव हेतोर्दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धा।

—अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छतीति श्रुत्याः यदा तत् पर्य्यवैति अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते"—

इति पुनरावृत्तिश्रुत्याश्चाविद्वद्विषयत्वं पूर्ववन्नेयम्। विदुषस्तु—

—"तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोतीति वाक्यशेषश्रवणात् दक्षिणायनमृतस्य चन्द्रप्राप्तिर्ब्रह्मप्रपित्सतो विश्राममात्रं गम्यते।

—"ननु—

—"यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनरिति ।

अनावृत्तिपुनरावृत्तिहेतुत्वेन कालविशेषो नियम्यते । स च विद्याकर्मणोरनुल्लेखाद् विद्वदविद्वत्साधारणः संभाव्यते इति चेन्न । अत्र हि तन्मार्गद्वयं योगिनः प्रत्येव योगाङ्गतयाऽनुदिनं स्मर्त्तुं स्मर्य्यते ।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन—

"इत्युपसंहारात् ।

स्मार्ते चैते देवयानपितृयाणे न श्रौते । स्मार्तयोः कालविशेषनियततया श्रौतयोश्च विद्याकर्मनियततया भेदात् ।

। इति सृत्युपक्रमाधिकरणम् रामानुजस्य ।

। इति उत्क्रान्तिपादो द्वितीयः ।

श्रीरामानुजाचार्य "निशिन" इत्यादि सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं। यद्यपि रात्रि में भी सूर्य की रश्मि की सम्भावना से उस समय भी रश्मि के अनुसार गति होना सम्भावित है तथापि—

"दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण मुमूर्षु के लिए प्रशस्त है, इससे विपरीत गर्हित है"।

इस प्रकार दिन में मृत्यु उत्तम गति की हेतु है तथा रात्रि में मृत्यु अधम गति की हेतु है। यह प्राप्तः होता है तो इस प्रकार ज्ञानी को भी रात्रि में मृत्य होने पर उसे ब्रह्म प्राप्ति कराने वाली गति नहीं मिल सकेगी, यह सन्देह ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानियों का कर्म सम्बन्ध केवल देह तक है, इसलिए कोई दोष नहीं आता। समझना होगा कि अधोगति के हेतुभूत कर्म तथा अनारब्ध कार्य विद्या से नष्ट हो चुके हैं आगे के कर्मों का आश्लेष होता नहीं, इस स्थिति में जो जीवन्मुक्त है उसका जीवन केवल अन्तिम शरीर के छूटने तक अवशिष्ट है। उस देह के छूटने पर तो बन्धन के हेतु भूत कर्मों के अवशिष्ट न रहने से दिन या रात में भी प्रयाण होने पर बिना भेद के ब्रह्म प्राप्ति युक्ति सिद्ध होती है।

"तस्य ताव देव चिरं"

आदि श्रुति इसी अर्थ को प्रकट कर रही है।

"दिन शुक्ल पक्ष"

आदि काल नियामक स्मृति वचन को तो अज्ञानी के विषय में समझना चाहिए। रात्रि में प्रयाण करने वाले ज्ञानी की ब्रह्म प्राप्ति का जो कारण है उसी कारण से दक्षिणायन में मरने वाले की भी ब्रह्म प्राप्ति सिद्ध होती है।

"जो दक्षिणायन में मरता है, वह पितरों की ही महिमा में जाकर चन्द्रमा के साथ सायुज्य प्राप्त करता है,

"यह श्रुति वचन तथा

"जैसे वह जाता है उसी मार्ग से पुनः लौटता है"

यह पुनरावृत्ति का श्रुतिवचन अविद्वान् या अज्ञानी के विषय में पूर्ववत् समझना चाहिए। ज्ञानी के लिए तो

"इसलिए ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है"

इस वाक्य शेष के श्रवण से दक्षिणायन में मरने वाले की चन्द्र प्राप्ति का तात्पर्य ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा वाले का विश्राम मात्र है।

प्रश्न होता है कि—

"जिस काल में प्रयाण करने से योगी गण आवृत्ति और अनावृत्ति को प्राप्त करते हैं उस काल को बतलाता हूं"

"अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष तथा ६ मास का उत्तरायण, इसमें प्रयाण करने वाले ब्रह्मवेत्ता गण ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।"

'धूम रात्रि, तथा कृष्ण और दक्षिणायन के ६ मास इनमें प्रयाण करने वाला योगी चन्द्रमा को प्राप्त करके लौट पड़ता हैं।"

—"ये शुक्ल और कृष्ण गतियां जगत में शाश्वत मानी गई हैं, एक से मुक्ति को प्राप्त करता है [योगी] द्वितीय से फिर वापस आता है।"—

इन प्रमाणों में मुक्ति और पुनरावृत्ति के हेतु के रूप में काल विशेष का नियमन होता है। उसमें विद्या और कर्म का उल्लेख न होने से क्योंकि यहाँ ये दो मार्ग योगि के प्रति ही योगाङ्ग के रूप में प्रतिदिन स्मरण करने के लिए कहे गए हैं।

—"हे पार्थ इन सृतियों को जानने वाला योगी मोह को प्राप्त नहीं करता, इसलिए हे अर्जुन, सब कालों में योग युक्त बन"—

यह उपसंहार भी इसी को पुष्ट करता है। ये देवयान और पितृयाण स्मृति के द्वारा बोधित हैं श्रुति के द्वारा नहीं। स्मृति बोधित मार्ग काल विशेष से नियत होते हैं और श्रौत मार्ग विद्या और कर्म से नियत है यह दोनों का भेद है।

यह श्री रामानुजाचार्य के अनुसार सृति के उपक्रम का अधिकरण हुआ।

यह द्वितीय उत्क्रान्तिपाद पूर्ण हुआ।

अथ गतिपादः प्रारभ्यते

देवयानगतिक्रमाधिकारः

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।४।३।१।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।४।३।२।

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ।४।३।३।

आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात् ।४।३।४।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ।४।३।५।

वैद्युतेनैव ततस्तछ्रुतेः ।४।३।६।

कार्य्यंवादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।७।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।८।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।९।

कार्य्यात्त्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।१०।

स्मृतेश्च ।४।३।११।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।४।३।१२।

दर्शनाच्च ४।३।१३।

न च कार्य्ये प्रत्तिपत्त्यभिसन्धिः ।४।३।१४।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च ।४।३।१५।

विशेषं च दर्शयति ।४।३।१६।

दर्शितः पूर्वमुत्क्रान्तिक्रमो दर्शितश्च सृत्युपक्रमः । सृतिक्रमस्त्विदानीं प्रदर्श्यंते । तत्र तावद् वह्व्यो विप्रतिपत्तयः श्रूयन्ते ।

—"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति"–

श्रुतौ तावन्मार्गपर्वानपेक्षमतिक्षैप्रेणादित्याभिप्राप्ति दर्शयति ।

अन्यत्र तु देवयानपितृयाणाख्यौ द्वौ मार्गभेदौ व्याख्याय तयोः पृथक् पृथक् पर्वाण्युपदिशति—

—"तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद् यान् षड़ुदङ्ङेति मासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः ।

स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवयानःपन्था ।

इत्यादिना । क्वचिच्चन्द्रमसमनाख्याय वैद्युतं ब्रह्मलोकं चाह । क्वचिद् विद्युतमनाख्याय चन्द्रमसं ब्रह्मलोकं चाह ।

क्वचित्तु—

—स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमित्यादिना स देवयानोऽग्निलोकवायुलोकादिपर्वाख्यायते नार्चिरादिपर्वा । इतरत्राग्निलोकमनुक्त्वा वायुलोकादेवेमं मार्गमुपक्रमते । यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छतीति ।

अपरत्र सूर्य्यादुपक्रमते—

—"ये सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्तीति"—

एकत्र पुनश्चन्द्रादुपक्रमते--

-ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति--

—तदित्थमप्रतिपत्तो ब्रूमः अर्चिरादिना तत् प्रथितेरिह सामञ्जस्यं द्रष्टव्यमिति। पूर्वाधिकरणे सृत्युपक्रमे मूर्द्धन्यनाड्या तदितरनाडीभिर्वोत्क्रान्तस्य यै रश्मिभिरूर्ध्वगमनमाख्यातं तेषामेव रश्मीनामर्चिरादिना पर्वविशेषेण प्रथनं निरूप्यते।

सामान्येनोक्तानां रश्मीनामर्चिरादिपर्वाख्यानाद्विस्तारः प्रदर्शितो भवति। तत्रार्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणसंवत्सररश्म्यवयवविशेषा द्रष्टव्याः--

--स एतावानयमग्निलोकः। रश्मिरूपस्य संवत्सरस्याग्नित्वेनाख्यानात्।

गतिपाद का प्रारम्भ

देवयान गतिक्रम का अधिकार

पहिले उत्क्रान्ति या शरीर से उत्क्रमण तथा सृति का उपक्रम अर्थात् शरीर से आगे बढ़ने के उपक्रम का विवरण दिया गया। अब यहां आगे बढ़ने का या सृति का क्रम दिखाया जाता है। सृति के इस क्रम में बहुत सो विप्रतिपत्तियां सुनाई देती हैं।

—"अब इन्हीं राशियों से ऊपर की ओर जाता है, वह वहां आदित्य तक जाता है जहां तक मन का खिंचाव ऊपर है।"

यह श्रुति मार्ग के पर्वों की अपेक्षा करती हुई अत्यन्त शीघ्रता से आदित्य की प्राप्ति बतलाती है। अन्यत्र देवयान और पितृयाण दो मार्ग भेदों को बतलाकर उनके पृथक् पृथक् पर्व

—"तेर्डाचष मभिसम्भवन्ति"

आदि श्रुति में बतलाए गए हैं। कहीं चन्द्रमा का नाम न लेकर वैद्युत और ब्रह्मलोक का नाम लिया गया है। कहीं विद्युत का नाम न लेकर चन्द्रमा और ब्रह्मलोक को बतलाया है। कहीं तो

—"वह इस देवयान मार्ग को पकड़कर अग्निलोक में आता है, फिर वह वायुलोक में जाता है,"—

इत्यादि सन्दर्भ में वह देवयान मार्ग अग्निलोक वायुलोक आदि पर्व वाला [पड़ाव वाला] बतलाया गया है न कि अर्चि आदि पर्व वाला अन्यत्र अग्निलोक का नाम न लेकर वायुलोक से ही इस मार्ग का उपक्रम किया गया है।

—"जब यह पुरुष यहां से जाता है तो वह वायु लोक में जाता है।"—

अन्यत्र गति का उपक्रम सूर्य से कहा गया है

—"जो सूर्य द्वार से जाते हैं, वे विरज होकर जाते हैं।"—

एक स्थल पर गति का उपक्रम चन्द्रमा से हुआ है,

—"जो कोई इस लोक से जाते हैं वे सब चन्द्रमा में ही जाते हैं।"

इस प्रकार अनिश्चय की स्थिति में कहा जाता है कि अर्चि आदि के द्वारा उस प्रस्थान का सामञ्जस्य देखना चाहिए। पहिले के अधिकरण में सृति के उपक्रम में मूर्धन्य नाड़ी या अथवा उससे भिन्न नाडियों से जिन रश्मियों के माध्यम से उर्ध्व गमन का कथन हुआ है उन्हीं रश्मियों का अर्चि आदि पर्वों के कथन विस्तार प्रदर्शित किया जा रहा है। वहां अर्चि, अह, (दिन) शुक्ल पक्ष, उत्तरायण, संवत्सर को रश्मि का अवयव विशेष समझना चाहिए। यह इतना अग्निलोक है क्योंकि रश्मि रूप संवत्सर को अग्नि रूप बतलाया गया है।

संवत्सराद्धूर्ध्वं वायुं गच्छतीति ब्रूमः। अग्निवाय्वादित्यानां त्रैलोक्याधिष्ठातृतया वायुमगत्वा साक्षानग्नित आदित्यसंबन्धायोगात्—

—श्रुतौ वायुर्नाख्यायते इति तु न भ्रमितव्यम्। अविशेषतो विशेषतश्च वायोराख्यातत्वात्। तथाहि। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमिति छान्दोग्ये संवत्सरः पठ्यते न देवलोकः—

—मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमिति वाजसनेयके देवलोकः पठ्यते न संवत्सरः। तदुभयैकवाक्यतया संवत्सर एव देवलोक इति गम्यते। यत्तु शंकरस्तयोर्भेदं मन्यमानो मासेभ्यः संवत्सरः ततो देवलोकः ततो वायुः तत आदित्य इत्येवमावपति तदज्ञानात्।

"संवत्सरः खलु वै देवानां पूरिति—

श्रुतेः—

देवचक्रं वा एतत् परिप्लवं यत्संवत्सरः । संवत्सरमेव तद्यजमानाः समारोहन्तीति (कौ०ब्रा० २०।२) कौषीतकिश्रुतेः ।

—"मध्येह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (शत०६।७ अ० ४ ब्रा) इति ।

संवत्सरो वै देवानां जन्म (शत०८।७ अ०।३ ब्रा०) इति श्रुतेश्च संवत्सरस्यैव देवलोकत्वाभ्युपगमात् ।

तथा च देवत्वाविशेषाद् वायुरपि तत्रोक्तप्राय एव ।

—"योऽयं पवते एष देवानां गृहाः"—

इति श्रुतेः—

—"अग्निः सर्वा देवता वायुः सर्वा देवताः—

इति श्रुतेश्च संवत्सराग्निवद् वायोरपि देवलोकत्वाविशेषाद् देवलोकशब्देनैव वायोरपि संग्रहणात् ।

येषां तु शंकरादीनां मते संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकः पृथक् पठ्यते तेषां च तच्छब्देन वायुरेवायं द्रष्टव्यः अथ विशेषतश्च—

—"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति । स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्"—

इति कौषीतकश्रुतावग्निलोकं वरुणाद्यादित्यलोकं चान्तरा वायुराख्यायते ।

संवत्सर के ऊपर उठकर वायुलोक को जाता हैं । क्योंकि अग्नि, वायु, आदित्य, त्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं अतः वायुलोक में न जाकर अग्निलोक से सीधे आदित्य में जाने का योग नहीं बैठता । श्रुति में वायु को नहीं' कहा गया यह भ्रम नहीं होना चाहिए । अविशेष तथा विशेष रूप से वायु का कथन श्रुति में है । छान्दोग्य में—

—मासों से संवत्सर को तथा संवत्सर से आदित्य—

—"यहां संवत्सर पढा गया है देवलोक नहीं कहा गया । वाजसनेय में देवलोक कहा गया है संवत्सर नहीं कहा गया—

—"मासेभ्यो देवलोकम्"—

आदि । दोनों की एकवाक्यता से संवत्सर ही देवलोक है यह समझा जाता है । श्रीशंकराचार्य उन दोनों में भेद मानते हुए मासों संवत्सर को प्राप्त करता है, उसके बाद

देवलोक आता है तब वायु, तब आदित्य आता है ऐसी व्याख्या करते हैं, वह ठीक नहीं है। श्रुति कहती है कि—

—"संवत्सर देवताओं का पुर है"—

कौषीतक में कहा गया है कि—

—"यह देवचक्र का परिप्लव है जो संवत्सर है, यजमान संवत्सर पर ही आरोहण करता है।"—

—"संवत्सर के मध्य में स्वर्ग लोक है"—

—"संवत्सर देवों का जन्म है,"—

इस श्रुति से संवत्सर ही देवलोक है, यह सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार देव होने के कारण वायु का भी कथन हो ही जाता है।

—" जो बहता है वह देवताओं का घर है"—

इस श्रुति वाक्य तथा

—"अग्नि सभी देवता हैं, वायु सभी देवता है"—

इस श्रुति वाक्य से संवत्सराग्नि के समान वायु के भी देवलोक से अभिन्न होने के कारण देवलोक शब्द से ही वायु का भी संग्रह हो जाता है। श्री शंकराचार्य आदि जिन आचार्यों के मत में संवत्सर के ऊपर देवलोक पृथक् पढा जाता है उनके मत में उस शब्द से वायु को ही समझना चाहिए।

—"विशेष रूप से वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है। वह वायुलोक को वह वरुणलोक को, वह इन्द्रलोक को, वह प्रजापतिलोक को वह ब्रह्मलोक को"—

इस कौषीतक श्रुति में अग्निलोक और वरुण आदि आदित्यलोक के मध्य में वायु कहा जाता है।

तथा चाग्निः सर्वा देवता वायुः सर्वा देवता"—

इति श्रुतेः संवत्सरशब्दोक्तानग्निमयान् सर्वान् पूर्वं गत्वा वायुमयान्देवानन्तरिक्ष-भाजोगच्छति।

ततो यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं, तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते ।

यथालम्बरस्य खं, तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते यथा——

दुन्दुभेः खम् । तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमम् । तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः"—

इतिवाजसनेयश्रुतेः, पूर्वोक्तकौषीतकश्रुतेश्चः, वरुणेन्द्राभ्यां द्वेधा विभक्तमादित्यं गच्छतीति प्राप्तौ तत्र विशेषं ब्रूमः——

तडितोऽधि वरुणो द्रष्टव्य इति ।

संवत्सराद्ूर्ध्वं वायुं गत्वा तत आन्तरीक्ष्यत्वसामान्याच्चन्द्रं विद्युतं च प्रथमं गच्छति ततो वरुणमिन्द्रं चेति क्रमो नेयः ।

——"यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्ति अथापः प्रपतन्ति । विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वेति ब्राह्मणश्रुत्या विद्युद्वरुणयोः सम्बन्धावगमात् ।

नन्वेवं तर्हि संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं स ब्रह्म गमयतीति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधः स्यादिति चेन्न ।

तत्रादित्यशब्दश्य संवत्सरप्रवर्तकतदात्माभिप्रायकत्वात् तस्याग्निलोक एवान्तर्भावात् । ततो वायुचन्द्रविद्युद्भिर्वायुलोकः ।

ततो वरुणेन्द्राभ्यां द्युलोकः । ततः प्रजापतिर्ब्रह्म चेत्युभयमशोकमहिमं दिवः परस्तात् परोरजो धाम ।

तत्रापि प्रजापतिपरं कार्य्यब्रह्म । ततः परं मुख्यं ब्रह्म । सा परागतिः ।

प्रजापतिरेव वा परागतिरितिमार्गपर्वाणि । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्तीत्यत्र सूर्य्यशब्दो वरुणेन्द्रपरः । इन्द्रोयं हिरण्मयः कोशः, तमिन्द्रं गत्वा विरजसो भवन्तो विरजो ब्रह्मैव संपद्यते ।

—"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्"——

इति श्रुतेः ।

अथवा विद्युदेवायमिन्द्रो य एष हिरण्मयकोश इहेष्यते । न तु वरुणादुत्तरः ।

––"यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकादिति वाजसनेयश्रुत्येकवाक्यतानुरोधेन––

—"स एतं देवयानं पन्थानमिति कौषीतकश्रुतौ वरुणस्यादित्यतया इन्द्रस्य च चन्द्रपरतया व्याख्येयत्वात् । वरुणपर्य्यन्तानामग्निवाय्वादित्यानामग्निरूपतया तदूर्ध्वं सोमस्यैव लब्धावसरत्वाच्च ।

अग्निसोमाभ्यामुत्तीर्णस्य तत्प्रभवे कार्य्यब्रह्मणि परब्रह्मणि च क्रमेण प्रवेशोऽवकल्पते । तत्राद्यस्य कामप्रलोकत्वं परस्याशोकमहिमलोकत्वं चावसेयम् ।

तत्प्रथितेरविशेषाभ्यामित्येतद्व्याख्यानं शंकरकृतं विडम्बनामात्रं नातीव सम्यगस्तीत्युपेक्ष्यते ।

। इति आरोहणमार्गपर्वाधिकरणम् ।

अग्निलोकः	१	अर्चिः	प्रथमलोकः पृथ्वी	
	२	अहः		
	३	शुक्लपक्षः		
	४	उत्तरायणमासाः		
	५	संवत्सरः देवलोकः		
वायुलोकः	६	वायुः	मध्यमलोकः अन्तरिक्षम्	
आदित्यलोकः	७	आदित्यः	उत्तमलोकः द्युलोकः	
सोमलोकः	८	चन्द्रमाः		
विरजा अशोकमहिमलोकः	९	विद्युत्–इन्द्रः		
	१०	वरुणः–आदित्यः	उत्तमलोकः द्यौः	
	११	इन्द्रः–चन्द्रमाः		
	१२	प्रजापतिः		
	१३	ब्रह्म		

—"अग्नि सभी देवता है, वायु सभी देवता है"—

इस श्रुति से संवत्सर शब्द से कहे गए अग्निमय सभी लोकों में पहिले जाकर अन्तरिक्ष स्थित वायुमय देवलोक में जाता है। तब

—"यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्"—

इत्यादि वाजसनेय श्रुति तथा पूर्वोक्त कौषीतकि श्रुति वाक्यों से विदित होता है कि वरुण और इन्द्र से दो विभागों को प्राप्त कर आदित्य लोक को जाता है, इस पर विशेष वक्तव्य है कि–

तडित को वरुण के अधिकार में समझना चाहिए।

संवत्सर से ऊपर वायुलोक में जाकर वहां अन्तरिक्ष की समानता से चन्द्रमा और विद्युत को पहिले प्राप्त करता है तब वह वरुण और इन्द्रलोक को जाता है यह क्रम समझना चाहिए।

–"यदा हि विद्युत"–

आदि ब्राह्मण श्रुति वाक्य से विद्युत् और वरुण के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। प्रश्न होता है कि उस स्थिति में

–"संवत्सर से आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में, चन्द्रमा से विद्युत में, तब वह ब्रह्म को पहुंचता है"–

इस प्रत्यक्ष श्रुति का विरोध होगा तो ऐसा नहीं है। क्योंकि वहां आदित्य शब्द का अर्थ संवत्सर के प्रवर्तक से एकरूपता का अभिप्राय रखने का है और उसका अग्निलोक ही अन्तर्भाव है। उसके आगे वायु चन्द्र और विद्युत से बना वायु लोक है। उसके अनन्तार वरुण और इन्द्र से बना द्युलोक है। उसके आगे प्रजापति और ब्रह्म इन दोनों की शोक रहित महिमा से दिव के आगे परोरज धाम है। वहां भी प्रजापति दूसरा कार्य ब्रह्म है, उसके आगे मुख्य ब्रह्म है। वह परागति है। अथवा प्रजापति ही परागति है, ये मार्ग के पर्व हैं। सूर्य के द्वार से विरज हो जाते हैं। यहां सूर्य शब्द वरुण और इन्द्र के लिए आया है। यह इन्द्र हिरण्मय कोश है, उस इन्द्र के पास जाकर विरजा होकर विरज ब्रह्म ही हो जाता है।

"हिरण्मय पर कोश में निष्फल ब्रह्म है, उस शभ्र ज्योतियों की अमृत ज्योति की आयु के रूप में उपासना करते हैं"

यह श्रुतिवचन यहां ध्यातव्य है। अथवा यह विद्युत ही इन्द्र हैं, जिसे यहां हिरण्मय कोश कहा गया है, वरुण से आगे वाला नहीं।

"जब पुरुष इस लोक से"

इत्यादि वाजसनेय श्रुति के साथ एक वाक्यता के अनुरोध से

"वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त करता है"

इस कौषीतक श्रुति में वरुण की आदित्य के रूप में तथा इन्द्र की चन्द्र के रूप व्याख्या की जाती है। वरुण पर्यन्त अग्नि वायु आदित्य के अग्निरूप होने के कारण उसके ऊपर सोम को स्थिति ही अवसर प्राप्त है। अग्नि और सोम से आगे बढ़ने पर उनके प्रभव या उत्पादक कार्य ब्रह्म में है तथा पर ब्रह्म में क्रम से प्रवेश सम्भव होता है। वहां कार्य ब्रह्म का काम लोकत्व तथा पर ब्रह्म का अशोक महिमा वाला लोक होना समझना चाहिए।

'तत्प्रथितेरविशेषाभ्याम्'

इस सूत्र का श्रीशंकराचार्य का व्याख्यान ठीक नहीं है।

। यह आरोहण मार्गपर्व का अधिकरण हुआ।

अस्मिंश्चार्चिरादि विद्युदन्ते देवयानमार्गेऽहरादयः संवत्सरान्ताः कालशब्दाः श्रूयन्ते।

ततोऽहरादिकालविशेषे मृतानामेवायं देवयानः पन्थाः स्यात् इष्यते च रात्र्यादि-मृतानामपि विदुषामित्यत उच्यते––

न तावदिमे कालविशेषा अभ्युपगम्यन्ते किन्तु आतिवाहिका एते कालाभिमानिनो अग्निमया देवाः प्रेतानामतियात्रायां प्रवृता इति तल्लिङ्गादवगम्यते।

––तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयतीत्युपसंहाराक्षरेणार्चिरादीनां सर्वेषां गमयितृत्वोपपत्तेः। अत एवैतानि मार्गचिह्नानि भोगभूमयो वेत्यपि निरस्तम्।

ननु प्रेताः स्वयमेव गमिष्यन्ति। अहरादिकालद्वारा वा यास्यन्ति इति तेषां देव-विशेषत्वकल्पनं नावकल्पते इति चेन्न।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः । प्रेतास्तावद्देहवियोगात् संपिण्डितकरणग्रामा दीर्घयात्रायामस्वतन्त्रा स्युः । अर्चिरादयोऽप्यचेतनत्वादस्वतन्त्राः स्युः ।

तथा चोभयेषामयोग्यत्वादभिमानिदेवानां चेतनानां नेतृत्वं सिद्ध्यति । अग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनातिवाह्यते वायुस्वामिकं तु लोकं प्राप्तो वायुनेति संभाव्यते । एष च न्यायो विद्युत्पर्यन्त एव द्रष्टव्यो नोपरिष्टाद्वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकेषु वरुणेन्द्रादिभिर्नीयते ।

विद्युतं प्राप्तस्य तत ऊर्ध्वेषु वरुणादि लोकेषु वैद्युतेनैवामानवेन पुरुषेणातिवाह्यत्वं प्रतिपत्तव्यं तच्छ्रुतेः ।

—स एतान् ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मपर्य्यन्तं तस्यैव गमयितृत्वं श्रूयते । न वरुणादीनाम् ।

। इत्यर्चिरादीनामातिवाहिकत्वाधिकरणम् ।

इस अर्चि से प्रारम्भ करके अन्त में विद्युत् तक के देवयान मार्ग में अह या दिन से आरम्भ करके अन्त में संवत्सर तक के काल वाचक शब्द सुनने में आते हैं।

इससे अह या दिन रूपी विशेष काल में मरने वालों के लिए ही यह देवयान मार्ग सिद्ध होता है, परन्तु रात्रि आदि में मरने वाले ज्ञानियों के लिए भी यह मार्ग अभीष्ट है।

इसलिए कहा जाता है कि ये काल विशेष के रूप में नहीं पहिचाने जाते किन्तु ये काल के अभिमानी अग्निमय देव आतिवाहिक हैं जो प्रयाण करने वालों की अतियात्रा में प्रवृत्त हैं। यह उनके चिन्हों से अवगत होता है।

वह पुरुष अमानव है, वह इनको ब्रह्म तक पहुंचाता है।

इस उपसंहार से अर्चि आदि सभी प्राप्त कराने वाले हैं।

इसीलिए यह शका निरस्त हो जाती है कि ये मार्ग के चिन्ह हैं या भोग भूमियां है।

प्रश्न होता है कि प्रेत तो स्वयं ही चले जायेंगे अथवा दिन आदि काल के द्वारा जायेंगे, इसलिए यहां देव विशेषत्व की कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती तो यह प्रश्न ठीक नहीं है।

"दोनों के व्यामोह के कारण उसकी सिद्धि होती है"

जो प्रेत अवस्था में है उनकी इन्द्रियों का समूह पिण्ड रूप में पहुंच गया है, वे दीर्घ यात्रा में स्वतन्त्र नहीं रहे। अर्चि आदि भी अचेतन होने के कारण अस्वतन्त्र हैं।

इस प्रकार इन दोनों के अयोग्य हो जाने से अभिमानी चेतन देवताओं का नेतृत्व सिद्ध होता है।

जो अग्नि के स्वामित्व वाले लोक में पहुंच गया है। उसका आगे वहन अग्नि करता है, जो वायु के स्वामित्व वाले लोक में पहुंच गया है उसका आगे वहन वायु करता है। यह न्याय विद्युत् तक हो है उसके आगे यह नियम नहीं है।

वहां वरुण इन्द्र और प्रजापति के लोकों में वरुण इन्द्र आदि के द्वारा ले जाया जाता है। विद्युत् लोक में प्राप्त होने वाले को उसके आगे वरुण आदि लोकों में अमानव वैद्युत पुरुष के द्वारा हो ले जाया जाना सम्भव होता है। यही श्रुति कहतो है।

"वह इनको ब्रह्म तक ले जाता है"

इससे उसी का ब्रह्म तक ले जाना सुना जाता है, वरुण आदि का नहीं।

। यह आचि आदि का आतिवाहिकत्व का अधिकरण पूर्ण हुआ।

स एतान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र किं कार्य्यमपरं ब्रह्म गमयति अथवा परमं वा विकृतं मुख्यं ब्रह्मेति संशये निर्णयमाह वादरिराचार्य्यः स एतानमानवः पुरुषो हिरण्यगर्भाख्यं कार्य्यं ब्रह्म गमयतीति।

अस्य गत्युपपत्तेः। अस्यैव हि कार्य्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयमित्यादि श्रुत्युक्तप्रदेशवत्वात्। न तु परस्मिन् ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वोपपद्यते। सर्वगतत्वात् गन्तृणां प्रत्यगात्मत्वाच्च। विशेषितत्वाच्च।

—"ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति"—

इति श्रुत्यन्तरे बहुवचनेन विशेषितत्वात् कार्य्यब्रह्मविषयैव गतिरित्यवगम्यते। कार्य्येऽवस्थाविशेषोपपत्या बहुत्वसंभवेऽपि परब्रह्मणि निर्विशेषे तदनवलक्ष्प्तः।

ननु कार्य्यविषये ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समस्तजगज्जन्मादिकारणे ब्रह्म शब्दप्रतिष्ठानादिति चेन्न।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः । परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धात् क्वचित्कैश्चिद्वि-कारधर्मैर्मनोमयत्वादिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमुच्यते इति परब्रह्मसामीप्यादपरस्मिन् ब्रह्मशब्दव्यपदेशो न विरुध्यते । तत्र गतानां तेषामिह पुनरनावृत्तिरस्ति । पराः परावतस्तत्र वसतां कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परं प्रतिपद्यते इत्यभिधानादवगच्छामः । भवति हि कदाचित् कार्य्यब्रह्मणः प्रलयसमयः ।

तदानीं कार्य्यधर्माणां स्वत एवात्यये जाते तदध्यक्षेण विज्ञानात्मना सहैवातः प्रजापतेः परं ब्रह्म परिशुद्धं निर्विशेषं धाम प्रपद्यते ।

एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते इत्यभिधानात्"—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं

पदम्—

इति स्मृतेश्च ।

तस्मात् कार्य्यब्रह्मविषयैव विदुषां प्रभावाद् गतिः श्रूयन्ते इति सिद्धान्तः ।

। इति वादरिमतेन कार्य्यब्रह्मावसानगत्यधिकरणम् ।

"वह इनको ब्रह्म तक ले जाता है"

इस वाक्य से यह सन्देह होता है कि क्या वह अपर कार्य ब्रह्म तक ले जाता है, अथवा परम ब्रह्म तक ले जाता है,

अथवा विकृत अथवा मुख्य ब्रह्म तक ले जाता है, इस सन्देह पर आचार्य बाद-रायण का निर्णय है कि वह अमानव पुरुष इनको हिरण्यगर्भ नाम के कार्य ब्रह्म तक ले जाता है । क्योंकि इसकी गति उपपन्न है । इसी कार्य ब्रह्म तक गन्तव्यता उपपन्न होते होती है । 'तदपराजिता'

इत्यादि श्रुति में उसका प्रदेश बतलाया गया है । परब्रह्म में तो गमनकर्तृत्व, गन्तव्यत्व या गति कुछ भी उपपन्न नहीं होतो । क्योंकि वह तो सर्वगत है और गमना कर्त्ता जीवात्मा ही होता है । विशेषित होने से भी ऐसा है ।

'ब्रह्म लोकान् गमयति'

इत्यादि दूसरी श्रुति में बहुवचन से विशेषित होने से यह गति कार्य ब्रह्म विषयिणी ही है यह निश्चय होता है। कार्य में अवस्था विशेष के उपपन्न होने से बहुत्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्रश्न होता है कि कार्य के विषय में ब्रह्म शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म शब्द तो समस्त जगत् के जन्म आदि के कारण के लिए प्रतिष्ठित है, तो यह सन्देह निरर्थक है, क्योंकि उस प्रकार का कथन सामीप्य के कारण है। पर ब्रह्म ही विशुद्ध उपाधि का सम्बन्ध होने पर कहीं कभी मनोमयत्व आदि विकार धर्मों से सवलित होकर उपासना के लिए उपदिष्ट होकर अपर ब्रह्म कहा जाता है।

इसलिए परब्रह्म के समीप होने के कारण अपर में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं होता। वहां तक पहुंचे हुए की यहां पुनरावृत्ति नहीं होती यह—

"परा। परावत:"

इत्यादि श्रुति से जाना जाता है। कभी कार्य ब्रह्म का प्रलय समय होता है। उस समय कार्य धर्मों के स्वतः ही विलय हो जाने पर उसके अध्यक्ष विज्ञानात्मा के साथ यह प्रजापति भी परब्रह्म रूपी विशुद्ध धाम को प्राप्त कर लेता है।

इसके द्वारा स्वीकृत होने पर इस मानव के समीप नहीं जाते"

ऐसे कथन से तथा—

'प्रतिसंचार के उपस्थित होने पर ब्रह्म के साथ वे सब परम पद में प्रवेश करते हैं।

"इस स्मृति वचन से भी यह सिद्ध होता है। इसलिए ज्ञानियों के प्रभाव से गति कार्य ब्रह्म विषयिणी ही सुना जाती है, यह सिद्धान्त है।

। यह बादरि के मत से कार्य ब्रह्म में अवसान की गति का अधिकरण हुआ।

जैमिनिस्त्वाचार्य्यो मन्यते—

—"स एतान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र वैद्युतः पुरुषः परमेव ब्रह्म प्रापयति। तस्य मुख्यत्वात्। परस्मिन्नेव हि ब्रह्मशब्दस्य मुख्यावृत्तिः। कार्य्ये गौणी। संभवति मुख्यग्रहणे गौणग्रहणमन्याय्यम्।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति दर्शनाच्च परावसाना गतिर्न्याय्या। कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुरिति श्रुतेः कार्य्यस्य मृत्युमयत्वात्।

अपि च कठवल्लीषु दृश्यते ।

—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वदेति परब्रह्मविषयके नाचिकेतप्रश्ने प्रतिवक्ष्यमाणो यमः—

—"अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिरित्यादिना तस्यैव परब्रह्मणः परगतित्वं व्याचष्टेति ।

प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये इत्यादीनां प्रजापतिविषयकवाक्यानामपि न च कार्य्ये ब्रह्मणि प्रतिपत्तिमभिसंदध्मः ।

नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मेति—

कार्य्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणस्तत्रापि प्रकृतत्वात् ।

। इति जैमिनिमतेन परब्रह्मावसानगत्यधिकरणम् ।

आचार्य जैमिनि तो मानते हैं 'वह इनको ब्रह्म तक ले जाता है"

यहां वैद्युत पुरुष परब्रह्म को ही प्राप्त करता है, यही अर्थ है । क्योंकि वही मुख्य है, पर ब्रह्म की मुख्य वृत्ति परब्रह्म में ही है । कार्य ब्रह्म में तो गौण वृत्ति है । यदि मुख्य अर्थ का ग्रहण संभव है तो गौण अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं ।

"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति"

इस कथन से परब्रह्म में अवसित होने वाली गति मानना उचित है ।

"कर्मणामृत्युमृषयो निषेदुः"

इस श्रुति से कार्य की मृत्युमयता सिद्ध होती है । कठवल्ली में देखा जाता है कि—

धर्म से अन्य अधर्म से भी अन्य तथा कृत एव अकृत अन्य तथा भूत और भव्य से अन्य जो देखते हो उसे कहा"

इस नचिकेता के प्रश्न पर यम का उत्तर है कि—

"अव्यक्त से पर पुरुष आलिङ्ग और व्यापक है, जिसको जानकर पुरुष मुक्त हो जाता है और अमृत को प्राप्त करता है । महान् से परे अव्यक्त है, अव्यक्त से परे पुरुष स्थित है, पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह पराकाष्ठा है, वह परागति है ।"

इससे परब्रह्म को ही परागति कहा गया है।

"प्रजापति के वेश्म में पहुंचते हैं"

इत्यादि प्रजापति विषयक वाक्यों का भी कार्य ब्रह्म ही तात्पर्य समझा जाता है।

"नाम और रूप के निर्वाह के बीच में जो है वह ब्रह्म है"

इससे कार्य से विलक्षण पर ब्रह्म ही प्रतिपाद्य होता है।

। यह जैमिनि के मत से पर ब्रह्म में अवसित होने वाली गति का
अधिकरण हुआ।

अथ गन्तव्यं निधार्य्य गन्तॄन्निर्धारयति। तत्र निर्गुणतया विद्यया विद्यावतां देवयानगतिर्नास्ति।

निर्गुणं निर्विशेष परब्रह्मोपासमानानामशेषाविद्याविनिवृत्या स्वस्यैव बह्मभावेन संपत्तौ तत्र गत्यपेक्षाभावात्।

सगुणाभिस्तु सर्वविधाभिर्विद्याभिर्देवयानगतिः संभवति। कार्य्यं ब्रह्मोपासमानानामर्चिराद्यतिवाहकैर्ब्रह्मलोकेषु नीयमानत्वादिति तृतीयाध्याये तृतीयपादे गतेरर्थवत्वमुभयथेत्यादिसूत्रत्रये पूर्वं निरूपितम्। तत्र सगुणास्वपि कासुचिद्विद्यासु देवयानगतिर्नास्तीत्येवं दर्शयितुमिदानीमधिकरणान्तरमुच्यते—

—अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायणः प्रतिजानीते। नामवाङ्मनःसंकल्पचित्तध्यानविज्ञानवलान्नप्तेजोव्योमस्मराशाप्राणाना ब्रह्मभावनानि प्रतीकोपासनानि। तेषु देवपथाख्येन देवयानेन विद्युत्पर्य्यन्तं सत्यपि गमने तत ऊर्ध्वं स वैद्युतः पुरुषस्तात् प्रतीकोपासान्न ब्रह्म प्रापयति। गतेरर्थवत्वमुभयथेत्यत्र सूत्रे तथा गतिसत्त्वोभयथात्वं निर्गुणसगुणविद्याभेदाद् व्याख्यातं, तथेह सगुणविद्यायामपि प्रतीकाप्रतीकोपासनभेदाद् गतिसत्त्वासत्त्वोभयथात्वाभ्युपगमे कश्चिद्दोषो नास्ति।

तत्क्रतुर्हि ब्रह्माप्राप्तौ हेतुः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति तं यथा यथोपासते तदेव भवन्तीति श्रुत्या ब्रह्मक्रतोरेव ब्रह्मसंपद्योग्यत्वात्।

नन्वब्रह्मक्रतुमानपि ब्रह्म गच्छतीति पञ्चाग्निविद्याफलश्रवणाद् गम्यते इति चेत् सत्यम्। तत्र विशिष्य विधानात् तथा सिद्धावप्यन्यत्रौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव ब्रह्मप्राप्त्यभ्युपगमात्।

नामादिषु तु ध्येयेषु दर्शयति। यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यावद्वाचोगतमित्यादिनापूर्वस्मात् फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति।

स चायं फलविशेषः प्रतीकतारतम्यादुपपद्यते। ब्रह्मोपपत्तौ तु तस्या विशिष्टत्वादीदृशः फले विशेषो न स्यात्। तस्मात्र प्रतीकालम्बनानां ब्रह्मसम्पत्तिरिति सिद्धम्।

। इति बादरायणमतेन प्रतीकोपासकानां विदुषामपि मुक्त्यभावाधिकरणम्।

गन्तव्य का निर्धारण होने के उपरान्त अब गन्ताओं का अर्थात् जाने वालों का निर्धारण होता है। वह निर्गुण विद्या वालों की देवयान गति नहीं होती। निर्गुण निर्विशेष परब्रह्म की उपासना करने वालों के लिए समस्त विद्याओं विनिवृत्ति के कारण अपनी हो ब्रह्मभाव प्राप्ति हो जाने पर वहां गति की अपेक्षा ही नहीं रहती। सगुण समस्त विद्याओं से तो देवयान गति होती है। जो कार्य ब्रह्म की उपासना करने वाले हैं उन्हें अर्चि आदि आतिवाहिक ब्रह्म लोक तक ले जाते हैं यह विषय तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में—

—"गतेरर्कवत्त्वमुभयथा,"।—

आदि तीन सूत्रों में पहिले निरुपित हुआ। वहां कुछ सगुण विद्याओं में भी देवयान गति नहीं यह विशेष बतलाने के लिए इस समय दूसरा अधिकरण कहा जाता है-

अप्रतीक के आलम्बन से ले जाता है यह बादरायण को प्रतिज्ञा है। नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, अप, तेज, व्योम, स्मर, आशा, प्राणों को ब्रह्म के रूप में भावित करना प्रतीकोपासना है। उनमें देवपथ नामक देवयान से विद्युत् पर्यन्त जाने पर भी उससे ऊपर वह वैद्युत पुरुष उन प्रतीकोपासकों को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कराता।

—"गतेरर्कवत्वमुभयथा"—

इस सूत्र में जैसे गति की सत्ता और असत्ता वाले दोनों रूप निर्गुण और सगुण विद्या के भेद से व्याख्यात हुए हैं वैसे ही इस सगुण विद्या में भी प्रतीक और अप्रतीक की उपासना के भेद से गति की सत्ता और असत्ता दोनों को मानने पर कहीं दोष नहीं आता। वह क्रतु ही ब्रह्म प्राप्ति में हेतु है।

—"जैसे क्रतु वाला पुरुष इस लोक में होता है वैसा ही यहां से प्रयाण करने पर होता है, उसकी जैसे जैसे उपासना करते हैं, वैसे ही हो जाता है"—

इस श्रुति से ब्रह्म क्रतु वाला ही ब्रह्म संपत्ति के योग्य होता है।

प्रश्न होता है कि—जो ब्रह्म क्रतु वाला नहीं है वह भी ब्रह्म को प्राप्त करता है, यह पंचाग्नि विद्या के फल में सुना जाता है, तो यह सत्य है। वहां विशेष विधान के कारण वैसा होने पर भी अन्यत्र सामान्य क्रतु के न्याय से ब्रह्म क्रतु वालों को ही ब्रह्म प्राप्ति होती है यह माना गया है।

नाम आदि ध्येयों में तो ब्रह्म के गौण होने से ब्रह्म का ध्यान नहीं इसलिए उन नामादि उपासकों को नाम आदि की प्राप्ति होना ही सिद्ध होता है। विशेषता यहां दिखलाते हैं।

—"जहां तक नाम की गति है वहां तक कामनापूर्वक विचरण होता है, जहां तक वाणी गति है"—

इत्यादि वचनों के द्वारा पूर्व पूर्व की उपासना से आगे आगे की उपासना में विशेष फल बतलाया गया है। यह विशेषफल प्रतीकों के तारतम्य से सिद्ध होता है।

ब्रह्म की प्राप्ति में तो उसके विशिष्ट होने से फल में इस प्रकार को विशेषता नहीं होती। इसलिए प्रतीकों का आलम्बन ग्रहण करने वालों को ब्रह्म सपत्ति प्राप्त नहीं होती।

यह बादरायण के मत से प्रतीकोपासक ज्ञानियों को भी
मुक्ति के अभाव का अधिकरण हुआ।

रामानुजस्तु गन्तव्यविषयमेवाधिकरणत्रयेण निर्धारयितु कार्य्यं वादरित्यादिसूत्र-कलापमन्यथा व्याचष्टे। अर्चिरादिर्विद्युदन्तोऽयमातिवाहिको गणः कार्य्यब्रह्मोपासीनं नयति परब्रह्मोपासीनं वेति संशये वादरिस्तावदाह—

—कार्य्यं हिरण्यगर्भमुपासीनमेव नयति अस्यैव गत्युपपत्तेः। नहि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सवात्मभूतं परब्रह्मोपासितुस्तत्प्राप्तये देशान्तरगतिरुपपद्यते। नित्यप्राप्तपरब्रह्म-विषयाविद्यानिवृत्तौ परविद्यया जातायां प्राप्नस्यैव ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशमानत्वात्। कार्य्यस्य तु हिरण्यगर्भस्य परिच्छिन्नत्वात् तत्प्राप्तपे गतिरुपपद्यते।

पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयतीति बहुवचनेन विशेषितत्वाच्च। ननु हिरण्यगर्भस्य गम्यत्वे स एतान् ब्रह्माणं गमयतीति निर्देष्टव्यं स्याद् ब्रह्म गमयतीत्येवं कथमुच्यते इति चेत्--

—सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशो द्रष्टव्यः। या ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमिति श्रुत्या हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्मसामीप्यात्तच्छब्देन व्यपदेश उपपद्यते। ननु एष देवपथो ब्रह्मपथः एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते इत्यपुनरावृत्तिश्रवणं हिरण्यगर्भ-प्राप्तौ विरुध्यते। हिरण्यगर्भस्य कार्य्यभूतस्य द्विपरार्द्धकालमात्रावसायित्वात्।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुनेति

वचनाच्च हिरण्यगर्भप्राप्तस्य पुनरावर्तनीयत्वादिति चेन्न। कार्य्यात्यये तद्ध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्। कार्य्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये ब्रह्मलोकाध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सह स्वयमधिगतविद्योऽयं जीव आत्मा कार्य्यादतः परं ब्रह्म प्राप्नोति। अपुनरावृत्त्यभिधानात्।

ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे"—

इत्यभिधानाच्च। ब्रह्मणा सह ते सर्वे—

—इत्यादिस्मृतेश्च।

तस्मात् कार्य्यमुपासीनमेवातिवाहिको गणो नयतीति सिद्धम्।

। इति रामानुजमतेन बादरिमतीयं कार्य्यब्रह्मोपासनैकहेतुकदेवयानगत्यधिकरणम्।

श्रीरामानुजाचार्य गन्तव्य विषय के तीन अधिकरणों में निर्धारण करने के लिए

—"कार्यं बादरिः"—

इस सूत्र समुदाय की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं। अर्चि से आरम्भ करके विद्युत से अन्त होने वाला यह आतिवाहिक समुदाय कार्य ब्रह्म की उपासना करने वाले को ले जाता है या परब्रह्म की उपासना करने वाले को ले जाता है इस सन्देह पर बादरायण ने कहा कि कार्य रूप हिरण्य गर्भ की आराधना करने वाले को ही ले जाते हैं क्योंकि गति की युक्ति युक्तता इसी के साथ रहती है। जो परिपूर्ण सर्वज्ञ, सर्वगत सर्वात्मभूत परब्रह्म की उपासना करने वाला है उसको उसको प्राप्त करने के लिए अन्य देश को प्राप्त करने के लिए गति युक्ति सिद्ध नहीं है।

क्योंकि परब्रह्म तो नित्य प्राप्त है, विषयभूत अविद्या की निवृत्ति पराविद्या से हो जाने पर जो ब्रह्म स्वयं ही प्राप्त है वह स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। कार्यब्रह्म जो हिरण्यगर्भ है वह परिच्छिन्न है, इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए गति होना युक्तसिद्ध है। अमानव पुरुष आकर ब्रह्मलोकों को ले जाता है यहां लोक का बहुवचन में प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है। प्रश्न होता है कि जब गन्तव्य हिरण्यगर्भ है तो—

–"वह इनको ब्रह्म] के पास ले जाता है"–

ऐसा निर्देश करना चाहिए,

–"वह ब्रह्म को ले जाता हैं यह कैसे कहा जाता है तो इसका उत्तर है कि यह कथन समीपता के कारण है।

—"जो पहिले ब्रह्मा को बनाता है"—

इस श्रुति से हिरण्यगर्भ के प्रथमसंभूत होने से समीप होने के कारण उसका ब्रह्म शब्द से कथन उपयुक्त हो जाता है।

पुनः प्रश्न होता है कि—" यह देवपथ है, ब्रह्मपथ है, इससे इस मानव आवर्त को पुनः नहीं प्राप्त करते"–

पुनः आवृति के अभाव का स्मरण हिरण्यगर्भ की प्राप्ति में विरुद्ध होगा, क्योंकि कार्यभूत हिरण्यगर्भ दो परार्धकाल मात्र तक अवस्थित रहता है।

–"हे अर्जुन, ब्रह्मभुवन तक सभी लोकों में जाकर पुनः आवर्तन होता है"–

इस वचन से हिरण्यगर्भ तक पहुंचने वाला का पुनः आवर्तन होगा, तो यह बात नहीं है। कार्य की समाप्ति पर उसके अध्यक्ष के साथ परब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। कार्य ब्रह्मलोक की समाप्ति पर ब्रह्मलोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ स्वयं विद्या प्राप्त यह जीवात्मा इस कार्यब्रह्म से परब्रह्म को प्राप्त करता है।

क्योंकि अपुनरावृत्ति का कथन है।

परान्त काल में (प्रलय काल में) ब्रह्मलोक में स्थित वे सब पर अमृत से विमुक्त हो जाते हैं।

ऐसा कथन इस विषय में प्रमाण है।

–"ब्रह्म के साथ वे सब मुक्त होते हैं"–

इत्यादि स्मृति वाक्य भी यहां प्रमाण है। इसलिए कार्यबह्म के सभी ही उपासना करने वाले को आतिवाहिक समूह ले जाता है यह सिद्ध हुआ।

यह श्रीरामानुजाचार्य के मत से देवयान गति का अधिकरण हुआ।

जैमिनिस्त्वाचार्यो मन्यते––

परं ब्रह्मोपासीनमेवातिवाहिको नयतीति विद्यः परस्मिन्नेव ब्रह्मणि ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वात्। न च गत्यनुपपत्तिरस्ति। निःशेषाविद्यानिवृत्तिलक्षणामृतत्वप्राप्ते-

विशिष्टदेशगतिसापेक्षत्वात् । एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते इत्यादि शास्त्रदर्शनाच्च ।

नन्वर्चिरादिनागतस्य प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये इत्यादिना कार्य्ये प्रत्यभिसन्धिर्दृश्यते इति चेत्तत्र ब्रूमः । न चायं कार्य्ये हिरण्यगर्भे प्रत्यभिसन्धिः । अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानीत्यभिसंभाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात् सर्वबन्धविनिर्मोकश्रवणाच्च ।

तस्मात् परं ब्रह्मोपासीनमेवातिवाहिको गणो नयतीति विद्यात् ।

। इति रामानुजमतेन जैमिनिमतीयं परब्रह्मोपासनैकहेतुकदेवयानगत्यधिकरणम् ।

आचार्य जैमिनि का तो मन्तव्य है कि परब्रह्म की उपासना करने वाले को ही आतिवाहिक समूह ले जाता है ऐसा हम समझते हैं ।

क्योंकि ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ तो परब्रह्म ही है । ब्रह्म शब्द की गति में कोई अनुपपत्ति तो है नहीं । निःशेष अविद्या की निवृत्ति रूप अमृतत्व की प्राप्ति के लिए विशिष्ट देश की गति की अपेक्षा है ।

—"यह संप्रसाद है कि इस शरीर उठकर परम ज्योति में उपसंपन्न होकर स्वयं के रूप में अभिनिष्पन्न होता है"—

इस शास्त्रीय वचन को देखने से भी यही निष्कर्ष सामने आता है । प्रश्न होता है अर्चि आदि से गए हुए का —

—"प्रजापति की सभा वेश्म में प्रसन्न होता है"

इस कथन से कार्य ब्रह्म के प्रति अभिसन्धि दिखाई देती है, ऐसे विचार पर कहा जाता है कि यह कार्य हिरण्यगर्भ के प्रति अभिसन्धि नहीं है ।

"अश्व इव रोमाणि"

इस श्रुति में लक्ष्यभूत अभिसंभाव्य ब्रह्मलोक की अकृत या अनिर्मित होने का तथा समस्त बन्धों से विनिर्मुक्त होने का श्रवण होता है । अतः आतिवाहिक समूह पर ब्रह्म को उपासना करने वाले को ही ले जाता है यह समझना चाहिए ।

। यह परब्रह्मोपासक की देवयान गति का अधिकरण हुआ ।

अनयोर्मतयोर्विरुद्धत्वात् तत्र सिद्धान्तं भगवान् बादरायणः प्राह । प्रतीकोपासकव्यतिरिक्तानुभयविधानप्येतानयत्यर्चिरादिरातिवाहिको गण इति मन्तव्यम् । कार्य्यमुपासीनानेव नयतीति बादरिमताभ्युपगमे –

अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्येत्यादिकाः श्रुतयः प्रकुप्येयुः । परमुपासीनानेव नयतीति जैमिनिमताभ्युपगमेऽपि—

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्तीति पञ्चाग्निविदां श्रद्धाद्युपासकानामपि ब्रह्मपथोपदेशिका श्रुतिर्व्याकुप्येत् ।

तस्मादुभयथापि दोषदर्शनात् सर्वोऽपि तत्क्रतुः सन् ब्रह्म प्राप्नोति मन्यामहे । तत्क्रतुस्तथोपासीनस्तथा प्राप्नोतीति कृत्वा कार्य्यब्रह्मोपासीनान् कार्य्यब्रह्मैव, परब्रह्मोपासीनांस्तु परब्रह्मैव नयतीति सिद्धान्तः ।

नामैव ब्रह्म वागेव ब्रह्मेत्येवं प्रतीकोपासकांस्तु न ब्रह्म नयति । नामादिक्रतुत्वान्नामादिप्राप्तेरेव तेषां न्यायप्राप्तत्वात् ।

श्रुतिरेव च तमिमं विशेषं दर्शयति यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवतीत्यादिना ।

। इति रामानुजमतेन बादरायणमतीयमुभयविधब्रह्मोपासनहेतुकदेवयानगत्यधिकरणम् ।

। इति गतिविवेकाधिकारः ।

। इति गतिपादस्तृतीयः ।

इन मतों के विरुद्ध होने के कारण भगवान् बादरायण सिद्धान्त कथन करते हैं कि प्रतिकोपासकों के अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के उपासकों को आति वाहिक समूह ले जाता है ऐसा मानना चाहिए । कार्य ब्रह्म के उपासकों को ही ले जाता है इस बादरि के मत को स्वीकार करने पर

"अस्मात् शरीरात् समुत्थाय"

आदि श्रुति वचनों से विरोध होता है । पर ब्रह्म की उपासना करने वालों को ही ले जाता है, इस आचार्य जैमिनि के मत को स्वीकार करने पर भी

"तद्य इत्थं विदुः"

इत्यादि में वर्णित पञ्चाग्नि वेत्ता श्रद्धा आदि के उपासकों के लिए भी ब्रह्म पथ को उपदिष्ट करने वाला श्रुति वचन समञ्जस नहीं होता। इसलिए दोनों ही प्रकार से दोष के दिखाई देने से सभी उस क्रतु वाले ब्रह्म को प्राप्त करते हैं यह माना जाता है। उस क्रतु या उपासना से युक्त उस गति को प्राप्त करता है यह मान लेने पर कार्य ब्रह्म की उपासना करने वाला कार्य ब्रह्म को ही प्राप्त करता हैं, परब्रह्म की उपासना करने वाला परब्रह्म को ही प्राप्त करता है

यह सिद्धान्त है 'नाम ही ब्रह्म है, वाक् की ब्रह्म है' इस प्रकार प्रतीक रूप से उपासना करने वालों को तो ब्रह्म तक नहीं ले जाता जाता। क्योंकि वे नामों के ही उपासक हैं, अतः नामदिकी प्राप्ति ही उनके लिए न्याय प्राप्त होता है। श्रुति ने भी इसी विशेषता को दिखलाया है कि—

"जब तक नाम की गति है वहां उसासक का कामचार होता है" इत्यादि।

। यह रामानुज आदि के मत से दोनों प्रकार के ब्रह्मोपासकों की देवयान-गतिक अधिकरण हुआ।

। यह गति विवेक का अधिकार हुआ।

यह तीसरा गतिपाद पूर्ण हुआ

अथ मुक्तिपादः प्रारभ्यते

कैवल्यमुक्त्यधिकारः

संपाद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।४।४।१।

मुक्त प्रतिज्ञानात् ।४।४।२।

आत्मप्रकरणात् ।४।४।३।

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"—

इति मुक्तिश्रुतावभिनिष्पत्तिशब्देन देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकस्य कस्यचिद्विशेषस्यात्मनि सिद्धिर्वक्तव्या,–

ननु यथाश्रुतं स्वरूपावस्थानमात्रम्। नित्यप्राप्तस्य तस्यापुरुषार्थत्वादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

संपाद्याविर्भावोऽस्तीति।

ज्योतीरूपस्यात्मनो ज्योतिरावरकधर्माणां निःशेषविमोकादात्मस्वरूपेण संपाद्य केवलस्य विशुद्धज्योतिष आविर्भाव एवाभिनिष्पत्तिः।

न तु धर्मान्तरसंश्लेषस्तत्र विवक्ष्यते। स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्येवं स्वेनशब्दात् यद्यत्र धर्मान्तरोत्पत्तिः स्यात् तर्हि तेन धर्मविशेषेणाभिनिष्पद्यते इति ब्रूयात्।

यत्तु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वादपुरुषार्थत्वमुक्तं तन्न। आत्मज्योतिरावरकाणां बन्धहेतूनां धर्माणां निवर्तनस्यैव पुरुषार्थत्वात्।

तस्मात् सर्वधर्मपरित्यागात् नित्यनिरतिशयस्वरूपाविर्भावोऽभिनिष्पत्तिरितिबोध्यम्।

ननु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वादुपसंपद्याभिनिष्पद्यते इति वचनमनर्थकमिति चेत्। तत्रोच्यते। मुक्तः प्रतिज्ञानात् नित्यप्राप्तस्यापि स्वरूपस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य तिरोधाननिवृत्या कर्मसंबन्धतत्कृतदेहादिमुक्तो भवतीत्येचात्र संपद्याभिनिष्पत्तिः।

तथा चायमात्मा पूर्वबन्धप्रयोजकैः सर्वैरेव धर्मैः पूर्वं मुक्तो नासीत् स इदानीं भवति।

—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"—

इति प्रतिज्ञानात्।

—"यथा न क्रियते ज्योत्स्नामलप्रक्षालनान्मणेः।

दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा।

यथोदपानकरणात् क्रियते न जलाम्बरम्।

सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः।

तथा हेयगुणध्वंसादेव बोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते।

इतिशौनकादिप्रतीज्ञानाच्च ।

ननु परं ज्योतिरुपसंपद्येत्यादिना ज्योतिः स्वरूपोसंपत्त्याख्यानान्नायमेकान्ततो विकारविषयातिवृत्तो भवतीति चेन्न । प्रकरणानुरोधादात्मैव तत्र ज्योतिरिति कृत्वा वैकारिकज्योतिषोऽनुपग्रहणात् ।

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरि"—

त्यादि श्रुत्याऽत्मन्यपि ज्योतिःशब्दस्य वृत्तेः । व्याख्यातं चैतज्ज्योतिर्दर्शनादिति सूत्रे ।

तथा च सर्वधर्मविमोकादात्मनः स्वरूपमात्रपर्य्यवसायित्ता मुक्तिरिति सिद्धम् ।

तत्र चेन्द्रियविषयादिद्वितीयासंनिधानात् सुषुप्तिवदसंबोधः प्रशान्तानन्दरूपत्वं चेति बोध्यम् ।

। इति ज्योतिरावरककषायात्यन्तविनिवृत्या ज्योतिराविर्भावस्य कैवल्यमुक्त्यधिकरणम् ।

मुक्ति पाद का प्रारम्भ

कैवल्यमुक्ति अधिकार

"इसी प्रकार का यह संप्रसाद है, इस शरीर से उठकर परम ज्योति में उपसम्पन्न होकर स्वस्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है"

इस मुक्ति श्रुति वाक्य में अभिनिष्पति शब्द से देवलोक आदि उपभोग स्थानों के समान आगन्तुक किसी विशेषता की आत्मा में सिद्धि कहनी होगी, न कि जैसा सुना गया है वैसा अवस्थान मात्र कथन पर्याप्त होगा ।

क्योंकि यदि स्वरूप में अवस्थान मात्र कहा जायेगा तब वह तो सर्वदा प्राप्त ही है, वह पुरुष प्रयत्न साध्य न होने कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकेगा ।

इस प्रश्न के उपस्थित होने पर हमारा कथन है कि

"सम्पन्न होकर आविर्भाव है" ।

ज्योति स्वरूप आत्मा की ज्योति के आवरण करने वाले धर्मों को पूर्णतया हटाकर उसे आत्मस्वरूप में सम्पन्न करके केवल विशुद्ध ज्योति का आविर्भाव कर देना ही अभिनिष्पत्ति है । किसी अन्य धर्म का संश्लेष वहां अभीष्ट नहीं है । क्योंकि—

"स्व स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है"

यहां

"स्वेन"

शब्द का प्रयोग है। यदि यहां किसी अन्य धर्म की उत्पत्ति होती तो उस धर्म विशेष से अभिनिष्पन्न होता है, ऐसा कहा जाता।

जो यह कहा गया कि अपना स्वरूप तो नित्य प्राप्त होने के कारण पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता (मोक्ष या मुक्ति को परम पुरुषार्थ माना जाता है) तो ऐसा नहीं है।

आत्म ज्योति के आवरक बन्धन के हेतु धर्मों को हटा देना ही पुरुषार्थ है। इसलिए समस्त धर्मों के परित्याग पूर्वक नित्य निरतिशय स्वरूप का आविर्भाव ही अभिनिष्पत्ति है, यह समझना चाहिए।

प्रश्न होता है कि अपना स्वरूप तो नित्य प्राप्त हो है, उसके लिए श्रुति का यह कथन कि—

उपसंपन्न होकर अभिनिष्पन्न होता है"

यह निरर्थक है तो उस पर कहा जाता है—

"मुक्त: प्रतिज्ञानात्"

अपना जो रूप नित्य ही प्राप्त है, जो कर्मरूप अविद्या से तिरोहित हो रहा है उसके तिरोधान करने वाले तत्व को निवृत्त करने से कर्म के सम्बन्ध और देह आदि से मुक्त हो जाता है यही यहां संपन्न होकर अभिनिष्पत्ति है।

निष्कर्ष यह कि यह आत्मा पहिले बन्धन के कारणभूत सभी धर्मों से मुक्त नहीं था, वह इस समय उनसे मुक्त होता है।

—"अशरीरी होने पर प्रिय और अप्रिय का स्पर्श नहीं होता"—

ऐसी प्रतिज्ञा की गई है।

—"जैसे मणि का मैल हटाने से उसमें चमक पैदा नहीं होती, वैसे दोषों को दूर करने से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जाता जैसे तालाब बना देने से उसमें प्रतिबिम्बित आकाश का निर्माण नहीं होता, सत् की ही अभिव्यक्ति की जाती है, असत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। वैसे ही हेयगुणों के ध्वस्त हो जाने पर बोध आदि गुण प्रकाशित हो जाते हैं, वे उत्पन्न नहीं किये जाते, क्योंकि वे तो आत्मा में नित्य ही अवस्थित हैं।"—

यह शौनकादि प्रतिज्ञा है। प्रश्न होता है कि परम ज्योति में उपसंपन्न होने आदि कथन से ज्योति के स्वरूप में उपसंपन्न होने के कथन से यह पूर्णतया विकारों के विषय से दूर नहीं हो जाता तो ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रकरण के अनुरोध से वहां आत्मा ही ज्योति है अतः अन्य किसी विकाररूप ज्योति का यहाँ ग्रहण नहीं है।

–"देवगण उस ज्योतियों की ज्योति को (उपासना करते हैं)"–

इस श्रुति में आत्मा को भी ज्योति शब्द से कहा गया है।

–"ज्योतिर्दर्शनात्"–

इस सूत्र पर इसकी व्याख्या की गई है। इस प्रकार सभी धर्मों के छूट जाने पर आत्मा की अपने स्वरूप मात्र में संस्थिति हो जाना ही मुक्ति है यह सिद्ध हुआ। वहां इन्द्रिय विषय आदि के न रहने से सुषुप्ति के समान अबोध और प्रशान्त आनन्द रूपता रहती है, यह समझना चाहिए।

यह कैवल्य मुक्ति अधिकरण हुआ।

अविभागेन दृष्टित्वात् ।४।४।४।

वैकारिकैर्धर्मैरपरिष्वक्तो विशुद्धज्योतिःस्वरूपः परमात्मा। वैकारिकधर्मैः परिष्वक्तस्तु ज्योतिःस्वरूपः प्रत्यगात्मा। स यदानीं तैर्धर्मैरत्यन्तविनिर्मुक्तो भवति तदानीमविशेषात् परमात्मना सादृश्यमेति।

इत्येवं स्थिते जिज्ञासा भवति किमयं तदानीं परमात्मनः पृथगेवावतिष्ठतेऽथवा तदविभागेनैकीभवतीति। तत्रेदं निर्धार्य्य ब्रूते––

अविभागेन दृष्टत्वादिति। अविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते।

––"तत्त्वमसि।

—"अहं ब्रह्मास्मि"––

–"यत्र नान्यत् पश्यति। न तु तद् द्वितीयमस्ति। ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येद्"–

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम"––

इत्यादिभिर्वाक्यजातैः परमात्माविभक्तस्यैव तस्य दर्शनात्।

ननु--

यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्युमुपैति"–

इति श्रुतौ साम्योपदेशात् ।

—"सोऽश्नते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"––

इति श्रुतौ साहित्योपदेशात् ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सगपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च"––

इति स्मृतौ साधर्म्योपदेशाच्चास्य मुक्तात्मनः परमात्मपार्थक्यं लभ्यते इति चेन्न ।

देवादिप्राकृतरूपप्रहाणेन ब्रह्मसमानशुद्धि, परस्परैकीभावे साहित्यं, धर्मतोऽनतिरेकं च वक्तुं तथा व्यवहारात् ।

तथा च मुक्तात्मनः परमात्मना सर्वथैकीभावो भवतीति सिद्धम् ।

। इति शंकरमतेन कैवल्यमुक्तौ जीवात्मनः परमात्मना
सर्वथैकीभावस्य मुक्तित्वाधिकरणम् ।

परमात्मा वैकारिक धर्मों से असंग विशुद्ध ज्योति स्वरूप है । वैकारिक धर्मों को साथ रखने वाला तो ज्योति स्वरूप वाला जीवात्मा है । वह जब उन धर्मों से नितान्त निर्मुक्त हो जाता है तब बिना भेद के परमात्मा के साथ सादृश्य को प्राप्त कर लेता है । इस स्थिति में जिज्ञासा होती है कि क्या जीवात्मा उस समय परमात्मा से पृथक् ही रहता है अथवा उसके साथ अविभक्त होकर एक हो जाता है । वहां निर्धारण पूर्वक कहा जाता है–

अविभाग से ही रहता है, ऐसा ही देखने के कारण मुक्त होकर परमात्मा अविभक्त ही रहता है ।

–"मैं ब्रह्म हूं"–

–"जहां कुछ अन्य नहीं देखता, उससे द्वितीय कुछ नहीं है, उससे विभक्त कुछ नहीं है जिसे देखें,"–

-"जैसे शुद्ध जल में शुद्ध जल मिल जाता है, वैसा ही होता है, ऐसा ही, हे गौतम ज्ञानी मुनिका आत्मा हो जाता है,"-

इत्यादि वाक्य समूह से परमात्मा से अविभक्त रूप से ही उसे बतलाया या देखा गया है।

-"जब रुक्मवर्ण वाले कर्त्ता, ईश, ब्रह्मयोनि, पुरुष को देखता है, तब ज्ञानी पुण्य और पाप को अलग करके निरञ्जन होता हुआ, उससे परम साम्य को प्राप्त कर लेता है"

इस श्रुति में साम्य के उपदेश के कारण निश्चित होता है।

"वह सब कामनों का विपश्चित ब्रह्म के साथ भोग प्राप्त करता है"

इस श्रुति में दोनों के सहभाव का उपदेश—

"इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त करने वाले सृष्टि होने पर भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में भी व्यथि, नहीं होते"

इस स्मृति वचन में साधर्म्य का उपदेश है, इन सन्दर्भों में साधर्म्य के उपदेश से भुक्ता आत्मा का परमात्मा पृथक् रहना सिद्ध होता है, यह शका नहीं करनी चाहिए, क्यों ऐसा व्यवहार देव आदि प्राकृत रूपों के परित्याग के द्वारा ब्रह्म के समान शुद्धि परस्पर एकीभाव हो जाने पर सहभाव, तथा धर्म अतिरिक्त न होने का बोधन करने के लिए है। इस प्रकार मुक्त आत्मा का परमात्मा से सर्वथा एकीभाव हो जाता है यह सिद्ध हुआ।

। यह श्री शकराचार्य के मत में कैवल्य मुक्ति में जीवात्मा और परमात्मा सर्वथा एकीभाव से मुक्तित्व का अधिकरण।

रामानुजस्तु जीवेश्वरयोर्भेदवादितया यदापश्यः रुक्मवर्णमित्यादि श्रुतिस्मृत्यनुरोधान्मुक्तस्य परमात्मस्वरूपैक्यममन्यमानः सूत्रमिदमन्यथा व्याचष्टे।

तथाहि मुक्तात्मा परस्माद्ब्रह्मणः स्वात्मानमविभागेनानुभवति। परं ब्रह्मोपसंपद्य याथातथ्येन निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य स्वात्मनो दृष्टत्वात्।

यथा शरीरमिदं जीवात्मना सात्मकं प्रतिपद्यते तथायं जीवात्मापि परमात्मना सात्मकः प्रतीयते। शरीरप्रत्यगात्मनोरविभागवत् प्रत्यगात्मपरमात्मनोरप्यविभागं तदानीमनुभवति। अहंब्रह्मास्मीत्याद्यभेदश्रुतीनामत्रैव तात्पर्यात्।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । अधिकं तु भेदनिर्देशादधिकोपदेशादित्यादिसूत्रजातं चात्रार्थे विमृश्यम् ।

। इति रामानुजमतेन कैवल्यमुक्तौ जीवात्मनः परमात्मना
सात्मकत्वानुभवस्य मुक्तित्वाधिकरणम् ।

श्री रामानुजाचार्य जीव और ईश्वर के भेदवादी होने के कारण—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्"

इत्यादि श्रुति स्मृति वचनों के अनुरोध से मुक्त का परमात्मा के साथ ऐक्य न मानते हुए इस सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं ।

मुक्तात्मा परब्रह्म से अपने को अविभक्त भाव से अनुभव करता है क्योंकि ब्रह्म में उपसंपन्न होकर यथार्थतया अविद्या के तिरोधान से निवृत्त होकर उसने स्वयं को देख लिया ।

जैसे यह शरीर जीवात्मा से आत्मा वाला है वैसे ही यह जीवात्मा भी परमात्मा से आत्मा वाला है । जैसे शरीर और जीवात्मा के अविभाग का अनुभव होता है, वैसे ही मुक्त अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा के अभिभाग का अनुभव होता है ।

"मैं ब्रह्म हूं'

इत्यादि श्रुति वाक्यों का भी यही तात्पर्य है ।

"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः"

'अधिकं तु भेद निर्देशादधिकोपदेशात्"

इत्यादि सूत्र समूह इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य हैं ।

। यह श्रीरामानुजाचार्य के मत से मुक्तित्व का अधिकरण हुआ ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।६।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ।४।४।७।

मुक्तावस्थायां प्रत्यगात्मा बाह्यधर्मविमोक्षणात् स्वेन रूपेणाविर्भवतीत्युक्तम् । तत्र कीदृशेन स्वरूपेणेति जिज्ञासायां जैमिनिस्तावदाह—

ब्राह्मेण रूपेणाविर्भवतीत्युपन्यासादिभ्यो गम्यते । एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्युपन्यस्य, स तत्र पर्य्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति इति, सर्वज्ञः सर्वेश्वर इति चाख्यानादपहतपाप्मत्वादेरेवास्य ब्रह्मणः स्वीयरूपत्वात् ।

अथौडुलोमिस्त्वाचार्यो मन्यते । चितितन्मात्रेण रूपेण मुक्तात्मनोऽवस्थानमस्ति ।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव विज्ञानघन एवेत्यवधारणादस्यात्मनो विज्ञानमात्रात्मकत्वात् ।

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि विकारसुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्म्मव्यावृत्तिमात्रं तत्र गम्यते न तु तावता केनचिद्धर्मेण धर्मित्वमुपपद्यते । सत्यकामत्वादयो धर्मा यद्यपि वस्तुस्वरूपेणोच्यन्ते ।

तथापि न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गमिति सूत्रेऽस्यात्मनोऽनेकाकारत्वप्रतिषेधान्न कामसंकल्पादीनां चैतन्यवदात्मस्वरूपत्वं संभाव्यते ।

अत एव जक्षनक्रीडनरमणान्यपि दुःखाभावमात्राभिप्रायाणि स्तुत्यर्थान्येव नतु मुख्यानि । तेषां द्वितीयविषयत्वान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेऽस्मिन्नेषामयोगात् । तस्माद्विशुद्धज्ञानमात्रं स आत्मा न त्वयं तदानीं ज्ञानवान् सर्वज्ञ इति प्रतिपत्तव्यम् ।

अथ बादरायणस्तु विरुद्धयोरप्यनयोर्जैमिन्यौडुलोमिमतयोरविरोधमेव पश्यति । एवमुक्तरीत्या पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेपि—

—"एष आत्मापहतपाप्मेत्याद्युपन्यासात् सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वसर्वज्ञत्वादिरूपस्य जैमिन्युक्तपूर्वभावस्याऽपि संभवात् ।

प्रकाशस्य प्रकाशकत्ववज्ज्ञानस्य ज्ञानवत्त्वं नानुपपन्नम् । तत एव च सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादयोऽप्यविरुद्धाः ।

। इति स्वातन्त्र्येणात्मनः संकल्पोपनतसर्वकामाधिकरणम् ।

मुक्त अवस्था में जीवात्मा बाह्य धर्मों को दूर हटा कर अपने से आविर्भूत होता है यह कहा गया। वह कैसे रूप से आविर्भूत होता है इस जिज्ञासा में जैमिनि कहते हैं कि—

"ब्रह्म के रूप से आविर्भूत होता है, यह विवरणों से ज्ञात होता है—

"यह आत्मा, पाप से अपहृत, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिघत्स, सत्यकाम, सत्य संकल्प है"

ऐसा विवरण देकर,

"वह वहां क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता हुआ जाता है, उसका सभी लोकों में कामना पूर्वक संचरण होता है,"

"वह सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर है"

ऐसा कहने से तथा अपहृत पाप्मा आदि ही इस ब्रह्म का अपना रूप होने से, ये विवरण उस स्वरूप के हैं। औड़ुलोमि आचार्य तो वहां ऐसा मानते हैं कि मुक्त आत्मा का अवस्थान चेतना मात्र के रूप में होता है।

जैसे नमक का पिण्ड बाहर और भीतर पूर्णतया रस घन ही होता है, वैसे ही यह आत्मा बाहर और भीतर के भेद के बिना पूर्णतया प्रज्ञान घन ही है"

ऐसे अवधारण के कारण यह आत्मा विज्ञान मात्र ही है।

यद्यपि 'अपहत पाप्मत्व' आदि धर्मों का कथन भेद से ही हुआ है।

तथापि विकार सुख, दुःख आदि अविद्यात्मक धर्मों की व्यावृत्ति मात्र वहां प्रतीत होती है, उनके द्वारा किसी धर्म के धर्मी के रूप की वहां प्रतीति नहीं होती। सत्यकामत्व आदि धर्म यद्यपि वस्तु के स्वरूप बतलाए गए हैं तथापि—

"नस्थानतोऽपरस्योभयलिङ्गम्"

इस सूत्र में आत्मा की अनेक आकारता के निषेध से काम संकल्प आदि का चैतन्यवान् रूपप संभावित नहीं है। इसलिए क्रीड़ा रमण आदि भी जो बतलाए गए हैं वे दुःख के अभाव मात्र का अभिप्राय प्रकट करने वाले स्तुति मात्र के लिए हैं, मुख्य नहीं। क्यों वे अपने से भिन्न किसी द्वितोय में ही रह सकते हैं और समस्त प्रपञ्चों से निरस्त इस आत्मा में इनका कोई योग नहीं है।

इसलिए आत्मा विशुद्ध ज्ञान मात्र है, न कि वह इस समय ज्ञानवान् सर्वज्ञ आदि होता है, यह समझना चाहिए।

आचार्य बादरायण जैमिनि औडुलोमि के इन विरुद्ध मतों में अविरोध ही देखते हैं। इस प्रकार उक्त रीति से पारमार्थिक चैतन्य मात्र स्वरूप के स्वीकार कर लिये जाने पर भी—

"यह आत्मा अपहतपाप्मा इत्यादि कथन से सत्य कामत्व, सत्य संकल्पत्व सर्वज्ञत्व आदि आचार्य जैयिनि द्वारा पहिले बतलाए गए रूप की भी सभावना है। प्रकाश के प्रकाशक होने की तरह ज्ञान का ज्ञानवान् होना भी अयुक्त नहीं है। इसीलिए सत्य कामत्व सत्य संकल्पत्व आदि भी विरुद्ध नहीं है।

। यह स्वतन्त्रता से आत्मा का संकल्प से उपनत सर्वकाम अधिकरण हुआ।

रामानुजस्त्वाह—

न ज्ञानमात्रमेवास्यात्मनः स्वं रूपमिति श्रुतिसिद्धोऽर्थः। किन्तु यथा रसवत्स्वाम्रफलादिषु त्वगादिभेदेन रसभेदोऽवकल्पते, न तथा सैन्धवधने।

तत्र हि सर्वत्रैकरसोऽस्ति। एवमस्यात्मनः सर्वत्र विजानस्वरूपत्वं स्वप्रकाशस्वरूपत्वमिति कृत्वा कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्यावृतः स्वप्रकाशोस्ति।

नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽप्यस्य प्रदेशोऽस्तीत्यत्रैव श्रुतितात्पर्य्यम्।

तथा च यथा सैन्धवघनस्य कृत्स्नस्य रसघनत्वे रसनेन्द्रियावगते चक्षुराद्यवगता रूपकाठिन्यादयो धर्म्मा न विरुध्यन्ते तथेह कृत्स्नस्य विज्ञानघनत्वेऽपि अपहतपाप्मत्वसत्यसंकल्पत्वादिधर्मसम्बन्ध श्रुत्यन्तरसिद्धो न विरुध्यते।

। इति रामानुजमते कैवल्यमुक्तौ निर्दोषगुणवच्चेतनात्मरूपाभिसंपत्यधिकरणम्।

। इति कैवल्यमुक्तिविचाराधिकार पूर्णः।

श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि—

ज्ञान मात्र ही इस आत्मा का अपना स्वरूप है यह श्रुति सिद्ध अर्थ नहीं है। किन्तु जसे रस वाले आम्रफल आदि में छिलके आदि से भिन्न रस होता है। वैसा नमक के डले

में नहीं। वहां सर्वत्र एक ही रस है। इसी प्रकार इस आत्मा का भी सर्वत्र विज्ञान स्वरूपत्व है, स्वप्रकाशत्व है, इसलिए यह समस्त आत्मा जड़ से पृथक् स्वप्रकाश है।

इसका थोड़ा भी प्रदेश अन्य किसी प्रकाश से प्रकाशित होने वाला नहीं है, इसी बात को कहने में श्रुति का तात्पर्य है। जैसे समस्त नमक के घन की रसमयता रसनेन्द्रिय से अवगत होने पर नेत्र आदि से अवगत होने पर नेत्र आदि से अवगत होने वाले उसके रूप और कठिनता आदि धर्म विरुद्ध नहीं होते वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्म के विज्ञान घन होने पर भी उसके अपहृत पाप्मत्व, सत्य सकल्पत्व आदि अन्य श्रुतियों से सिद्ध होने वाले धर्म विरोध नहीं रखते।

। यह श्री रामानुजाचार्य के मत में कैवल्य मुक्ति में निर्दोष गुणवान् चेतन को आत्म रूप अभिसंपत्ति का अधिकरण हुआ।

। यह कैवल्य मुक्ति विचार का अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ निःश्रेयसमुक्तिविचाराधिकारः

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ।४।४।८।

अत एव चानन्याधिपतिः ।४।४।९।

सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वादिरूपेणायं मुक्तात्माविर्भवतीत्युक्तम्। तस्य च संकल्पसिद्धा व्यवहाराः श्रूयन्ते—

"स तत्र पर्यति जक्षत् क्रीडन् रममाण इत्यादयः। तत्रैता यथाकामं स्त्रीयानज्ञात्यादिप्राप्तयः संकल्पपूर्विकाः प्रयत्नान्तरसापेक्षा उत्पद्यन्ते अथवा प्रयत्नान्तरनिरपेक्षं संकल्पमात्रादेवोपपद्यन्ते इति संशये लोके संकल्पितकार्य्यसिद्धौ प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनाद् अप्यपेक्षा स्यादिति प्राप्ते निरूपयति संकल्पमात्रादेवास्य सर्वे कामाः संसिध्यन्ति न निमित्तान्तरमपेक्षन्ते इति तच्छ्रुतेरवगम्यते।

—स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"—

इत्येवमादिश्रुतिजातं निमित्तान्तरनिरपेक्षं संकल्पस्यार्थोद्भावकत्वं दर्शयति। निमित्तान्तरमपि वापेक्ष्यमाणं संकल्पमात्रोपपाद्यं स्यात्। अतः संकल्पस्यैव सर्वार्थसाधकत्वात् स मुक्तात्मा सत्यसंकल्प उपपद्यते। अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादयमनन्याधिपतिर्भवति।

नास्य तदानीमन्योऽधिपतिरवतिष्ठते । परतन्त्रत्वे हि परसंकल्पाधीनतया कदाचिद् व्याहतसंकल्पः स्यात् । सत्यसंकल्पस्तु श्रूयते । तस्मादयमात्मा मुक्तः स्वतन्त्रो भवतीत्यवधेयम् ।

। इति स्वातन्त्र्येणात्मनः संकल्पोपनतसर्वकामाधिकरणम् ।

निःश्रेयस मुक्ति विचार का अधिकार

यह मुक्तात्मा सत्य कामत्व, सत्य संकल्पत्व आदि के रूप में आविर्भूत होता है यह कहा गया । उसके संकल्प सिद्ध व्यवहार सुने जाते हैं —

'एतत्र पर्ये आदि । वहां ये कामानुसार स्त्री, यान, बान्धवादि की प्राप्ति संकल्पपूर्वक, दूसरे प्रयत्न की अपेक्षा से होती है अथवा अन्य प्रयत्न के बिना ही संकल्प मात्र से ही हो जाती है । इस सन्देह पर लोक में संकल्पित कार्य की सिद्धि अन्य प्रयत्न की अपेक्षा रखती हुई दिखाई देती है ।

अतः अन्य कामनाओं की सिद्धि में यहां भी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा होगी ऐसी सम्भावना होने पर कहा जाता है कि संकल्प मात्र से इसके समस्त काम सिद्ध हो जाते हैं, वे किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखते यह बात श्रुति से ज्ञात होती है ।

"वह यदि पितृ को कामना करता है तो संकल्प से इसके पितर आज—

इत्यादि श्रुतियां अन्य निमित्त के बिना ही अपने संकल्पित अर्थ की उद्भावना को दिखाती हैं । यदि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा भी होती है तो वह भी संकल्प मात्र से उपपन्न हो जाता है

इसलिए संकल्प के ही सभी अर्थों के साधक होने से वह मुक्तात्मा सत्य संकल्प वाला सिद्ध हो जाता है । इसीलिए सफल संकल्प वाला होने से यह अनन्य अधिपति होता है । इसका तब और कोई अधिपति नहीं रहता । परतन्त्र होने पर तो पर के संकल्प के अधीन होने से कभी इसका संकल्प निष्फल भी हो सकता है ।

परन्तु यह सत्य संकल्प वाला सुना जाता है । इसलिए यह आत्मा मुक्त स्वतन्त्र होता है यह समझना चाहिए ।

। यह आत्मा की स्वतन्त्रता से संकल्प से सर्व काम संसिद्धि का अधिकरण हुआ ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ।४।४।१०।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ४।४।१२।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपद्यते ।४।४।१३।

भावे जाग्रद्वत् ।४।४।१४।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।४।४।१५।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।४।४।१६।

संकल्पादस्य सर्वे कामाः सिध्यन्तीत्युक्तत्वान्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम् । किन्तु शरीरेन्द्रियाणि मुक्तात्मनः सन्ति न सन्तीति विचारः प्रक्रम्यते ।

तत्र मुक्तावस्थायामात्मनः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं बादरिर्मन्यते । एवं ह्याह श्रुतिः—

—"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"—

इति सशरीरस्य सुखदुःखयोगाव्यतिरेकमुक्त्वा—

—"अस्माच्छरीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति मुक्तस्याशरीरत्वं दर्शयति ।

—"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके इति च शरीरमनपेक्ष्यैव केवलेन मनसा सिद्धिमाप । तस्मान्न सन्त्येव देहेन्द्रियाणि मुक्तात्मन इति बोध्यम् ।

मुक्तस्याशरीरत्वात् स्वप्नवदस्य सांकल्पिकाः सर्वे कामाः स्युरिति प्राकाम्यं सर्वैश्वर्यं सर्वज्ञत्वं चास्य भाव्यम् इत्येकः पक्षः ।

संकल्प आदि समस्त काम सिद्ध होते हैं यह कहने से संकल्प का साधन मन सिद्ध हुआ । किन्तु शरीर इन्द्रिय आदि मुक्तात्मा के होते हैं या नहीं यह विचार प्रारम्भ किया जाता है । वहां मुक्त अवस्था में आत्मा के शरीर और इन्द्रियों का अभाव होता है ऐसा बादरि का मत है । श्रुति ने कहा है—

"शरीर के रहते प्रिय अप्रिय की समाप्ति नहीं होती, जो अशरीरी हो जाता है उसका प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते"

इस प्रकार सशरीर का सुख दुःख के योग छुटकारा न होना बतलाकर,

"इस शरीर से उठकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है"

यह कहते हुए मुक्त को अशरीरी बतलाया गया है।

"वह दिव्य चक्षु से, मनसे इन कामों को देखता हुआ रमता है, जो यह ब्रह्मलोक में है"

इस कथन से शरीर की बिना अपेक्षा के केवल मन से ही सिद्धि की प्राप्ति बतलाई गई है। इसलिए मुक्तात्मा की देह और इन्द्रियां नहीं है, यह समझना चाहिए।

मुक्त के अशरीरी होने से स्वप्न की तरह इसके सारी कामनाएं संकल्प से ही संपन्न होती हैं, अतः प्राकाम्य, सर्वैश्वर्य, और सर्वज्ञत्व इस मुक्तात्मा का सिद्ध होता है, यह एक पक्ष है।

जैमिनिस्त्वाचार्य्यो मनोवच्छरीरस्येन्द्रियाणां च भावं मन्यते।

—"स एकधा भवति त्रिधा भवति"—

इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पामननात्। शरीराभावपरम्। तस्मात् सन्त्येव नित्यं देहेन्द्रियाणि मुक्तस्यापीति बोध्यम्। सशरीरत्वाच्च मुक्तस्यापि जाग्रद्वद्वास्तविकाः सर्वे कामाः स्युरिति प्राकाम्यसर्वैश्वर्य्ये सर्वज्ञत्वं चास्य भाव्यम्। इत्यपरः पक्षः।

अथ वादरायणो मन्यते। अत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधं द्वादशाहवत् प्रतिपत्तव्यमिति। यथा द्वादशाहयागोऽहीनेषु पाठादहीनः सत्त्रेषु पाठात् सत्त्रञ्च भवति। एवमयं मुक्तात्मा उभयथा श्रुतत्वात् सशरीरश्चाशरीरश्च संभाव्यते।

अपि चातः संकल्पादेतदुभयविधं द्रष्टव्यम्। यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति अशरीरतासंकल्पे त्वशरीर एवेति। सत्यसंकल्पत्वात् संकल्पवैचित्र्याच्चेति सिद्धान्तपक्षः।

तत्राशरीरत्वपक्षे स्वप्नवन्मोक्षेपि उपलब्धिमात्राः सर्वे कामाः संकल्पादुपपद्यन्ते। सशरीरत्वपक्षे तु जाग्रद्वदेव सर्वे कामाः स्युः।

आचार्य जैमिनि तो मन के समान ही मुक्त के साथ शरीर और इन्द्रियों का योग भी मानते हैं,

"वह एकधी होता है, त्रिधी होता है"

इत्यादि से अनेक प्रकार के भाव विकल्पों का मनन हुआ है। इसलिए मुक्त की भी देह और इन्द्रियां होती हैं, यह जानना चाहिए।

सशरीर होने से मुक्त पुरुष के भी जाग्रत के समान समस्त काम वास्तविक होते हैं अतः प्राकाम्य, सर्वेश्वर्य, सर्वज्ञत्व इसका भावित होता है। यह दूसरा पक्ष है।

श्री बादरायण का मन्तव्य है कि—

इसीलिए उभयचिन्ह वाली श्रुति के देखने से इसे द्वादशाह के समान दोनों प्रकार का मानना चाहिए। जैसे द्वादशाहयाग का अहीनों में पाठ होने पर वह अहीन हो जाता है और सत्र में पाठ होने पर वह सत्र हो जाता है, वैसे ही यह मुक्तात्मा दोनों प्रकार से सुना जाने के कारण सशरीर और अशरीर भी संभावित है।

पुनश्च इस संकल्प से इसे दोनों प्रकार का समझना चाहिए। जब सशरीरता का संकल्प करता है तब वह सशरीर होता है, अशरीरता के संकल्प होने पर वह अशरीर होता है, इसका कारण उसका सत्य संकल्प वाला होना और संकल्प का विचित्र होना है।

यह सिद्धान्त पक्ष है। वहां अशरीरतत्व पक्ष में स्वप्न के समान मोक्ष में भी उपलब्धि मात्र समस्त काम संकल्प से सिद्ध होते हैं। सशरीरत्व पक्ष में तो सभी काम जाग्रत के समान होंगे।

ननु संकल्पमात्रादयमनेकशरीराणि निर्म्माति चेत् तेष्वेकस्यैव सात्मकत्वाच्चेतनत्वं स्यादितरेषामनात्मकत्वाद्दारुयन्त्रवज्जडत्वं संभाव्यते।

प्रत्यगात्मनोऽणुपरिमाणत्वादेकत्रैव क्वचित् शरीरे तदवस्थानादन्यशरीरेषु तदप्रवेशादिति चेत् तत्रोच्यते—

प्रदीपवदावेशो द्रष्टव्य इति। यथैकदेशे वर्तमानस्यैकदीपस्य स्वच्छेष्वनेकवस्तुषु स्वप्रभयाव्याप्त्या नानाप्रदीपाभासप्रवर्तकत्वम्।

एवमेकस्याप्यात्मनो मुक्तावस्थायामसंकुचितैश्वर्य्यतया प्रतिशरीरं स्वचैतन्यव्याप्त्या नानाभावोपपत्तिः संभवति।

एकमनोऽनुवृत्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात् सृजति। तेषु च सृष्टेषूपाधिभेदादात्मनोपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं भवति।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते"—

इति श्रुतेरणुपरिमाणस्यापि जीवस्यैश्वर्य्ययोगादनेकधात्वोपपत्तेः।

ननु नेदमनेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्य्यं मुक्तस्य संभवति।

—तत् केन कंविजानीयान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयादेको द्रष्टाऽद्वैतो भवती—

त्यादिश्रुतिभिरेकान्तो निर्विशेषप्रतिपादनाद् द्वितीयप्रत्याख्यानाच्चेति चेत् तत्रोच्यते।

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षं हि तदाविष्कृतम्। स्वाप्ययः सुषुप्तिः संपत्तिः कैवल्यम्। तयोरेवान्यतरावस्थामपेक्ष्यैतत्संज्ञाभाववचनं प्रत्येतव्यम्।

—"यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयंते न कंचन स्वप्नं पश्यति"—इति।

नायं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानाति। अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवती"—

ति सुषुप्तौ निर्बोधत्वाविष्करणात्—

—"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती"—

ति कैवल्येऽप्यसंबोधत्वाविष्करणात्। न त्वेतदिह सगुणविद्यापाकस्थानं भाव्यते। तत्र स्वर्गाद्यैश्वर्य्यसुखोपभोगस्य श्रूयमाणत्वादिति शंकरः। रामानुजस्त्वन्यथा व्याचष्टे।

—"प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमितिश्रुतिः परब्रह्मप्राप्तस्यान्तरबाह्यज्ञानलोपः प्राप्नोति कथमस्यात्मनो मुक्तावस्थायां सर्वज्ञत्वमुच्यते इति चेत् तत्राह। सुषुप्तिमरणयोरेवावस्थयोर्निःसंबोधत्वमात्मनः प्रतिज्ञायते। मुक्तस्य तु सर्वज्ञत्वमेवास्ति। आविष्कृतं हि तथैव श्रुत्या—

—"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके"—इति।

—"सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः"—इति च।

। इति निःश्रेयसाख्यापरमुक्तया मुक्तात्मनः सशरीरत्वाशरीरत्वव्यवस्थाधिकरणम्।

प्रश्न होता है यदि यह मुक्तात्मा संकल्पमात्र से अनेक शरीरों का निर्माण कर लेता है तो उनमें से कोई एक ही आत्मा वाला होगा, अतः वही चेतन होगा, अन्य शरीर आत्मा रहित होने से लकड़ी के यन्त्र के समान जड़ होंगे।

क्योंकि जीवात्मा अणु परिणाम वाला है, उसका अवस्थान किसी एक ही शरीर में हो सकता है, अन्य शरीरों में उसका प्रवेश होना संभव नहीं है, तो इस प्रश्न पर कहना यह है कि—

प्रदीप की तरह यह समझना चाहिए। जैसे एक अंश में वर्तमान एक दीपक का अनेक स्वच्छ वस्तुओं से अपनी प्रभा के व्याप्त होने पर नाना प्रदीपों के आभास का प्रवर्तन हुआ करता है।

इस प्रकार एक आत्मा के मुक्त अवस्था में असंकुचित ऐश्वर्य के कारण प्रत्येक शरीर में अपने चैतन्य की व्याप्ति से नाना भाव में उत्पत्ति होना सभव है।

एक मन के अनुकूल मनसहित दूसरे शरीरों को भी सत्य संकल्प वाला होने से वह बना लेता है।

उन शरीरों के उत्पन्न हो जाने पर उपाधि के भेद से आत्मा का भी भेद पूर्वक अधिष्ठान होना संभव है।

—'बाल के अग्र का जो सौवां अंश हैं, उसको भी जब सौ अंशों में विभक्त किया जाय तब उस भाग को जीव कहते हैं और वह अनन्त के रूप में कल्पित होता है"—

इस श्रुति के आधार पर अणु परिणाम वाले जीव का ऐश्वर्य के योग से अनेधका हो जाना युक्ति सिद्ध है। सन्देह होता है कि यह अनेक शरीरों में आवेश होने के रूप वाला ऐश्वर्य मुक्त अवस्था में होना संभव नहीं है।

—"वहां किससे किसको जाने, कोई दूसरा नहीं है, जिससे विभक्त को जाने, एकद्रष्टा अद्वितीय है"—

इत्यादि श्रुतियों से पूर्णतया निर्विशेष का प्रतिपादन है और द्वितीय का प्रत्याख्यान है, इस सन्देह पर कहा जाता है कि—

—"स्वाप्यय और सपत्ति के मध्यम में अपेक्षित होने से वह अविष्कृत है"—

स्वाप्यय का अर्थ है सुषुप्ति (गहन निद्रा) और संपति का अर्थ है कैवल्य मुक्ति इन दोनों ही को मध्य की अवस्थाओं की अपेक्षा करके वह संज्ञा भाव वचन समझना चाहिए।

—"जहां सोता हुआ किसी काम की इच्छा नहीं करता, न कोई स्वप्न देखता है। न यह उस समय स्वयं जानता है कि 'मैं यह हूं, न इन भूतों को ही जानता हैं, वह विनाश में ही लीन होता है"—

इस प्रकार सुषुप्ति निबोधत्व का आविष्करण होने से—

—"इन भूतों से उठकर उनमें ही लीन हो जाता है, मृत्यु के उपरान्त कोई संज्ञा या ज्ञान नहीं रहता, इस प्रकार कैवल्य अवस्था में संबोध या ज्ञान नहीं रहता। इसे सगुण विद्या के पारिपाक की अवस्था भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में स्वर्ग आदि के ऐश्वर्य सुख के उपभोग श्रुति के द्वारा कहा गया हैं, ऐसा श्री शंकराचार्य का कथन है।

श्रीरामानुजाचार्य तो इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं।

—"प्राज्ञ आत्मा से परिष्वक्त होकर कुछ भी बाहर के विषय में नहीं जानता ही भीतर का कोई ज्ञान रहता है"—

इस श्रुति बचन से परब्रह्म को प्राप्त करने वाले को अन्दर और बाहर के ज्ञान का लोप होना ज्ञात होता है तब कैसा आत्मा को मुक्त अवस्था में उसे सर्वज्ञ कहा जाता है, इस प्रश्न पर कहा जाता है कि—

सुषुप्ति और मरण की ही अवस्थाओं में आत्मा के संज्ञा शून्य होने की प्रतिज्ञा की गई है। मुक्त होने पर तो उसकी सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है। श्रुति ने भी ऐसा ही कहा है—

"वह दिव्य चक्षु से, मन से इन कामों को देखता हुआ रमण करता है, जो ब्रह्म लोक में रहता है,"

सब कुछ देखता हुआ पूर्णतया सब कुछ प्राप्त करता है"।

। यह निःश्रेयस मुक्ति के द्वारा मुक्तात्मा के शरीर या अशरीरत्व की व्यवस्था का अधिकरण हुआ।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ।४।४।१७।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।४।४।१८।

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ।४।४।१६।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।४।४।२१।

अनावृत्तिः शब्दात् ।४।४।२२।

सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसा ये जीवा ईश्वरसायुज्यं लभन्ते ते सर्वात्मनेश्वरसाम्यमायान्तीति निरङ्कुशमेषामैश्वर्यं संभाव्यते--

—"आप्नोति स्वाराज्यं"—

—"सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति"—

—"तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"—

इत्यादि श्रुतिभ्यस्तथावगमात् । तथाचेश्वरवदयं मुक्तात्मापि जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारान् करोतीति कश्चित् प्रतीयात् तं प्रत्याह । जगद्व्यापारवर्जमेवैतस्य सर्वमैश्वर्यं संपद्यते ।

नत्वयमपि जगदुत्पादयति । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्तीत्यादि श्रुत्या प्रदतामेषां मुच्यमाना नामभिसंवेशस्थानस्य जीवात्मविजिज्ञास्यस्य जगदीश्वरस्यैवास्मिन् जगज्जन्मस्थितिभङ्गकर्म प्रकरणात् ।

यतो वा इमानीत्यादिश्रुत्या च जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं प्रयता निवासस्य जिज्ञास्यस्येश्वरस्यासाधारणं लक्षणं मुच्यते । यदि मुक्तात्मनामपि जगत्कर्तृत्वं स्यात् तर्हि तस्येश्वरलक्षणत्वं न स्यादतिव्याप्तित्वात् ।

तस्मादीश्वरप्रकरणाज्जगद्व्यापारस्य मुक्तात्मसु न प्राप्तिः । असंनिहितत्वाच्च । अस्य हि मुक्तात्मनस्तथाविधैश्वर्यस्यादिमत्वाज्जगतः स्थितिकाले पश्चात् संभाव्यमानतया जगदुत्पत्तिकाले तस्य संनिधानमेव नास्तीति जगत्कर्तृत्वं तस्य नोपपद्यते ।

ननु आप्नोति स्वाराज्यमित्यादि प्रत्यक्षोपदेशात् संभाव्यते तस्य तथाविधमपि सामर्थ्यमिति चेन्न ।

आधिकारिका ये सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेषु व्यवस्थिता हिरण्यगर्भादय ईश्वरास्तेषां लोकस्थेष्व भोगेष्वेवैतस्याकर्मवश्यस्य मुक्तात्मनः स्वाराज्यं भवतीति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्यादि श्रुत्योच्यते ।

तथा चायं मुक्तात्मा ब्रह्मविभूतिभूतान् विकारलोकानेवैतान् सर्वानासाद्य तद्गतान् वैकारिकानेव सर्वान् भोगाननुभूय यथाकामं तृप्यतीति सिध्यत्यर्थः ।

अस्ति च विकारावर्त्यापि नित्यमुक्तं पारमेश्वरमन्यद्रूपम् । तथाहि तस्य परमेश्वरस्य द्विरूपां स्थितिमाह श्रुतिः ।

—"एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"–इति ।

तत्र नेतरालम्बनास्तन्निर्विकारं रूपमाकलयितुं शक्नुवन्ति तेषामतत्क्रतुत्वात् । तस्माद् द्विरूपेऽस्मिन् परमेश्वरे निर्गुणरूपमनवाप्य सगुण एवैतद्रूपे सज्जयन्ते सगुणविद्यया मुक्ताः ।

एवमत्र सगुणेऽपि ते जगत्कर्तृत्वादिसाधारणं निरवग्रहमैश्वर्य्यमनवाप्य सावग्रहे सर्वविधभोगलक्षणैश्वर्य्ये एवावतिष्ठन्ते इति सिद्धम् । इति शंकरः ।

सगुण ब्रह्म की उपासना से जो जीव ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्त करते हैं वे वे सर्वात्मना ईश्वर के साथ साम्य भाव को प्राप्त कर लेते हैं, अतः उनका ऐश्वर्य निरंकुश होने की संभावना होती है—

"वह स्वराज्य को प्राप्त करता है,"

"समस्त देव इसकी पूजा करते हैं",

"उनका सब लोकों में स्वेच्छा विचरण होता है"

इत्यादि श्रुतियों से यह ज्ञात होता है । इस प्रकार ईश्वर के समान ही यह भी जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार करता है ऐसा कोई समझ सकता है, उसके लिए कहते हैं जगत् के व्यापार को छोड़कर ही इसका सारा ऐश्वर्य सम्पन्न होता है ।

यह भी जगत् को उत्पन्न करे, ऐसा नहीं है।

"जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीससे जीवित रहते हैं, जिसमें विलीन होते हैं"

इत्यादि श्रुति से प्रयाण के अनन्तर मुक्त होने वाले इनके निवास के स्थान के रूप में, जीवात्मा के विजिज्ञास्य के रूप में जगदीश्वर के ही यह जगत् जन्म स्थिति और लय के कारण के रूप में बतलाने का प्रकरण है।

"जहां से ये भूत उत्पन्न होते हैं।

इत्यादि श्रुति वाक्य से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय को प्राप्त करने वालों के रूप में जिज्ञास्य ईश्वर का यह असाधारण लक्षण बतलाया जाता है।

यदि मुक्तात्माओं का भी जगत् का कर्ता होना माना जाता है तब वह अति व्याप्ति दोष ग्रस्त होने के कारण ईश्वर काल क्षण नहीं होगा।

इसलिए उस वाक्य के ईश्वर प्रकरण में पठित होने के कारण मुक्त आत्माओं में जगत् का व्यापार प्राप्त नहीं होता। सनिहित न होने से भी यही निष्कर्ष है। इस मुक्त आत्मा के उस प्रकार ऐश्वर्य आदि युक्त होने के कारण जगत की स्थिति के काल के बाद में सम्भावित होने से जगत् के उत्पत्ति काल में उसके संनिधान या सामीप्य के ही न रहने से उसका जगत् का कर्ता होना मुक्ति सिद्ध नहीं होता।

—"स्वराज्य को प्राप्त करता है"—

इत्यादि प्रत्यक्ष श्रुति के उपदेश से उसका वैसा सामर्थ्य भी सम्भावित है, यह सन्देह नहीं होना चाहिए क्योंकि सविता के मण्डल आदि विशेष आयतनों में व्यवस्थित जो अधिकारिक ईश्वर हैं, उनके लोकों में स्थित भोगों में ही इन कर्म के वश में न रहने वाले मुक्त आत्माओं का स्वराज्य हो जाता है इसलिए श्रुति उसके समस्त लोकों में कामाचार होने की बात कहती है।

इसलिए यह मुक्त आत्मा ब्रह्म की विभूति स्वरूप इन सभी विकार लोकों को ही प्राप्त करके वहां के सभी वैकारिक भोगों का ही अनुभव करके कामना पूर्वक तृप्ति प्राप्त करता है यह अर्थ सिद्ध होता है।

परमेश्वर का एक अन्य ऐसा भी रूप है जो विकारवर्ती तथा नित्यमुक्त है। श्रुति ने उस परश्वर की दो रूप वाली स्थितियों को बतलाया है—

—"इसकी महिमा इननी विशाल है, पुरुष उससे बडा है, समस्त भूत उसके एक पाद मात्र है, उसके तीन पाद अमृत द्युलोक में हैं"—

इतर का आलम्बन करने वाले वैसे क्रतु (कर्म) के न होने से उस निर्विकार रूप का आकलन नहीं कर सकते। इसलिए इस दो रूपों वाले परमेश्वर में निर्गुण रूप को न पाकर इसके सगुण रूप का ही ध्यान करते हैं, वे सगुण विद्या से मुक्त होने वाले हैं।

इस प्रकार इस सगुण में भी जगत् के कर्तृत्व आदि अप्रतिबन्धित ऐश्वर्य को न पाकर प्रतिबन्धित सब प्रकार के भोग वाले ऐश्वर्य को ही प्राप्त करते हैं यह सिद्ध होता है, यह श्रीशंकराचार्य का मत है।

रामानुजस्त्वाह। ननु यद्ययं मुक्तात्मा ब्रह्मविभूतिभूतान् विकारलोकान् वैकारिकांश्च तांस्तान् भोगानेवोपलभते, तर्हि विकारान्तर्वर्त्ति भोगमात्रलाभे वद्धस्येव मुक्तस्याप्यत्र वह्वल्पमात्रभोग्यभोक्तृत्वापत्तिरिति चेत् तत्रोच्यते।

अस्ति च विकारावर्त्यपि किञ्चिन्निर्धूतनिखिलविकारमनन्तकल्याणैकतानं निरतिशयानन्दं परंब्रह्म। तदप्ययमनुभवति मुक्तात्मा। तथाहि निर्विकारे तस्मिन् परब्रह्मणि परमानन्दे मुक्तस्यानुभवितृत्वेन स्थितिमाह—

—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवतीति।

तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चनेति च। अतः सविभूतिकं सर्वविकारातीतं ब्रह्मानन्दमनुभवन् विकारान्तर्वर्तिनोऽप्याधिकारिकमण्डलस्थान् भोगानयं मुक्तात्मा भुङ्क्ते इति सर्वेषु लोकेषु कामचार इत्यस्यार्थः।

इत्थं च शंकरमते वैकारिकानन्दमात्रं रामानुजमते वैकारिकं विकारातीतं चानन्दभोगं भुञ्जानस्यैतस्य मुक्तात्मनस्तावदेव स्वाराज्यमैश्वर्य्यं चोपपद्यते न त्वस्य जगत्कर्तृत्वलक्षणमप्यैश्वर्य्यमस्ति।

तस्य नित्यमुक्तपरमेश्वरमात्रधर्म्मत्वात्। एवं हि दर्शयतः प्रत्यक्षानुमाने। प्रत्यक्षं श्रुतिस्तावत्—

—"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"—इत्यादि ।

अनुमानं स्मृतिः—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते । इति ।

अथवा मुक्तस्य सर्वविधानन्देभोगोऽपि परमेश्वर एव हेतुरित्येवं श्रुतिस्मृती दर्शयतः ।

—',एष ह्येवानन्दयति"—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

–"स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते"–

इति रामानुजः । शंकरस्तु—

—"न तत्र सूर्य्यो भाति"—

इत्यादि श्रुतिः । नतद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावक इत्यादि स्मृतिश्च परमेश्वरस्यविकारावर्ति च रूपं दर्शयत इत्याह ।

वस्तुतस्तु तथाहि स्थितिमाहेति पूर्वसूत्रेण गतार्थत्वादिह शंकरस्यार्थो न साधीयान् ।

युक्तं तु श्रुतिस्मृती सगुणविद्यावतां मुक्तानां विकारालम्बनत्वाज्जगत्कर्तृत्वादिसाधारणं निरङ्कुशमैश्वर्य्यं नास्तीति दर्शयत इत्यर्थे सूत्रलापनम् ।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्चेत्युत्तरसूत्रे चकारस्य तदानुगुण्यात् ।

सर्वेषु लोकेषु कामचाराद् मुक्तानां सर्वविधसुखभोगमात्रं केवलमीश्वरेण साम्यमित्यत्रैव लिङ्गं भवति ।

"तमाह—

आपो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ इति । स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्ति एवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति"—

इत्यादिषु भेदेन व्यपदेशात् ।

तस्मादीश्वरेरणैषां भोगमात्रे साम्यं न जगद्व्यापारेऽपीति सिद्धम् ।

नन्वेवं तर्हि मुक्तानामैश्वर्य्यस्य सातिशयत्वादन्तवत्त्वं स्यात् तथा च पुनरावृत्तिरपि कदाचित् प्रसज्येतेति चेत् तत्रोच्यते अनावृत्तिः शब्दात् ।

यद्यपि चन्द्रलोकादिवदस्य ब्रह्मलोकस्यापि संस्थानविशेषः श्रूयते कौषीतकादि-श्रुतिषु । अस्ति हि तृतीयस्यामितो दिवि ब्रह्मलोके द्वावर्णवौ, ऐरंमदीयं सरः, अश्वत्थः सोमसवनः, ब्रह्मणोऽपराजिता पूः । प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म"—

इत्यादिः । तथापि तं ते प्राप्य न चन्द्रलोकादिवद् भुक्तभोगा आवर्तन्ते—

—"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति, तेषां न पुनरावृत्तिः एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानव-मावर्तं नावर्तन्ते," —

ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते"—

इत्यादि शब्दैरनावृत्तेः प्रतिज्ञानात् ।

दर्शितं चैतत् प्रागपि—

—"कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमिति सूत्रे ।

तथा च यथा निर्गुणविद्यायां सम्यग् दर्शनविध्वस्ततमसामनावृत्तिस्तथा सगुण-विद्यायामप्यपरब्रह्मलोकं प्राप्तानामेषां मुक्तानामस्त्यनावृत्तिरिति सिद्धम् ।

। इति मुक्तानां जगदव्यापारातिरिक्तसर्वैश्वर्य्यसंपत्त्यधिकरणम् ।

। इति मुक्तिपादश्चतुर्थः संपूर्ण ।

श्री रामानुजाचार्य का कथन है कि यदि यह मुक्तात्मा ब्रह्म के विभूति स्वरूप विकार लोकों को तथा विभिन्न वैकारिक भोगों को ही प्राप्त करता है तब विकारों की परिधि में आने वाले भोग मात्र के लाभ में जैसे बद्ध अवस्था में अधिक और अल्प मात्रा में भोग और भोक्तापन होता है वैसी ही आपत्ति मुक्त अवस्था में भी होगी, तो इस प्रश्न पर कहा जाता है कि विकारों को परिधि में भी कोई समस्त विकारों से अतीत, अनन्त कल्याणों से भरा हुआ निरतिशय आनन्द वाला परम ब्रह्म है।

यह मुक्तात्मा उसका भी अनुभव करता है। उस निर्विकार परब्रह्म परमानन्द में मुक्त का अनुभव होने से उसकी स्थिति बतलाई गई है कि—

–"जब यह उस निर्विकार परमानन्द परब्रह्म में, अदृश्य, अनात्म्य, अनिरूक्त, अनिलयन में अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, तब वह अभय को प्राप्त करता है, वह रस है, रस को ही प्राप्त करके यह आनन्दित होता है, उसी में समस्त लोक आश्रित हैं उसका कोई अतिक्रमण नहीं करता।"–

अतः विभूति सहित समस्त विकारों से अतीत ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हुए विकार के अन्तर्वर्ती आधिकारिक मण्डल में स्थित भोगों का भी मुक्तात्मा उपभोग करता है। इसलिए इसका समस्त लोकों में कामना पूर्वक विचरण होता है, यह इसका अर्थ है।

इस प्रकार श्रीशंकराचार्य के मत में वैकारिक आनन्द मात्र का, तथा विकारातीत आनन्द के भोगों का उपभोग करने वाले इस मुक्त आत्मा का उतना ही स्वराज्य और ऐश्वर्य हो जाता है, न कि इसका ऐश्वर्य जगत् के निर्माण करने का भी है।

क्योंकि वह जगत् के निर्माण का ऐश्वर्य तो नित्य मुक्त केवल परमेश्वर का ही धर्म है। प्रत्यक्ष और अनुमान इसी अर्थ को प्रकट करते हैं प्रत्यक्ष श्रुति कहती है–

–"इसके भय से हवा बहती, सूर्य उदित होता है, इसके भय से अग्नि और इन्द्र कार्यरत हैं, और पांचवां मृत्यु भी दौड़ता है"—

–"हे गार्गि, इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा धारित और स्थित हैं"–

अनुमान का अर्थ है स्मृति। स्मृति (भगवद्गीता) कहती है—

–"चर एवं अचर सहित प्रकृति मुक्त अध्यक्ष के द्वारा उत्पादित है, हे कौन्तेय, इसी हेतु से जगत् विपरिवर्तित होता है।"–

अथवा मुक्त के सब प्रकार के आनन्द के उपभोग में भी परमेश्वर ही हेतु है यह श्रुति और स्मृति दिखला रही है।

—"यही आनन्दित करता है।"—

–"जो अविचलित भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, यह श्री रामानुजाचार्य का कथन है। श्रीशंकराचार्य तो—

–"वहाँ सूर्य भासित नही होता"–

इत्यादि श्रुति वाक्य तथा

-"उसको सूर्य भासित नहीं करता, न शशांक न पावक उसे भासित करता है"- इत्यादि स्मृति वचनों से परमेश्वर का विकरावर्ति स्वरूप दिखलाया जाता है ऐसा कहते हैं। वास्तव में तो—

—"तथाहि स्थितिमाह"—

इस पहिले के सूत्र से गतार्थ होने के कारण यहां श्रीशंकराचार्य का अर्थ ठीक नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र की अर्थ संगति में तो श्रुति और स्मृति का सगुण विद्या वाले मुक्तात्माओं के विकारों का अवलम्बन करने के कारण जगत् कर्तव्य आदि से युक्त निरङ्कुश ऐश्वर्य नहीं है, ऐसा बतलाने में तात्पर्य है, यह दिखलाना उचित है।

"भोगमात्र साम्यलिङ्गाच्च"

इस आगे वाले सूत्र में जो 'चकार' है, वह उसी के अनुगुण हैं। समस्त लोकों में कामना पूर्वक विचरण करने से मुक्त पुरुषों के केवल समस्त सुखोपभोग मात्र में ईश्वर से समानता है इसी विषय में वह चिन्ह है-

"उसे कहा आपसे यह लोक चलता है, जैसे-

"इस देवता को समस्त भूत परिरक्षित रखते हैं वैसे ही यह समस्त भूतों का परिरक्षण करता है, उससे इस देवता के लिए सायुज्य और सलोकता का जय प्राप्त करता है।"

इत्यादि वचनों में भेद पूर्वक कथन हुआ है। इसलिए ईश्वर से इनका भोग मात्र में साम्य है, जगद् के व्यापार में भी साम्य नहीं है, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न होता है कि 'इस प्रकार मुक्त पुरुषों का ऐश्वर्य सातिशय होने से अन्तवान् होगा उस स्थिति में कदाचित् उनको पुनरावृति भी हो सकती है उसके उत्तर में कहा जाता है कि—

'शब्द प्रमाण के कारण उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती'।

यद्यपि कौषीतकि आदि श्रुतियों में चन्द्रलोक आदि के समान इस ब्रह्मलोक का भी विशेष संस्थान सुना जाता है-

-"यहां तृतीय ब्रह्मलोक में दो अर्णव हैं, ऐरंमदोयसर है, अश्वत्थ सोमवान है, ब्रह्म की अपराजिता नगरी है, हिरण्मय आवास है।

इत्यादि, तथापि मुक्त पुरुष उसको प्राप्त करके जैसे चन्द्र आदि लोकों पर जाकर भोगों को प्राप्त कर वापस आते है, वैसे नहीं लौटते।

–"उसके ऊपर जाकर अमृतत्व को प्राप्त करते हैं' उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, इससे आगे बढने पर पुनः मानवीय अवर्त में नहीं लोटते"–

–"–ब्रह्मलोक में अभिसम्पन्न होते हैं, पुनः नहीं लौटते"–

इत्यादि शब्द प्रमाण से अनावृति की प्रतिज्ञा की गई है। इसको पहिले भी

–"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्"–

इस सूत्र के व्याख्यान में इस विषय को दिखाया गया है। निष्कर्ष यह कि जैसे निर्गुण विद्या में सम्यक् दर्शन से तम को विध्वस्त करने वालों का आवृति नहीं होती वैसे ही सगुण विद्या में भी अपर ब्रह्म लोक को प्राप्त करने वाले इन मुक्त पुरुषों की आवृत्ति नहीं होती।

। इस प्रकार जगत् के व्यापार के अतिरिक्त समस्त ऐश्वर्य सम्पति का अधिकरण हुआ।

यह चतुर्थ मुक्तिपाद पूर्ण हुआ

१ २ ३ ४

इति सन्ति यत्र विद्योत्क्रान्तिगतिक्रमविमुक्तिभिः पादाः।
अध्यायः स चतुर्थो विद्वद्यात्रानिरूपकः पूर्णः ॥१॥

श्रीमन्माधवसिंहभूपतिकरच्छायाश्रयात् सर्वतो।
निर्धूताखिल तापसंततिरयं निर्व्यग्रचित्तः सुधीः ॥
सर्वैश्वर्य्यसुखं निरन्तरमलं भुञ्जन्निमं वैक्रमे।
वर्षे गोनगगोमहीपरिमिते ग्रन्थं व्यधादुत्तमम् ॥२॥ (१६७६)

राजीवनन्दतनयो विबुधाढ्यगाढाग्रामोद्भवः सकलशास्त्ररहस्यवेत्ता।
मत्स्येशमाधवकृपावशलब्धशान्तिर्ग्रन्थं व्यधादनुपमं मधुसूदनोऽयम् ॥३॥

शारीरकविज्ञानं भूषयति ब्रह्मविज्ञानम्।
ताभ्यां भूषितहृदयो विद्योतं वेदलोकयोर्लभते ॥ ४ ॥ ० ॥

॥ इति मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीतं शारीरकविज्ञानशास्त्रम् सम्पूर्णम् ॥

इस प्रकार जहां विद्या, उत्क्रान्ति, गतिक्रम विमुक्ति के पाद हैं, वह ज्ञानियों की यात्रा का निरूपण करने वाला चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।

श्रीमान् महाराजा माधवसिंह के चारों ओर से आश्रय में रहते हुए समस्त तापों के समूह को दूर करते हुए निर्व्यग्र चित्त वाले, निरन्तर समस्त ऐश्वर्य सुखों का पूर्ण उपभोग करते हुए विद्वान् ने विक्रम वर्ष १॰ ९ में इस उत्तम ग्रन्थ का निर्माण किया।

राजीवनन्द के पुत्र विद्वानों से सम्पन्न, गाढ़ा ग्राम में उत्पन्न, समस्त शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता, मत्स्य देश के नरेश श्री माधवसिंह महाराज की कृपा के कारण शान्ति प्राप्त करने वाले श्रीमधुसूदन ने इस अनुपम ग्रन्थ का निर्माण किया।

शरीरिक विज्ञान ब्रह्म के विज्ञान को भूषित करता है। उन दोनों से अलंकृत हृदय वाला वेद और लोक में प्रकाश प्राप्त करता है।

। यह विद्यावाचस्पति मधुसूदनप्रणीत शारीरकविज्ञान शास्त्र पूर्ण हुआ।

शारीरसूत्र व्याख्यानं वल्लभ-मतानुसारेण

३ अध्याये १ पादः

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।

प्राणगतेश्च ।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न, ता एव ह्युपपत्तेः ।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।

भाक्तं वाऽनात्मवित्वात् तथाहि दर्शयति ।

।। अथ वल्लभानुगामिनां व्याख्या ।।

जीवात्मनामारोपणप्रत्यवरोहणचक्रके पञ्चाग्निविद्या श्रूयते । तत्र द्युलोकेऽग्नौ श्रद्धाहुत्या सोमसंभवः । पर्जन्येऽग्नौ सोमाहुत्या वृष्टिसंभवः । पृथिव्यग्नौ वृष्ट्याहुत्या अन्नोत्पत्तिः । पुरुषाग्नो अन्नाहुत्या रेतः संभवः ।

योषाग्नौ रेत आहुत्या गर्भ संभवः इति पञ्चवाहुतिभिरपां पुरुषभाव उच्यते ।

स पुरुषः पुनरेव शरीरं परित्यज्योर्द्ध्वं गच्छन् द्युलोकेऽग्नौ श्रद्धया हूयमानः सोमभावं प्रतिपद्यते । सेयं प्रथमाहुतिस्तावद्विचार्य्यते ।

श्रीवल्लभाचार्य के मत के अनुसार शारीरक सूत्रों का व्याख्यान

अध्याय ३ पाद १

श्रीवल्लभानुगामियों की व्याख्या

जीवात्माओं के आरोहण और प्रत्यवरोहण के चक्र में पञ्चाग्नि विद्या सुनी जाती है। वहां द्युलोक की अग्नि में श्रद्धा की आहुति से सोम की उत्पत्ति होती है। पर्जन्य अग्नि में सोम की आहुति से वृष्टि होती है। पृथिवी रूपी अग्नि में वृष्टि की आहुति से अन्न की उत्पत्ति होती है। पुरुष अग्नि में अन्न की आहुति से रेतस् (शुक्र) की उत्पत्ति होती है। स्त्री रूपी अग्नि में रेत (शुक्र) की आहुति से गर्भ होता है।

इस प्रकार पांच आहुतियों से अप् पुरुष भाव में आता है। वह पुरुष पुनः इसी प्रकार शरीर को छोड़कर ऊपर जाता हुआ द्युलोक अग्नि में श्रद्धा से आहुत होता हुआ सोम भाव को प्राप्त करता है। इस प्रथम आहुति का बिचार किया जाता है।

सप्तसूत्रं प्रथमाधिकरणम्। ब्रह्मज्ञानौपयिकजन्मार्थमस्माच्छरीराज्जीवात्मा संस्कृतभूतैः सहितो गच्छति। पञ्चभूतानां संस्कृतत्वं तु पञ्चाहुतिफलभूतत्वमिति प्रथमार्थः।

(१) तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतीति प्राणगतेः श्रवणाच्च प्राणेन गच्छता सममपां गमनं सिद्धं भवति आपोमयः प्राण इति श्रुतेरेषां प्राणपोषकत्वात्। इति तृतीयार्थः।

यत्रास्य पुरुषस्यैत्यादिश्रुत्या अग्निवाय्वाद्यप्ययबोधिकाया मुक्तमिषवत्वादुत्क्रमण-श्रुतेरमुक्तविषयतया भाक्तत्वान्मुख्यश्रुत्या गौणश्रुतेरबाध इति चतुर्थार्थः।

अथ सर्वे जीवाः संस्कृतभूतयुता गच्छन्ति अथवा ज्ञानाधिकारिण एवेति विचारे पञ्चाग्निविद्यायामधिकारिणामश्रुतत्वादविशेषात् सर्वेषामेव जीवानां पञ्चाहुतिप्रकारेण जन्मेति प्राप्नोतीति चेन्न ।

इष्टादिकारिणो हि धूमादिमार्गेण गच्छन्तः सोमत्वं लभन्ते । सोमभावाच्चायं पञ्चाहुतिप्रकारः संभवतीत्यत इष्टादिकारिण एवेत्थं संपरिष्वक्ता गच्छन्ति न सर्वे जीवा इति सिद्धम् इति षष्ठार्थः ।

अन्यत्र न विशेषः ।

अस्मिन्मते न सर्वजीवानां भूतसूक्ष्मैरन्यैश्च प्राणादिभिः सहारोहः किन्तु इष्टादिकारिणामेवेत्येको विशेषः । अग्निवाय्वाद्यप्ययश्च मुक्तिदशा यामेव न सर्वदेत्यन्यो विशेषः । एतदुभयं चिन्त्यम् ।

। इति पञ्चाग्निविद्यायां प्रथमाहुतिविचाराधिकरणं वल्लभीयानाम् ।

सात सूत्रों का यह प्रथम अधिकरण है । ब्रह्म ज्ञान के उपायभूत जन्म के लिए इस शरीर से जीवात्मा संस्कार वाले भूतों के साथ जाता है पांच भूतों का संस्कार युक्त होना पांच आहुतियों का फल है, यह प्रथम सूत्र का अर्थ हे ।

उसके उत्क्रमण होने के अनन्तर प्राण का उत्क्रमण होता है यह प्राण की गति के श्रवण से जाते हुए प्राण के साथ अप् का गमन सिद्ध होता है

"प्राण आपोमय हैं"

इस श्रुति के द्वारा अप् का प्राणों पोषकत्व बतलाया गया है । यह तीसरे सूत्र का अर्थ है ।

'यत्रास्य पुरुषस्य'

इत्यादि श्रुति के द्वारा, जो अग्निवायु आदि के विलय की बोधक है, उसके मुक्त विषयिणी होने से, तथा उत्क्रमण श्रुति के अमुक्त विषयिणी होने स गौण होने के कारण मुख्य श्रुति से गौण श्रुति का बाध नहीं होता यह चतुर्थ सूत्र का तात्पर्य है ।

समस्त जीव संस्कार सम्पन्न भूतों से युक्त होकर जाते हैं अथवा ज्ञानी ही जाते हैं इस विचार में पञ्चाग्नि विद्या में अधिकारियों का श्रवण न होने से बिना भेद के सभी जीवों का पांच आहुतियों के प्रकार से जन्म होता है । ऐसा प्राप्त होता है, तो ऐसा नहीं

है। जो इष्ट का आचरण करने वाले हैं वे ही धूम आदि मार्ग से जाते हुए सोमत्व को प्राप्त करते हैं। सोम भाव से ही यह पांच आहुतियों का प्रकार सम्भव होता है।

अतः आदि का आचरण करने वाले ही इस प्रकार पांच भूतों से परिष्वक्त होकर जाते हैं, समस्त जीव नहीं, यह सिद्ध होता है। यह षष्ठ सूत्र का अर्थ है।

उक्त अन्य सूत्रों में कोई विशेष अर्थ नहीं प्रकट किया गया है। इस मत में समस्त जीवों का सूक्ष्म भूतों तथा अन्य प्राणादि के साथ आरोहण नहीं होता है।

किन्तु इष्ट आदि का आचरण करने वालों का ही आरोहण होता है, यह एक विशेषता है। अग्नि वायु आदि का लय मुक्ति दशा में ही होता है, सर्वदा नहीं, यह अन्य विशेषता है। ये दोनों बातें चिन्तनीय है।

। यह वल्लभ मत से पञ्चाग्नि विद्या में प्रथमाहुति विचार का अधिकरण हुआ।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च।

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्र्णाजिनिः।

आनर्थक्यमिति चेन्न, तदपेक्षत्वात्।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः।

३ अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्।

संयमने त्वनुभूयेतरषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्।

स्मरन्ति च।

अपि च सप्त।

तत्रापि च तद्व्यापाराद् विरोधः।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्।

न तृतीये तथोपलब्धेः।

स्मर्य्यतेऽपि च लोके ।

दर्शनाच्च ।

वल्लभीयानां मते कृतात्यये इत्यारभ्य त्रयोदशसूत्रं द्वितीयाहुतिविचाराधिकरणम् । इष्टादिकारिणां चन्द्रारूढानां सोमत्वं क्रियते ।

कृतसोमत्वनाशेऽवान्तरफलसाधकसुकृतफललेशसहित एवावरोहति स महात्मा धन्यो जीवो न तु सुकृतफलरहितः । दृष्टं हि लोके भोगसाधनमूलधननाशेपि तादृशवस्त्रोकरणादिसहित एव तत्स्थानादपगच्छति । तथेहापि सानुशयोऽवरोहति । स्मृतिश्च—

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितमित्यादिः । अद्भिश्च भिन्नप्रकाराद्भिश्च परिस्वक्त आयातीत्याह यथेतमनेवं चेति । चकाराद्वैराग्यसहितोऽपीति अष्टमार्थः ।

इदमप्यवरोहणं न सर्वजीवसाधारणं किन्तु ज्ञानाधिकारिमात्रविषयमिति विशेषो वल्लभीयानाम् ।

ननु तद्य इह रमणीयचरणा इत्यादिश्रुतेश्चरणादेव सम्यग् जन्म सिद्ध्यतीति तदर्थमनुशयो नापेक्ष्यते इति चेन्न । चरणश्रुतौ या योनिरुक्ता तस्याः पूर्वजन्मकृतपुण्यज्ञापकतयोपलक्षणार्थत्वेऽप्यत्रजन्मनि साधुवृत्ति नियामकत्वं नास्ति ।

तस्मादिह जन्मनि ज्ञानोदयसिध्यर्थमनुशयोपेक्ष्यते इति कार्ष्णाजिनिराह । ननूपपलक्षणार्थमात्रत्वे चरणश्रुतेरानर्थक्यं स्यादिति चेन्न । काम्यकर्मिणां सुकृतभोगानन्तरं दुष्कृतभोगप्राप्तेर्न्यायप्राप्तत्वाद् दुष्टयोनिरपि संभाव्यते तन्निरासार्थं साधुयोनेरेव प्राप्त्यवगमार्थं तच्छ्रुतेः सार्थकत्वात् ।

साधुयोनिप्रापकधूमादिमार्गस्य तच्छ्रुत्यपेक्षत्वादितिनवमदशमार्थः सुकृतफललेशोऽनुशयः प्रागुक्तः । तत्र मतान्तरमाह–विहितनिषिद्धकर्मणी एवानुशय इति वादरिर्मन्यते इत्येकादशार्थः ।

वाल्लभ मत में

"कृतात्यये"

आदि से आरम्भ करके तेरहवें सूत्र तक द्वितीय आहुति के विचार का अधिकरण है । जो इष्ट आदि का आचरण करने वाले हैं । वे चन्द्र पर आरूढ़ होते हैं और सोमत्व

को प्राप्त करते हैं। सोमत्व का नाश होने पर अवान्तर फल के साधक पुण्य के फल के लेश को साथ लेकर ही वह महात्मा धन्य जीव अवरोहण करता है या लौटता है, बिना पुण्य के फल के नहीं। लोक में भी देखा जाता है कि भोग के साधन मूल धन के नष्ट हो जाने पर जब कोई अपना स्थान छोड़कर जाता है तो उन्हीं वस्त्र आदि सामग्रियों के साथ जाता है।

इसी प्रकार यहां भी पुण्य के अनुशय के साथ ही उसका अवरोहण होता है। स्मृति प्रमाण है-

"जो कुछ यहां स्वर्ग सुख है वशिष्ट है"

इत्यादि। जल से तथा भिन्न प्रकार के जल से परिष्वक्त होकर आता है, इसके लिए कहा गया, जैसे गया था, कुछ उससे भिन्न भी। चकार से वैराग्य के सहित भी आता है यह अष्टम सूत्र का अर्थ है।

यह अवरोहण भी समस्त जीवों का सामान्यतया बिना भेद के नहीं होता किन्तु ज्ञानी अधिकारियों का ही होता है यह वल्लभ मत की विशेषता है।

प्रश्न होता है-

-"जो यहां रमणीय आचरण वाले हैं"-

इत्यादि श्रुति वाक्य में आचरण से ही अच्छा जन्म सिद्ध होता है अतः उसके लिए अनुशय की आवश्यकता नहीं है तो यह प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि उक्त आचरण वाले श्रुति वाक्य में जो योनि बतलाई गई है उसकी पूर्व जन्म में पुण्य कार्य का ज्ञापन करने वाले उपलक्षणार्थ होने पर भी इस जन्म में साधु व्यवहार के नियामक होने की अनिवार्यता नहीं है।

इसलिए इस जन्म में ज्ञान के उदय की सिद्धि के लिए अनुशय मानने की आवश्यकता है, यह कार्ष्णाजिनि ने कहा है।

यदि उपलक्षण बतलाना मात्र ही प्रयोजन होगा तो चरण श्रुति निरर्थक हो जायगी, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए।

क्योंकि जो काम्य कर्म करने वाले हैं उन्हे सुकृत या पुण्य भोग के अनन्तर दुष्कृत या पापभोग की प्राप्ति न्याय प्राप्त है अतः उन्हें दुष्ट योनि की प्राप्ति भी संभावित है।

उसकी आशंका को हटाने के लिए रमणीय योनि की ही प्राप्ति के द्योतन के लिए उस श्रुति वचन की सार्थकता है।

साधु योनि के प्राप्त कराने वाले धूम आदि मार्ग के ज्ञापन के लिए उस श्रुति की अपेक्षा है, यह नवम, दशम सूत्र का तात्पर्य है।

सुकृतफल के लेश अनुशय को पहिले बतलाया गया है, उसके लिए दूसरा मत यह है कि विहित और निषिद्ध कर्म ही अनुशय है ऐसा बादरि का कथन है, यह एकादश सूत्र का तात्पर्य है।

ननु—

—"ये वैकेचास्माल्लोकात् प्रयन्तीति कौषीतकिश्रुतौ सर्वपदोक्तै रनिष्टादिकारिणामपि सोमभावप्रापणं श्रुतम्।

तस्मात् सर्वेषां सोमभावानन्तरं सानुशयमवतरता प्राप्नोतीत्यतः परिहृति। इतरेषामिष्टादिकर्तृभिन्नानां संयमने नाम्न यमलोके सुखदुःखे अनुभवतामारोहावरोहौ भवतः।

—"वैवस्वते विविच्यन्ते"—

इति श्रुतौ तेषां विलक्षणगतिदर्शनात्। व्यासादयोऽपि—

—"यमेन पृष्टस्तत्राहमित्यादिना"—

यमगतिं स्मरन्ति।

येऽपि सप्त रौरवादयो नरकास्तत्रापि यमव्यापाराद् यमगतित्वमेव।

ननु पञ्चाग्निविद्यायामर्चिरादि मार्गविद्यायां च गत्यन्तरस्यानुक्तत्वान्नास्त्येषा यमगतिरिति चेत् तत्रोच्यते। विद्यया देवयानकर्मणा सोमभाव इति श्रुत्या विद्याकर्मणोरेव गतिकारणत्वेन तत्र प्रकृतत्वान्न यममार्ग उक्तः यमगतौ विद्याकर्मणोरहेतुत्वात्। नैतावता तदभावः कल्प्यः। श्रुत्यन्तरसिद्धत्वात्।

ननु जायस्व म्रियस्वेत्यादिश्रुत्या सिद्धे तृतीये सर्वजीवसाधारणे प्रवाहमार्गे यममार्गस्याप्यन्तर्भावः क्रियतां किमर्थं पृथङ् मार्गः कल्प्यते इति चेत् तत्रोच्यते। न प्रवाहमार्गेऽन्तर्भावः शक्यः।

तथा यम लोकवत् तत्र सुखदुःखोपलब्ध्यत्वात् ।

अतथोपलब्धेरिति सूत्रपाठः । इयं च यमगतिर्लोकेपि स्मर्य्यते । मूर्च्छादिषु यम-लोकगमनसंभाषणादीनां क्वचित्संभवात् ।

दर्शनाच्च यमपुरुषाणामजामिलप्रभृतिभिर्यमगतिः प्रतिपद्यते । तस्मादनिष्टादि-कारिणां भिन्नैव यमगतिर्बोध्या न तु तेषां पितृयाणगत्या चन्द्रारूढानां सोमभावो नापि तेषामुत्तमशरीरार्थं चन्द्रात् प्रत्यवरोहः ।

। इति पञ्चाग्निविद्यायां द्वितीयाहुतिविचाराधिकरणम् ।

प्रश्न होता है कि-

—"जो कोई इस लोक से जाते हैं"—

इस कौषोतक श्रुति में सर्व शब्द का प्रयोग होने से जो अनिष्ट का आचरण करने वाले है उन्हें भी सोम भाव की प्राप्ति का होना सुना जाता हैं।

इसलिए सभी को सोम भाव की प्राप्ति के अनन्तर अनुशय सहित अवतरण प्राप्त होता है अतः उसका परिहार करते हैं।

जो इष्ट आदि के आचरण करने वालों से भिन्न हैं, जो संयमन नामक यमलोक में सुख दुःख का अनुभव करते हैं, उन्हीं का आरोह एवं अवरोह होता है।

—"वैवस्वत में विवेचित होते है"—

इस श्रुति में उनकी विलक्षण गति देखी जाती है। व्यास आदि भी

—'यम के द्वारा पूछा जाने पर वहां मैं"—

इत्यादि के द्वारा यम की गति का स्मरण करते हैं जो सात रौरव आदि नरक हैं, वहां भी यम का व्यापार होने से यम की हो गति है।

प्रश्न होता है कि पञ्चाग्नि विद्या तथा अचि आदि मार्ग विद्या में अन्य गति का कथन न होने से, इनकी यम गति नहीं होती तो वहां यह कहा जाता है कि विद्या से देवयान कर्म के द्वारा सोम भाव की प्राप्ति होती है।

ऐसा जो श्रुति वाक्य में कहा गया है वहां विद्या और कर्म को ही गति का कारण बतलाने के कारण वहां उन्हीं के प्रकृत होने से यम का मार्ग नहीं बतलाया गया है, क्योंकि यम की गति में विद्या और कर्म हेतु नहीं हैं।

इससे यम के मार्ग के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि वह अन्य श्रुति वाक्यों से सिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि

'जायस्व म्रियस्व'

इत्यादि श्रुति के द्वारा समस्त जीवों के लिए साधारण रूप से जो तृतीय प्रवाह मार्ग सिद्ध है उसीमें यम मार्ग का भी अन्तर्भाव कर लीजिए, पृथक् मार्ग की कल्पना क्यों की जाती है, तो इस पर यह कहा जाता है कि—

प्रवाह मार्ग में यम मार्ग का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि यमलोक के समान वहां सुख दुःख की उपलब्धि नहीं होती। सूत्र में—

"अततोपलब्धेः"

यह पाठ है। लोक में यह यम गति मानी जाती है। कहीं कहीं मूर्छा आदि में यमलोक में गमन तथा संभाषण आदि की संभावना होती है।

यह भी देखा गया है कि यम के पुरुष अजामिल आदि को यम गति के लिए ले जाने आए थे। इसलिए जो अनिष्ट का आचरण करने वाले हैं उनकी एक भिन्न ही यम गति होती है यह जानना चाहिए।

जो पितृयाण गति से चन्द्र पर आरुढ़ हो गए हैं उनका पुनः सोम भाव नहीं होता और न ही उन्हें उत्तम शरीर की प्राप्ति के लिए चन्दमा से उतरना होता है।

। यह पञ्चाग्नि विद्या में द्वितीय आहुति के विचार का अधिकरण हुआ।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः।

नातिचिरेण विशेषात्।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्।

तृतीयेत्यारभ्य पञ्चसूत्रेण तृतीयाधिकरणेन तृतीयाहुतिर्विचार्य्यते । वृष्टेरन्नमित्युक्तम् । किन्तु लोके वीजं विना केवलवृष्टेरन्नोत्पत्तिर्नास्तीत्यत आहुस्तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्येति ।

—"तस्माद् यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषः तेजस एव तद्बापो जायन्ते"—

इति श्रुतेः संशोकजस्य जलस्य तृतीयाहुतौ वृष्टिशब्देन ग्रहणम् ।

"—तस्माद् यत्र क्वच वर्षति तदेव भूमिष्ठमन्नं भवतीति श्रुतेर्बीजान्तरनिरपेक्षास्योऽप्यद्भ्योऽन्नं भवति ।

ननु कथं वृष्टेरन्नस्य तृतीयाहुतित्वमुच्यते । यावता—

—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते"—

इत्युपक्रम्य, आकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति"—

इत्येवमाकाशवाय्वभ्रमेघवृष्टिक्रमेण कार्य्यंभावोत्तरमन्नभाव आम्नायते । तथा चाकाशवाय्वादीनामाहुत्यामनन्तर्भावान्न्यूनतेति चेदत्रोच्यते । साभाव्यापत्तिरुपपत्तेरिति ।

सा हि वाय्वादिरूपापत्तिराभाव्यापत्तिर्द्रष्टव्या । वाय्वादिवदाभानमेव भवति न तु मुख्यं वाय्वादित्वम् । आकाशवाय्वोः सोमादतिरिक्ततया सर्वथा ताद्भाव्यासंभवादाभातस्यैवोपपत्तेः ।

"तृतीय शब्दावरोधः"

आदि से आरम्भ करके पांच सूत्रों के तृतीय अधिकरण के द्वारा तीसरी आहुति का विचार किया जाता है । वृष्टि से अन्न होता है यह कहा गया ।

किन्तु लोक में देखा जाता है कि बीज के बिना केवल वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए कहते हैं—

—"तृतीय शब्दावरोधः संशोकजस्य" ।

"जहां कहीं पुरुष शोक करता है, या पसीना उसे आता है, वह तेज से जल की उत्पत्ति है ।"

इस श्रुति से शोक से उत्पन्न जल का ही तीसरी आहुति में वृष्टि शब्द से ग्रहण है।

"इसलिए जहां कहीं वर्षा होती है, वही भूमि में स्थित होकर अन्न होता है"

इस श्रुति से बीज की अपेक्षा के बिना भी जल से अन्न होता है।

प्रश्न होता है कि वृष्टि से होने वाले अन्न को तीसरो आहुति कैसे कहा जाता है, जब–

"इसी मार्ग से पुनः वापस लौटते हैं"

यह उपक्रम करके,—

"आकाश में, आकाश से वायु में, वायु होकर अभ्र बनता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर वर्षा होती है"

इस प्रकार आकाश, वायु, अभ्र, मेघ, वृष्टि इस क्रम से कार्य भाव में आने के अनन्तर अन्न भाव की प्राप्ति बतलाई गई है, ।

इस प्रकार आकाश वायु आदि में अन्तर्भाव न होने से इस क्रम में न्यूनता है, तो यहां उत्तर में कहा जाता है कि–

साभाव्य की अर्थात् समरूपता की प्राप्ति उपपत्ति के कारण होती है"

वह वायु आदि रूप की प्राप्ति आभाव्य या सरूपता की प्राप्ति समझनो चाहिए। वायु आदि के समान आभान या समानरूपता ही होती, मुख्य वायु आदि रूपता नहीं होती।

क्योंकि आकाश और वायु सोम से अतिरिक्त हैं, सर्वथा उनके रूप में परिणति संभव नहीं है अतः उनका आभान ही होता है।

वृष्टेरन्नरूपता च नातिचिरेण संभवति।

—"अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमिति वक्ष्यमाणश्रुत्याऽन्नभावापत्युत्तरमेव विलम्बश्रवणात्। ततः पूर्वावस्थाया विशेषावगमात्।

ननु—

—संसर्गजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नर"—

इत्युक्ते व्रीह्यादिभावोऽस्य भोगार्थः स्यादिति चेन्न । अन्यैर्जीवैः स्वकर्मभोगार्थं व्रीह्यादिभावापन्नै रधिष्ठितेऽस्मिन् व्रीह्यादिशरीरे तावद् पूर्ववत् संपृक्तस्यास्य प्रत्यवरोहतोऽन्यजीवस्य तात्स्थ्यात्ताद्भाव्यमितिन्यायेन व्रीहियवादिशब्दै रभिलाषात् ।

ननु पापकर्मवशाद्दुःखभोगोपयोगिस्थावरशरीरापन्नस्य व्रीह्यादिशरीराधिष्ठातृजीवस्य तच्छरीरमशुद्धमस्तीत्यतस्तत्संपृक्तस्यास्य प्रत्यवरोहतो जीवस्याप्यशुद्धिः स्यात् ।

तथा च ज्ञानाधिकारयोग्य उत्तमशरीरवान् पुरुषस्ततो वोत्पद्येतेति चेन्न । देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवतीति शब्दप्रामाण्यादेवान्नाशुद्धेः स्थावरभावरूपायास्तत्र रेतस्यसङ्क्रमणावगमात् ।

। इति तृतीयाहुतिविचाराधिकरणम् ।

वृष्टि की अन्नरूपता तो अपेक्षाकृत शीघ्र ही हो जाती है—

"यहां से नीचे जाना कठिनतर है"

आदि श्रुतिवाक्य से अन्नभाव प्राप्ति के अनन्तर ही विलम्ब का श्रवण होता है। उससे पूर्व की अवस्था की विशेषता का ज्ञान होता है।

प्रश्न होता है कि—

"संसर्ग से उत्पन्न कर्म दोषों से मनुष्य स्थावर हो जाता है"

इस उक्ति से इसका व्रीहि आदि भाव में जाना भोग के लिए होगा तो ऐसा नहीं हैं। अपने कर्मों के भोग के लिए व्रीहि आदि भावापन्न अन्य जीवों के द्वारा अधिष्ठित इस व्रीहि आदि शरीर में पूर्ववत् इसके संपृक्त होने से प्रत्यवरोह होने पर,—

"उस रूप में जाने से उसका भाव बन जाता हैं"

इस न्याय से उसे व्रीहियव आदि शब्दों से कहा गया है।

पुनः प्रश्न होता है कि पाप कर्मवश दुःख भोग के उपयोगी स्थावर शरीर को प्राप्त करने वाले व्रीहि आदि शरीर के अधिष्ठाता जीव को उस शरीर के अशुद्ध होने से उस शरीर संपृक्त होने के कारण अशुद्धि होगी। तब ज्ञानाधिकार के योग्य उत्तम शरीर वाला पुरुष उससे कैसे उत्पन्न होगा तो यह प्रश्न भी नहीं होता।

"देवता अन्न हवन करते हैं उस आहुति से रेत बनता है"

इस शब्द प्रमाण से अन्न की शुद्धि होने से स्थावर रूप का रेत में संक्रमण नहीं होता यह ज्ञात होता है।

यह तृतीय आहुति के विचार का अधिकरण हुआ।

रेतः सिग्योगोऽथ।

अन्नस्य रेतोभावो बाल्ये वार्द्धक्ये क्लीवत्वे च व्यभिचरति इत्यतः समाधत्ते। रेतः सिग्योगोऽथेति बालवृद्ध क्लीवादयो रेतःसिचो न सन्ति। रेतःसिचां त्वत्र योगो विवक्षितः।

अथ शब्दो रेतः सिग्योगेऽवरोहणमार्गानुक्रमसमाप्तिसूचनार्थः। रेतः सिग्योगादनन्तरमेवाहुतिक्रमफलरूपोऽपां पुरुषभावः सिध्यति। नोत्तरतः पुनराहुत्यन्तरमपेक्ष्यते।

। इति चतुर्थाहुतिविचाराधिकरणम्।

अन्न की रेत या शुक्र के रूप में परिणति बाल्य, वार्धक्य, तथा नपुंसक अवस्थाओं में नहीं होती इसलिए इस समाधान करते हैं कि—

"रेत के सेवन का योग है"

बाल वृद्ध नपुंसक आदि शुक्र का सेचन नहीं करते। यहां रेत या शुक्र का सेचन करने वाले का योग विवक्षित है। सूत्र में जो 'अथ' शब्द है वह रेत के सेचन कर्ता के योग में अवरोहण मार्ग के क्रम की समाप्ति की सूचना देने के लिए है।

रेत सेचन कर्ता के योग के अनन्तर ही आहुति के क्रम के फलस्वरूप अप् का पुरुष भाव सिद्ध होता है। उसके अनन्तर फिर किसी आहुति की अपेक्षा नहीं होती।

यह चतुर्थ आहुति के विचार का अधिकरण हुआ।

योने शरीरम्।

तस्या आहुतेर्गर्भः संभवतीति फलरूपां पंचमीमाहुतिमाह। योनेः शरीरमिति।

न तावद्गर्भाशये गर्भसंभवमात्रमाहुतिफलं भवति किन्तु योनेर्वहिर्निर्गतं शरीरं गर्भशब्देनाभिप्रेयते । अग्नेरुत्थितस्य फमत्वप्रतिपत्तेः ।

। इतिपञ्चमाहुतिविचाराधिकरणम् ।

इति पंचाग्निविद्यानिरूपणपादः प्रथमः पूर्णः

उस आहुति से गर्भ का संभव होता है इसलिए फल रूप पांचवीं आहुति बतलाते हैं—

"योनि से शरीर होता है"

गर्भाशय में गर्भ का उत्पन्न हो जाता मात्र आहुति का फल नहीं है, किन्तु योनि से बाहर निकला हुआ शरीर गर्भ शब्द से कहा जाता है, क्योंकि अग्नि से निकले हुए को फल समझा जाता है ।

यह पञ्चम आहुति के विचार का अधिकरण हुआ ।

यह पंचाग्नि विद्या के निरूपण का प्रथम पाद पूर्ण हुआ ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।

मायामात्रं तु कात्स्न्येंनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ ।

देहयोगाद्वासोऽपि ।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ।

पूर्वपादे जीवस्य मोक्षान्तरङ्गसाधनज्ञानभक्तिसिध्यर्थं योग्यदेहसिद्धिरुक्ता। अथेदानीं मुक्तियोग्यतानिरूपणपाद आरभ्यते।

तत्र जीवस्य मुक्तिप्रतिबन्धको गुणदोषसंबन्धः सृष्टिसंबन्धनिबन्धनोऽस्तीति कृत्वा सृष्टिसंबन्धः परीक्ष्यते।

सूत्रद्वयेन तावत्पूर्वपक्षः क्रियते। सन्ध्ये स्वप्ने सृष्टिर्वस्तुभूतास्ति। आह हि श्रुतिस्तथा रथान् रथयोगान् पथः सृजते इत्यादिना।

तादृशसृष्टिनिर्मातारं चैके आचार्य्या जीवं वदन्ति। एष सुप्तेषु जागर्तीत्यादिना। जागर्तीत्यनेन कर्तुरभ्रान्तत्वात् सृष्टेः सत्यत्वमुक्तम्। कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण इत्यनेन सृष्टेरिच्छापूर्वकत्वमुच्यते। पुत्रादयश्च स्वप्ने सृष्टा भवन्ति।

पहिले के पाद में जीव के मोक्ष के अन्तरङ्ग साधन ज्ञान और भक्ति की सिद्धि के लिए योग्य देह की सिद्धि बतलाई गई। अब यहां से मुक्ति की योग्यता के निरूपण के पाद का आरम्भ किया जाता है।

वहां जीव को मुक्ति का प्रतिबन्धक गुण और दोष का सम्बन्ध है, वह सृष्टि के सम्बन्ध के कारण होता है, इसलिए सृष्टि के सम्बन्ध की परीक्षा की जाती है।

दो सूत्रों से पूर्वपक्ष उपस्थित किया जाता है। सन्धि स्थान अर्थात् स्वप्न में सृष्टि वास्तविक है। श्रुति ने ऐसा कहा हैं—

"रथ रथ के योग तथा मार्ग का सृजन करता है" इत्यादि।

उस प्रकार की सृष्टि के निर्माता को कुछ आचार्य जीव कहते हैं-

"यह सोते हुए में जागता है"

इत्यादि वचनों, के द्वारा यह प्रतिपादन हुआ है।

"जागता है"

कहने से जागने वाला भ्रान्तियुक्त नहीं है अतः वह सृष्टि सत्य है, यह कहा जा रहा है।

"अपनी कामना के अनुसार निर्माण करता हुआ पुरुष"

इस उक्ति से यह सृष्टि इच्छा पूर्वक है, यह बतलाया जाता है। स्वप्न पुत्र आदि उत्पन्न होते हैं।

तथा च तादृशस्वाप्नसृष्टिकृतगुणदोषसंबन्धाज्जीवस्य मोक्षप्रतिबन्धः प्राप्नोतीत्यतः सिद्धान्तमाह ।

नैषा जीवकृता सृष्टिः किन्तु ईश्वरेच्छाक्लृप्तं मायामात्रमतत्स्वप्नदर्शनं न वस्तुभूतम् । यद्वस्तुनो यादृशदेशकालसापेक्षं रूपमवक्लृप्तं तद्रपेण तस्य तत्रानभिव्यक्तेः ।

किमर्थं तर्हि स्वप्नसृष्टिरिति चेदुच्यते—

सूचको हि स्वप्नः शुभाशुभफलस्यास्ति"—

यदा कर्मसु काम्येष्वित्यादि श्रुतेः । आचक्षते च तथा स्वप्नाध्यायविदो धन्याधन्यानि स्वप्नरूपाणि ।

ननु तर्हि जीवस्य बन्धादिः कुत इति चेदुच्यते । परस्यात्मनो यो जीवभोगेच्छानुकूलप्रवृत्तिनिवृत्तिसाधनसंकल्प तस्मादस्य भगवदंशस्यापि जीवस्य निजमैश्वर्य्यादिगुणषट्कं तिरोहितं भवति । तत एवास्य बन्धमोक्षौ भवतः ।

अथवा मतान्तरं भवति । न परमेश्वरेच्छयैवास्य जीवस्य निजधर्मातिरोभावः किन्तु देहयोगादपि स प्रतिपत्तव्यः । अस्मिन्मते जीवन्मुक्तो न स्यात् ।

देहवियोगोत्तरमेव ज्ञानोदयसंभवात् । तस्मादीश्वरसंकल्पादेव जीवो वध्यते मुच्यते चेति मुख्यं मतम् ।

इस प्रकार की स्वप्न सृष्टि के द्वारा उत्पादित गुण और दोष के सम्बन्ध से जीव की मोक्ष के लिए रुकावट आ जाती है अतः सिद्धान्त कहा जाता है ।

यह जीवकृत सृष्टि नहीं है किन्तु ईश्वर की इच्छा से कल्पित यह माया मात्र अवास्तविक स्वप्न का दर्शन है, यह वास्तविक नहीं है ।

क्योंकि जिस वस्तु का जिस देश काल को अपेक्षा से रूप संस्थित हैं, उसकी वहां अभिव्यक्ति नहीं है ।

तब यह स्वप्न सृष्टि क्यों है इस प्रश्न पर कहा जाता है कि—

स्वप्न शुभ और अशुभ फल का सूचक होता है,

—"जब काम्य कर्मों में ':—

इत्यादि श्रुति वाक्य से यह प्रमाणित होता है। स्वप्नशास्त्र के ज्ञाता धन्य और अधन्य स्वप्न के रूपों का वर्णन करते हैं।

तब जीव का बन्ध आदि कैसे होता है इस प्रश्न पर कहते हैं कि परमात्मा का जो जीव के भोग की इच्छा के अनुकूल प्रवृत्ति और निवृत्ति के साधन का सकल्प है उससे इस जीव के भगवदंश होने पर भी अपने ऐश्वर्य आदि ६ गुण तिरोहित हो जाते है। इसलिए इसके बन्ध और मोक्ष होते हैं।

अथवा इस विषय में दूसरा मत भी होता है कि परमेश्वर की इच्छा से ही जीव के लिए अपने धर्मों का तिरोभाव नहीं होता अपितु शरीर से योग होने के कारण भी धर्मों का तिरोभाव हो जाता है, ऐसा मानना चाहिए।

इस मत में जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त नहीं हो सकेगी। क्योंकि ज्ञान का उदय शरीर के अनन्तर ही होगा।

इस अनुपत्ति के कारण मुख्य मत यही है कि ईश्वर के संकल्प से ही जीव बद्ध और मुक्त होता है।

स्वाप्नसृष्टिः परीक्षिता। सुषुप्तौ सृष्टिरस्ति नास्ति वेति चिन्त्यते। तत्राह। नाडीषु वा परात्मनि वा जीवात्मसत्वे स्वप्नाभावे इति द्विविधा सुषुप्तिर्भवति।

—"ता वा अस्यैता हिता नाड्यः इति। तद्वा अस्यैतदात्मकाममिति च द्वैविध्येन सुषुप्तिश्रुतेः।

अथवा व्याख्यान्तरम्। पुरीतन्नाडीषु परात्मनि च जीवात्मावस्थानश्रुतेस्तत्र सुषुप्तौ सृष्ट्यभावः।

अथ जाग्रदवस्था चिन्त्यते। द्विविधा सुषुप्तिरुक्ता। तत्र नाडीषु सुषुप्तौ नाडीभ्य एव प्रबोधः।

परात्मनि सुषुप्तौ हृदयदेशे परात्मनः सत्वात् तत एव प्रबोधः। यत्र स्थितस्तत एवास्य प्रबोधो युक्तः प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैवेति श्रुतेः।

स्वप्न सृष्टि की परीक्षा की गई। सुषुप्ति में सृष्टि होती है या नहीं इसका विचार किया जाता है। वहां कहा जाता है स्वप्न के अभाव की अवस्था में सुषुप्ति दो प्रकार की होती है, जीवात्मा के नाड़ियों में स्थित होने पर तथा जीवात्मा के परमात्मा में स्थित होने पर।

-"ये इसकी हित नाड़ियां है"-

—"ये इसके आत्मकाम हैं"—

ये सुषुप्ति के सन्दर्भ में दो प्रकार के श्रुति वाक्य हैं। अथवा दूसरो व्याख्या है कि पुरीतत नाडियों में तथा परमात्मा में जीवात्मा के अवस्थान की श्रुति से सुषुप्ति अवस्था में सृष्टि का अभाव होता हैं।

अब जागत् अवस्था का विचार किया जाता है दो प्रकार की सुषुप्ति बतलाई गई। वहां सुषुप्ति जब जीवात्मा के नाड़ियों में प्रवेश करने पर होती है तब प्रबोध या जागरण भी नाड़ियों से ही होता है। तथा जब जीवात्मा के परमात्मा में प्रवेश करने पर सुषुप्ति अवस्था होती है तब हृदय देश में परमात्मा के रहने से वहीं से प्रबोध होता है।

क्योंकि सुषुप्ति में जहां स्थिति होती है वहीं से प्रबोध होना युक्ति युक्त है।

-"प्रतियोनि में पहुंचता है, ज्ञान प्राप्ति तक के लिए"—

यह श्रुति वचन इस सन्दर्भ में उद्धृत होता है।

ननु सुषुप्तेर्द्वैविध्ये सति यदा परात्मनि सुषुप्तिर्भवती तदायं जीवः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः सुषुप्तौ परमानन्दमनुभवतीति स जीवो मुक्त एवाभूत्। अतस्तस्य जीवस्य पुनरुत्थानासंभवात् प्रबोधे कश्चिदन्य एवागन्तुको जीवः परमात्मेच्छया देहनिर्वाहार्थं देहे संसृष्टः स्यादिति चेत् तत् प्रत्याचष्टे।

परात्मनः सकाशात् प्रबोधेपि नाडीप्रबोधवत् स एव तु जीवः पुनरुत्तिष्ठत्ते। इति कर्म्मादिप्रत्यभिज्ञानाद्विजानीमः।

ननु यत्र कर्मानुस्मृत्यादिहेतवो न संभवन्ति मुग्धादिषु तत्र नियामकाभावादन्यो जीवः स्याद् अत आह मुग्धभावेत्वर्द्धसंपत्तिः। मुग्धोऽत्यन्तमूर्खो विवेकशून्यो जडवद्धर्मा स एव वान्यो वेति निश्चयप्रमाणाभावात् सन्देहोऽवशिष्यते।

यत्तु मुग्धो मूर्छित इति कैश्चिदुक्तं तदसत्। जीवावस्थानामेव विचार्य्यत्वात् प्राणायनविघातकृताया मूर्छाया विचारायोग्यत्वात्।

मुग्धस्तु मूढत्वात् कर्म्मानुस्मृत्यादिवैकल्यात् सन्दिह्यते।

तदित्थं स्वप्नादिदोषाणामप्रतिबन्धकत्वात् पञ्चाग्निसाधितदेहस्योपपद्यतेज्ञानाधिकार इति सिद्धम् ।

। इति ज्ञानाधिकारे स्वप्नादिजीवावस्थापरीक्षाधिकरणम् ।

यहां एक प्रश्न यह आता है कि सुषुप्ति जो दो प्रकार की कही गई है उसमें जब सुषुप्ति में जीवात्मा परमात्मा में चला जाता है तब यह जीव प्राज्ञ आत्मा से आलिङ्गित होकर सुषुप्ति में परमानन्द का अनुभव करता है अतः वह जीव मुक्त हो हो गया । तब उस जीव के पुनरुत्थान के असंभव होने से जागरण में कोई अन्य ही आगन्तुक जीव परमात्मा की इच्छा से शरीर के निर्वाह के लिए शरीर में संसृष्ट हो गया होगा—

इस प्रश्न का समाधान करने हैं कि परमात्मा के पास से प्रबोध या जागरण होने पर भी नाड़ी में जाने पर सुषुप्ति प्रबोध के समान ही वही जीव फिर जाग्रत होता है । ऐसा हम इसलिए समझते हैं कि उसे अपने कर्मों का स्मरण रहता हैं ।

जहां कर्मों की अनुस्मृति आदि कारण नहीं रहते वहां मुग्ध आदि में नियामक के अभाव में अन्य जीव का आगमन होता होगा इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि—

मुग्ध अवस्था में अर्ध सपत्ति होती है । मुग्ध का अर्थ है अत्यन्त मूर्ख, विवेश से शून्य, जड़ के समान धर्म वाला वह परिशेष से वही है या अन्य इस निश्चय में प्रमाण के अभाव में सन्देह रह जाता है ।

जो लोग मुग्ध का अर्थ मूर्च्छित ऐसा मानते हैं, वह ठीक नहीं है । क्योंकि यहां जीव की अवस्था का ही विचार प्रकरण प्राप्त है । मूर्छा की अवस्था में तो प्राणों की गति या श्वास प्रक्रिया का विघात हो जाने से वह अवस्था विचार के योग्य नहीं है । जो मुग्ध या मूढ़ है, वह तो मूढ़ता के कारण कर्मों के अनुस्मरण के अभाव में सन्देह का स्थान है ।

इस प्रकार स्वप्न आदि दोषों के प्रतिबन्धक न होने से पञ्चाग्नि के द्वारा साधित शरीर में ज्ञान का अधिकार युक्तियुक्त है, यह सिद्ध हुआ ।

यह ज्ञान के अधिकार में स्वप्न आदि जीव की अवस्था की
परीक्षा अधिकरण हुआ ।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्रहि ।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।

अपि चैवमेके ।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

आह च तन्मात्रम् ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ।

अत एव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।

दर्शनाच्च ।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।

परात्मनो धर्मा द्वेधा—

स्वगताश्च जडजीवानुगताश्च । तत्र स्वगतधर्मास्तृतीयपादे वक्ष्यन्ते । जडजीवधर्मत्वेन प्रतीतास्त्वत्र विचार्य्यन्ते । तत्रोपनिषत्सु ब्रह्मधर्म्माणामाख्याने भूयोऽसामञ्जस्यं दृश्यते ।

—"अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"—

—"एष मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकतन्दुलाद्वा । एष मे आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः"—

इत्यादि वाक्यैः परस्परविरुद्धानामणुत्वमहत्वादीनामेकब्रह्मधर्मतयाख्यानं दृश्यन्ते तन्नोपपद्यते इत्येकाऽनुपपत्तिर्भवति ।

अपि च—

—"सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्त ।

इति सर्वधर्मोपपन्नत्वं ब्रह्मणः क्वचिदुच्यते । क्वचिद्वा पुनः—

—"अन्यत्र धर्म्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्रभूताच्च भव्याच्च"--

इत्येवं सर्वधर्मविनिर्मुक्तत्वमुच्यते । इत्यपराऽनुपपत्तिर्भवति । ताभ्यां व्याहतवाक्यत्वाच्च श्रुतीनामप्रामाण्यं प्राप्नोति ।

तत्राणुत्वमहत्त्वादिविरुद्धभावद्वयसामञ्जस्याय भावाभावोभयविरोधसामञ्जस्याय च केचित्तावदित्थमाहुः सर्वत्र व्यापकस्य परस्य विभिन्नपरिच्छेदकतत्तत्स्थानाणुत्वमहत्त्वाद्युपाधिसंबन्धाद्विरुद्धोभयभावलिङ्गं संभवति ।

सर्वधर्मविशिष्टं ब्रह्म भिन्नं सर्वधर्मविनिर्मुक्तं तु ब्रह्म भिन्नमिति ब्रह्मणो भेदाच्च भावाभावोभयसामञ्जस्यमुपपद्यते इति ।

तदेतन्मतं प्रत्याख्यातुं सूत्रद्वयमाह--

न स्थानतोपि परस्य विरुद्धोभयलिङ्गं समञ्जसं भवति ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठत् तस्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति ।

—"तदेजति तन्नैजति तद्दूरेतद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः"—

इत्यादिषु सर्वत्र हि स्थाननैरपेक्ष्येणैव ब्रह्मणस्तादृशविरुद्धरूपाख्यानात् ।

परमात्मा के धर्म दो प्रकार के हैं—

एक तो स्वगत धर्म तथा दूसरे जड़ जीवों में अनुगत या व्याप्त धर्म ।

इनमें स्वगत धर्मो का विवरण तृतीय पाद में दिया जायगा । जो जड़ जोवों के धर्म के रूप में प्रतीत होते है उनका विचार यहां किया जाता है ।

इस सन्दर्भ में उपनिषदों में ब्रह्म के धर्मों के विवरण में बहुत कुछ असमञ्जसतायें देखने में आती हैं ।

-"अणु से अणु, महान् से महान् आत्मा इस जन्तु की गुहा में निहित है"-

—"मेरे हृदय में यह आत्मा ब्रीहि, यव, सर्षप, श्यामाकतन्दुल से भी अणु रूप में विराजमान है"—

—मेरे हृदय में यह आत्मा पृथ्वी से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, द्युलोक से बड़ा, इन सभी लोकों से बृहदाकार के रूप में विराजित है"—

इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा परस्पर विरुद्ध अणुत्व महत्व आदि का एक ब्रह्म में रहने वाले धर्मों के रूप में वर्णन दिखाई देता है,

वह उपपन्न या तर्कसंमत नहीं है, यह एक अनुपपत्ति है। दूसरी बात यह है कि-

"सर्व कर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस वह इन सबमें अभित्तः व्याप्त है"

इस प्रकार कहीं ब्रह्म का सर्वधर्मों से युक्त होना बतलाया जाता है। और फिर कहीं—

—"जो धर्म से पृथक् है, अधर्म से पृथक् है, इस कृत और अकृत से अलग है, जो भूत और भव्य से अलग है"-

इस प्रकार ब्रह्म को सर्वधर्मों से विनिर्मुक्त बतलाया गया है। यह दूसरी अनुपपत्ति होती है।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध उक्तियों से वाक्यों के व्याघातग्रस्त हो जाने से इन श्रुति वाक्यों में अप्रमाणता प्राप्त होती है।

वहां अणुत्व महत्त्व आदि विरुद्ध दो प्रकार के भावों के सामञ्जस्य के लिए तथा भाव और अभाव के विरोध के सामञ्जस्य के लिए कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो परमात्मा सर्वव्यापक है वह विभिन्न पदार्थों का परिच्छेदक होने के कारण विभिन्न स्थानों में जो अणुत्व महत्व आदि उपाधियां है उनके सम्बन्ध से परस्पर विरुद्ध दोनों भावों के चिन्ह होते हैं।

समस्त धर्मों से विशिष्ट ब्रह्म भिन्न हैं, तथ सभी धर्मों से विनिर्मुक्त ब्रह्म उससे भिन्न है, इस प्रकार ब्रह्म के भेद से भाव और अभाव दोनों का सामञ्जस्य ठीक बैठ जाता है इस मत को अस्वीकार करने के लिए दो सूत्र कहे गए हैं।

स्थान के कारण भी परम तत्व के विरुद्ध दोनों चिन्ह समञ्जस नहीं होते क्योंकि

"अनेजदेकं मनसो जवीयः"

"तदेजति तन्नैजति"

इत्यादि श्रुति वाक्यों में सर्वत्र स्थान की अपेक्षा के बिना ही ब्रह्म के उस प्रकार के विरुद्ध धर्म बतलाए गए हैं।

अपि च न ब्रह्मणो भेदकल्पनाद् भावाभावोभयविरोधोस्तीति चेत् तदपि न। मधुब्राह्मणो अयमेव स योऽयमित्यादिना प्रत्येकमभेदवचनाद् भेदकल्पनस्यायुक्तत्वात्।

अपि चैवमेक शाखिनो भेदं प्रत्याचक्षते।

—"नेह नानास्ति किञ्चन"—

—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यतीति"——

तस्मादित्थं युक्त्याभासाभ्यां विरोधापरिहारादुपनिषद्वाक्येषु परस्परविरोधः प्राप्नोत्येव।

अथान्ये केचिदित्थं पञ्चभिः सूत्रैः परिहारमाहुः——

जगदेवेदं रूपवदस्ति। ब्रह्मस्वरूपवदस्ति। जगद्विलक्षणत्वात्।

तथा चोपनिषद्वाक्यानान्तद्ब्रह्मनिरूपणप्रधानत्वात् तत्रोपनिषत्स्वरूपवदेवास्ति प्रतिपाद्यं न तु रूपवदपि।

सर्वकर्मादयस्तु जगद्धर्म्मा उपचारादुच्यन्ते।

तेन निर्धर्मकत्व एव शास्त्रतात्पर्यं धर्मोपपादनं त्वौपचारिकं द्रष्टव्यम्।

ब्रह्म के भेद की कल्पना करके भाव और अभाव का विरोध नहीं रहता, यह जो कहा गया तो वह बात भी ठीक नहीं है—

"यह मधु ब्राह्मण यही है"

इत्यादि के द्वारा प्रत्येक का अभेद कथन होने से भेद कल्पना अयुक्त है

पुनश्च कुछ शाखा वाले भेद का प्रत्याख्यान करते हैं।

"यहां भेद कुछ नहीं है"

"वह मृत्यु को भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो यहां भेद देखता है"

इस प्रकार यहां युक्ति के आभासों से विरोध का परिहार न होने से उपनिषद् के वाक्यों में परस्पर विरोध प्राप्त होता ही है।

अन्य कुछ आचार्यों ने पांच सूत्रों से इस प्रकार विरोध का परिहार बतलाया है-

यह जगत् ही रूपवान है, यह ब्रह्म के स्वरुप वाला है। क्योंकि जगत् विलक्षण है। उपनिषद् वाक्यों में ब्रह्म के निरूपण की प्रधानता होने से वहां उपनिषद् स्वरुपवान् ही प्रतिपाद्य है, रूपवान् नहीं।

सर्वकर्मा आदि जगत् के धर्म तो गौण रुप से कहे गए हैं। अतः शास्त्र का तात्पर्य तो निर्धर्मक तत्व को बतलाने में ही है, धर्मों का उपपादन या विवरण तो वहां गौण रूप से ही किया गया है।

ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वे तस्य सर्वव्यवहारायोग्यत्वाद् ब्रह्मणस्तदाराधनस्य तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य च वैयर्थ्यं स्यादिति चेत् तत्राह। प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् तद्व्यवहारा उपपद्यन्ते।

यथा सौरः प्रकाशो जीवैर्यथेच्छं स्थापयितुं विधातुं चाशक्यत्वादव्यवहार्य्योऽपि प्रकृत्या सूर्य्योदये मेघाद्यावरणाभावे च व्यवहार्य्यो भवति तथेदं ब्रह्मापि, आसीनो दूरं व्रजति, अपाणिपादो जवनो ग्रहीता इत्यादि वाक्यैः सर्वधर्मरहितेप्यलौकिकसामर्थ्यवद्रूपत्वाज्जीवाद्यनुग्राहकत्वसंभवादीश्वरकृपयैव व्यवहार्य्यं संभवति। तस्माच्छास्त्रादिवैयर्थ्यं नास्ति।

ननु अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुःस शृणोत्यकर्ण इति श्रुतेरलौकिकसर्वेन्द्रियत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यतीति निर्धर्मकत्वपक्षो व्याहन्यते इति चेन्न। आह च तन्मात्रं श्रुतिः---

—"यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्य इत्यादिना। तथा च निर्धर्मकत्वव्याघातः।

ननु ब्रह्मण एवेदं जगदुत्पन्नमिति वेदान्ता आहुः। सर्वविधरूपवति चास्मिन् जगति कामादिधर्मा दृश्यन्ते।

तथा च कारणधर्माणामेव कार्य्ये दर्शनाज्जगतो धर्मैरेव कारणे ब्रह्मणि सर्वधर्म-वत्त्वं संभाव्यत इति चेत् तत्राह—

दर्शयति श्रुतिरेव—

—"अथात आदेशो नेति नेतीत्यादिना"—

ब्रह्मणि जडजीवधर्माणां सर्वेषामभावम् । अथो स्मर्य्यतेपि तथा—

अनादिमत्परं ब्रह्मेत्यादि । अतः प्रपञ्चधर्माणां ब्रह्मणि कथनमौपचारिकमेव सिद्धम् ।

ब्रह्म को धर्म रहित मान लेने पर उसके सभी प्रकार के व्यवहारों के अयोग्य हो जाने से उसकी आराधना और उसके स्वरूप को समझाने वाले ब्रह्म प्रतिपादन शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे, इस सन्देह के उठने पर उसके उत्तर में कहा जाता है कि-

प्रकाश के समान व्यर्थ न होने से सारे व्यवहार चलते हैं । जैसे सूर्य का प्रकाश जीवों के द्वारा अपनी इच्छा से स्थापित नहीं किया जा सकता, न उसका निर्माण ही जीवों के द्वारा अपनी इच्छा से किया जाता है, इसलिए वह व्यवहार के योग्य न होता हुआ भी प्रकृति से ही जब सूर्य का उदय होता है और मेघ आदि का आवरण नहीं रहता, तब वह व्यवहार में लिया जाता है, वैसे ही यह ब्रह्म भी-

"आसीन या एक स्थान पर स्थित होता हुआ ही दूर तक जाता है"

"बिना हाथ पैर का होते हुए भी वेगवान् है और ग्रहण करता है"

इत्यादि वाक्यों के द्वारा इस समस्त धर्मों से रहित में भी अलौकिक सामर्थ्य शाली रूप होने से, जीव आदि पर अनुग्रह करना इसके लिए सभव है अतः ईश्वर कृपा से ही सब कुछ व्यवहार योग्य बनता है । इसलिए शास्त्रों के निरूपण तथा उपासना आदि व्यर्थ नहीं होते ।

ब्रह्म को निर्धर्मक मानने में प्रश्न उपस्थित होता है कि-

"वह बिना हाथ, पैर का होने पर वेगयुक्त और ग्रहण करने वाला हैं बिना नेत्रों के वह देखता है, बिना कानों के वह सुनता है"

इस श्रुति के आधार पर उसकी इन्द्रियां अलौकिक हैं, यह सिद्ध होने से वह बिना किसी धर्म वाला है यह पक्ष व्याहत होता है तो यह प्रश्न नहीं उठता । श्रुति ने उसे तन्मात्र स्वरुप वाला—

"नमक के ढेले"

के उदाहरण से बतलाया है कि वह बिना बाहर भीतर के भेद के रस स्वरूप ही है। इसी प्रकार प्रज्ञान घन स्वरूप के अतिरिक्त इन्द्रियों के अभाव से, तथा सभी क्रियाओं के वहीं से उद्भूत होने से निर्धर्मकत्व पर कोई आघात नहीं होता।

पुनः प्रश्न होता है कि यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है यह वेदान्तों का प्रतिपादन है। सब प्रकार से रूपों से भरे हुए इस जगत् में काम आदि धर्म दिखाई देने वाले धर्मों से ही इसके कारणभूत ब्रह्म में समस्त धर्मों की सम्भावना रहती है तो इसके उत्तर में कहा जाता है कि श्रुति कहती है—

"अब यह आदेश है नहीं नहीं"

आदि। तात्पर्य है कि ब्रह्म में जड़ और जीव धर्मों का अभाव है। स्मृति में भी कहा गया है कि—

"परब्रह्म अनादि हैं"

इत्यादि। इसलिए प्रपञ्च के धर्मों का ब्रह्म में कथन गौण रूप से ही है, यह सिद्ध होता है।

अत एव च निर्णयात्——

——"समः प्लुषिणा समो नागेन समो मशकेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकै"—

रित्यादिना निरुपमस्याप्यस्योपमा क्रियते। अन्यथा स्वतो ब्रह्मणो विभिन्नवत्वाधर्मसंभवात् जडजीवादिसम्बन्धव्यतिरेकेण तादृशविभिन्नधर्मव्यवहारोनुपपन्न स्यात्।

उपाधियोगात्तादृशव्यवहारे दृष्टान्तमाह—

सूर्य्यकादिवत् इति। सूर्य्यसहितं जलं सूर्य्यकम्।

—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्, एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि"—

त्यत्र प्रतिबिम्बो जलादिनिष्ठो जलाद्युपाधिभेदाद्भिन्नवत् प्रतीयते तथा च ब्रह्मणि सर्वधर्म प्रतिषेधे एवैषां शास्त्राणां मुख्यतात्पर्य्यम्। सर्वकर्मादयो जडजीवधर्मास्तु तत्रौपचारिका एवेति मतमेकदेशिनां सिद्धम्।

अथ सिद्धान्ती तावदेतन्मतं प्रत्याचष्टे——

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् । यथाम्बु प्रतिबिम्बं गृह्णाति न तथैते धर्मा ब्रह्म ग्रहीतुं शक्नुवन्ति ।

आधेयानां धर्माणामाधारत्वायोगाद्, ब्रह्मण एव सर्वाधारत्वप्रतिपत्तेश्च ब्रह्मणो-नीरूपनिःसङ्गतया प्रतिबिम्बवज्जडजीवधर्मेषु ब्रह्मणोऽनुषङ्गेन भानासंभवाच्च । तस्मात्-सर्वकामादयो ब्रह्मधर्मा एव स्वाभाविका न तूपाधि संबन्धादौपचारिका इति मन्तव्यम् ।

ननु तर्हि तेषूपनिषद्वाक्येषु विरोधः कथं परिहर्तव्य इति चेदत्र सिद्धान्ती परिहार-माह वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादिति । यथैकस्याकाशस्य करकादिष्वन्तर्भावाद् वृद्धिह्रास-भाक्त्वम् एवमिहापि द्रष्टव्यम् ।

यथा जपाकुसुमलौहित्यं स्फटिकधर्माभावेऽपि स्फटिके संक्रान्तं प्रतिभाति एवमेते विरुद्धाविरुद्धाः सर्वे ब्रह्मण एव धर्मा अन्यत्रान्यत्र जडजीवेषु प्रतिभासन्ते नतु जडजीवधर्मा ब्रह्मणि संसृज्यन्ते ।

एवमेवोभयसामंज्जस्यात् विरुद्धाविरुद्धसर्वधर्मोपपन्नस्यास्य नानाविधविभिन्नपरि-च्छेदवत्सु जडजीवेष्वन्तर्भावात् तत्र तत्राणुषु महत्सु च ते ते धर्माः ब्रह्मसंबन्धात् प्रतिपद्य-न्ते इति विरुद्धोभयलिंगं समंज्जसं भवति ।

इसी निर्णय से–

"प्लुषि के समान है, नाग के समान है, मशक के समान है, इन तीनों लोकों के समान है"—

इस निरूपम ब्रह्मा की भी उपमा बतलाई जाती है। अन्यथा स्वतः ब्रह्म में विभिन्न धर्मों की संभावना होने पर जड़ जीव आदि के सम्बन्ध से विलक्षण उस प्रकार के धर्मों का व्यवहार अयुक्त रहेगा।

उपाधि के योग होने पर वैसा व्यवहार होता है इसका दृष्टान्त बतलाया जाता है कि सूर्यकादि के समान है। सूर्य सहित जल सूर्यक कहलाता है।

"जैसे यह ज्योति स्वरूप सूर्य एक प्रकार का तथा बहुत प्रकार का दिखाई देता है, जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा अनेकत्र दिखाई देता है"

इन दृष्टान्तों में जल आदि पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब जल आदि उपाधियों के भेद से भिन्न के समान प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि ब्रह्म में सभी धर्मों का अभाव या प्रतिषेध दिखाने में ही इन शास्त्र वचनों का मुख्य तात्पर्य है।

जड़ जीव आदि के सर्व कर्मयुक्ता आदि धर्म तो ब्रह्म में औपचारिक या गौण ही हैं, यह एकदेशियों का मत है।

अब सिद्धान्तवादी इस मत का प्रतिवाद करता है कि–

"अम्बु के समान ग्रहण न करने से प्रतिबिम्ब का भाव नहीं है"

जैसे जल प्रतिबिम्ब का ग्रहण करता है वैसे ये लौकिक धर्म ब्रह्म का ग्रहण करने में असमर्थ हैं। जो आधेय धर्म हैं उनके आधारत्व का योग नहीं है, तथा ब्रह्म को ही सब का आधार माना गया है।

ब्रह्म निरूप और निःसङ्ग है, अतः प्रतिबिम्ब से समान जड़ और जीव के धर्मों में ब्रह्म का अनुसङ्ग से भान होना असंभव है।

इसलिए सर्वकाम आदि का ब्रह्म के स्वाभाविक धर्म ही हैं, वे उपाधि के सम्बन्ध के कारण गौण या औपचारिक नहीं हैं, यह मानना चाहिए।

ऐसा मानने पर उपनिषद् वाक्यों के विरोध का क्या समाधान ? होगा इस पर सिद्धान्तवादी समाधान देता है कि–

"अन्तर्भाव से वृद्धि और ह्रास का भाजन होता है"

जैसे एक ही आकाश का छोटे करक आदि में अन्तर्भाव होने से वृद्धि और ह्रास होना देखा जाता है, वैसा ही यहां भी समझना चाहिए। जैसे जपाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक का धर्म न होने पर भी स्फटिक में संक्रान्त होकर प्रतिभासित होती है वैसे ही ये विरुद्ध और अविरुद्ध सभी ब्रह्म के ही धर्म अन्यत्र अन्यत्र जड़ तथा जीवों में प्रतिभासित होते हैं न कि जड़ तथा जीवों के धर्म ब्रह्म में संसक्त होते हैं।

दोनों की समञ्जसता इसी में बन पाती है। यह ब्रह्म विरुद्ध तथा अविरुद्ध सभी धर्मों से युक्त है, यह नाना प्रकार के विभिन्न सीमाओं वाले जड़ तथा जीवों में अन्तर्भूत है, अतः विभिन्न अणु और महान् में पृथक् पृथक् धर्म ब्रह्म के सम्बन्ध से ही प्रतीत होते है।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दोनों प्रकार के चिन्हों का सामञ्जस्य हो जाता है।

एकत्र ब्रह्मणि विरुद्धोभयदर्शनाच्च तथा प्रतिपत्तुं युक्तम्। यथैकत्रैव शरीरे बाल्यकिशोरादिविरुद्धधर्माणां यथा वैकत्रैव रथचक्रे विरुद्धयोरवगतिसमुदायगत्योश्च सामञ्जस्यं दर्शनादेवोपपद्यते एवमिहापि स्यात्।

यद्यत्र यथा दृश्यते तत्तत्र तथाभ्युपेयते नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम किञ्चिदस्ति ।

तस्मात् सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतेर्न कश्चिद्विरोधः ।

ननु ब्रह्मणो विरुद्धाविरुद्धसर्वविधधर्मोपपन्नत्वमाख्यातं तन्नोपपद्यते । श्रुतिविरोधात् । श्रुतिर्हि—

—"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमित्यादिना सर्वं धमसंबन्धं प्रतिषेधति इति चेत् तत्रोच्यते ।

प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति शास्त्रम् । जगति हि प्रत्यर्थमेतावत्त्वं प्रकृतं दृश्यते, यत्तावत् स्थूलं तन्नाणु द्रव्यमस्ति । यच्चाणु द्रव्यं तन्न स्थूलमस्तीत्युभयोर्नियतमेतावत्वं प्रकृतं भवति ।

अतएवाणुत्वस्थूलत्वयोर्विरोधं प्रतिपद्यन्ते लोकाः । यत्परिमाणकं यद् द्रव्यं तद्-द्रव्यं तदानीमेव तदन्यपरिमाणकं न संभवति लोके ।

एतावत्वस्य सर्वत्र जगति प्रकृतत्वात् । तदेव जगतः प्रकृतमेतावत्त्वं ब्रह्मणि प्रतिषेधति शास्त्रम् ।

तत्र हि सर्वलोकवैलक्षण्येन युगपत् सर्वेषां धर्म्माणामणुत्वस्थूलत्वादीनामभ्युपगन्तव्यत्वात् ।

तथाहि यदिदानीं ब्रह्मणि परिमाणमुक्तम् अणोरणीयानिति, ततो ब्रवीति च भूयोऽन्यपरिमाणं महतो महीयानिति । एवं यदेकत्रोक्तमग्निर्ब्रह्मेति, ततो ब्रवीति च भूयः सोमो ब्रह्मेति । अग्निरयमग्निरेव न सोमः ।

एवं सोमो नाग्निरिति सर्वत्रैतावत्त्वं प्रकृतं दृश्यते । ब्रह्मणि तु नेदमेतावत्त्वम् । तद्ध्यग्निश्च भवति सोमश्च । तस्माद्धर्म्मैतावत्त्वप्रतिषेधात् सर्वधर्मवत्त्वं ब्रह्मणि सिद्धम् ।

अस्थूलादिवाक्यैर्ब्रह्मणो जगद्वैलक्षण्यमेवोच्यते तत्र स्थूलत्वादिपरिच्छेदनियमप्रतिषेधे एव तात्पर्य्यात् । स्थूलत्वादिधर्मसंबन्धा न प्रतिषिध्यन्ते ।

तथा च जगद्धर्मा ब्रह्मणि नोपसृज्यन्ते । ब्रह्मधर्मा एव तु जगति सर्वत्रानुवर्तन्ते । ब्रह्मणि धर्मैतावत्त्वप्रतिषेधः । सर्वधर्मोपपत्तिः ।

जगति परस्परविरुद्धानां धर्माणां ब्रह्मणि सामंज्जस्यं चेत्येतेषामर्थानां संग्राहकब्रह्मणि अलौकिकधर्मस्थापनेन लौकिकधर्मविरोधपरिहाराधिकरणमिदं बल्लभीयं द्रष्टव्यम् ।

एकत्र ब्रह्म में दोनों विरुद्ध धर्मों के देखे जाने से वैसा मानना युक्तियुक्त है, वैसे ही जैसे एक ही शरीर में बाल्य, किशोर आदि धर्म देखे जाते हैं, अथवा जैसे एक ही रथ के चक्र में अवयवों की गति और समुदाय की गति में सामञ्जस्य देखने से ही समझ में आता है वैसे ही यहां भी समझना उचित है।

यदि जैसा जहां दिखाई देता है वैसा वहां माना जाता है तो दिखाई देने पर कुछ अयुक्त नहीं रहता इसलिए समस्त विरुद्ध धर्म ब्रह्म में प्रतीत होते हैं, अतः इसमें कोई विरोध नहीं हैं।

सन्देह किया जाता है कि ब्रह्म में जो विरुद्ध और अविरुद्ध समस्त धर्म माने जाते हैं वह युक्तिपूर्ण नहीं हैं। क्योंकि इसमें श्रुति से विरोध होता है। श्रुति ब्रह्म को–

"अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, - दीर्घ, अशब्द, अस्पर्श अरूप, अव्यय,"

इत्यादि कह कर समस्त धर्मों के सम्बन्ध से प्रतिषिद्ध कर रही है। इस सन्देह पर उत्तर में सूत्रकार कहते हैं–

"शास्त्र प्रकृत एतावत्व अर्थात् सीमितता का प्रतिषेध करता है। जगत् में प्रत्येक पदार्थ में सीमित होना प्रकृत रूप से दिखाइ देता है। जो द्रव्य स्थूल है, वह अणु नहीं है और जो अणु है वह स्थूल नहीं है, इस प्रकार इनको सीमा प्रकृति से अपने अपने स्वरूप में नियत होती है।

इसीलिए लोक में अणुत्व और स्थूलत्व का विरोध समझा जाता है। जो द्रव्य जिस परिमाण का है, वह द्रव्य उसी समय उससे भिन्न परिमाण वाला संसार में नहीं देखा जाता। क्योंकि सर्वत्र संसार में सीमा युक्तता प्रकृत है।

जगत में प्रकृत जो यह सीमा बन्धन है, शास्त्र के द्वारा ब्रह्म में उसी का निषेध किया जाता है। ब्रह्म में समस्त लोक से विलक्षण के रूप में एक साथ समस्त अणुत्व स्थूलत्व आदि धर्मों को स्वीकार किया जाता है।

जैसे कि ब्रह्म में अभी एक परिमाण कहा गया कि वह,—

"अणोरणीयान्" है,

अणु से भी अणु है उसके अनन्तर ही दूसरा परिमाण बतलाया गया

"महतो महीयान्,"

वह महान् से भी महान् है। इसी प्रकार एक स्थान पर कहा गया—

"अग्नि ब्रह्म है"

उसके अनन्तर फिर कहा गया

"सोम ब्रह्म है"

यह जो लौकिक अग्नि है, वह अग्नि ही है, सोम नहीं। इसी प्रकार सोम सोम ही है, अग्नि नहीं है, इस प्रकार लोक में परिच्छिन्नता या सीमा बन्धन (एतावत्त्व) सर्वत्र देखा जाता है।

परन्तु ब्रह्म में तो यह परिच्छेद या सीमा बन्धन होता नहीं। वह अग्नि भी है और सोम भी हैं। इसलिए धर्म को सीमा के प्रतिषेध होने के कारण ब्रह्म में सभी धर्म सिद्ध होते है।

"अस्थूल"

आदि वाक्यों से ब्रह्म की जगत् से विलक्षणता ही बतलाई जाती है, वहां स्थूलत्व आदि सीमाओं के नियम के निषेध में ही तात्पर्य है. अतः स्थूलत्व आदि धर्मों के सम्बन्ध का निषेध वहां नहीं है। इस प्रकार जगत् के धर्म ब्रह्म में प्रवृत्त नहीं होते अपितु ब्रह्म के ही धर्म जगत् में सर्वत्र अनुप्रवर्तित होते हैं।

ब्रह्म में धर्मों की सीमाओं का प्रतिषेध है। वहां समस्त धर्मों की उपपत्ति है। जगत् में दिखाई देने वाले परस्पर विरुद्ध धर्मों की ब्रह्म में समञ्जसता है इसलिए इन अर्थों के संग्रह करने वाले ब्रह्म में अलौकिक धर्मो की स्थापना से लौकिक धर्मों के विरोध के परिहार का यह श्रीवल्लभाचार्य का अधिकरण समझना चाहिए।

तदव्यक्तमाह हि।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

पूर्वं द्विविधाऽनुपपत्तिरुपक्रान्ता विरुद्धभावद्वयनिबन्धना च। तत्राद्यायाः समाधानं कृतम्। द्वितीयेदानीं विचार्य्यते।

यद्यपि पूर्वाधिकरणे एव प्रकृतैतावत्त्वप्रतिषेधवादेन निर्धर्मकत्वपक्षो निरस्तः। तथापि तेनास्पर्शमगन्धमरसं, सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्व रस इत्यादीनामेव विरुद्धवाक्यानां समन्वयः कृतो भवति।

अवशिष्यतेत्वन्यो विरोधः । तथाहि—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम् न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा"—

इत्येकत्र चक्षुर्वागादीनामविषयत्वं ब्रह्मण्याख्यायते । तेन ब्रह्मणो निराकारत्वं सिध्यति ।

अन्यत्र पुनः तद्रू तयोर्नि परिपश्यन्ति धीराः, कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादिना चक्षुर्वागादिविषयत्वं प्रतिज्ञायते । तेन ब्रह्मणः साकारत्वं सिध्यति ।

तथा चावश्यमेकस्य यथार्थवादित्वात् प्रामाण्यमन्यस्य त्वौपचारिकार्थवादित्वाद् गौणत्वं वक्तव्यमित्युत्तरपक्षनिर्धारणे कर्तव्ये केचित् तावदाहुः । तदव्यक्तमेवास्तीति चक्षुर्वागाद्यविषयत्वमेव ब्रह्मणो युक्तम् ।

आह हि श्रुतिर्बहुशोऽव्यक्तत्वम्—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ"—

ब्रह्मणो रूपं मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्"——

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वै विधिः यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्यादिः ।

तस्मादिन्द्रियादिविषयतावादो ब्रह्मणः स्यादौपचारिक एवेति प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते । अपि संराधने दृश्यं भवत्यैश्वरं रूपमिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां गम्यते । प्रत्यक्षं तावदुपासकानां स्वानुभवः । अनुमानं तु ध्रुवादीनां प्रत्यक्षोपाख्यानाद्भवति । श्रुति स्मृतिभ्यां च ।

—"ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः,"—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो यमेवैष वृणुते तेन लभ्य"——

इत्यादि श्रुतेः ।

—"भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेनेत्यादि स्मृतेश्च ।

न चाकारमन्तरेण साक्षात्कारः संभवति । तस्मात् साकारमनन्तगुणपूर्णं चेदं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

इति ब्रह्मणि साकारत्वस्थापनेन साकारनिराकारविरोधपरिहाराधिकरणं वल्लभीयम् ।

पहिले दो प्रकार की अनुपपत्तियों का उपक्रम किया गया था। उनमें से एक का समाधान किया गया। अब दूसरी पर विचार किया जाता है।

यद्यपि पहिले के अधिकरण में ही प्रकृत एतावत्व के प्रतिषेधवाद में ब्रह्म को निर्धर्मक मानने के पक्ष का निरसन हो चुका है। तथापि उससे, अस्पर्श, अगन्ध, अरस तथा सर्वरूप, सर्वगन्ध, सर्वरस इत्यादि विरुद्ध वाक्यों का समन्वय किया जाता है।

अन्य विरोध का समाधान तो अवशिष्ट है। जैसे कि–

"वह अद्रेश्य है, अग्राह्य है,"

"वह न चक्षु से ग्रहीत होता है, न वाणी से ग्रहीत होता है"

इस प्रकार एक स्थान पर चक्षु, वाक् आदि का ब्रह्म विषय नहीं है यह कहा जाता है, इससे ब्रह्म निराकार सिद्ध होता है। अन्य स्थान पर–

"भूतों की उस योनि को धीर लोग देखते हैं"

"किसी धीर पुरुष ने प्रत्यगात्मा को देखा,"

"समस्त वेद जिसके पद का वर्णन करते हैं,"

इत्यादि वाक्यों से वह ब्रह्म चक्षु वाक् आदि का विषय है, यह बतलाया जाता है, इससे ब्रह्म साकार सिद्ध होता हैं। ऐसी स्थिति में अवश्य ही एक का यथार्थवादी होने के कारण प्रामाण्य होगा और दूसरे का औपचारिक कथन होने से गौणत्व कहना होगा।

और तब उत्तर पक्ष का निर्धारण करने के लिए कुछ लोगों का कहना है कि ब्रह्म अव्यक्त ही है इसलिए ब्रह्म को चक्षु वाणी आदि का अविषय ही मानना उचित है। श्रुति ने अनेक ही ब्रह्म को अव्यक्त कहा है

"यदि तुम सुवेद (ब्रह्म को) मानते हो" आदि।

"जिसको वेद नहीं करते, विष्णु और विधि भी जिसे नहीं जानते जिसे न पाकर वाणी मन के साथ लौट आती है।"

इत्यादि। इसलिए इन्द्रियों आदि का विषय ब्रह्म है यह वाद औपचारिक या गौण हो है, ऐसे विचार के प्राप्त होने पर सिद्धान्त बतलाया जाता है कि संराधना या आराधना में ईश्वर का रूप दृश्य होता है यह प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जाना

जाता है।

प्रत्यक्ष तो उपासकों का अपना अनुभव है। अनुमान ध्रुव आदि के प्रत्यक्ष उपाख्यान से होता है। श्रुति और स्मृतियों से भी यह सिद्ध है।

"तब निष्फल ध्यान करता हुआ उसे देखता है,"

"यह आत्मा प्रवचन से लभ्य नहीं है जिसे वह वरण करता है उसी से वह लभ्य है,"

इत्यादि श्रुतियां इस विषय में प्रमाण हैं।

"अनन्य भक्ति से वह तत्व रूप से ज्ञान मे, देखने में लभ्य होता है"

इत्यादि स्मृतिवचन भी प्रमाण हैं। आकार के बिना साक्षात्कार संभव नहीं होता। इसलिए अनन्त गुणों से पूर्ण ब्रह्म साकार है यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार ब्रह्म में साकारत्व–स्थापना के द्वारा साकार निराकार के विरोध के परिहार का श्रीवल्लभाचार्य के मत का अधिकरण हुआ।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम्।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्।

पुनरन्यः प्रत्यवतिष्ठते। प्रकाशादिवन्निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तु सर्वधर्मवत्। यथा प्रकाशः सूर्य्यचन्द्राग्निमणिप्रभृतीनां भिन्नभिन्नरूपो दृश्यते।

जलं वा गङ्गायमुनाकूपादीनां भिन्नवद्भवति। सुवर्णं चाष्टजातीयं कटककुण्डलादिभेदाच्चानेकरूपं क्रियते तथापि तेषां प्रकाशत्वेन सुवर्णत्वेन चैकरूप्यं प्रतिपद्यते एवं ब्रह्मणोपि निर्विशेषत्वं स्यात्।

यत्तु नानारूपेश्वरसाक्षात्कारान्यथानुपपत्त्या नानारूपवत्वं ब्रह्मणः कल्प्यते इति कश्चिद् ब्रूयात् तत्तुच्छम्।

ईश्वरस्य साक्षात्कारो नाम प्रकाशस्तु तपः प्रणिधानादिकर्म्मणि भक्त्येच्छानुरोधेनैवाभ्यासाद्बहुवारमनेकरूपेण च प्रकटीभवतीति तादृशानेकरूपदर्शनस्य वस्तुनिर्णायकत्वासंभवात् ।

अत एव चाभ्यासादनन्तेन रूपेणाविर्भावः संपद्यते । यदि केनचिद्धर्मविशेषेण धर्म्मी तद्रूपवत् स्यात्तर्हि तद्धर्म्मा स तेनैकरूपेणैवाविर्भवेत् । न ह्येकं वस्तु स्वतोऽनेकविधं भवति ।

तथाहि विग्रहधारणमेव तत्र लिङ्गं न स्वरूपमिति कृत्वा निर्धर्मकमेव ब्रह्म सिध्यतीति प्राप्ते ।

सिद्धान्तमाह—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ब्रह्मस्वरूपनिर्णयो हि शास्त्रैकप्रमाणसाध्यो न युक्तिसाध्यः । शास्त्रे च निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वात् सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन चोभयथा व्यपदेशो दृश्यते ।

तस्मादुभयरूपं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । तदुभयमपि वास्तविकं नित्यम् । विरोधस्तु नास्ति । गुणानामपि तदात्मकत्वेन तदभेदान्निर्गुणत्वस्यैवमाश्रयाश्रयिभावेन गुणानां स्फुरणात् गुणवत्त्वस्य च संभवादुभयोपपत्तेः । एकस्यानेकधाभानमति न विरुद्धम् । अहिकुण्डलवत् संभवात् ।

यथा सर्प ऋजुशरीरः कुण्डलश्चेत्यनेकधा भवति तथा निर्गुणं निराकारं ब्रह्माप्यचिन्त्यशक्त्या नानागुणं नानाकारं स्फुरतीति संभवति । तस्माद्विरुद्धाविरुद्धसर्वधर्मवदेकं ब्रह्मास्ति इति सिद्धान्तः ।

इत्यप्रत्ययाधेयसर्वधर्मवद् ब्रह्माधिकरणं वल्लभीयम् ।

पुनः अन्य मत इस प्रकार सामने आता है कि प्रकाश आदि की तरह ब्रह्म को निर्विशेष ही मानना चाहिए न कि उसे सर्वधर्ममय स्वीकार करना उचित है ।

जैसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मणि आदि का प्रकाश भिन्न भिन्न रूप वाला दिखाई देता है, अथवा गङ्गा, यमुना, कूप आदि का जल भिन्न भिन्न की तरह प्रतीत होता है, अथवा जैसे आठ जातियों का सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि भेद से अनेक रूपों वाला बना दिया जाता है तथापि उनमें प्रकाशत्व जलत्व या सुवर्णत्व एक रूप ही माना जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मनिर्विशेषत्व होगा ।

जो यह कहा जाता है कि ईश्वर का साक्षात्कार नाना रूपों में तभी होता है जब ईश्वर सर्वरूप हो अन्यथा ईश्वर के नाना-रूपों का साक्षात्कार नहीं हो सकता तो यह बात ठीक नहीं हैं।

तप प्रणिधान आदि कर्मों में भक्तों की इच्छा के अनुरोध से बहुत बार अनेक रूपों में प्रकाश का आविर्भाव होना ही ईश्वर का साक्षात्कार है इस प्रकार के अनेक रूपों के दर्शन से वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता।

इसीलिए अभ्यास से अनन्त रूपों में आविर्भाव संपन्न होता है। यदि किसी विशेष धर्म से धर्मी उस रूप वाला हो तब वह उस धर्म वाला होने के कारण उसी एक रूप से आविर्भूत होगा।

कोई एक वस्तु स्व स्वरूप में अनेक प्रकार की नहीं हो सकती। इस प्रकार विग्रह या स्वरूप का धारण वहां चिन्ह है न कि वह उसका स्वरूप हो सकता है अतः ब्रह्म निर्धर्मक ही है, इस विचार के उपस्थित होने पर सिद्धान्त का कथन किया जाता है कि—

दोनों प्रकार से कथन होने के कारण ब्रह्म सर्प कुण्डल के समान है। ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय केवल एकमात्र शास्त्र-प्रमाण से साध्य है, वह युक्ति से साध्य नहीं है।

शास्त्र में निर्गुण रूप से अनन्त गुण होने तथा समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय के रूप में दोनों प्रकार से ब्रह्म का कथन किया गया है। इसलिए ब्रह्म के दोनों रूपों को स्वीकार करना चाहिए।

वे दोनों ही रूप वास्तविक हैं और नित्य हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि गुण भी तदात्मक होने के कारण उससे अभिन्न हैं, और इस प्रकार आश्रय-आश्रयिभाव से निर्गुणत्व से ही गुणों का स्फुरण होने से गुणवान् के रूप में भी उसके संभव हो जाने से दोनों रूपों की संगति हो जाती है।

एक का अनेकधा भान होना भी विरोध नहीं रखता। वह अहिकुण्डल की तरह संभव हो जाता है। जैसे सर्प सीधे शरीर वाला तथा कुण्डलाकार इस प्रकार अनेक रूपों में दिखाई देता है वैसे ही निर्गुण निराकार ब्रह्म भी अचिन्त्य शक्ति से नाना गुण तथा नाना आकारों में स्फुरित होता है, यह संभव है।

अतः विरुद्ध और अविरुद्ध समस्त धर्मों वाला एक ब्रह्म है, यह सिद्धान्त है।

यह सर्व धर्मवान् ब्रह्माधिकरण श्रीवल्लभाचार्य के मत के अनुसार हुआ।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।

पूर्ववद्वा ।

प्रतिषेधाच्च ।

ननु ब्रह्मणः सर्वधर्मोपपन्नत्वं सिद्धान्तितं तत्रेदं जिज्ञास्यते—
धर्मा इमे ब्रह्मणो भिन्ना वा ब्रह्मैव सन्तीति । भिन्नत्वे एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति ब्रह्माद्वैतश्रुतिविरोधः स्यात् ।

ब्रह्मत्वे तु ब्रह्मणः सर्वधर्मोपपन्नं व्याहन्यते । स्वेनाश्रयाश्रयिभावानुपपत्तेरिति चेदत्र द्वेधा समाधीयते प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादित्येकम् । पूर्ववद्वा प्रतिषेधाच्चेत्यपरम् । तेजसा तावत् सूर्य्याग्न्यादीनां विम्बप्रकाशभेदाद्द्वैविध्यं दृश्यते ।

तत्र प्रकाशाश्रयो विम्ब एव यदि सूर्य्योध्यवसीयते तदा सूर्य्यस्य प्रकाश इति सूर्य्य-संबन्धितया प्रकाशः पृथग् व्यवह्रियते ।

यदि तु प्रकाशावच्छिन्नं सर्वमेव मण्डलं सूर्य्य इष्यते तदानीमद्वैतमुपपद्यते । तेजस इत्थंभूतरूपत्वात् सर्वत्रैवं भेदाभेदव्यपदेशः शक्यः कर्तुम् । वस्तुधर्मस्यानाक्षेप्यत्वात् एवमेव ब्रह्मण्यपि प्रतिपत्तव्यम् । तस्यापि चिद्रूपस्य तेजस्त्वात् ।

सूर्य्यस्याङ्गिनोऽङ्गभूतप्रकाशवद्धर्मिणो ब्रह्मणः सर्वे धर्मा अङ्गभूतास्तदतिरिक्ता-नतिरिक्तरूपाः सन्तीत्यतिरिक्तत्वविवक्षायां सर्वधर्मोपपन्नत्वं ब्रूमः ।

अनतिरिक्तत्वविवक्षायां तु शुद्धब्रह्माद्वैतं प्रतिजानीमः । एकस्मिन्नेवार्थे प्रतिपत्ति-द्वैधेऽपि वस्तुद्वैधाभावादविरोधः । इत्युपपत्तिविचारपक्ष एव सिद्धान्तमतेनोपनीयते ।

ब्रह्म का समस्त धर्मों से युक्त होना सिद्धान्त के रूप में माना गया । वहां यह जिज्ञासा होती है कि ये धर्म ब्रह्म से भिन्न हैं या ब्रह्म के साथ एक रूप हैं । यदि इन धर्मों को ब्रह्म से भिन्न माना जायगा तब तो—

:'ब्रह्म एक अद्वितीय ही है"

यह ब्रह्म में अद्वैतत्व का बोधन करने वाली श्रुति से विरोध होगा । और यदि धर्मों को ब्रह्म से एकरूप माना जायगा तब ब्रह्म समस्त धर्मों से युक्त है ऐसा कहना असंगत होगा । क्योंकि स्वयं का आश्रय–आश्रयिभाव नहीं हो सकता ।

कोई स्वयं अपने आश्रय में नहीं रहता। इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जाता है। एक समाधान है कि प्रकाश के आश्रय के समान् है, तेज रूप होने से। दूसरा है पूर्ववत् प्रतिषेध से। जो सूर्य अग्नि आदि तेज हैं वे बिम्ब और प्रकाश के भेद से दो प्रकार के हैं। वहां प्रकाश का आश्रय बिम्ब ही यदि सूर्य माना जाता है तब—

—"सूर्य का प्रकाश है"—

इस व्यवहार में सूर्य से सम्बन्धित के रूप में प्रकाश का पृथक् व्यवहार होता है। और यदि प्रकाश से युक्त सारा मण्डल ही सूर्य माना जाता है तब प्रकाश और सूर्य का अद्वैत हो जाता है। तेज का रूप इसी प्रकार का होने से सर्वत्र ही इस प्रकार भेद और अभेद से कथन किया जा सकता है।

क्योंकि वस्तु के धर्म पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता है। जो जैसा है उसको वैसा ही कहा जाता है। ऐसा ही ब्रह्म में भी समझना होगा। क्योंकि वह भी चिद्रूप होने के कारण तेज है।

जैसे अङ्गी सूर्य के अङ्ग प्रकाश का उदाहरण दिया गया, वैसे धर्मी ब्रह्म के समस्त धर्म अङ्ग भूत हैं, वे उससे अतिरिक्त और अनतिरिक्त रूप वाले हैं, अतः जब अतिरिक्तत्व की विवक्षा होती है तब ब्रह्म को समस्त धर्मों से युक्त कहा जाता है, और जब अनतिरिक्त या एक रूपता की विवक्षा होती है तब शुद्ध ब्रह्माद्वैत कहा जाता है।

एक ही वस्तु में दो प्रकार के ज्ञान के होने पर भी वस्तु दो नहीं होती, इसलिए विरोध नहीं आता। इस प्रकार उपपत्ति से विचार पक्ष ही सिद्धान्त मत के रूप में स्वाकार किया जाता है।

अथोत्पत्तिविचारपक्षेणाप्यन्ये समादधते। पूर्वं तावदरूपवदेव हीत्यादिपञ्चसूत्र्या यः सिद्धान्त उक्तः सोऽभ्युपगन्तव्यः।

तत्र निर्धर्मकमेव पूर्वं ब्रह्मासीत्। ततश्च एकाऽहं बहुः स्यामिति सृष्टीच्छया क्रियारूपेण प्रपञ्चरूपेण च सर्वेऽप्येते धर्मा ब्रह्मकार्य्यभूता उत्पन्नाः।

तत्र च कारणं कार्याद् भिद्यते कार्य्यनाशेऽपि कारणानाशात्। तथा च कार्य्यकारणयोरभेदश्च व्यपदिश्यते भेदश्च। यथा कटककुण्डलरुचकस्वस्तिकादयः स्वर्णाद्भिद्यन्ते परस्परतश्च भिद्यन्ते तथैते जगच्छब्दा ब्रह्मधर्मा ब्रह्मणो भिद्यन्ते इति सर्वधर्मोपपन्नत्वं ब्रह्मणः शक्यं वक्तुम्।

यथा वा तानि स्वर्णाभरणानि स्वर्णमेव सन्ति । वाचारम्भणं विकारो नामधेयं स्वर्णमित्येव सत्यं तथैतानि जगन्त्यपि ब्रह्मकार्य्यभूतानि ब्रह्मैव सन्ति । तस्मादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धिः सद्विद्यायाम् ।

तस्मादेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति शुद्धब्रह्माद्वैतवादश्चोपपन्नः । एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतौ एवंकारेणान्यनिषेधप्राप्तौ पुनरद्वितीयमिति प्रतिषेधाच्च धर्मप्रतिषेधोपि गम्यते । धर्मधर्मिभावप्रतिषेधाद्विशुद्धान्निर्द्धर्मकाद् ब्रह्मणः पश्चाद्धर्म्माणामभिव्यक्तिरित्युभयं ब्रह्मणि समंज्जसं भवति ।

इत्थं च प्रकारद्वये निर्दर्शिते सूत्रकृत्संमतिरुभयत्र दृश्यते । वल्लभीयानां तूपपत्तिः विचारपक्ष एवेति सिद्धान्तः ।

। इति सर्वधर्मोपपन्नब्रह्मणि शुद्धाद्वैतवादाधिकरणं वल्लभीयानाम् ।

कुछ अन्य विद्वान् उत्पत्ति के विचार पक्ष से भी इस प्रश्न का उत्तर देते हैं । पहिले

—"अरूप वदेव हि"—

इत्यादि पांच सूत्रों जो सिद्धान्त कहा गया, उसे स्वीकार करना चाहिए । वहां पहिले ब्रह्म निर्धर्मक ही था । अनन्तर

—"मैं एक बहुत हो जाऊं"—

इस सृष्टि की इच्छा से क्रिया रूप से तथा प्रपञ्च रूप से ये ब्रह्म के कार्यभूत समस्त धर्म उत्पन्न हुए । कारण कार्य से भिन्न होता है, क्योंकि कार्य के नष्ट हो जाने पर भी कारण का नाश नहीं होता ।

उस अवस्था में कार्य और कारण का अभेद भी कहा जाता है और भेद भी कहा जाता है । जैसे कटक, कुण्डल, रुचक, स्वस्तिक आदि स्वर्ण से भिन्न होते हैं और परस्पर भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं, वैसे ही जगत् के शब्द ब्रह्म के धर्म, ब्रह्म से भिन्न हैं, तथा परस्पर से भी भिन्न हैं, इसलिए ब्रह्म को सर्व धर्मो से युक्त कहा जा सकता है ।

पुनश्च जैसे वे स्वर्ण के आभूषण स्वर्ण ही हैं, विकार तो वाणी के व्यवहार मात्र के लिए होते हैं, सत्य तो स्वर्ण ही है । वैसे ही ये जगत् भी ब्रह्म के कार्यभूत होने के कारण ब्रह्म ही हैं ।

इसलिए सद्विद्या में एक के ज्ञान से समस्त के ज्ञान की सिद्धि हो जाना माना जाता है । और इसलिए–

—"ब्रह्म एक अद्वितीय ही है"—

यह शुद्ध ब्रह्माद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है।

—"एकमेवा द्वितीयम्"—

इस वाक्य में 'एव' शब्द से अन्य का निषेध प्राप्त हो जाने पर पुनः

—"अद्वितीयम्"

इस प्रतिषेध से वहां धर्मों का प्रतिषेध है यह बात भी प्रतीत हो जाती है। धर्म-धर्मिभाव के प्रतिषेध से विशुद्ध निर्धर्मक ब्रह्म से बाद में धर्मों की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है इस प्रकार दोनों प्रकारों का निदर्शन हो जाने पर सूत्रकार की संमति दोनों ओर दिखाई देती है।

वल्लभमतानुयायियों की उपपत्ति तो विचार के पक्ष में ही है यह सिद्धान्त है।

। इस प्रकार सर्व धर्म से युक्त ब्रह्म में वल्लभ मत से शुद्ध अद्वैतवाद का अधिकरण हुआ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।

सामान्यात्तु ।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।

उपपत्तेः ।

तथान्यप्रतिषेधात् ।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।

एवं ब्रह्मणो धर्मिणः स्वधर्मसापेक्षां द्वैताशङ्कां परिहृत्य धर्म्यन्तरसापेक्षां द्वैताशङ्कां परिहरति पूर्वोत्तरपक्षाभ्याम् । तत्र पूर्वपक्षं तावदाह—

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । अतो ब्रह्मणः परमपि किञ्चिदुत्कृष्टमस्ति इति सेत्वादिहेतभ्यो ज्ञायते ।

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरिति ब्रह्मणः सेतुव्यपदेशात् तरणानन्तरं पारे प्राप्य-मन्यदस्तीत्यवगम्यते ।

यावान् वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाश इत्युन्मानव्यपदेशेन परिच्छिन्न-त्वादन्यसत्तापि संभाव्यते ।

उभावस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरे च समाहिते इत्याधाराधेयसंबन्धः ।

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः, य एषोऽन्तरक्षणि पुरुषः—

इत्येवं द्वयोः पुरुषयोरन्योन्यधर्मातिदेशो धर्मभेदनिबन्धनो दृश्यते ।

तथा चास्य ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वोक्त्या परिच्छेदरहितं किञ्चिदन्यतत्वमस्ति इति लभ्यते इति प्राप्ते उच्येत ।

सामान्यात्तु ते व्यपदेशाः क्रियन्ते इति । ब्रह्मणि संसारसागरोत्तरणोपायत्व-सामान्यात् सेतुव्यपदेशः । निर्लेपत्वसामान्यादाकाशव्यपदेशः ।

कामादिदोहाय चतुष्पात्त्वपरिच्छेदः । अमृतत्त्वाय षोडशकलत्वपरिच्छेदः । अदुर्ल-भत्वाय सम्बन्धोक्तिः । अक्षिस्थितपुरुषे दिव्यत्वज्ञापनायादित्य धर्म्मातिदेशः ।

अतो ब्रह्मणि गुणविशेषाख्यानाय सेतुत्वादिवचनं, न तु तावता ब्रह्मस्वरूपाप-कर्षे तात्पर्य्यम् ।

इस प्रकार धर्मी ब्रह्म की अपने धर्मों से होने वाली द्वैत की आशङ्का का परिहार करके अन्य धर्मी की अपेक्षा से होने वाली द्वैत की आशङ्का का परिहार पूर्व पक्ष और उत्तर पक्षों के प्रदर्शन पूर्वक किया जाता है।

इस सन्दर्भ में पूर्व पक्ष उपस्थित करते हुऐ सूत्रकार कहते हैं कि—

—"इससे पर भी कुछ है यह सेतु, उन्मान, भेद के कथन से ज्ञात होता है।"—

इस ब्रह्म से पर या उत्कृष्ट भी कुछ है यह सेतु आदि हेतुओं से ज्ञात होता है।

—"जो आत्मा है, वह सेतु है, वह निधृति है"—

इस प्रकार ब्रह्म को सेतु बतलाने से, सेतु से तरण के अनन्तर उस पार प्राप्य कुछ और है, यह अवगत होता है।

—"जितना आकाश बाहर दिखाई दे रहा है उतना ही यह आकाश हृदय के अन्दर है"—

यह परिमाण का कथन परिच्छिन्न होने से अन्य की सत्ता भी बतला रहा है।

–"द्यौ और पृथिवी दोनों अन्तर समाहित हैं"–

यह आधार आधेय का सूचक वाक्य है।

—"जो यह आदित्य में हिरण्मय पुरुष है, जो यह नेत्रों के भीतर पुरुष है,"—

इस कथन में दोनों पुरुषों का एक दूसरे के धर्म का अतिदेश, धर्मी के भेद आधार पर बतलाया गया है।

इस प्रकार इस ब्रह्म की परिच्छिन्नता को उक्ति से परिच्छेद या सीमा से रहित कोई अन्य तत्व है यह प्रतीत होता है, ऐसा विचार उपस्थित होने पर उसके उत्तर में कहा जाता है कि ये कथन सामान्यता के आधार पर किए जाते हैं।

ब्रह्म में सेतुत्व का कथन संसार सागर के पार उतारने के उपाय की सामान्यता के कारण किया जाता है। जैसे सेतु पार पहुंचाने का उपाय है वेसे ही ब्रह्म संसार सागर के पार पहुंचाने का उपाय है।

ब्रह्म को आकाश बतलाने का उद्देश्य यह है कि जैसे आकाश निर्लिप्त रहता है, वैसे ही ब्रह्म निर्लिप्त है। काम आदि के दोहन के लिए ब्रह्म को चतुष्पाद कहा जाता है। ब्रह्म के अमृतत्व को ख्यापित करने के लिए उसे षोड़षकला वाला कहा गया है।

ब्रह्म दुर्लभ नहीं है, इस बात को समझाने के लिए सम्बन्ध की उक्ति की जाती है। नेत्र में स्थित पुरुष को दिव्यता के बोधन के लिए आदित्य के धर्म का उसमें अतिदेश किया जाता है।

इसलिए ब्रह्म में विशेष गुणों के बोधन के लिए सेतुत्व आदि का कथन होता है, इससे ब्रह्म के स्वरूप का अपकर्ष दिखाने का तात्पर्य नहीं है।

इत्थमन्यसमानत्वेन व्यपदेशस्तु बुद्ध्यर्थः क्रियते पादवत्। यथा भूतादीनां पादत्वे विज्ञानमुपास्त्यर्थं तथेदमप्युपासनार्थं भविष्यति। इत्थं बुद्ध्योपासना कार्य्येति।

यथा सूर्य्यचन्द्राग्निप्रकाशादीनां सूर्य्यादिस्थानभेदात् समानधर्मत्वं नास्ति तथादित्याक्षिपुरुषयोरपि अक्ष्यादिस्थानविशेषात् समानधर्मत्वं न स्यादतस्तयोर्धर्मातिदेशः क्रियते इति नैतेन पुरुषद्वैविध्यम्।

उपपत्तेश्च सर्वोपनिषद्वाक्यानामेकं ब्रह्मं वाद्वितीयत्त्वं सिध्यति ।

—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते"—

इतिश्रुत्या ततोऽन्यप्रतिषेधाद् ब्रह्मातिरिक्तधर्म्मितत्वकल्पनं नावकल्पते ।

तस्मादनेन ब्रह्मणोऽन्यस्य प्रतिषेधवाक्येनायामशब्दादिभ्योऽवगतं सर्वगतत्वमप्यस्यैव ब्रह्मणो ज्ञेयम् ।

—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"—

—"ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात्"—

—"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।"

सर्वतः पाणिपादं तदित्यादयो व्यापकाभिधायिन्यः श्रुतय आयामशब्दाः । आदिशब्दो युक्त्यभिप्रायः ।

तथा च ब्रह्मं वेदं विशुद्धमद्वैतं सर्वधर्मोपपन्नं तत्वमिति सिद्धम् ।

। इति ब्रह्मातिरिक्ततत्वप्रतिषेधाधिकरणं वल्लभीयानाम् ।

इस प्रकार अन्यों की समानता से जो कथन किया गया है वह तो बुद्धि में जमाने के लिए या उपासना में बुद्धि की एकाग्रता के लिए किया गया है, जैसे पाद कल्पना की गई है। जैसे वाक् आकाश आदि मूर्तों की पाद कल्पना की जाती है, वाणी के चार पाद बतलाए जाते हैं, वैसे ही ये सब कथन भी ब्रह्म की उपासना में सहयोगी होते है।

इस प्रकार की बुद्धि बनाकर उपासना करनी चाहिए यह उसका तात्पर्य होता है। जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि के प्रकाश आदि की सूर्य आदि के स्थान भेद से समान धमता नहीं है वैसे ही आदित्थ, अक्षि आदि पुरुषों अक्षि आदि स्थान विशेष के निर्देश के कारण समान धर्मता नहीं होगी इसलिए उनके धर्मो का अतिदेश किया जाता है, इससे पुरुषों में द्विविधता नहीं आती। उपपत्ति के द्वारा भी सभी उपनिषद् वाक्यों का एकमात्र ब्रह्म ही अद्वितीय तत्व सिद्ध होता है।

—"उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं दिखाई देता"—

इस श्रुति के द्वारा उससे अन्य का प्रतिषेध होने के कारण उससे भिन्न धर्मी का कोई स्थान नहीं रह जाता। इसलिए इस ब्रह्म से भिन्न तत्व के प्रतिषेध वाक्य से आयाम शब्द आदि से अवगत सर्वगतत्व भी इसी ब्रह्म का समझना चाहिए।

–"वह आकाश के समान सर्वगत तथा नित्य है"–

–"वह द्युलोक से बड़ा है, वह आकाश से बड़ा है,"–

– 'उस पुरुष से यह सब पूर्ण बना हुआ है,"–

–"वह सब ओर हाथ पैर वाला है,"—

इत्यादि व्यापकता को बतलाने वाले श्रुतिवाक्य आयाम शब्द हैं। सूत्र में "आदि" शब्द का अभिप्राय युक्ति से है। निष्कर्ष यह कि यह ब्रह्म ही विशुद्ध अद्वैत सर्व धर्मों से उपपन्न तत्व है।

। यह श्रीवल्लभाचार्य के मत से ब्रह्म के अतिरिक्त तत्त्व के प्रतिषेध का अधिकरण हुआ।

अथ ब्रह्मणो महिमानमाह। अमीषां जीवादीनां सर्वमेवैहिकं पारत्रिकं वा फलमत ईश्वरादेवोपपद्यते।

सर्वस्य वशी सर्वस्येशान इत्यादि श्रुतिभिस्तस्यैव वस्तुमात्रशासकत्वोक्त्या सर्वविधनिग्रहादिफलदातृत्वोपपत्तेः।

—"स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान"—

इत्यादि श्रुतिभिस्तथा श्रुतत्वाच्च।

—"भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग् विधाः"—

इति स्मरणाच्च।

कर्मवादी जैमिनिस्त्वाचार्य्योऽतएव हेतोर्धर्मं फलदातारं मन्यते। तथाहि ईश्वरस्य जीवादिकर्मनिरपेक्षं स्वातन्त्र्येण फलदातृत्वाभ्युपगमे तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येते, कर्मविधयश्च व्यर्थाः स्युः। कर्मसापेक्षत्वे तु कर्मण एवान्ततः फलदातृत्वमुपपद्यते। दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिविधिश्रुतिभिः कर्मणां फलप्रयोजकतायाः श्रुतत्वाच्च।

ईश्वरस्य फलदातृत्ववचनान्यर्थवादतया नेयानि।

इत्थं जैमिनिमतमुपन्यस्य तत्प्रत्याचक्षाणः सिद्धान्तमाह—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् इति। बादरायणस्त्वाचार्य्यः पूर्वमेव मतमभिप्रैति।

—"एष ह्येव साधुकर्म कारयति"—

इत्यादिश्रुत्या कर्मविधानेपीश्वरस्यैव हेतुव्यपदेशात् ।

वैषम्यनैर्घृण्यदोषस्त्वात्मसृष्ट्या परिहरणीयः । स्वतन्त्रस्येश्वरस्य फलोत्पत्तये कर्मणो द्वारीकरणं किमर्थमिति च—

कृतप्रयत्नापेक्षास्त्विवति सूत्रे पूर्वं विचारितमित्यास्ताम् ।

। अतः फलार्थिभिर्भगवानेव सेव्यो नान्य इति सिद्धम् ।

। इतीश्वरस्य फलदातृत्वाधिकरणम् (वल्ल.) ।

। इति जगद्धर्मविचारपादो द्वितीयः ।

(औपाधिकधर्म्मपादः)

अब ब्रह्म की महिमा बतलाई जाती है । इन जीवों का समस्त इस लोक का तथा परलोक का फल ईश्वर से ही प्राप्त होता है ।

"वह सबको वश में रखने वाला है, सब का स्वामी है,"

इत्यादि श्रुतियों से वही वस्तुमात्र का शासक है, उस उक्ति के द्वारा उसकी सब प्रकार के निग्रह अनुग्रह आदि फल के प्रदान में सिद्धि होती है ।

"वह आत्मा महान् अज, अन्न देने वाला, वसु देने वाला है"

इत्यादि श्रुतियों से यही सुना गया है । स्मृति वाक्यों में भी—

"भूतों के विभिन्न भाव मुझसे होते हैं"

यह कथन हुआ है ।

कर्मवादी आचार्य जैमिनि तो इसीलिए फल का प्रदाता धर्म को मानते हैं । उनके मत से जीवों के कर्म की अपेक्षा किये बिना ईश्वर को स्वतन्त्रता से कर्मों के फल का दाता मानने पर उसमें विषमता और निर्घृणता प्रसक्त होती है, तथा कर्म की विधियां भी व्यर्थ होती है ।

यदि ईश्वर फल देने में जीवों के कर्म की अपेक्षा रखता है यह माना जाता है तो अन्ततः फल देने वाला कर्म ही हो जाता है । दर्श, पूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि

विधियों की कर्मों की फलप्रयोजकता श्रुतियों के द्वारा भी बोधित है। ईश्वर को फल का प्रदाता बतलाने वाली श्रुतियों को अर्थवाद समझना चाहिए। इस प्रकार आचार्य जैमिनि के मत का कथन करके उसका प्रत्याख्यान करते हुए सिद्धान्त बतलाते हैं—

हेतु के कथन के कारण"

आचार्य बादरायण तो पूर्व का ही मत मानते हैं।~

"यही साधु कर्म कराता है"

इस श्रुति से कर्म के विधान में भी ईश्वर को ही हेतु बतलाया गया है। वैषम्य और नैर्घृण्य दोष का परिहार तो आत्मसृष्टि के द्वारा किया जाना चाहिए। स्वतन्त्र ईश्वर के लिए फलोत्पत्ति के उद्देश्य में कर्म को द्वार बनाने का क्या प्रयोजन है?— इस शंका का समाधान—

"कृत प्रयत्नापेक्षास्तु"

इस सूत्र में पहिले ही विचारित हो चुका है।

इसलिए फल की कामना वालों को भगवान् का ही सेवन करना चाहिए अन्य का नहीं, यह सिद्ध होता है।

यह श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार ईश्वर के फलदातृत्व का अधिकरण हुआ।

यह जगत् के धर्म के विचार का द्वितीय पाद पूर्ण हुआ।

अथ प्रातिस्विकधर्मविचारपादः

तत्रादौ उपास्यरूपनिर्णयाधिकरणम्

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्।

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि।

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सर्ववच्च तन्नियमः।

दर्शयति च ।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।

आत्मशब्दाच्च ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।

कार्याख्यानादपूर्वम् ।

समान एवं चाभेदात् ।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।

न वा विशेषात् ।

दर्शयति च ।

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।

ब्रह्मैव सर्ववेदान्तप्रत्ययं बोध्यम् । सर्वैरपि वेदान्तवाक्यैरेकमिदं ब्रह्मैव प्रत्याय्यते । विधायकवाक्यादीनामेकरूपेण तत्र प्रतिपत्तेः ।

अथ शाखाभेदेन वेदान्तानां भेदात्, प्रतिवेदान्तं चान्यान्यधर्मोपदेशात् । प्रतिपाद्य-विषयस्य धर्मभेदादेकत्वं नास्तीति चेद् ब्रूयात् तत्र ब्रूमः ।

एकस्यामपि धर्मिव्यक्तौ भिन्नानेकधर्माः संभवन्तीति न धर्मभेदाद्धर्मिभेदः शक्यः ।

अन्ये तु सूत्रमित्थं व्याचक्षते । भिन्नैर्धर्मैर्भिन्नशाखायां भिन्नोपनिषदि—

ब्रह्मोपदिश्यते तस्मात्तत्र तत्र श्रुतौ प्रतिपाद्यं ब्रह्म भिद्यते चेन्नैतदेवं शक्यम् । एकस्यामपि शाखायामेकस्यामप्युपनिषद्येकस्यामपि श्रुतौ भिन्नैर्धर्मैर्बहुभिर्ब्रह्मोपदिश्यते । नैकस्यां श्रुतौ प्रतिपाद्यं भेदेनाभिप्रेयते तद्वद्भिन्नशाखायामपि नैतत् प्रतिपाद्यं ब्रह्म भिन्नं स्यादिति ।

ननु तर्हि तत्तच्छाखायां भेदेनोक्तानामुपासनाप्रकाराणामन्यान्यशाखायामप्युप-संहारापत्तौ सर्वशाखिनां समुच्चयेनैक एवोपासनाप्रकारः स्याद् वेद्यैकत्वात् । उपासना-प्रकाराणां शाखाभेदेन भेदाभ्युपगमे तु वेद्यैकत्वं न स्यादिति चेत् तत्रोच्यते—

तत्तच्छाखिनां स्वस्वशाखोक्तप्रकारेणैव कर्मकरणेऽधिकाराच्च हेतोः स्वाध्यायस्य वेदस्य सोमयागाद्यात्मके समाचारे तथात्वेन तच्छाखोक्तप्रकारेणैव तेषां कर्तव्यतानियमः क्रियते सववत् ।

यथा सवो नाम होमविशेषो आथर्वणिकानामेव कार्य्यत्वेन नियम्यन्ते नान्येषाम् तथान्यत्रापि बोध्यम् ।

एवमपि वेद्यैकत्वं न विहन्यते । उपासनारूपभेदेपि सर्वै रूपैरेकस्यैवोपास्यत्वेन विज्ञातव्यत्वात् । दर्शयति च शाखाभेदेपि वेद्यैकत्वं—

—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादिना ।

प्रातिस्विक धर्म विचार का पाद (तृतीय पाद)

उपास्य रूप के निर्णय का अधिकरण

सभी वेदान्तों का लक्ष्य ब्रह्म को ही समझना चाहिए । सभी वेदान्त वाक्यों के द्वारा यह एक मात्र ब्रह्म ही बतलाया जाता है । जितने विधायक वाक्य हैं वे एक रूप से वहीं समन्वित होते हैं ।

यदि कोई कहे कि शाखाओं के भेद से वेदान्त भिन्न भिन्न हैं, तथा प्रत्येक वेदान्त में भिन्न-भिन्न धर्मों का उपदेश हुआ है, तथा जो प्रतिपाद्य विषय हैं उनके भी धर्म भिन्न-भिन्न होने से एकत्व नहीं रहता तो वहां उसके उत्तर में कहना यह है कि एक ही धर्मी व्यक्ति में अनेक भिन्न धर्म रह सकते हैं, इसलिए धर्मों के भेद से धर्मी में भेद नहीं कहा जा सकता।

कुछ अन्य तो सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि भिन्न धर्मों से, भिन्न शाखा में, भिन्न उपनिषद् में ब्रह्म का उपदेश होता है, इसलिए उन श्रुतियों में प्रतिपाद्य ब्रह्म भिन्न है, यह प्रश्न उठने पर इसका निषेधात्मक उत्तर है।

क्योंकि एक ही शाखा में, एक ही उपनिषद् में, एक ही श्रुति में भी बहुतों ने भिन्न धर्मों से युक्त ब्रह्म का उपदेश किया है। एक श्रुति में प्रतिपाद्य का भेदरूप से प्रतिपादन नहीं है तो भिन्न शाखाओं में भी यह प्रतिपाद्य ब्रह्म भिन्न नहीं होगा।

प्रश्न होता है कि विभिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की जो उपासनाएं बतलाई गई हैं उनका संग्रह अन्य अन्य शाखाओं में भी कर लिये जाने पर समस्त शाखाओं का संग्रह करके एक ही उपासना का प्रकार होना चाहिए क्योंकि उपासनाओं से वेद्य या भजनीय या सेवनीय तो एक ही है।

उपासना के प्रकारों में शाखाओं के भेद से भेद मानने पर तो वेद्य या भजनीय या सेव्य एक ही नहीं रह जायगा, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि विभिन्न शाखाओं के अध्येताओं का अपनी शाखा में कहे गए प्रकार से ही कर्मसम्पादन में अधिकार होने के कारण अपने अधीतवेद के सोमयाग आदि के अनुष्ठान में उस रूप में, उस शाखा में उक्त प्रकार से ही कर्त्तव्यता का नियय बनाया जाता है, जैसे सव का नियम होता है।

जैसे सव नाम का विशेष प्रकार का होम है, वह अथर्ववेद के अध्येता के लिए ही करणीय के रूप में नियत है, अन्यों के लिए नहीं, वैसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिए।

इस प्रकार से वेद्य की एकता भी नहीं बिगड़ती क्योंकि उपासना के रूप में भेद होने पर भी समस्त रूपों के द्वारा एक ही उपास्यह में ज्ञात होता है। शाखा भेद होने पर भी ध्येय तत्त्व की एकता को श्रुति ने—

"समस्त वेद जिसके पद का मनन करते हैं"

इत्यादि वाक्यों से दिखाया है।

अथवा व्यवस्थां वक्ष्यामः । द्विविधा ह्युपासका इष्यन्ते—

एकान्तभक्ता अनेकान्तभक्ताश्च । ये निर्गुणं ब्रह्मोपासतेऽथवा सर्वैर्धर्म्मैरेकमेव शुद्धं ब्रह्मोपासते ते सामान्योपासका अनेकान्तभक्ता उच्यंते ।

ये पुनर्विष्णुं वा शिवं वा सूर्यं वा केनचिद्विशेषरूपेणानियम्योपास्यं गुणविशेष-विशिष्टं ब्रह्मोपासते ते विशेषोपासका एकान्तभक्ताः स्युः ।

तत्रानेकान्तभक्तानां सर्वेष्वपि धर्मेष्वर्थस्योपास्यस्याभेदाद्विरोधमानासंभवात् सर्व-धर्म्माणां सर्वत्रोपसंहार स्यात् ।

ये विष्णुगुणाः ये वा शिवगुणा ये वा सूर्य्यगुणाः सर्वैरपि तैर्गुणैरविशेषं स एक एवोपास्यः संस्तूयते—

—"त्वं विष्णुस्त्वं शिवः सूर्य्यं इति ।

अथ विष्णुशिवादिरूपविशेषैकान्तभक्तानान्तु ये विष्णुशिवादिपरस्परविरुद्धा गुणाः कृष्णशुक्लादयस्तेषां समुच्चयायोग्यत्वात् परस्परं नोपसंहारः स्यात् ।

समाने चाविरुद्धे धर्मे दयालुत्वानन्दमयत्वसर्वाभीष्टफलदातृत्वदुःखहन्तृत्वादिरूपे विरोधाभावात् समुच्चयसंभवाद् विधिशेषवदुपसंहारः स्यादेव । शाखान्तरीयविध्युक्त-धर्माणां शाखान्तरीयविधेः शेषवत् क्लृप्तिः शक्यते कर्त्तुम् । तत्रानुक्ताविरुद्धधर्मान्तरसमु-च्चयेन तद्विधिरूपं कल्प्यमितिभावः ।

ननु व्यवस्थायामप्यनेकान्तभक्तानामविशेषात् सर्वैरपिगुणैरुपासमानानां सर्व-शाखोक्तसर्वधर्मोपसंहाराभ्युपगमे धर्माणां परस्परविरुद्धानामनेकरसत्वात् तदभिन्नत्वेन विवक्षितस्य ब्रह्मणो वेदोक्तमेकरसत्वं व्याहन्येत ।

तथा चैकरसत्वप्रतिपादकाच्छब्दादन्यथात्वमनेकरसत्वं प्रसज्येतेति चेन्न । अवि-शेषात् । यथेदमेकरसत्वं ब्रह्मणः शब्दतोः निर्णीतं तथेदं विरुद्धानेकधर्मवत्त्वमपि ब्रह्मणः शब्दत एव निर्णीयते इति न शब्दादन्यथात्वं शक्यमाक्षेप्तुम् ।

अथवा व्यवस्था का कथन करते हैं । दो प्रकार के उपासक माने गए हैं, एकान्त भक्त और अनेक के भक्त । जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, अथवा समस्त धर्मों से युक्त एक ही शुद्ध ब्रह्म को उपासना करते हैं । वे सामान्य उपासक अनेकान्त भक्त कहे जाते हैं । तथा जो विष्णु, शिव, सूर्य आदि उपास्य को विशेष रूप से समझ कर विशेष

गुणों से विशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं वे विशेष के उपासक एकान्त भक्त कहे जाते हैं।

वहां अनेकान्त भक्तों का सभी धर्मो में अर्थ रूप उपास्य के अभेद होने से कोई विरोध नहीं आता अतः सभी धर्मों का सर्वत्र संग्रह हो जाता है। जो विष्णु के गुण है, जो शिव के गुण है, जो सूर्य के गुण है, उन सभी गुणों से सामान्य रूप से वह एक ही उपास्य संस्तुत होता है—

आप ही विष्णु हैं, आप ही शिव हैं, सूर्य हैं," आदि।

जो विष्णु शिव आदि विशेष रूपों के एकान्त भक्त हैं उनके लिए जो विष्णु शिव आदि के परस्पर विरुद्ध गुण हैं, कृष्ण, शुक्ल आदि उनके समुच्चय की योग्यता न होने के कारण उनका परस्पर संग्रह नहीं होगा।

जो उनमें समान अविरुद्ध धर्म हैं, जैसे दयालुत्व आनन्दमयत्व, सर्वाभीष्ट फल दातृत्व, दुःख हन्तृत्व इन रूपों में विरोध न होने से इनका संग्रह हो सकता है, इनका संग्रह विधि-शेष के समान हो जाता है। दूसरी शाखा की विधि में कहे गये धर्मों का अन्य शाखा की विधि में शेष के रूप में समावेश हो जाता है। वह विधि वहां नहीं कही गई है, परन्तु वह विरूद्ध नहीं है तो उस विधि के रूप में उसकी कल्पना हो जाती है।

उक्त व्यवस्था में भी यह प्रश्न होता है कि जो एकान्त भक्त हैं, जो समस्त गुणों से उपासना करने वाले हैं उनके लिए सभी शाखाओं के समस्त धर्मों का संग्रह स्वीकार कर लेने पर परस्पर विरुद्ध धर्मों के अनेक रस होने से उनसे अभिन्न रूप से विवक्षित ब्रह्म को वेदों में जो एक रस बतलाया गया है उससे विरोध होगा।

इस प्रकार एक रस के प्रतिपादक शब्दों से अन्यथा भाव होगा और एक रस की मान्यता पर आघात होगा तो ऐसा नहीं हैं, अविशेष के कारण। जैसे ब्रह्म की एकरसता का निर्णय शब्द से हुआ है वैसे ही ब्रह्म को अनेक विरुद्ध धर्मों से युक्तता का निर्णय भी शब्द से ही होता है अतः शब्द प्रमाण से अन्यथा भाव होने का आक्षेप नहीं ठहरता।

अथवा नैष दोषः प्रसज्यते। परोवरीयस्त्वादिवत् प्रकरणभेददर्शनात्। परोवरीयस्त्वं नाम व्रतविशेषो दीक्षाप्रकरणे पठ्यते।

ततो दीक्षासहितस्यैव व्रतस्य परोवरीयस्त्वं नान्यः । एवमिहाप्युत्तरतापिन्यां ज्ञान-प्रकरणे ज्ञानिनं प्रत्येव ब्रह्मेदमेकरसमदृश्यमग्राह्यमिति निरूपितम् ।

भक्तिप्रकरणे तु ध्यानोपयोगार्थमनेकविधा धर्म्मा उपासकरुचिसापेक्षा भिन्नभिन्न-प्रकारेणाथर्वणोपनिषदि निरूप्यन्ते । तथा च प्रकरणभेदात् स्वरूपस्यान्यथात्वं नास्तीति बोध्यम् ।

ननु निर्गुणब्रह्मोपासका ज्ञानिन उच्यन्ते । सगुणब्रह्मोपासकास्तु भक्ताः स्युः । किन्तु एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुत्या ब्रह्मातिरिक्तस्यासत्वाद् गुणानामपि सर्वेषां ब्रह्मत्व-मेवागम्यते ।

तथा च यथैकस्य धर्मिणो ब्रह्मत्वं तथैवामीषां धर्माणामपि सर्वेषां ब्रह्मत्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदाध्यवसायात् सर्वधर्मोपपन्नमपीदं ब्रह्म निर्धर्मकत्वेनैवाध्यवसीयते शुद्धाद्वैत-वादिभिर्वल्लभीयैरिति सिद्धान्तितं प्राक् ।

एवं स्थिते निर्गुणोपासकानां भक्तानां चाविशेषाद् ब्रह्मोपासकतया संज्ञैकत्वं सिध्यति । संज्ञैकत्वाच्च प्रकरणभेदो नास्तीति शब्दादन्यथात्वं तदवस्थमेव । अत आह । संज्ञातश्चेत् प्रकरणैक्यं ब्रूयात् तदसत् । उक्तं तत्पूर्वं न वा प्रकरणभेदादिति । तदपि त्वस्त्येव प्रकरणभिन्नत्वम् ।

तथा हि एकान्तभक्तस्य तत्स्वरूपैकनिष्ठत्वेन त्वस्वरूपवहिर्भूतधर्माणामनुप-संहार । अनेकान्तभक्तस्य तु ब्रह्मत्वसामान्येन सर्वत्रैकज्ञानात् सर्वधर्मोपसंहारे बाधका-भावः ।

इत्थं च संज्ञैकत्वेऽप्यान्तरनिष्ठाभेदस्य नाप्राप्तत्वादुभयोरुपासनाप्रकरणं भिद्यते । प्रकरणभेदाच्चोपसहारानुपसंहारौ भेदेन द्रष्टव्यौ ।

अथवा यह दोष प्रसक्त नहीं होता । क्योंकि परोवरीयस्त्व आदि के समान प्रकरण का भेद देखा जाता है । परोवरीयस्त्व एक विशेष व्रत है जो दीक्षा के प्रकरण में पढ़ा जाता हैं ।

वहां दीक्षा साहित का ही परोवरीयस्त्व होता है अन्य का नहीं । वैसे ही यहां भी उत्तरतापिनी उपनिषद् के ज्ञान प्रकरण में ज्ञानी के प्रति ही इस ब्रह्म को एकरस अदृश्य अग्राह्य निरूपित किया गया है ।

भक्ति के प्रकरण में तो ध्यान के उपयोग के लिए अनेक प्रकार के धर्म उपासकों की रूचि की अपेक्षा के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से आथर्वण उपनिषद में निरूपित हैं। इस प्रकार प्रकरण का भेद होने के कारण स्वरूप का अन्यथा भान नहीं होने पाता यह समझना चाहिए।

निर्गुण ब्रह्म के उपासक ज्ञानी कहे जाते हैं। सगुण ब्रह्म के उपासक भक्त कहे जाते हैं। किन्तु—

"ब्रह्म एक अद्वितीय ही है"

इस श्रुति से ज्ञात होता हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं सभी गुणों का भी ब्रह्मत्व ही अवगत होता है। इस प्रकार जैसे एक धर्मी का ब्रह्म है वैसे ही इन समस्त धर्मों का भी ब्रह्मत्व है अतः धर्म और धर्मी में अभेद के निश्चय से समस्त धर्मों से सम्पन्न होता हुआ भी यह ब्रह्म शुद्धाद्वैतवादी श्रीवल्लभाचार्य के मत में निर्धर्मक रूप से ही सिद्धान्तित किया गया हैं, यह पहिले कहा जा चुका है।

इस स्थिति में निर्गुण के उपासक तथा भक्तों में भेद न होने से ब्रह्म के उपासकत्व रूप से उनकी एक हो संज्ञा सिद्ध होती है। एक संज्ञा होने से प्रकरण का भेद नहीं होता अतः शब्द प्रमाण से हट जाने का दोष तो वैसा हो बना रहा। (पहिले प्रकरण भेद को मानकर किया गया समाधान अब एक ही प्रकरण होने के कारण व्यर्थ हो गया) इसलिए समाधान में कहा जाता है कि संज्ञा के आधार पर प्रकरण का ऐक्य कहा जाता है तो वह ठीक नहीं है।

इस विषय को पहिले

"नैवा प्रकरण भेदात्"

इस सूत्र पर स्पष्ट किया गया है। वहां भी तो भिन्न प्रकरण है ही। इस प्रकार एकान्त भक्त के लिए उसके स्वरूप की निष्ठा के कारण उसके स्वरूप से ,बहिर्भूत धर्मों का संग्रह नहीं होगा।

अनेकान्त भक्त के लिए तो सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि होने के कारण सर्वत्र एक ही ज्ञान होने से समस्त धर्मों के संग्रह में कोई बाधा नहीं आती।

इस प्रकार एक हो संज्ञा होने पर भी अवान्तर निष्ठाओं के भेद के बने रहने से दोनों की उपासना के प्रकरण में भेद होता है। और प्रकरण भेद होने पर उपसंहार और अनुसंहार या धर्मों के संग्रह और असंग्रह में भी भेद देखने होंगे।

नन्वेकान्तभक्तानां परिच्छिन्नाकारवद्रूपोपासकतया परमेश्वरोपासकत्वं न स्यात् । परिच्छिन्नरूपस्यार्थस्य दिग्देशकालानवच्छिन्नपरमेश्वरतो भिन्नत्वादिति चेत् तत्र ब्रूमः ।

व्याप्तेश्च समंज्जसमिति । सर्वतः पाणिपादं तदित्यादिश्रुतेः साकारस्यापि तस्य व्यापकत्वाभ्युपगमान्निधर्मकब्रह्मवत्सामंज्जस्यान्नानुपपत्तिः सर्वरस इति श्रुत्या च भक्तानुग्रहविग्रहस्य भिन्नभिन्नरसप्रादुर्भावाय भिन्नभिन्नरूपेण प्राकट्येपि सर्वधर्म्युपसंहारेण व्यापकतायाः उपपन्नत्वात् ।

ननु सर्गलीलाविसर्गलीलादीनामीश्वरलीलात्वेन नित्यत्वात् सर्गलीलासम्बन्धिजीवानां विसर्गलीलासंबन्धित्वं न स्यात् । तथात्वाभ्युपगमे लीलाया अनित्यत्वप्रसक्तेरिति चेत् तत्राह सर्वाभेदादन्यत्रेमं इति ।

लीलासम्बन्धिसर्वार्थानामीश्वरेण सहाभेदादन्यत्राग्रिमलीलायामपि इमे इव जीवाः संभवन्ति । जीवानामीश्वरांशत्वादीश्वरस्य चैकत्वाद् व्यापकत्वाच्च ।

ननु लीलास्थितजीवानामीश्वराभिन्नत्वेन व्यापकत्वाभ्युपगमे साधकजीवानामपि पूर्णानन्दादिधर्मवत्त्वं स्यात् ।

ईश्वरधर्मस्य सर्वस्यापि तत्रौचित्यादिति चेत् तत्र ब्रूमः आनन्दादयः प्रधानस्यैवेश्वरस्य धर्माः स्युर्न तु जीवस्यापि । साधकजीवानामीश्वरादभेदो यावन्न स्फुरति तावत् पूर्णानन्दादीश्वरधर्माणां तत्राविर्भावाभावात् तत्र दुःखस्फूर्तेः ।

जीवत्वव्यापादीश्वरेणानतिरेकात् पूर्णानन्दादयो धर्मास्तत्राप्याविर्भवन्त्येव ।

ननु प्रधानस्येश्वरस्यानन्दमयत्वे प्रियशिरस्त्वादिधर्माणामपि प्रधानधर्म्मत्वाविशेशात् तेषामप्यत्रेश्वरं तदीश्वरतादात्म्यापन्ने मुक्तजीवे वेदापसंहारः स्यादतः आह प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरीश्वरे मुक्तजीवे चेष्यते ।

ईश्वरस्य निर्भेदाखण्डैकरसानन्दत्वेन प्रतिपन्नत्वात् । भेदे हि सति प्रियमोदाद्युपचयापचयौ संभवतः । अन्तःकरणशुद्धेरपर्य्याप्तत्वे तत्तारतम्यानुरोधेनानन्दे प्रियत्वमोदत्वादयो विशेषा उपचयापचयभेदेन भासन्ते ।

यस्य त्वन्तःकरणशुद्धिः पर्य्याप्ताभूत् तस्य विशुद्धाभेदज्ञानिनः पूर्णानन्दरूपत्वात् तत्रैतेषां तारतम्यधर्म्माणामनवसरत्वान्न प्रियशिरस्त्वाद्युपसंहारप्राप्तिः संभवति ।

ननु विष्णु शिवसूर्य्यादिषु सगुणब्रह्मसु परस्परविरुद्धगुणानां पूर्वोक्तरीत्यानुपसंहारे सर्वगुणत्वाभावात् तेषां सर्वेषामनीश्वरत्वं न स्याद् । अनीश्वरत्वाच्चानुपास्यत्वं प्रसज्येतेति चेत् तत्रोच्यते इतरे त्वर्थसामान्यात् इति ।

इतरे विरुद्धधर्मा विष्णु शिवसूर्य्यादयो ह्यर्थस्य ब्रह्मणः सामान्याद् धर्मिरूपेणोपसंहार्य्या नतु धर्मरूपेण । परस्मिन् तत्तद्धर्मानुपसंहारेण परस्परतो भेदेऽपि ब्रह्मणा सह सर्वेषामस्त्यभेद इति सर्वतत्तद्धर्म्मिसमुच्चयेनैकं ब्रह्मैव शुद्धमुपास्यं सिद्धं भवति ।

यथा पुरुषे शृङ्गपुच्छादीनां जीवविशेषधर्माणामनुपसंहारेऽपि पुरुषाणां पशूनां च जीवसामान्यादेकवर्गे उपसंहारः तथेहापि प्रतिपत्तव्यः ।

प्रश्न होता है कि जो एकान्त भक्त हैं वे परिमित आकार वाले रूप के उपासक हैं अतः वे परमेश्वर के उपासक नहीं हो सकेंगे।

क्योंकि जो परिमित रूप वाला अर्थ है, वह दिशा, देश और काल से असीमित परमेश्वर से भिन्न है, इस पर हमें यह कहना है कि व्याप्ति के कारण समञ्जसता होती है।

"उस परम तत्व के हाथ पैर सब ओर हैं'

इत्यादि श्रुति से परब्रह्म के साकार होने पर भी व्यापकता के स्वीकार के कारण निर्धर्मक ब्रह्म के समान सामञ्जस्य होने से कोई बाधा नहीं आती और "सर्वरस" आदि श्रुति वाक्य से भक्त के अनुग्रह रूपा विग्रह के भिन्न भिन्न रसों में प्रादुर्भाव के लिए भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होने पर भी समस्त धर्मियों के सग्रह होने से व्यापकता सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न होता है कि सर्गलीला आदि ईश्वर की लीला होने के कारण नित्य हैं, तब सर्ग या सृष्टि की लीला से सम्बन्धित जो जीव हैं उनका विसर्गलीला से सम्बन्ध नहीं रहेगा, वैसा मानने पर लीला को अनित्य मानना होगा इस उत्तर में सूत्र है—

"सबके अभेद के कारण ये अन्यत्र हैं"

लीला से सम्बन्धित समस्त अर्थों के ईश्वर के साथ अभेद होने से अन्यत्र अर्थात् आगे की लीला में भी ये जीव संभावित हैं। क्योंकि जीव ईश्वर के अंश हैं, तथा ईश्वर एक और व्यापक है।

पुन: प्रश्न होता है कि लीला में स्थित जीवों के ईश्वर से अभिन्न होने के कारण उनकी व्यापकता को मानने पर साधक जीवों को भी पूर्ण आनन्द आदि धर्मवान् कहना होगा। क्योंकि ईश्वर के समस्त धर्मों का वहाँ औचित्य होगा इस पर कहते हैं कि आनन्द आदि प्रधान ईश्वर के ही धर्म हैं न कि वे जीव के भी धर्म हैं।

साधक जीवों का ईश्वर से अभेद जब तक स्फुरित नहीं होता तब तक पूर्ण आनन्द आदि ईश्वर के धर्मों का वहां आविर्भाव न होने से वहां दुःख की स्फूर्ति होती है।

जब अभेद की स्फूर्ति हो जाती है तब तो जीवत्व ही हट जाता है और तब ईश्वर से अभिन्न होने के कारण पूर्ण आनन्द आदि धर्म वहां भी आविर्भूत होते ही हैं।

प्रधान ईश्वर को आनन्दमय मानने पर प्रिय शिरस्त्व आदि धर्मों के प्रधान के ही धर्म होने से उनका भी यहां ईश्वर में तथा उस ईश्वर के साथ एकरूपता प्राप्त मुक्त जीव में वेद का संग्रह होगा, इस पर कहते हैं कि प्रिय शिरस्त्व आदि की ईश्वर में तथा मुक्त जीव में प्राप्ति नहीं है।

क्योंकि ईश्वर को भेद रहित अखण्ड, एकरस, आनन्द रूप से माना जाता है। जब भेद होता है तभी प्रियमोद आदि उपचय (वृद्धि) और अपचय (ह्रास) संभव होते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि के अपर्याप्त होने पर उसके तारतम्य के अनुरोध से आनन्द में प्रियत्व मोदत्व आदि विशेषताएं वृद्धि और ह्रास के रूप में भासित होती हैं।

जिसकी अन्तःकरण शुद्धि पर्याप्त रूप से हो चुकी है, उस विशुद्ध रूप से अभेद ज्ञानी के पूर्णानन्द रूप होने से वहां इन तारतम्य के धर्मों को अवसर न मिलने के कारण प्रियशिरस्त्व आदि का सग्रह वहां सम्भव नहीं होता।

प्रश्न होता है कि विष्णु, शिव, सूर्य, आदि जो सगुण ब्रह्म हैं उनमें परस्पर विरुद्ध का पूर्वोक्त प्रकार से संग्रह न होने पर उनके सर्वगुण युक्त न होने के कारण उन सभी को ईश्वर नहीं कहा जा सकेगा।

और जब वे ईश्वर नहीं कहे जा सकेंगे तो उपास्य नहीं होंगे। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते है—

'अन्य तो अर्थ सामान्य के कारण''

अन्य जो विरुद्ध धर्म वाले विष्णु शिव सूर्य आदि हैं वे तो अर्थ की समानता के धर्मी के रूप में संगृहीत होते हैं धर्म के रूप में नहीं। एक दूसरे स्वरूप में एक दूसरे के

धर्मों का संग्रह न होने पर उनके परस्पर भेद होने पर भी ब्रह्म के साथ सब का अभेद ही है अतः उन सभी के धर्मों के संग्रह से एक विशुद्ध ब्रह्म ही उपास्य के रूप में सिद्ध होता है।

जैसे पुरुष में सींग, पूंछ आदि आदि विशेष जीवों के धर्मों का संग्रह न होने पर भी पुरुष और पशुओं के सामान्यतया जीव कहे जाने से एक ही वर्ग में संग्रह हो जाता है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए।

आध्यानाय हि गुणोपसंहारः क्रियते तस्माद् यावता ध्यानसिद्धिस्तावतामेव गुणानामुपसंहार कार्य्यः। अन्येषां तु प्रयोजनाभावान्नोपसंहारः। तेन शुद्धाखण्डैकरसानन्दमयस्वरूपमात्रेण ध्यानसिद्धेर्न मोदप्रमोदादिपक्षादीनामुपसंहारः।

पञ्चकोशविद्यायाम् आनन्द आत्मेत्यानन्देऽस्मिन् आत्मशब्दान्मोदप्रमोदादीनामानन्दरूपतया तेषामप्यात्मस्वरूपेणैवोपसंहारः काय्यों न तु पक्षपुच्छादिरूपेण नवोपचयापचयरूपेण नवाभेदेन।

ननु तत्रैव पञ्चकोशश्रुतौ तस्यैष एव शारीर आत्मेत्युक्तेरन्यस्य शरीराभिमानिनो जीवस्य तदानन्दमयं प्रत्यात्मत्वेनोपदेशात् जीवात्मधर्मोऽयमानन्दमयः प्रतीयते नत्वात्मा तथाचात्मशब्दादित्युक्तिर्न साध्वीति चेदत्रोच्यते।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् इति। तस्यैष एव शरीर आत्मेति यदितरवदन्नमयादिष्वात्मग्रहणं तदुत्तरात् सर्वान्त्यादानन्दमयाद्धतोरेव क्रियते।

आनन्दमय एव हि शरीर आत्मा तस्यैव तु विज्ञानमयाद्यन्नमयपर्यन्तेष्वनुस्रव इष्यते। तस्य परमकाष्ठापन्नत्वेन तदतिरिक्तब्रह्मणोऽभावात्।

ननु पञ्चतमस्यैतस्यानन्दमयस्य व्यापकत्वेन सर्वत्रान्वयाद्भवतु नामान्नमयादिष्वप्यनुस्रवः किन्तु तावता पूर्वेष्वन्नमयादिषु पृथक् पृथक् श्रुतः शारीर आत्मा जीवः कथं प्रत्याख्यातः स्यादिति चेदुच्यते। स्यादवधारणादिति।

एष ह्येवेत्यैवकारेण निर्धारणादानन्दमय एवायमन्नमयादिशरीराभिमान्यपि स्यान्न तु भिन्नो जीवः।

ननु पञ्चकोशविद्यायामन्नमयादीनां पुरुषविधतामाख्याय तत्पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध इति प्रतिज्ञायते।

तथा चान्त्यस्यानन्दमयस्य पुरुषत्वे तस्यैव सर्वात्म्यात् कोयमन्यः पुरुषविधोऽवशिष्यते इति चेत् तत्र ब्रूमः । द्विविधो ह्यत्र पुरुषो विवक्षितः—

बाह्यात्मा चान्तरात्मा च । तत्र तैत्तिरीयके—

—"तस्माद्वा एतस्मादादित्याकाकाशादिमहाभूतसृष्टिमुक्त्वा तत ओषधीभ्योऽन्नमन्नात् पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्यन्नरसमयत्वात् कार्य्यात्मा यः पुरुषः तस्यैव बाह्यात्मन इहेदंशब्देनाख्यानात् तदन्तरपूर्वमानन्दमयादिलक्षणं बाह्यान्तरात्मत्वेनेष्यते । कार्य्यपुरुषापेक्षयेदमपूर्वं पुरुषलक्षणं प्रतिपत्तव्यम् ।

गुणों का संग्रह ध्यान के लिए होता है इसलिए जितने गुणों से ध्यान सिद्ध हो जाय उतने ही गुणों का सग्रह होना चाहिए । अन्य गुणों का तो प्रयोजन न होने के कारण संग्रह नहीं होता । इससे शुद्ध अखण्ड एकरस आनन्दमय स्वरूप मात्र से ध्यान की सिद्धि हो जाने से मोद प्रमोद आदि पक्षों का संग्रह नहीं होता ।

पञ्चकोश विद्या में—

—"आनन्द आत्मा है"—

यहां श्रुति में मोद प्रमोद आदि के आनन्द रूप होने से उनका भी आत्मा के रूप में ही संग्रह करना चाहिए पक्ष पुच्छ आदि रूप में संग्रह नहीं होता, वृद्धि, ह्रास रूप में भी नहीं होता, अथवा अभेद रूप से भी संग्रह नहीं होता ।

वहीं पांच कोशों की प्रतिपादक श्रुति में—

—"उसका यही शरीर आत्मा है"—

इस उक्ति से शरीराभिमानी जीव का उसके आनन्दमय रूप के प्रति आत्मा के रूप में उपदेश है । यह जीवात्मा का धर्म आनन्दमय के रूप में प्रतीत होता है, अतः आत्मा, को वहां आनन्दमय कहा जाना ठीक नहीं है यह प्रश्न होने पर कहा जाता है कि—

—"आत्मा का ग्रहण इतर के समान होता है आगे के सन्दर्भ के कारण"—

—"उसका यही शरीर आत्मा है"—

यहां अन्य के समान जो अन्नमयादि में आत्मा का ग्रहण है वह आगे के सबसे अन्तिम आनन्दमय के कारण है । शरीर में आत्मा आनन्दमय ही है उसी की विज्ञानमय से

लेकर अन्नमय पर्यन्त व्याप्ति अभीष्ट होती है। आनन्दमय ही परमकाष्ठा है, उसके अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है।

प्रश्न होता है कि पञ्चमें इस आनन्दमय के व्यापक होने से इसका सर्वत्र अन्वय या सम्बन्ध होने पर अन्नमयादि में भो आनन्दमयता भले ही रहे परन्तु इससे पहिले के अन्नमय आदि में पृथक् पृथक् सुने गये शारोर आत्मा जीव का निषेध कैसे किया जाता हैं, इस पर कहते हैं—

—"अवधारण के कारण"—

श्रुति में "एष ह्येव" यहां 'एव' शब्द के प्रयोग से जो निर्धारण अर्थ प्रकट है उससे यह अन्नमयादि शरीर का अभिमानीं भो आनन्दमय ही है न कि यह कोई भिन्न जीव है।

सन्देह होता है कि पञ्चकोश विद्या में अन्नमय आदि की पुरुष रूपता बतलाकर उस पुरुष विधता के बाद यह पुरुष विध है ऐसी प्रतिज्ञा की गई है।

अब अन्तिम आनन्दमय के पुरुष होने पर उसी के सर्वात्मा होने से अन्य और कौन पुरुष विध अवशिष्ट रह जाता है तो उस पर कहते हैं कि यहां दो प्रकार का पुरुष विवक्षित है एक बाह्यात्मा तथा दूसरा अन्तरात्मा। तैत्तिरीयक में—

उस आदित्य से आकाश आदि महाभूतों की सृष्टिक हकर तब औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष कहा गया है।

—"वह यह पुरुष अन्न रसमय है"—

यहां अन्नरसमय होने से कार्यत्मा जो पुरुष है उसी बाह्य आत्मा का यहां 'इदम्' (यह) शब्द से कथन होने से उसके पूर्व का आनन्दमय स्वरूप वाला बाह्य आन्तर आत्मा रूप इष्ट है। कार्य पुरुष की अपेक्षा यह पुरुष का नया स्वरूप समझना चाहिए।

अथवाऽन्यथा व्याख्यास्यामः।

शरीरादतिरिक्तोऽन्तरात्माप्यत्र द्विविधः—

जीवात्मा परमात्मा च। तथा च यत्र बृहदारण्यके आत्मेत्येवोपासीतेत्युपक्रम्य तस्य सर्वेभ्यः प्रियमुक्त्वा ईश्वरो हि तथा स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीतेत्युक्तम्। तत्रात्मपदेन जीवात्मनः परमात्मनो वोपासनं विधीयते इति संशये उच्यते। कार्य्याख्यानादपूर्वमिति।

प्राणन्नेव प्राणो भवतीत्यादि पूर्वश्रुतौ जीवात्मनः सर्वेन्द्रियकार्य्यैराख्यानादपूर्वं जीवभिन्नं ब्रह्मैवोपास्यं द्रष्टव्यम् ।

ईश्वरो होतीश्वरपदस्वारस्यात् सर्वस्मादन्तरमिति अन्तरात्मापेक्षयाप्यन्तरात्मत्वेनाख्यानाच्च ।

ननु ब्रह्मेदमुपास्यं शुद्धाद्वैतमेकरसं व्याख्यातम् । चक्षुःश्रोत्रहस्तपादादीनीन्द्रियाणि च परस्परविलक्षणानि भवन्तीति तेषां परमात्मविग्रहे सत्त्वाभ्युपगमे तस्यैकरसत्वं व्याहन्येत ।

अनभ्युपगने तु तस्य सर्वेन्द्रियकार्य्यकर्तृत्वं न स्यात् इति चेत् तत्रोच्यते । समान एवं चाभेदादिति । चक्षुःश्रोत्रादीनां सत्वेऽप्येषां चक्षुरादीनां ब्रह्मत्वेन परस्परमभेदात् समानः स एकरस एवोपपद्यते ।

आनन्दमयस्य तस्य स्वेच्छयाऽनेकविरुद्धाविरुद्धभावाभ्युपगमेऽपि तेषां भावानां ब्रह्मभिन्नत्वाभावादेकरसत्त्वाव्याघातात् ।

अथवा इसकी दूसरी भी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। शरीर से अतिरिक्त अन्तरात्मा भी यहां दो प्रकार का है जीवात्मा तथा परमात्मा । बृहदारण्यक में जहां

—"आत्मा की इस रूप से ही उपासना करे"—

ऐसा उपक्रम करके उसको सबके लिए प्रिय कहकर

—"ईश्वर ही वह है, प्रिय आत्मा को ही उपासना करे"—

ऐसा कहा है। वहां आत्मा शब्द से जीवात्मा की उपासना का विधान है या परमात्मा की उपासना कही जाती है इस सन्देह पर कहा जाता है,

—"कार्य के कथन में अपूर्व का विधान है।"—

—"प्राणन करने से ही प्राण होता है"—

इत्यादि पहिले के श्रुति वाक्य में जीवात्मा का समस्त इन्द्रियों के कार्यों के द्वारा कथन होने से अपूर्व जीव से भिन्न ब्रह्म की उपास्य है यह समझना चाहिए। क्योंकि वहां ईश्वर शब्द का प्रयोग है और उस उपास्य को अन्तरात्मा की अपेक्षा भी अन्तरात्मा कहा गया है।

उपास्य यह ब्रह्म शुद्ध अद्वैत एक रस कहा गया है। चक्ष, श्रोत्र (कान) हाथ, पैर ये इन्द्रियां परस्पर विलक्षण होती हैं उन्हें परमात्मा के शरीर में स्थित मानने पर उसकी एकरसता पर आघात होगा।

और यदि इन्द्रियों की सत्ता वहां न मानी जाय तब उस परमात्मा के द्वारा समस्त इन्द्रियों के कार्यों का सम्पादन नहीं हो सकेगा, इस सन्देह पर उत्तर देते हैं सूत्रकार कि—

—"इस प्रकार अभेद से समान है"—

चक्षु श्रोत्र आदि के होने पर भी इन चक्षु आदि के ब्रह्म रूप होने से परस्पर अभेद होने पर वह समान एकरस ही रहता है। उस आनन्दमय के अपनी इच्छा से अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध रूपों को स्वीकार कर लेने पर भी उन सभी रूपों के ब्रह्म से भिन्न न होने से एकरसता पर कोई आघात नहीं होता।

अथ यत्र कार्य्ये जीवविशेषे ईश्वरावेशः, तस्येश्वराविष्टजीवविशेषस्योपासनार्थं तस्मिन् जीवे सर्वेषामीश्वरधर्माणामुपसंहारः कार्य्यो नवेति जिज्ञासायां द्वैविध्यं वक्तुं तावत् प्रथमं पक्षमाह संबन्धादेवमन्यत्रापि इति।

अन्यत्रेश्वराविष्ट जीवेऽपि एवमीश्वरसर्वधर्मोपसंहारेणेश्वरवदेवोपासनं कार्य्यम्। अयोगोलके वह्नेरिव तत्र जीवे परमात्मसंबन्धात्।

अथवा पक्षान्तरं द्रष्टव्यम्। न वाऽविशेषादिति। न वोपसंहारः कार्य्यः। तस्य जीवस्यापीश्वरेणाविशेषात्। ईश्वरावेशादेव तत्र सर्वेश्वर धर्मसत्वात्।

दर्शयति च तत्रेश्वरः स्वत एव सर्वानात्मधर्मान् इति नोपसंहारोऽपेक्ष्यते। उपसंहारो हि तत्रानुपलभ्यमानानां धर्माणां तत्र भावनम्। तथा चोपलभ्यमाने तत्रेश्वरधर्मे नोपसंहारः कर्तव्यो भवति।

ननु इतरधर्माणामनुपसंहारेऽपि द्युलोकव्याप्त्यादयो धर्मास्तत्र जीवे उपसंहर्त्तव्याः स्युरिति चेदुच्यते।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चात इति। अतः पूर्वोक्तादविशेषादेव हेतोः सकलवीर्य्यसंभरणद्युव्याप्त्यादयोपि धर्मा नोपसंहार्य्याः।

ननु सहस्रशीर्षा पुरुष-इत्यादिना पुरुषविद्या श्रूयते। ब्रह्मप्रपाठके च स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्युच्यते। पञ्चकोशविद्यायां चान्नमयादीनां पुरुषविधत्वमाख्यायते।

तथा चान्नमयादीनां पुरुषविधत्वोपदेशात् पुरुषविद्योपात्तानां सहस्रशीर्षत्वादीनामत्रोपसंहारः स्यादत उच्यते। पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानादिति।

इतरेषामन्नमयादीनां भौतिकानां पुरुषविद्यायामिव साकारव्यापकाधिदैविकब्रह्मस्वरूपस्य सहस्रशीर्षादिलक्षणस्याम्नानं नास्तीत्यतस्तत्र सहस्रशीर्षवत्वाद्युपसंहारो नास्ति।

जहां कार्य ब्रह्म में किसी विशेष जीव में ईश्वर का आवेश होता है वहां उस ईश्वर से आविष्ट विशिष्ट जीव की उपासना के लिए उसमें ईश्वर के समस्त धर्मों का संग्रह करना चाहिए या नहीं इस जिज्ञासा के उपस्थित होने पर उसका समाधान करने के लिए दो प्रकारों को कहने के उद्देश्य से पहिले प्रथम पक्ष कहते हैं कि—

—"इस प्रकार सम्बन्ध से अन्यत्र भी (धर्मों का संग्रह होता है)"।-

अन्यत्र ईश्वर से आविष्ट जीव में भी इस प्रकार ईश्वर के समस्त धर्मों का संग्रह करके ईश्वर के समान ही उपासना करनी चाहिए। क्योंकि जैसे तप्त लौह पिण्ड में अग्नि बुद्धि होती है अग्नि का सम्बन्ध होता है, वैसे ही उस विशिष्ट जीव में परमात्मा का सम्बन्ध होता है।

अथवा दूसरा पक्ष यह समझना चाहिए—

—"अथवा अविशेष के कारण ऐसा नहीं होता"—

वहां ईश्वर के धर्मों का संग्रह नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह जीव भी ईश्वर से भिन्न नहीं है। वहां ईश्वर के आवेश के कारण ही ईश्वर के समस्त धर्म उसमें विद्यमान हैं, ईश्वर वहां स्वयं ही अपने समस्त धर्मों को दिखा रहा है अतः अपनी बुद्धि से ईश्वर धर्मों के प्रयत्न पूर्वक संग्रह की कोई अपेक्षा नहीं है। संग्रह तो वह होता है कि जहां उपलब्ध न होने वाले धर्मों की भावना की जाती है।

इसी प्रकार ईश्वर के कर्मों के उपलब्ध होने पर फिर उनका संग्रह करने की आवश्यता नहीं रहती। प्रश्न होता है कि अन्य धर्मों का संग्रह न होने पर भी द्युलोक में व्याप्ति आदि धर्म तो वहां ईश्वरानुगृहीत जीव में सग्रहीत होंगे, इस प्रश्न पर कहा जाता है कि—

"इससे संभृति और द्युलोक व्याप्ति का भी बोध होगा।"

पूर्वोक्त अभेद हेतु से ही समस्त वीर्यों का संभरण तथा द्युलोक में व्याप्ति आदि धर्मों का भी संग्रह नहीं करना चहिए।

"सहस्रशीर्षा पुरुषः"

इत्यादि श्रुति से पुरुष विद्या सुनी जाती है। ब्रह्म प्रपाठक में --

"यह पुरुष अन्नरसमय है"

यह कहा जाता है। पञ्च कोश विद्या में अन्नमय आदि की पुरुषविधता बतलाई गई है। इस प्रकार अन्नमय आदि के पुरुषविधता के उपदेश से पुरुष विद्या में कथित सहस्रशीर्षत्व आदि का यहां संग्रह होगा, इस प्रश्न पर कहा जाता है कि—

"पुरुष विद्या के समान अन्यों का कथन नहीं हैं"

अन्य अन्नमयादि भौतिकों का पुरुष विद्या के समान साकार व्यापक आधिदैविक सहस्रशीर्ष आदि लक्षण ब्रह्म स्वरूप का कथन नहीं है इसलिए वहां सहस्रशीर्षत्व आदि का संग्रह नहीं होता।

भगवद्भक्ति-माहात्म्यम्

वेधाद्यर्थभेदात्।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्।

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथाह्यन्ये।

छन्दत उभयाविरोधात्।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्।

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्त-
दुक्तम् ।

इयदामननात् ।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नो-
पदेशान्तरवत् ।

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ।

सैव हि सत्यादयः ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।

आदरादलोपः ।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।

तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् ।

अतिदेशाच्च ।

विद्यैव तु निर्धारणात् दर्शनाच्च ।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ।

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।

एक आत्मनः शरीर भावात् ।

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ।

भूम्न: क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ।

नाना शब्दादिभेदात् ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।

उद्गीथविद्यायां वागादिप्राणेषूद्गानेऽसुरकृतः पापवेधो देवपराजयश्चाभूत तत्र हेतुमाह वेधाद्यर्थभेदादिति ।

अर्थस्येश्वरलक्षणस्य भेदात् संबन्धाभावादेषु प्राणेषु वेधाद्यभूत् । आसन्ने तु प्राणे भगवत्संबन्धात् स दोषो नाभूदिति बोध्यम् ।

भगवद्भक्ति का माहात्म्य

उद्गीथ विद्या में वाक् आदि प्राण के उद्गान होने पर असुरों के द्वारा पाप का वेध तथा देवों का पराजय हुआ । वहां कारण बतलाते हैं—वेध आदि

—"अर्थ के भेद से"—

ईश्वर स्वरूप जो अर्थ है उसके भेद से, अर्थात् उसके सम्बन्ध के अभाव से इन प्राणों में पाप वेध आदि हुए । प्राण के समीपस्थ होने पर भगवान् के सम्बन्ध के कारण वह दोष नहीं हुआ ।

ईश्वरसंबन्धाभावे गुणहानिश्च भवतीत्याह हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति जीवस्य हानावीश्वरतो विभागे ये जीवनिष्ठा आनन्दांशैश्वर्य्यादयो धर्म्मास्तिरोहितास्ते भगवत्संबन्धे सति पुनराविर्भवन्ति । परमं साम्यनुपैतीति श्रुतेः ।

ननु सर्वथा भगवद्धर्मवत्वं किन्तु यावन्तस्तिरोहितास्तावन्त एवाविर्भवन्ति नान्ये धर्माः, उपायनशब्देन कथनात् । उपायनं प्राप्तिः । सा च स्वधर्माणामेव नान्येषाम् ।

नन्वानन्दादिभिः साम्ये ब्रह्माभेद एव स्यादिति चेन्नेत्याह कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवत् । कुचा औदुम्बर्य्यः समिधः । तत्संबन्धिच्छन्दःस्तुत्युपगानमभित्वा शूर नोनुम इत्येतस्यामृचि अच एवोपसंहृत्य भकारेण क्रियते ।

नैतावता भकाराणामृगात्मकत्वं संभवति तथात्रापि बोध्यम् ।

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरस्तु जीवे भगवदभेद एवेति चेत् तदभेदबोधनश्रुतितात्पर्यं पूर्वमुक्तमिति नैतच्छ्रुत्या तदभेदः कल्प्यः ।

सम्यक्परस्य पुरुषोत्तमस्यायो ज्ञानं येन स संपरायो भगवद्भक्तिमार्गः । तस्मिन् प्राप्तव्ये तर्तव्यस्य पापस्याभावान्न भक्त्या पापनाशः साध्यते । भक्तिमार्गे प्रवेशात् पूर्वमेव पापानां नष्टत्वात् ।

ननु सर्वे पाप्मानं तरन्तीति श्रुत्या भक्त्या पापनाशः कुतो नाङ्गीक्रियते तत्राह तथा ह्यन्ये इति ।

तस्याः श्रुतेर्ज्ञानमार्गीयविषयत्वात् । तथाहि भक्तिमार्गीयेभ्योऽन्ये पापवन्तो ज्ञानान्तरं पाप्मानं तरन्तीत्यर्थः ।

ईश्वर के साथ सम्बन्ध के अभाव में गुणों की हानि होती है यह कहते हैं—

—"हानि में उपायन शब्द के शेषत्व के कारण"—

जीव की हानि में अर्थात् ईश्वर से पृथक् होने में जो जीव में रहने वाले आनन्दांश ऐश्वर्य आदि धर्म तिरोहित के वे भगवान् के साथ सम्बन्ध होने पर फिर आविर्भूत हो जाते है । श्रुति कहती है कि—

—"वह ईश्वर के साथ परम समानता को प्राप्त करता है"—

इससे सर्वथा भगवान् के धर्मों से वह युक्त हो जाता है ऐसा नहीं है, किन्तु जो तिरोहित हो गए थे वे ही आविर्भूत होते है, अन्य धर्म नहीं, यह उपायन शब्द के कथन से ज्ञात होता है । उपायन का अर्थ है प्राप्ति । वह उपायन या प्राप्ति अपने ही धर्मों की होती है, अन्य धर्मों की नहीं ।

प्रश्न होता है कि आनन्द आदि की समानता में ब्रह्म के साथ अभेद ही होगा तो इस पर निषेधात्मक उत्तर है कि—

–"कुशाच्छन्द स्तुति के उपगान की तरह"–

कुशा का अर्थ है उदुम्बर वृक्ष की समिधाये। उससे सम्बन्धित छन्दःस्तुति उपगान है।

–"अभित्वा शूर नोनम्"–

इस ऋचा में अच का संग्रह भकार में किया जाता है। इससे भकारों का ऋचा होना संभव नहीं है। वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। फिर प्रश्न होता है कि—

–"तत्त्व मसि"–

आदि वाक्यों से जीव में भगवान् का अभेद हो समझ लिया जाय तो इसका उत्तर है कि इस अभेद बोधक श्रुति वाक्य का तात्पर्य पहिले कहा गया है अतः इस श्रुति से उनमें अभेद की कल्पना नहीं होती।

'संपराय' शब्द के विभाग है सम, पर, अय। उसका अर्थ है सम् अर्थात् सम्यक्-रूप से पर अथात् परब्रह्म पुरुषोत्तम का 'अय' अर्थात् ज्ञान जिससे संपराय का अर्थ हुआ भक्तिमार्ग। उसके प्राप्तव्य होने पर तरणीय पाप का अभाव होने से भक्ति से पाप का नाश साध्य के रूप में नहीं बतलाया जाता। क्योंकि भक्ति मार्ग में प्रवेश के पहिले ही पाप नष्ट हो जाते है। प्रश्न होता है कि—

–"सभी पाप्मा का तरण करते हैं"–

इस श्रुति के अनुरोध से भक्ति से पाप का नाश क्यों नहीं स्वीकार किया जाता तो उसके लिए कहा जाता है—

–"जैसे अन्य"।–

उस श्रुति का विषय ज्ञान मार्ग है। भक्ति मार्गीयों से भिन्न जो पापयुक्त हैं वे ज्ञान के अन्तरायभूत पाप का सन्तरण करते हैं।

ननु तर्हि भरतस्य भक्तस्य भक्त्युत्तरं मृगदेहारम्भकपापस्थित्यसंभव इत्याशङ्कयाह—

छन्दत उभयाविरोधादिति।

भक्तिमार्गे विशिष्टफलदानायेश्वरेच्छातो भक्तेरन्तरमपि पापनाशो भवतीति मन्तव्यम्।

तथा च नराणां क्षीणपापानामिति पापनाशतो भक्त्युदयबोधकवाक्यस्य मृगदेहारम्भकभरतप्रारब्धकर्मबोधकवाक्यस्य चेत्युभयोरेवाविरोधो भवति।

मर्य्यादापुष्टिभेदेनोभयथापि गतेर्ज्ञानस्य फलजनकत्वं मन्तव्यम् अन्यथा तु—

—"ज्ञानेनैव हि कैवल्यमिति, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"—

इति वाक्ययोर्विरोधः स्यात् ।

मुमुक्षोरपेक्षया रहस्यभजनकर्तवोपपन्नो मन्तव्यः । भगवल्लक्षणपुरुषार्थस्य स्वाधीनत्वेनोपलब्धेः । लोके यथा स्वाधीनपतिका स्वामिनं स्वाधीनं मनुते तद्वत् ।

भगवतो धारणरसनभजनध्यानादीनां समुदितानामेव सतां फल साधकत्वमिति नास्ति नियमः । सर्वासामेव धारणादिभक्तीनां प्रत्येकस्यापि फलजनने विरोधाभावात् । एतच्च—

—"चिन्तयँश्चेतसा कृष्णमिति श्रुतेः, केवलेन हि भावेनेति स्मृतेश्च गम्यते ।

कार्य्यविशेषसाधनार्थं क्वचिज्जीवे भगवता ये स्वकीयधर्माः स्थापितास्ते अधिकारिका स्युः । तेषां यावत्कार्य्याधिकारमेवावस्थानं भवति । कार्य्ये संपन्ने तान् धर्मान् स्वस्मिन्नाकर्षति भगवान् न तु तज्जीवस्य जीवनपर्य्यन्तं स्थापयति ।

इस पर प्रश्न होता है भरत नाम के भक्त को भक्ति के अनन्तर मृगदेह का आरम्भ करने वाली पाप की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती थी, इस आशङ्का से कहा जाता है कि—

—"इच्छा से दोनों का अविरोध है"—

भक्ति मार्ग में विशिष्ट फल देने के लिए ईश्वर की इच्छा से क्ति के अनन्तर भी पाप का नाश होता है यह मानना चाहिए । उससे

—"क्षीण पाप मनुष्यों को (भक्ति मिलती है) इस पाप नाश के अनन्तर भक्ति के उदय के बोधक वाक्य से तथा मृगदेह के आरम्भ करने वाले भरत के प्रारब्ध कर्म के बोधक वाक्य से विरोध नहीं आता ।

मर्यादा और पुष्टि के भेद से दोनों प्रकारों से गति अर्थात् ज्ञान की फल जनकता को मानना चाहिए । ऐसा न मानने पर

—"ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती हैं,"—

—"जिसका वह वरण करता है उससे ही वह प्राप्तव्य है,"—

इन दोनों वाक्यों में विरोध होगा ।

मुक्ति की कामना वाले मुमुक्षु की अपेक्षा एकान्त में भजन करने वाले को ही श्रेष्ठ मानना चाहिए। क्योंकि भगवत्स्वरूप पुरुषार्थ की वहां स्वाधीनता से उपलब्धि होती है। संसार में स्वाधीन पति का पत्नी जैसे अपने स्वामी को अपने आधीन मानती है वैसे ही एकान्त भक्त भी अपने स्वामी भगवान् को स्वाधीन कर लेता है।

भगवान् के धारण, रसन, भजन, ध्यान आदि सब के मिलने पर ही फलसिद्धि होती है ऐसा नियम नहीं है। सभी धारण आदि भक्तियों में प्रत्येक के भी फल उत्पन्न करने में कोई विरोध नहीं आता। यह बात—

"कृष्ण का चित्त से चिन्तन करते हुए"

इस श्रुति वचन से—

"केवल भाव से"

इत्यादि स्मृतिवाक्यों से ज्ञात होती है।

विशेष कार्य की सिद्ध के लिए किसी जीव में भगवान् के द्वारा जो अपने धर्म स्थापित किये जाते हैं वे धर्म आधिकारिक धर्म होते हैं। उनकी उस जीव में स्थिति उस कार्य के सम्पन्न होने तक ही रहती है।

कार्य के संपन्न हो जाने पर भगवान् उन धर्मों को अपने में आकृष्ट कर लेते हैं न कि उस जीव के जीवनकाल तक उन धर्मों को स्थापित रखते हैं।

त्रिविधोऽयमात्माभवति— जीवो अक्षरपरश्चेति।

तत्र परस्य पुरुषोत्तमस्य प्राप्तिरेव मुख्या मुक्तिः।

सा च भक्तानामेवाक्षरप्राप्त्यनन्तरं परप्राप्त्या संपद्यते। तत्राक्षरज्ञानस्य परम्परा-साधनत्वम्। अक्षरज्ञानेन ब्रह्मभावोत्तरं भगवद्भावात्।

अथ अक्षरज्ञानिनां तु परमात्मसंबन्धाभावादक्षरप्राप्तिरूपा सामान्यमुक्तिरेवोपपद्यते। तत्राक्षरज्ञानस्य साक्षात्साधनत्वम्। एवं मोक्षद्वयेऽप्यक्षरज्ञानानां सामान्यमुक्तिपरभावमुक्तिभ्यां साधनत्वमुपपद्यते। नत्वेवमक्षरज्ञानवतां क्वचिदक्षरे लयात् सामान्यमुक्तिः क्वचित्पुनः परभक्तिभावोदयान्मुख्या मुक्तिरिति द्वैविध्यं कुतः संभवतीति चेद् औपसद्वद्द्रष्टव्यम् उपसदाख्ये कर्मणि यजमानः सर्वेषु ऋत्विक्षु यं कामयेत यज्ञयशसमृच्छेत् तं प्रथमं तानूनप्त्राख्यमाज्यं स्पर्शयेत्।

तत्र यथा यजमानेच्छा नियामिका तथाऽत्र भगवदिच्छा हेतुरिति बोध्यम्। ननु भगवत्संबन्धिश्रवणादीनां यथा भगवत्प्रापकत्वं तथाऽक्षरज्ञानस्य कुतो नेत्यत्राह तदुक्तमिति।

—"यदक्षरं वेदविदो वदन्तीत्यारभ्य स याति परमां गतिमित्यन्तेनाक्षरज्ञानेनाक्षरस्यैव प्राप्तिर्नतु परस्य इति गीतायामुक्तम् ।

यह आत्मा तीन प्रकार का होता है जीव, अक्षर और पर । इनमें परमात्मा या या पुरुषोत्तम को प्राप्ति ही मुख्य मुक्ति है । वह मुक्ति भक्तों हो है । अक्षर की प्राप्ति के अनन्तर पर ब्रह्म की प्राप्ति होने पर होती है ।

यहां अक्षर का ज्ञान परम्परा से साधन है, क्योंकि अक्षर ज्ञान से ब्रह्मभाव प्राप्त होने के अनन्तर भगवान् का भाव प्राप्त होता है । अब जो अक्षर ज्ञान तक ही रह जाते हैं उनकी परमात्मा से सम्बन्ध न हो पाने के कारण सामान्य मुक्ति ही होती है ।

उस मुक्ति में अक्षर ज्ञान साक्षात् साधन होता है । इस प्रकार दोनों ही प्रकार की मोक्ष में अक्षर ज्ञान को सामान्यमुक्ति और पर भाव मुक्ति में साधनता सिद्ध होती है ।

इस प्रकार अक्षर के ज्ञानियों कहीं अक्षर में लय होने पर सामान्यमुक्ति और कहीं परमात्मा के भक्तिभाव के उदय होने पर मुख्य मुक्ति इस प्रकार द्विविधता कैसे संभव होगी, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इसको—

"औपसद की तरह समझना चाहिए" ।

उपसद नाम के कर्म से यजमान समस्त ऋत्विजों में जिसको चाहे, यज्ञ में यशस्वी बनाना चाहे उसे पहले तानूनप्त्र नामके पात्र का स्पर्श कराए ।

वहां जैसे यजमान की इच्छा नियामक होती है वैसे ही यहां भगवान् की इच्छा हेतु है यह समझना चाहिए ।

प्रश्न होता है कि जैसे भगवान् से सम्बन्धित श्रवण आदि भगवान् को प्राप्त कराते है वैसे अक्षर का ज्ञान भगवान् को क्यों नहीं प्राप्त कराता, उस पर कहते है कि—

—"वह कहा गया है"—

—"जिस अक्षर को वेदवेत्ता कहते हैं"—

यहाँ से आरम्भ करके—

"वह परमागति को प्राप्त करता है"

यहां तक अक्षर के ज्ञान से अक्षर को ही प्राप्ति होती है परब्रह्म की नहीं, यह गीता में कहा गया है ।

अथ तैत्तिरीयकानन्दमीमांसायां मानुषानन्दमारभ्यैकादश्यामुत्तरकक्षायां ब्रह्मानन्दः परकाष्ठायामाख्यातः। सोऽयं ब्रह्मानन्दोऽक्षरानन्द एव प्रतिपत्तव्यः इयदामननात्। उत्तरोत्तरवृद्धिक्रमेण परिच्छिद्याख्यानात्।

आनन्दानुभवयोग्यलयपूर्वदशापेक्षयैवानन्दतारतम्यस्य वक्तुं शक्यतया तत्राक्षरानन्दस्यैव चरसीमापन्नत्वात्। निर्धर्मके तु परब्रह्मणि लये भोक्तुरभावानन्दानुभवासंवात् गणनासाधकसंख्याद्यभावाच्च नान्दतारतम्यं संभवति। तस्माज्ज्ञानिनामक्षरानुगामिनामापेक्षिकात्यन्तिकानन्दप्राप्तावपि परिच्छेदसत्वादल्पत्वमेव।

भक्तानां तु पूर्णपुरुषोत्तमानुगामिनामगणितानन्तानन्दावाप्तिरिति बोध्यम्।

तैत्तिरीयक उपनिषद् की आनन्द मीमांसा में मानुष आनन्द से प्रारम्भ करके आगे की ग्यारहवीं कक्षा में ब्रह्मानन्द को पराकाष्ठा बतलाया है। यह ब्रह्मानन्द अक्षरानन्द हो समझना चाहिए। इतना आमनन होने से। उत्तरोत्तर वृद्धि के क्रम से सीमित के कथन करने के कारण वह सीमित है।

आनन्द के अनुभव के योग्य लय की पूर्वदशा की अपेक्षा से ही आनन्द का तारतम्य कहा जा सकता है और वहां अक्षर का आनन्द ही चरम सीमा पर है। निर्धर्मक परब्रह्म में लय होने पर तो भाक्ता के अभाव के कारण आनन्द का अनुभव होना असंभव है, वहां गणना की साधक संख्या का अभाव है अत: वहां आनन्द का तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) संभव नहीं होता।

इसलिए अक्षर के अनुगामियों के आपेक्षिक आत्यान्तिक आनन्द की प्राप्ति होने पर भी उसकी सीमा होने के कारण वह अल्प ही है। पूर्ण पुरुषोत्तम के अनुगामी भक्तों की आनन्द की प्राप्ति तो अगणित अनन्त है यह समझना चाहिए।

भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेनाङ्गीकृत आत्मा स्वात्मा, स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानं भजनेऽन्तरायमिति कृत्वा भगवान्नोत्पादयति तादृशभक्तविग्रहस्यालौकिकत्वात् तेषु यथाभूतग्रामो लौकिको नास्ति तद्वदिदं ज्ञानमपि तेषु नास्ति।

ननु चान्यथा भगवदभेदज्ञानस्य भजनान्तरायत्वाभ्युपगमे एकादशस्कन्धे भक्तेषूद्धवादिष्वभेदज्ञानेनोपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न उपदेशान्तरवत्।

यथा गायत्र्युपदेशेन संस्कृतं ब्राह्मणशरीरं वैदिककर्मोपयोगि भवति तथेदृशज्ञानोपदेशसंस्कृतो भक्तो भक्तिरसानुभवयोग्यो भवतीत्येतदर्थमुपदेशो नत्वभेदज्ञानार्थम्।

अहं कृष्णः कृष्णोऽहमित्येवं यद्विशिषन्ति भक्ताः सव्यतिहारः सोऽपीतरवज्ज्ञेयः।

विप्रयोगोद्रेकेऽश्रुप्रलापादिवदेवायं व्यतिहारोपि द्रष्टव्यः नैतावताऽभेदज्ञानस्य भक्तिफलत्वम् ।

सत्यशमदमादयोपि भक्तानां सा भक्तिरेव हि भवति । सत्यादीनां ज्ञानमार्गीय-साधनानां प्रयत्नविशेषानपेक्षं स्वत एव भक्तेषूत्पत्तेः ।

विहितभक्तेरितरत्र तु कामाद्यौपाधिकभगवद्भावे कामाद्येव तन्मुक्तिसाधनम् । तत्र च गृहादिभ्योपि मुक्तिसिद्धः । भगवत्सेवासाधनत्वात् ।

वर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणां च युगपत्करणे प्रसक्ते भगवद्धर्म्मेष्वादरश्रवणात् तेषां कर्मभिरलोप ।

तथा च कर्मवद्धर्मयोर्युगपत्करणे उपस्थितेऽत आदरादलोपवचनाद् भगवद्धर्म्म एव कार्य्यः ।

भक्तिमार्ग में भगवान् के द्वारा स्वीकृत आत्मा स्वात्मा है । स्वात्मा के रूप में भगवान् का ज्ञान भजन में विघ्न रूप है इसलिए भगवान् उसे उत्पन्न नहीं करते । क्योंकि भक्त का वह शरीर अलौकिक होता है अतः उनमें जैसे भूत समूह लौकिक नहीं होता वैसे ही यह ज्ञान भी उनमें नहीं होता ।

अन्य प्रकार से होने वाले भगवान् के साथ अभेद ज्ञान को भजन में विघ्न मानने पर श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में उद्धव आदि भक्तों में अभेद ज्ञान की असंगति रहेगी ऐसा नहीं समझना चाहिए, अन्य उपदेशों के समान यह भी है ।

जैसे गायत्री के उपदेश से संस्कारयुक्त ब्राह्मण वैदिक कर्मों के लिए उपयोगी होता है वैसे ही इस प्रकार के ज्ञानोपदेश से संस्कार युक्त भक्त भक्तिरस के अनुभव के योग्य होता है, इसलिए यह उपदेश दिया जाता है, न कि अभेद के ज्ञान के लिए ।

—"मैं कृष्ण हू,"—
—"कृष्ण मैं हू"—

इस प्रकार उलट पलट कर भक्तगण जो विशेषण लगाते हैं, उसे भी अन्य के समान समझना चाहिए । जैसे वियोग अवस्था में अश्रुपात प्रलाप आदि होते हैं, उसी प्रकार व्यवहार की यह उलट पुलट भी समझनी चाहिए । इससे अभेद का ज्ञान भक्ति का फल है यह नहीं माना जाता ।

सत्यशमदम आदि भी भक्तों की वह भक्ति ही होती है । क्योंकि ज्ञानमार्ग में साधन स्वरूप जो सत्य आदि हैं वे भक्तों में बिना विशेष प्रयत्न के स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं ।

जो भक्ति शास्त्रों के द्वारा विहित है उससे भिन्न अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान् को भावित किया जाता है वह काम आदि ही मुक्ति के साधन हैं। वहां गृहस्थाश्रम में रहने वालों की भी मुक्ति सिद्ध हो जाती है। क्योंकि वह भी भगवान् की सेवा का साधन है।

वर्णों और आश्रमों के धर्मों तथा भगवान के धर्मों के सम्पादन के एक साथ उपस्थित हो जाने पर भगवान् के धर्मों में आदर के श्रवण से अन्य कर्मों से उनका लोप नहीं किया जाता।

इसी प्रकार कर्म और भगवान् के धर्मों के एक साथ उपस्थित होने पर इसी आदर से लोपन करने के वचन से भगवान् के धर्मों का ही पालन किया जाना चाहिए।

अस्माकं कर्मकरणेऽकरणे वा भगवदिच्छास्ति नास्ति वेति निर्धारणानियम आधुनिकानाम्। अतस्तैर्निष्कामतया तत्कर्तव्यमेव।

भगवदिच्छाविषयकज्ञानवतोऽम्बरीषोद्धवयुधिष्ठिरादेस्तु जीवकृतकर्मफलात् पृथगीश्वरकृतकर्मफलं सन्मार्गरक्षालोकसंग्रहादिरूपं भवति। पूर्वोक्तस्य निष्कामकर्तुस्तु स्वकर्मजफलोत्पत्तिप्रतिबन्धाभावः फलम्।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृजेत्यनेनोद्धवं प्रति भगवता कृतः सर्वात्मभावोपदेशस्तु प्रकर्षेण कृशावशाद्दानवदेवासीत्। नतु साधनसाध्यासः। तदुक्तंश्रुत्या। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य इति।

हमारे कर्मों के करने या न करने में भगवान् की इच्छा है कि नहीं इस निर्धारण में आधुनिक लोग अनियम मानते हैं। इसलिए उन्हें निष्काम होकर वह करना ही चाहिए।

भगवान् की इच्छा के विषय का ज्ञान रखने वाले अम्बरीष, उद्धव, युधिष्ठिर आदि का तो जीव के किये हुए कर्मों के फल से पृथक् ईश्वर के किये हुए कर्मों का फल सन्मार्ग की रक्षा तथा लोक संग्रह आदि के लिए हैं।

पूर्वोक्त निष्काम करने वाले का तो अपने कर्मों से उत्पन्न फलों को उत्पत्ति में आने वाले प्रतिबन्ध या बाधाओं का अभाव फल होता है।

–"इसलिए हे उद्धव तुम छोड़ो"–

इस कथन से उद्धव के प्रति भगवान् का दिया हुए सर्वात्म भाव का उपदेश तो प्रकृष्ट कृपा के कारण दान रूप ही था। न कि वह साधन के अभ्यास से युक्त था। श्रुति ने कहा है—

–"यह आत्मा प्रवचन के द्वारा प्राप्तव्य नहीं है"–

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य इति श्रुत्या भगवत्कर्तृकं भक्तवरणं प्रसिद्धम् । तस्य लिङ्गं सर्वात्मभावः । तस्य भूयस्त्वात् सर्वतोऽधिकत्वाद्धेतोस्तद्धि वरणं कालकर्मादिभ्यो वलीयोस्ति । यदि भगवान् वरीतुमिच्छति तदास्य भक्तस्य कालदुरदृष्टादयो न प्रतिबन्धकाः संभवन्ति भगवदिच्छायाः सर्वतो वलवत्तरत्वात् ।

ननु मार्गीयज्ञानेन प्रतिबन्धः स्यादिति चेत्–तदप्युक्तमन्तराभूतग्रामवदिति सूत्रे ।

भक्तिमार्गफलं सर्वात्मभावः । ज्ञानमार्गफलमात्मज्ञानम् । तयोश्च सर्वात्मभावस्य वलीयस्त्वे हेतुर्भूयस्त्वं तच्च छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादे नोक्तमिति तत्र पूर्वपक्षः क्रियते सूत्रद्वयेन । पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यादिति ।

ताण्ड्योपनिषदि षष्ठाध्याये श्वेतकेतूपाख्याने नात्मज्ञानमुक्तम् । ततः सप्तमेध्याये नारदोपाख्याने यदिदं भूम्नो निरूपणं तदपि पूर्वाध्यायोक्तात्मज्ञानस्यैव विकल्पनं स्यात् । उभयत्रात्मन एव प्रकरणात् । यथा क्रिया वाह्यपूजा मानसं कर्मान्तिरपूजा । तयोर्भेदपि प्रकरणात् पूजात्वाविशेषः ।

तथैतयोः प्रकारभेदेऽति प्रकरणात् ज्ञानत्वाविशेषः स्यात् ।

नामैवैतन्नामोपास्वेत्यादिना तत्रैव नामब्रह्मातिदेशाच्चायं ज्ञानप्रकारविशेष एव स्यान्न तु भगवद्भावस्य भूयस्त्वं तत्रोक्तं सिद्धं भवतीति प्राप्ते ।

सिद्धान्तमाह विद्यैव तु निर्धारणात् इति । भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इत्यानन्दात्मकपुरुषोत्तमस्यैव जिज्ञास्यत्वेन निर्धारणादिह विद्यैव निरूप्यते । विद्या हि सर्वात्मभावो न त्वात्मज्ञानम् । तस्मात् सर्वात्मभावस्यैव भूयस्त्वम् ।

सर्वात्मभाववतां व्रजभक्तानां भगवत्स्पर्शादिना सविस्मृतेर्दर्शनाच्च । चित्तासुखेन भवतापहृतं गृहेष्वित्यादीवचनात् ।

—"तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मनः प्राणा"—

इति श्रुतिदर्शनाच्च सर्वात्मभाव एव तत्रोक्तो गम्यते ।

"जिसका वह वरण करते हैं उसी के द्वारा वे प्राप्तव्य होते हैं"

इस श्रुति से भगवान् का किया हुआ भक्त का वरण प्रसिद्ध है । उसका चिह्न है सर्वात्म भाव ।

उसके सर्वाधिक होने से वह वरणकाल कर्म आदि से बलवान होता है। यदि भगवान् वरण करना चाहते हैं तब इस भक्त के काल और दूषित अदृष्ट आदि प्रतिबन्धक नहीं होते क्योंकि भगवान् की इच्छा सबसे अधिक बलवती होती हैं। मार्ग ज्ञान प्रतिबन्धक होगा इसका उत्तर भी—

"अन्तराभूत ग्रामवत्"

इस सूत्र में दिया जा चुका है।

भक्ति मार्ग का फल है सर्वात्मभाव। ज्ञान मार्ग का फल है आत्मा का ज्ञान।

इन दोनों में सर्वात्मभाव के बलवान् होने का हेतु है अधिकता। उसे छान्दोग्य उपनिषद के नारद सनत्कुमार संवाद में नहीं बतलाया गया इसलिए दो सूत्रों में इस विषय में पूर्वपक्ष किया जाता है।

"पूर्व का विकल्प प्रकरण से होगा"।

ताण्ड्य उपनिषद में छठे अध्याय में श्वेत केतु के उपाख्यान में आत्मज्ञान नहीं कहा गया।

उसके अनन्तर सप्तम अध्याय में नारद के उपाख्यान में जो भूमा का निरूपण है वह भी पहिले के अध्याय में कहे गए आत्मज्ञान का ही विकल्पन होगा।

क्योंकि दोनों स्थानों पर आत्मा का ही प्रकरण है। जैसे क्रिया बाह्य पूजा वैसे ही मानस कर्म आन्तर पूजा है।

उनके भिन्न होने पर भी प्रकरण के कारण पूजा दोनों ही हैं। इन दोनों के प्रकार में भेद होने पर भी प्रकरण के कारण ज्ञानत्व में भेद नहीं रहता।

"यह नाम ही है, नाम की उपासना करो"

इत्यादि कथन से वहीं नाम ब्रह्म के अतिदेश से यह ज्ञान का विशेष प्रकार ही होगा, वहां भगवद्भाव की अधिकता सिद्ध नहीं होती, ऐसा प्राप्त होने पर—

सिद्धान्त कहते हैं –

"निर्धारण के कारण विद्या ही है"

"भूमा ही सुख है, भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिए"

इस प्रकार आनन्दात्मक पुरुषोत्तम का ही जिज्ञास्य के रूप में निर्धारण होने से यहां विद्या का ही निरूपण होता है।

सर्वात्मभाव ही विद्या है, केवल ग्रात्मज्ञान विद्या नहीं है। इसलिए ग्रधिकता सर्वात्मभाव की ही है।

सर्वात्मभाव से भावित व्रज भक्तों भगवान् के स्पर्श ग्रादि से विस्मरण का दर्शन होने से भी यही सिद्ध होता है।

"घरों भव ताप से सुख से चित्त ग्रपहृत रहता है"

इत्यादि कथन से भी यही प्रमाणित है।

"उसके इस प्रकार दर्शन करने से तथा ऐसा मनन करने से ग्रौर ऐसा जानने से ग्रपने प्राण"

इस श्रुति में देखे जाने से वहां सर्वात्म भाव ही कहा जाता है यह प्रतीत हो रहा है।

ननु तरति शोकमात्मविदित्युपक्रमाज्ज्ञानमेवात्र प्रतिपाद्यं न सर्वात्मभाव इति चेत् तत्र ब्रूमः। श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाधेति। उपक्रमवाक्यानुरोधाज्ज्ञानविषयता प्राप्नोति। श्रुतिलिङ्गाभ्यां तु सर्वात्मभावः सिध्यति।

तत्र च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणेति न्यायाद्वाक्यापेक्षया श्रुतिलिङ्गयोर्वलीयस्त्वात् सर्वात्मभावलिङ्गभूयस्त्वस्य बाधो नास्ति इति बोध्यम्।

नन्वेवमपि तत्र श्रुतौ सर्वात्मभावः प्रतिपाद्यो नास्ति।

—"भूमा कुत्र प्रतिष्ठित"—

इति प्रश्ने—

—"स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित"—

इति ब्रह्मणः स्वाधारत्वाख्यानादिति चेत् तत्रोच्यते। ग्रनुबन्धादिभ्य इति। स वा पश्यन्नित्येननतच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाद् भूमाधिकरणसर्वात्मभावादिभ्यो हेतुभ्यः सर्वात्मभाव एवात्र प्रतिपाद्यो न ब्रह्मणः स्वाधारत्वम्। नत्वात्मज्ञानवत् सर्वात्मभावस्यापि मुक्तिरेव फलमित्युभयोर्वैशेष्याभाव इति चेन्न।

सर्वात्मभाववद्भक्तप्रज्ञातो भिन्नाया मुमुक्षुप्रज्ञायाः भगवल्लीलासाधकत्वमेव न तु स्वकामनासाधकत्वम्। ग्रत एव नास्या मुक्तिसाधकत्वम्। दृष्टश्च व्रजभक्तादौ स्वरूपानुभावातिरिक्तफलाभावः। तदुक्तं भगवता—ग्रहं भक्तपराधीन इत्यारभ्य, वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या इत्यादिना।

"आत्मवेत्ता शोक का तरण कर जाता है"

इस उपक्रम से यहां ज्ञान ही प्रतिपाद्य है, सर्वात्मभाव नहीं इस शंका पर हमारा कथन है कि—

"श्रुति आदि के बलवान होने से बाधा नहीं है"

उपक्रम वाक्य के अनुरोध से इस सन्दर्भ की ज्ञान विषयता प्राप्त होती है, परन्तु श्रुति और लिङ्ग (चिह्न) से सर्वात्मभाव सिद्ध होता है। वहां—

"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण"

इत्यादि न्याय के द्वारा वाक्य की अपेक्षा श्रुति और लिङ्ग के बलवान् होने से सर्वात्मभाव रूपी चिह्न की अधिकता में बाधा नहीं है यह समझना चाहिए।

पुन: प्रश्न होता है कि इस रीति से भी श्रुति में सर्वात्मभाव का प्रतिपादन नहीं है—

"भूमा कहां प्रतिष्ठित है"

इस प्रश्न पर—

"अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है"

इस प्रकार ब्रह्म का अपने आधार के रूप में कथन हुआ है तो इसका उत्तर यह है कि—

"अनुबन्ध आदि से"।

"वह इस प्रकार देखता हुआ"

यहां 'एतत्' शब्द पूर्व का परामर्शक है अत: भूमाधिकरण, सर्वात्मभाव आदि कारणों से यहां सर्वात्मभाव ही प्रतिपाद्य है, ब्रह्म का अपना आधारत्व नहीं।

पुन: प्रश्न होता है कि आत्मज्ञान के समान सर्वात्मभाव का भी मुक्ति ही फल होता है, अत: दोनों में भेद नहीं है तो ऐसा नहीं है।

सर्वात्मभाव से युक्त भक्त की प्रज्ञा से भिन्न जो मुमुक्षु की प्रज्ञा है वह भगवान् की लीला की ही साधक है, वह अपनी कामना की साधक नहीं होती।

इसलिए इसको मुक्ति का साधक नहीं माना जाता। व्रज भक्त आदि में स्वरूप के अनुभव के अतिरिक्त अन्य किसी फल का अभाव देखा भी जाता है।

"मैं भक्त के पराधीन हूं"

यहां से लेकर--

"मुझे भक्ति से वश में कर लेते हैं"

यहां तक के सन्दर्भ में भगवान् ने विषय का कथन किया है।

ननु सर्वात्मभावनिरूपकनारदसनत्कुमारसंवादप्रपाठके तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्युक्त्या सर्वात्मभाववद्भक्तस्याप्यन्यकामना गम्यते इति चेत् तत्रोच्यते–नेति। नात्र कामचारोक्तिर्भक्तस्य नानाकामनासद्भावं प्रतिपादयति।

सामान्यादप्युपलब्धेः तत्समानधर्मसंबन्धादपि श्रुतौ तत्प्रयोगो बहुश उपलभ्यते। प्रकृतेऽपि भगवत्संबन्धिसर्वसुखान्येव लोकास्तेषु कामचारस्त्वाभिप्रायेण तथोक्तिः। नन्वस्तु प्रसिद्धेषु लोकेष्वेव सर्वत्र कामचारः किमिति भगवत्सुखानां लोकत्वमिह कल्प्यते इति चेत् तत्र ब्रूमः। मृत्युवन्नहि लोकापत्तिरिति–

–"न पश्यो मृत्युं पश्यतीति"–

तादृशभाववतो यथा मृत्युनिषेधः क्रियते तथा भगवत्स्वरूपातिरिक्तलोकान्तरसंबन्धोपि संभवतीति भाव्यम्।

तत्र हेत्वन्तरमुच्यते–परेण च शब्दस्य ताद्विध्यमिति। शब्दस्य, आत्मन एवेदं सर्वमिति श्रुतिवाक्यस्य परेण,–

–"सर्वमाप्नोति सर्वश"–इति वाक्येन ताद्विध्यमेकरूपत्वमस्तीत्यतो न लोकान्तरसंबन्धो वक्तुं शक्यः नन्वात्मन एवेदमित्युक्ते पुनः सर्वमाप्नोतीति किमर्थमुच्यते तत्राह-भूयस्त्वात्वनुबन्ध इति। हेतूनां बाहुल्ये दार्ढ्यं भवतीति कृत्वा पुनरनुबन्धो द्रष्टव्यः।

अत एवैके शाखिन आत्मनो भगवतो भक्तशरीरे आविर्भावात् तेन सह कामोपभोगं श्रावयन्ति–"सोऽश्नुते सर्वान् कामानिति श्रुत्या।

प्रश्न होता है कि सर्वात्म भाव का निरूपण करने वाले नारद और सनत्कुमार के संवाद के प्रपाठक में

–"उसका सभी लोकों में कामना पूर्वक विचरण होता है"–

इस उक्ति से सर्वात्म भाव से परिपूर्ण भक्त की भी अन्य विषय की कामना होती है ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि ऐसा नहीं है। यहां जो भक्त की कामना पूर्वक विचरण करने की उक्ति है वह नानाविध कामनाओं की उसमें स्थिति है इसका प्रतिपादन नहीं करती क्योंकि सामान्य रूप से उसकी उपलब्धि होती है, उसके समान धर्म से सम्बन्ध होने के कारण भी श्रुति में अनेकत्र उसका प्रयोग उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में भी भगवान् से सम्बन्धित जो समस्त सुख हैं उन्हें ही लोक कहा गया है, उन्हीं में कामना पूर्वक विचरण के कारण उस प्रकार का कथन किया गया है। प्रश्न होता है कि जो संसार में प्रसिद्ध लोक है, यहां लोक शब्द से उन्हों का ग्रहण क्यों नहीं किया जाता, उन्हीं में कामना पूर्वक विचरण मानना चाहिए, भगवान् के सुख की लोक रूप से यहां कल्पना क्यों की जाती है, इस पर हमारा कथन है कि—

—"मृत्यु की तरह लोक की आवस्ति नहीं होती"।—

—'भक्त मृत्यु को नहीं देखता"—

इस उक्ति से उस प्रकार की भावना से युक्त व्यक्ति के लिए जैसे मृत्यु ा निषेध किया जाता है वैसे भगवान् के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य लोकों का सम्बन्ध भी संभव होता है यह समझना चाहिए।

इसी में दूसरा कारण भी बतलाते हैं। परमात्मा से शब्द की एकरूपता है"। शब्द का अर्थ यहां है— 'आत्मा से ही यह सब कुछ है" यह श्रुति वाक्य, इसकी पर से अर्थात् "सर्व भाव से सब कुछ प्राप्त हो जाता है" इस वाक्य से एकरूपता है। अतः अन्य लोकों का सम्बन्ध नहीं बतलाया जा सकता। प्रश्न होता है कि—

—"आत्मा से ही यह सब कुछ है"—ऐसा कहने पर पुनः

—"सब कुछ प्राप्त करता है"—

ऐसा क्यों कहा जाता है, उसका उत्तर है

—"आधिक्य होने से अनुबन्ध होता है"—

हेतुओं की अधिकता होने पर दृढ़ता होती है, इसलिए पुनः दृढ़ता की गई है।

इसीलिए कुछ शाखा वाले आत्म स्वरूप भगवान के भक्त के शरीर में आविर्भाव के कारण उसके साथ कामनाओं के उपभोग का श्रवण कराते हैं, श्रुति वचन है कि--

—"वह सब कामों का उपभोग करता है" -

भगवता कृतस्य वरणस्याभावेन भगवद्भावस्याभावात्तु ज्ञानिनांहृदये परमव्योमाविर्भावस्य व्यतिरेको द्रष्टव्यः। ननु भगवतो ज्ञानविषयत्ववदाविर्भावोऽप्यस्तु। तत्राह। न तूपलब्धिवत्। उपलब्धिर्ज्ञानं तद्यथा साधनेन साध्यते न तथा भगवदाविर्भावः साध्यते। तस्य भगवत्कृतवरणं बिना केनाप्युपायेनाशक्यत्त्वात्। "यमे वैष वृणुते तेन लभ्य इति श्रुतेः।

तत्र निदर्शनमुच्यते प्रतिवेदं नियतानां हौत्रौद्गात्राद्यकर्मणां करणार्थं यजमानवृता ऋत्विजो यथा सर्वशाखीयकर्मकरणसमर्था अपि कर्मविशेषावबद्धत्वादन्यत्राधिकारासर्वशाखासु प्रभवन्ति तथात्र भगवद्वरणाभावाज्ज्ञानिनां हृदये भगवद्भावाविर्भावो नास्ति।

भगवान् के द्वारा किये जाने वाले वरण या स्वीकार के अभाव में भगवान् के भाव के अभाव के कारण ज्ञानियों के हृदय में परम व्योम के आविर्भाव का व्यतिरेक भेद या अभाव समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि भगवान् के ज्ञान का विषय होने के समान ही अविर्भाव को भी मानना चाहिए, उसका उत्तर है—"उपलब्धि के समान नहीं होता। उपलब्धि का अर्थ है ज्ञान, उस ज्ञान की सिद्धि जैसे साधन से होती वैसे भगवान् के आविर्भाव की सिद्ध नहीं होती वह आविर्भाव तो भगवान् के वरण या स्वीकार के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से संभव ही नहीं होता। श्रुति कहती है—

—"वह उसी को प्राप्त होता है जिसका वह वरण करता है"—

यहां उदाहरण दिया जाता है कि प्रत्येक वेद में नियत होता, उद्गाता आदि कर्मों के सम्पादन के लिए यजमान के द्वारा वरण किये गए ऋत्विज जैसे सभी शाखाओं के कर्मों को कराने में समर्थ होते हुए भी कर्म विशेष में बंधे होने के कारण अन्यत्र अधिकार न होने के कारण सभी शाखाओं में अधिकृत नहीं होते वैसे ही यहां भगवान् के द्वारा किये जाने वाले वरण के अभाव में ज्ञानियों के हृदय में भगवान् के भाव का आविर्भाव नहीं होता।

ननु केचित्कर्मज्ञाननिष्ठा अपि भक्तिमार्गे भगवता व्रियन्त इति ऋत्विग् दृष्टान्तवैषम्यमत आह—मन्त्रादिवद्वाऽविरोध इति। यथैकं एव कश्चिन्मन्त्रो शास्त्राज्ञावशादनेक-

कर्मसु विनियुज्यते, कश्चिद् द्वयोः, कश्चिदेकत्रैव । तथैह भगवदिच्छावशाज्जीवोपि कश्चित्कर्मनिष्ठां प्राप्य वरणेन भक्तिनिष्ठां प्राप्नोति, कश्चिज्ज्ञाननिष्ठां प्राप्य । कश्चित्तु प्रथमत एव भक्तौ व्रियत इत्यविरोधः ।

प्रश्न होता है कि कुछ कर्म और ज्ञान में निष्ठा रखने वालों का भी भक्तिमार्ग में भगवान् वरण करते है इसलिए उपर्युक्त ऋत्विकजों के दृष्टान्त में विषमता आती है तो उसका उत्तर है कि "मन्त्र आदि की तरह अविरोध है" जैसे कोई एक ही मन्त्र शास्त्र के ज्ञान के कारण अनेक कर्मों में विनियुक्त होता है, कोई दो कर्मों में विनियुक्त है कोई मन्त्र एक ही कर्म में विनियुक्त है । वैसे ही यहां भगवान् की इच्छा के वश से जीव भी कोई कर्म निष्ठा को प्राप्त करके वरण के द्वारा भक्ति निष्ठा को प्राप्त करता है, कोई ज्ञान निष्ठा को प्राप्त करके भक्ति निष्ठा पाता है । कोई प्रारम्भ से ही भक्ति में स्वीकार कर लिया जाता है, इसलिए विरोध नहीं है ।

ननु भक्तिफलस्य सर्वात्मभावस्य लिङ्गभूयस्त्वादिति सूत्रे सर्वोत्कृष्टत्वमुक्तं तन्न युक्तम् । श्यामा श्यामा जगति सकले इत्यादिषु लौकिकनायकस्यापि सर्वत्रनायिकाभानदर्शनात् तस्य लौकिकरसतुल्यत्वादिति चेत् तत्रोच्यते । भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वमिति । यथा दर्शपूर्णमासादिक्रतुषु दोहनाधिश्रयणादिकर्मणां लौकिककर्मतुल्यत्वेपि न लौकिकत्वमलौकिकप्रमाणैकगम्यत्वात् तथैवेह भूम्नः सर्वात्मभावस्य सर्वोत्कृष्टत्वं नेयम् । तथा हि–आत्मनः प्राणा इत्यादिश्रुतिर्भक्तानां सर्वं भगवत एवेति दर्शयति । भक्त्यादीनां लौकिकक्रियासाम्येपि भगवद्विषयत्वात् सर्वोत्कृष्टत्वं भाव्यम् ।

। इति भगवद्भक्तिफलभूतसर्वात्मभावस्वरूपविचारः ।

। इति भगवद्भक्तिमाहात्म्याधिकरणम् ।

प्रश्न होता है कि "लिङ्गयस्भूत्वात्" इस सूत्र में भक्ति के फलभूत सर्वात्म भाव को सर्वोत्कृष्ट कहा गया है वह ठीक नहीं है । "समस्त संसार में श्यामा है श्यामा है" इत्यादि अनुभव कथनों में लौकिक नायक को भी सर्वत्र नायिका का भान देखे जाने से सर्वात्म भाव भी लौकिक रस के ही समान हो जायगा इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि—

—"भूमा के क्रतु के समान उसकी ज्येष्ठता होती है" ।—

जैसे दर्श पूर्णमास आदि क्रतुओं में दोहन अधिश्रयण आदि कर्मो के लौकिक कर्मों के समान होने पर भी उनका अलौकिक प्रमाण से गम्य होने के कारण लौकिकत्व नहीं होता वैसे ही यहां भूमा के सर्वात्मभाव को सर्वोत्कृष्ट समझना चाहिए। अतः "आत्मा के प्राण" इत्यादि श्रुति भक्तों का सब कुछ भगवान् का ही है यह बोधित करती है। भक्ति आदि के लौकिक क्रियाओं के समान होने पर भी वे भगवान् के विषय की हैं अतः वे सर्वोत्कृष्ट हैं, यह समझना चाहिए।

। यह भगवद्भक्ति के फलभूत सर्वात्मभाव के स्वरूप का विचार हुआ।

। यह भगवद्भक्ति के महात्म्य का अधिकरण हुआ।

अथोपासनानिर्णयः

काम्यास्तु यथा कामं समुच्चीयेरन्नवा पूर्वहेत्वभावात्।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः।

शिष्टेश्च।

समाहारात्।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च।

न वा तत्सहभावोऽश्रुतेः।

दर्शनाच्च।

ईश्वरावताराणां व्यक्तिचरित्रादिभेदादुपासनापि तेषां भेदेनैव कार्य्या न तु सर्वावतारविशिष्टस्यैकस्य ब्रह्मणः तत्तत्स्वरूपबोधकशब्दानां तदाकाराणां चरित्राणां च भेदादैकरूप्येणोपासनाया अयुक्तत्वात्।

पार्थक्येन कर्तव्यानां चोपासनानां विकल्पो न त्वग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिवत् समुच्चयः। प्रत्येकावतारोपासनानां भिन्नानामपि सर्वेषामविशिष्टफलत्वात्। अन्यतमोपासनेन फलसिद्धौ समुच्चयवैयर्थ्यात्।

यास्तु काम्योपासना भिन्नफलास्ता यथा कामं समुच्चीयेरन् । फलगतिविशेषसत्वाद्विकल्पानौचित्यात् । अथवा काम्यास्वपि यत्रैकस्या एवानेकफलसाधकत्वमुपपद्यते तत्र तयैकयैव कार्य्यसिद्धौ भिन्नफलत्वरूपपूर्वोक्तहेत्वभावात् समुच्चयो नास्ति ।

उपासना का निर्णय

ईश्वर के अवतारों के व्यक्ति चरित्र आदि भेद के कारण उनकी उपासना भी भिन्न-भिन्न ही करनी चाहिये, सभी अवतारों से विशिष्ट एक ही ब्रह्म की यह उपासना नहीं होती । उनके स्वरूप के बोधक शब्दों के, उनके आकारों के तथा उनके चरित्रों के भेद के कारण एक रूप की उपासना ठीक नहीं होती ।

पृथक् रूप से सम्पादनीय उपासनाओं का विकल्प होता है, उनका अग्निहोत्र दर्शपूर्ण मास आदि के समान समुच्चय नहीं होता । क्योंकि प्रत्येक अवतार की उपासना के भिन्न होने पर भी सभी का फल समान ही होता है । एक की ही उपासना से फल की सिद्धि हो जाने पर सबकी समुच्चय से उपासना करना व्यर्थ होता हैं ।

जो काम्य उपासनाएं भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं, उनका इच्छानुसार समुच्चय या संकलन हो सकता है । क्योंकि उनके फलों में भेद होने के कारण विकल्प या किसी एक की उपासना अनुचित होती है । अथवा काम्य उपासनाओं में भी जहाँ एक उपासना का अनेक फलों का साधक होना बतलाया जाता है, वहां उस एक ही उपासना से कार्य की सिद्धि हो जाने पर पूर्वोक्त कारण भिन्न फल देने वाली होने के अभाव में उनका समुच्चय या संकलन नहीं होता ।

एकफलसाधकानामुपासनानां भिन्नभिन्नस्थलेष्वाम्नातानां भिन्नाङ्गयुक्तानामङ्गेषु यथाश्रयभावो नेयः । यदङ्गं यत्राम्नातं तत्र तदङ्गविशिष्टं देवोपासनं कार्य्यम् । न त्वन्यत्राम्नातानामन्यत्रोपसंहारः कार्य्यः ।

शिष्टेः । तदङ्गानां तत्रैव शासनादन्यत्रोपनयने प्रमाणाभावात् ।

ज्ञानमार्गे तु सर्वावतारधर्माणामेकस्मिन् ब्रह्मण्येव समाहारात् सर्वधर्मविशिष्टब्रह्मोपासनं क्रियते ।

ऐश्वर्य्यवीर्य्यादिगुणानां सर्वावतारेषु साधारण्येन श्रवणाच्चैकस्मिन्नवतारे सर्वावतारधर्मोपसंहारेणोपासनमयुक्तम् ।

अथवा नैतद्युक्तम् तेषां रूपाणां नियततया तत्सहभावश्रवणाभावात् ।

दर्शनाच्च । दर्शनं ह्युपासनस्य फलम् । तच्च स्वधर्मविशिष्टैकावताहस्यैव संभवति नतु सर्वावतारधर्मविशिष्टस्य । तस्माद् भक्तिमार्गीयस्य स्वधर्मविशिष्टैकावतारोपासनमेव युक्तमिति सिद्धम् ।

। इति प्रातिस्विकधर्मविचारपादस्तृतीयः वल्लभीयानाम् ।

(प्रातिस्विक धर्मपादः—मुख्यधर्मपादः)

(शुभमस्तु)

भिन्न-भिन्न स्थलों पर एक ही फल को देने वाली जो उपासनाएं बतलाई गई हैं, जिनके अङ्ग भी भिन्न हैं, उनके अङ्गों यथा प्रसङ्ग आश्रय भाव को ग्रहण करना चाहिए । जिस अङ्ग का जहां कथन हुआ है वहां उस अङ्ग के साथ देवता की उपासना करनी चाहिए । अन्यत्र कथित अङ्गों का अन्यत्र संग्रह नहीं करना चाहिए ।

अनुशासन के कारण उन अङ्गों का वहो विधान या अनुशासन है, उन्हें अन्यत्र ग्रहण करने में प्रमाण का अभाव है ।

ज्ञानमार्ग में तो सभी अवतारों के धर्मों का एक ही ब्रह्म में समावेश होने के कारण सभो धर्मों से विशिष्ट एक ही ब्रह्म की उपासना की जाती है ।

ऐश्वर्य, पराक्रम आदि गुणों का सभी अवतारों में समान रूप से श्रवण होता है इसलिए किसी एक अवतार में सभी अवतारों के धर्मों का संग्रह करके उपासना करना ठीक नहीं है ।

अथवा यह ठीक नहीं है । उनके रूपों के नियत होने से उनके सहभाव का श्रवण नहीं होता । दर्शन के कारण भी । दर्शन उपासना का फल है । वह अपने धर्म से विशिष्ट एक अवतार का ही हो सकता है । वह दर्शन सभी अवतारों के धर्मों से विशिष्ट का नहीं

होता। इसलिए भक्तिमार्ग के अनुगामी के लिए अपने धर्म से विशिष्ट एक अवतार की उपासना ही उपयुक्त है, यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार प्रातिस्विक धर्म विचार का तृतीय पाद पूर्ण हुआ।

प्रातिस्विक धर्म पाद-मुख्य धर्म पाद पूर्ण हुआ।

शुभमस्तु

डा. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी के द्वारा 'शारीरक विज्ञानम्' नामक समीक्षा चक्रवर्ती श्री विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा के ग्रन्थ का हिन्दी भाषा अनुवाद पूर्ण हुआ।